अध्यात्म-उपनिषद्
भगवान श्री रजनीश

मैं वही कहूंगा, जो मैं जानता हूं; वही कहूंगा, जो आप भी जान सकते हैं। लेकिन जानने से मेरा अर्थ है : 'जीना'। जाना बिना जिये भी जा सकता है। तब ज्ञात होता है एक बोझ। उससे कोई डूब तो सकता है, उबरता नहीं। जानना जीवन्त भी हो सकता है। तब जो हम जानते हैं, वह हमें करता है निर्भार--हलका कि हम उड़ सकें आकाश में। जीवन ही जब जानना बन जाता है, तभी पंख लगते हैं, तभी जंजीरे टूटती हैं, और तभी द्वार खुलते हैं अनन्त के।

मैं आपसे वही कहूंगा, जो मैं जानता हूं। क्योंकि उसके कहने का ही कुछ मूल्य है। क्योंकि जिसे मैं जानता हूं, अगर आप तैयार हों, तो उसकी जीवन्त चोट आपके हृदय के तारों को भी हिला सकती है। जो मैं ही नहीं जानता हूं, जो मेरे कंठ तक ही है, वह आपके कानों से ज्यादा गहरा नहीं जा सकता। जो मेरे हृदय तक हो, उसकी ही संभावना बनती है। अगर आप साथ दें तो वह आपके हृदय तक जा सकता है।
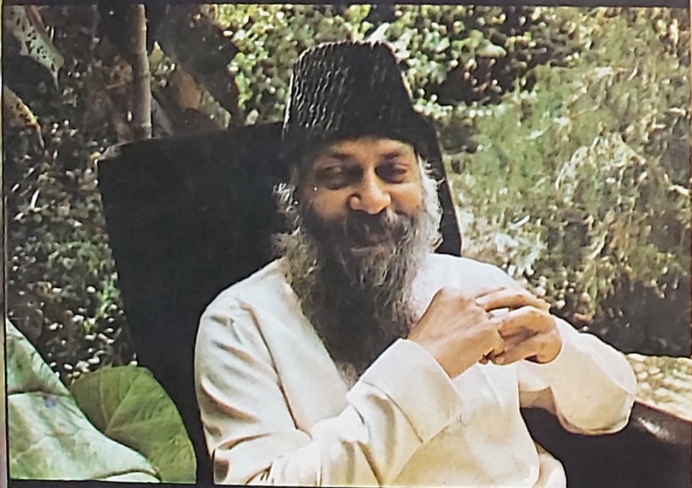
अध्यात्म-उपनिषद्

नये प्रकाशन

सुनो भाई साधो
महावीर वाणी : भाग तीन
सहज समाधि भली
एस धम्मो सनंतनो
पिव-पिव लागी प्यास
भज गोविन्दम्
एक ओंकार सतनाम
बिन घन परत फुहार
शिव-सूत्र
गूँगे केरी सरकरा
कस्तूरी कुण्डल बसै
दिया तले अन्धेरा
जिन सूत्र : पहला भाग
साधना सूत्र
मेरा मुझमें कुछ नहीं
अकथ कहानी प्रेम की
भक्ति सूत्र : पहला भाग
भक्ति सूत्र : दूसरा भाग

अध्यात्म-उपनिषद्

भगवान श्री रजनीश

आबू पर्वत पर
दिनांक १३ अक्तूबर से २१ अक्तूबर १९७२ तक
ध्यान-योग शिविर में
भगवान श्री रजनीश द्वारा दिये गये
सत्रह प्रवचनों का संकलन
अध्यात्म-उपनिषद्

संकलन
मा योग भारती
सम्पादन
स्वामी चैतन्य भारती
कला-सज्जा
स्वामी आनंद अर्हंत

रजनीश फाउन्डेशन प्रकाशन, पूना
१९७६

प्रकाशक
मा योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउन्डेशन
१७, कोरेगाँव पार्क
पूना – ४११ ००१ (महाराष्ट्र)

प्रथम संस्करण
११ दिसम्बर, १९७६

प्रतियाँ : ५०००

मूल्य : ७५ रुपये

मुद्रक
सयद इस्हाक
संगम प्रेस लि.
१७ ब कोथरूड
पूना–४११ ०२९

भगवान श्री रजनीश

भगवान श्री के सम्बंध में कुछ भी कहना कितना कठिन है! कठिन ही नहीं, असंभव-सा है। यह बिलकुल वैसा ही है जैसे कोई चम्मच से सागर नापने चले;— या सूर्य को दीपक दिखाने चले!

अपना परिचय तो वे आप ही हैं।

उन्हें महसूस तो किया जा सकता है, लेकिन उनके सम्बंध में कहा कुछ नहीं जा सकता; अपनी सामर्थ्य के अनुकूल उन्हें जिया तो जा सकता है, लेकिन कुछ भी अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। हाँ, उनकी विराटता की एक झलक उनके प्रकाशित अब तक के साहित्य से अवश्य मिल सकती है।

उनके प्रेमियों, भक्तों व साधकों को ऐसा लगता है कि वे सब एक साथ हैं— कृष्ण, मुहम्मद, जीसस, लाओत्से, जरयुस्त्र, चैतन्य, कबीर, नानक — जो भी प्रज्ञा-पुरुष अब तक हुए हैं। और वे स्वयं अपने सम्बंध में कहते हैं: "मैं तो अब हूँ ही नहीं; जब से मैं नहीं हो गया हूँ, तब से अब 'वही' मेरे भीतर प्रकाशित हो रहा है। अब तो मैं एक चमत्कार ही हूँ; क्योंकि नहीं हूँ और फिर भी हूँ।" जब वे नानक पर बोलते हैं तो ऐसा लगता है जैसे नानक ही वापिस लौटकर बोल रहे हैं—और जब वे कृष्ण पर बोलते हैं तो ऐसा नहीं लगता कि वे कृष्ण नहीं हैं। वे सबको एक साथ अभिव्यक्त करते हैं; जब भी वे किसी प्रज्ञा-पुरुष पर बोलते हैं तो वही प्रज्ञा-पुरुष उनमें उतर आता है।

इस भाँति कभी वे लाओत्से की झलक देते हैं तो कभी जीसस की, कभी वे कृष्ण बन जाते हैं तो कभी महावीर। शायद यह इसीलिए संभव हो पाता है चूँकि अब वे नहीं हैं। उनका सिंहासन बिलकुल खाली है इसलिए कोई भी प्रज्ञा-पुरुष उस पर विराजमान हो जाता है।

संभवतः, आनेवाले समय में, सम्पूर्ण पृथ्वी पर, वे सबके पूजनीय बन जायें तो कोई आश्चर्य न होगा; क्योंकि वे सब एकसाथ जो हैं! सभी को उन्होंने गटक लिया है, आत्मसात कर लिया है।

अब आपको भारत की राजधानी दिल्ली में ही विश्वभर के लोग देखने को नहीं मिलेंगे, बल्कि पूना के श्री रजनीश आश्रम में भी यह दृश्य देखने को मिल सकता है: सारी दुनिया के लोग—क्या ईसाई, क्या यहूदी, क्या पारसी——मुसलमान, हिन्दू, जैन, सिक्ख, बौद्ध——सभी जातियों के, सभी धर्मों के, सभी वर्गों के, सभी वर्णों के। और ये आपको दिखायी पड़ेंगे एक ही रंग के कपड़े पहने हुए—गेरुए रंग के कपड़ों में। सचमुच जो काम आज तक दुनिया के बड़े-बड़े नेता, समाज सुधारक और धर्मगुरु भी नहीं कर पाये, उसे अकेले रजनीश ने —— भगवान श्री रजनीश ने चुपचाप कर दिया है। पूना के श्री रजनीश आश्रम में एकत्र विश्वभर की सभी जातियों, धर्मों और वर्गों के लोगों को एक ही रंग के वस्त्रों में देखकर ऐसा लगता है: सभी मानवों की आकांक्षाएँ समान हैं, सभी मानवों की प्यास एक है, सभी मानवों की खोज एक है: सत्य की खोज—— स्वयं के आत्यन्तिक सत्य की खोज, प्रभु की खोज; जो उन्हें न-जाने विश्व के किस-किस कोने से, कैसे-कैसे, पूना में भगवान श्री के चरणों में पहुँचा देती है।

अहा! पृथ्वी पर पहली बार एक ऐसा भगवान आया है जो सभी को समान रूप से स्वीकार है। और यदि आपको मेरी बात का यकीन न होता हो तो आप स्वयं आकर अपनी आँखों से पूना के श्री रजनीश आश्रम में यह देख लें।

क्षमा करें, मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गया!

हाँ, मैं यह कह रहा था कि उनके सम्बंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन, जिनवाणी के एक सूत्र का अभिप्राय उन पर बिलकुल ही ठीक उतरता है– जो इस प्रकार है:

"सिंह के समान पराक्रमी
हाथी के समान स्वाभिमानी
वृषभ के समान भद्र
मृग के समान सरल
पशु के समान निरीह
वायु के समान निस्संग
सूर्य के समान तेजस्वी
सागर के समान गम्भीर

मेरु के समान निश्चल
चन्द्रमा के समान शीतल
मणि के समान कान्तिमान
पृथ्वी के समान सहिष्णु
सर्प के समान अनियत-आश्रयी
तथा आकाश के समान निरवलम्ब"
बस, कुछ ऐसे ही हैं हमारे भगवान श्री रजनीश।

देखी आपने मेरी हिमाकत? न कहते भी कितना कह गया! और फिर भी कुछ कह पाया हूँ, इसमें मुझे शक है!

वैसे सुनते हैं, ११ दिसम्बर, सन् १९३१ को दिन के करीब १२ बजे के आस-पास, मध्यप्रदेश के रायसेन जिले के कुचवाड़ा नामक एक छोटे-से गाँव में उनका अवतरण हुआ। माता-पिता ने अपनी पहली सन्तान का नाम रखा: रजनीश चन्द्र मोहन।

जन्म के तीन दिन बाद तक उन्होंने माँ का दूध नहीं लिया। भगवान श्री ने साधकों के संग एक चर्चा-विशेष में बताया है कि इस जन्म के ७०० वर्ष पूर्व वे २१ दिन का एक अनुष्ठान कर रहे थे, जिसके पूरे होने के तीन दिन पूर्व ही किसी ने करुणावश उनकी हत्या कर दी थी। यदि वह अनुष्ठान पूरा हो जाता तो वे यह जन्म नहीं ले सकते थे।

एक बार, भगवान श्री की माँ ने एक साधक मित्र को एक रहस्य की बात बतायी थी कि भगवान हँसते हुए जन्मे! वैसे इसके पहले भगवान श्री कृष्ण और जरथुस्त्र के हँसते हुए जन्मने की बात भी सुनने में आती है।

भगवान बालपन से ही बड़े होनहार तथा नटखट रहे हैं। करीब २१ वर्ष की छोटी उम्र में, २१ मार्च सन् १९५३ को जबलपुर के भंवरताल नाम के उद्यान में स्थित मौलश्री के एक वृक्ष के नीचे, रात्रि के दो बजे वे बोधि को उपलब्ध हुए—अर्थात् रजनीश चन्द्र मोहन से भगवान श्री रजनीश हो गये।

सन् १९५७ में उन्होंने सागर विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम आकर प्राप्त की, पश्चात् रायपुर के एक, तथा जबलपुर के दो महाविद्यालयों में आठ वर्ष तक आचार्य (प्रोफेसर) के पद पर शिक्षण-कार्य करते रहे।

सन् १९६६ में, अपना पूरा समय साधना के विस्तार तथा धर्म के पुनरुत्थान में लगाने के लिए उन्होंने नौकरी छोड़ दी।

सन् १९७० तक भारत के कोने-कोने में घूम-घूमकर प्रवचन देने तथा शिविर लेने का उनका कार्य चलता रहा।

सन् १९७० में भगवान बम्बई के वुडलैण्ड निवास में आ गय और चार बरस तक वहीं रहकर अपने धर्म-चक्र-प्रवर्तन को गहराया।

२१ मार्च १९७४ को पूना के वर्तमान आश्रम का शुभारम्भ हुआ जहाँ अब रोज प्रातः आठ बजे उनके प्रवचनों की गंगा बहती है और हर मास की ११ से २० तारीख में १० दिन का समाधि साधना शिविर चलता है।

प्रवचन क्रम

अध्यात्म-उपनिषद् : प्रवेश के पूर्व

उपनिषद् की व्यवस्था, प्रक्रिया, विधि, यही है—नेति, नेति। जो भी दिखाई पड़ जाये, कहो कि यह भी नहीं। जो भी अनुभव में आ जाये, कहो—यह भी नहीं; और हटते जाओ पीछे, हटते जाओ पीछे, हटते जाओ पीछे — उस समय तक हटते जाओ, जब तक कि कोई भी चीज इनकार करने को बाकी रहे। एक ऐसी घड़ी आती है, सब दृश्य खो जाते हैं। एक ऐसी घड़ी आती है, सब अनुभव गिर जाते हैं; —सब।

ध्यान रखना, सब। कामवासना का अनुभव तो गिरता ही है, ध्यान का अनुभव भी गिर जाता है। संसार के राग-द्वेष के अनुभव तो गिर ही जाते हैं, आनंद, समाधि—इनके भी अनुभव गिर जाते हैं; बच रहता है खालिस देखनेवाला। कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, शून्य हो जाता है चारों तरफ; रह जाता है केवल देखनेवाला, और चारों तरफ रह जाता है खाली आकाश; बीच में खड़ा रह जाता है द्रष्टा। उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि उसने सब इन्कार कर दिया। जो भी दिखाई पड़ता था, हटा दिया मार्ग से। अब उसे कुछ भी अनुभव नहीं होता। हटा दिये सब अनुभव। अब बच रहा अकेला, जिसको अनुभव होता था।

जब कोई भी अनुभव नहीं होता, और कोई दर्शन नहीं होता, और कोई दिखाई नहीं पड़ता, और कोई विषय नहीं रह जाता, और कोई विषयी नहीं रह जाता, और जब साक्षी अकेला रहा जाता है, तब कठिनाई है भाषा में कहने की कि क्या होता है! क्योंकि हमारे पास अनुभव के सिवाय कोई शब्द नहीं है। इसलिए इसे हम कहते हैं "आत्म-अनुभव"। लेकिन अनुभव शब्द ठीक नहीं है। हम कहते हैं 'चेतना का अनुभव'—या 'ब्रह्म-अनुभव'। लेकिन यह शब्द, कोई भी शब्द ठीक नहीं है। क्योंकि अनुभव उसी दुनिया का शब्द है, जिसको हमने तोड़ डाला। अनुभव उस द्वैत की दुनिया में अर्थ रखता है, जहाँ दूसरा भी था। यहाँ अब कोई अर्थ नहीं रखता। यहाँ सिर्फ अनुभोक्ता बचा, साक्षी बचा।

इस साक्षी की तलाश ही अध्यात्म है।

यह उपनिषद् अध्यात्म का सीधा साक्षात्कार है। सिद्धांत इसमें नहीं हैं, इसमें सिद्धों का अनुभव है। इसमें उस सबकी बातचीत नहीं है जो कुतूहल से पैदा होती है, जिज्ञासा से पैदा होती है। इसमें तो उनकी तरफ इशारे हैं जो मुमुक्षा से भरे हैं—और उनके इशारे हैं जिन्होंने पा लिया है।

पहला प्रवचन

१३ अक्तूबर, १९७२, रात्रि

शान्ति पाठ

ॐ, शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वादिष्यामि। ऋत वादिष्यामि। सत्यं वादिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिःशान्तिः। शातिः।

ॐ, हमारे लिए सूर्य देवता कल्याणकारी हों। वरुण कल्याणकारी हों, अर्यमा कल्याणकारी हों, इन्द्र और बृहस्पति भी कल्याणकारी हों, विष्णु कल्याणकारी हों। उस ब्रह्म को नमस्कार हो। हे वायु! तुम्हारे लिए नमस्कार है, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा; सत्य और ऋत के नाम से भी कहूंगा। वे मेरी रक्षा करें। आचार्य की भी रक्षा करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।
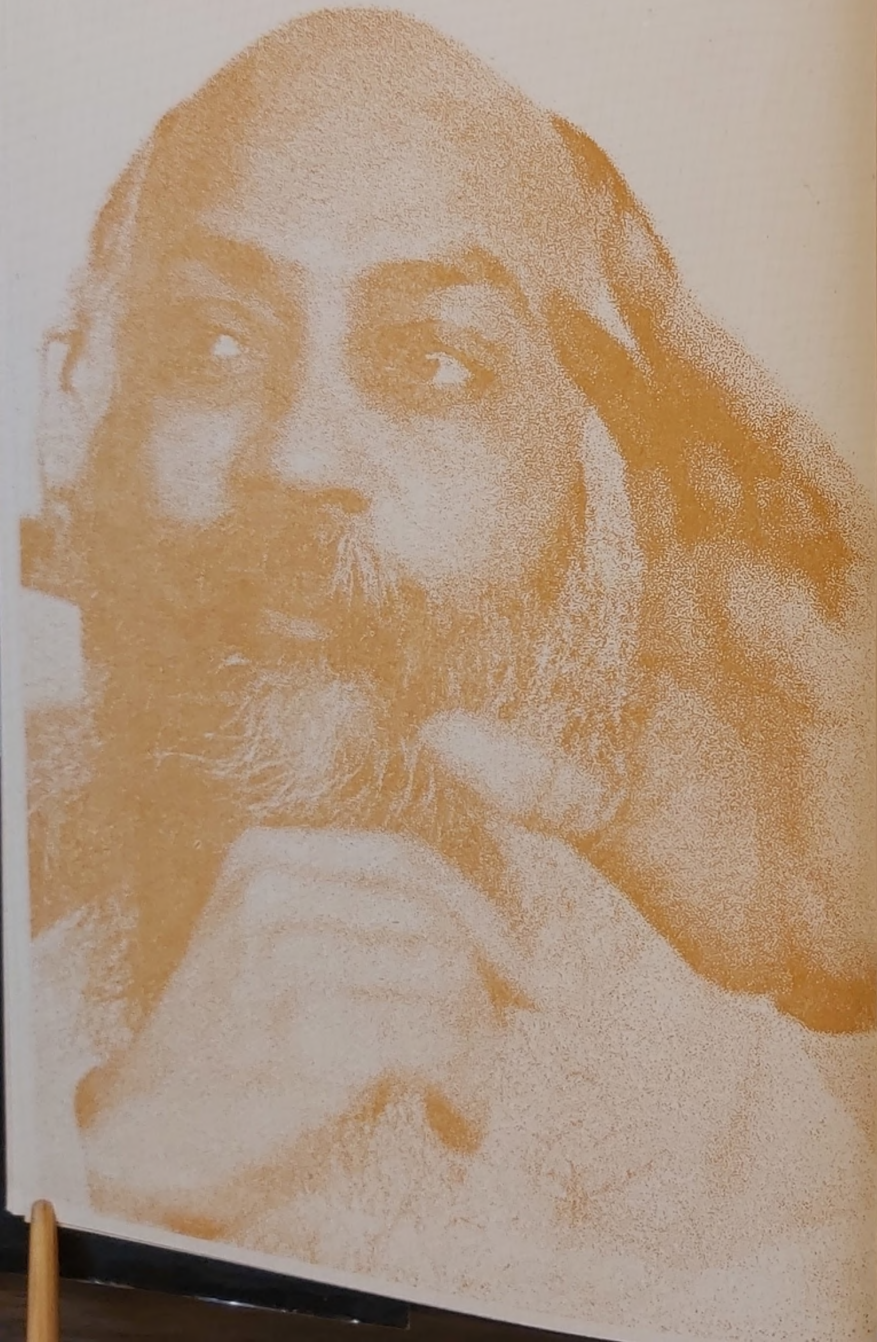
मैं वही कहूँगा, जो मैं जानता हूँ; वही कहूँगा जो आप भी जान सकते हैं। लेकिन जानने से मेरा अर्थ है, 'जीना'। जाना बिना जिये भी जा सकता है। तब ज्ञान होता है एक बोझ। उससे कोई डूब तो सकता है, उबरता नहीं। जानना जीवन्त भी हो सकता है। तब जो हम जानते हैं, वह हमें करता है निर्भार--हलका, कि हम उड़ सकें आकाश में।

जीवन ही जब जानना बन जाता है, तभी पंख लगते हैं, तभी जंजीरें टूटती हैं, और तभी द्वार खुलते हैं अनन्त के।

लेकिन जानना कठिन है, ज्ञान इकट्ठा कर लेना बहुत आसान है। और इसलिए मन आसान को चुन लेता है और कठिन से बचता है। लेकिन जो कठिन से बचता है वह धर्म से भी वंचित रह जायेगा। कठिन ही नहीं, जो असम्भव से भी बचना चाहता है, वह कभी भी धर्म के पास नहीं पहुँच पायेगा। धर्म तो है ही उनके लिए, जो असम्भव में उतरने की तैयारी रखते हैं।

धर्म है जुआरियों के लिए, दुकानदारों के लिए नहीं। धर्म कोई सौदा नहीं है। धर्म कोई समझौता भी नहीं है। धर्म तो है दाँव। जुआरी लगाता है धन को दाँव पर, धार्मिक लगा देता है स्वयं को। वही परम धन है। और जो अपने को ही दाँव पर लगाने को तैयार नहीं है, वह जीवन के गुह्य रहस्यों को कभी भी जान नहीं पायेगा।

सस्ते नहीं मिलते हैं वे रहस्य, ज्ञान तो बहुत सस्ता मिल जाता है। ज्ञान तो मिल जाता है किताब में, शास्त्र में, शिक्षा में, शिक्षक के पास। ज्ञान तो मिल जाता है करीब-करीब मुफ्त, कुछ चुकाना नहीं पड़ता। धर्म में तो बहुत-कुछ चुकाना पड़ता है। बहुत-कुछ कहना ठीक नहीं, सभी-कुछ दाँव पर लगा दे कोई--तो ही उस जीवन के द्वार खुलते हैं।

इस जीवन को जो दाँव पर लगा दे उसके लिए ही उस जीवन के द्वार खुलते हैं। इस जीवन को दाँव पर लगा देना ही उस जीवन के द्वार की कुंजी है। लेकिन ज्ञान बहुत सस्ता है। इसलिए मन सस्ते रास्ते को चुन लेता है; सुगम को। सीख लेते हैं हम बातें--शब्द, सिद्धान्त--और सोचते हैं जान लिया। अज्ञान बढ़ता है

एसे ज्ञान से। अज्ञानी को कम-से-कम इतना तो पता है कि मुझे पता नहीं है। इतना सत्य तो कम-से-कम उसके पास है।

जिन्हें हम ज्ञानी कहते हैं, उनसे ज्यादा असत्य आदमी खोजने मुश्किल हैं। उन्हें यह भी पता नहीं है कि उन्हें पता नहीं है। सुना हुआ, याद किया हुआ, कंठस्थ हो गया, धोखा देता है--ऐसा लगता है, मैंने भी जान लिया।

मैं आपसे वही कहूँगा जो मैं जानता हूँ। क्योंकि उसके कहने का ही कुछ मूल्य है। क्योंकि जिसे मैं जानता हूँ, अगर आप तैयार हों, तो उसकी जीवन्त चोट आपके हृदय के तारों को भी हिला सकती है। जिसे मैं ही नहीं जानता हूँ, जो मेरे कंठ तक ही है, वह आपके कानों से ज्यादा गहरा नहीं जा सकता। जो मेरे हृदय तक हो, उसकी ही संभावना बनती है। अगर आप साथ दें तो, वह आपके हृदय तक जा सकता है।

आपके साथ की तो फिर भी जरूरत होगी; क्योंकि आपका हृदय अगर बन्द ही हो, तो जबरदस्ती उसमें सत्य डाल देने का कोई उपाय नहीं है। और अच्छा ही है कि उपाय नहीं है। क्योंकि सत्य भी अगर जबरदस्ती डाला जाये तो स्वतन्त्रता नहीं बनेगा, परतन्त्रता बन जायेगा।

सभी जबरदस्तियाँ परतन्त्रताएँ बन जाती हैं। इसलिए इस जगत् में सभी चीजें जबरदस्ती आपको दी जा सकती हैं, सिर्फ सत्य नहीं दिया जा सकता; क्योंकि सत्य कभी भी परतन्त्रता नहीं हो सकता; सत्य का स्वभाव स्वतन्त्रता है। इसलिए एक चीजभर है इस जगत् में जो आपको कोई जबरदस्ती नहीं दे सकता; जो आपके ऊपर थोपी नहीं जा सकती; जो आपको पहनाई नहीं जा सकती, ओढ़ाई नहीं जा सकती। आपका राजी होना अनिवार्य शर्त है; आपका खुला होना, आपका ग्राहक होना, आपका आमन्त्रण, आपका अहोभाव से भरा हुआ हृदय। जैसे पृथ्वी वर्षा के पहले पानी के लिए प्यासी होती है और दरारें पड़ जाती हैं--इस आशा में पृथ्वी जगह-जगह अपने ओंठ खोल देती है कि वर्षा हो--ऐसा जब आपका हृदय होता है, तो सत्य प्रवेश करता है। अन्यथा?... अन्यथा सत्य आपके द्वार से भी आकर लौट जाता है। बहुत बार लौटा है--बहुत जन्मों-जन्मों में।

आप कुछ नये नहीं हैं। इस पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है, सभी बहुत पुराने हैं। आप बुद्ध के चरणों में भी बैठकर सुने हैं, आपने कृष्ण को भी देखा है, आप जीसस के पास भी उठे-बैठे हैं--लेकिन, फिर भी वंचित रह गये हैं! क्योंकि कभी भी आपका हृदय तैयार नहीं था। आपके पास से बुद्ध की सरिता बहती निकल गई है, महावीर की सरिता बहती निकल गई है, और आप प्यासे रह गये हैं।

आनन्द रो रहा था, जिस दिन बुद्ध के प्राण छूटने को थे--और छाती पीट रहा था। और बुद्ध ने उससे कहा कि तू रोता क्यों है? जरूरत से ज्यादा मैं तेरे पास था...चालीस वर्ष! और अगर चालीस वर्ष में भी नहीं हो पायी वह घटना, तो अब रोने से क्या होगा! मेरे मिटने से इतना परेशान क्यों हो रहा है?

तो आनन्द ने कहा है: इसलिए परेशान हो रहा हूँ कि आप मौजूद थे और मैं न मिट पाया। अगर मैं मिट जाता तो आपको मेरे भीतर प्रवेश मिल जाता। चालीस साल नदी मेरे पास बहती थी और मैं प्यासा रह गया हूँ। और अब मैं रोता हूँ, क्योंकि जरूरी नहीं है कि यह नदी कब, किस जन्म में दुबारा मुझे मिलेगी।

आप कुछ नये नहीं हैं। आपने बुद्धों को दफनाया, महावीरों को दफनाया--जीसस, कृष्ण, क्राइस्ट, सबको आप दफना के जी रहे हैं। वे हार गये आपसे, आप काफी पुराने हैं। जब से जीवन है, तब से आप हैं। अनन्त-अनन्त यात्रा है।

कहाँ हो जाती होगी चूक?

बस, यहीं हो जाती है कि आप खुले ही नहीं हैं, बन्द हैं।

मैं तो आपसे वही कहूँगा, जो मैंने जाना है। अगर आप भी अपने को एक खुलापन बना सकें, तो आप भी उसे जान लेंगे। और ऐसा नहीं है कि कोई कठिनाई है बहुत! एक ही कठिनाई है: और वह आप हैं।

कुछ लोग 'कुतूहल' से चलते हैं। जैसे राह चलते बच्चे पूछ लेते हैं--'इस वृक्ष का नाम क्या है?' और अगर आप उत्तर न दें, तो तत्क्षण भूल जाते हैं कि उन्होंने पूछा भी था! वे दूसरी बात पूछने लगते हैं कि यह पत्थर यहाँ क्यों पड़ा है? पूछने के लिए पूछते हैं, जानने के लिए नहीं पूछते। बिना पूछे नहीं रह सकते हैं, इसलिए पूछते हैं; जानने के लिए नहीं पूछते।

जो लोग कुतूहल से जी रहे हैं, वे अभी भी बचकाने हैं। अगर आप ऐसे ही पूछ लेते हैं कि ईश्वर क्या है, जैसे कि कोई बच्चा राह चलते दुकान देखकर पूछ लेता हो कि यह खिलौना क्या है, तो आप अभी बच्चे हैं। और बच्चा तो माफ किया जा सकता है, आप माफ नहीं किये जा सकते।

कुतूहल नहीं चलेगा। धर्म कोई खिलवाड़ नहीं है बच्चों का। और फिर उत्तर भी मिल जाये तो उससे कोई प्रयोजन नहीं है। बच्चे का मजा पूछने में है। उसने पूछा, यही उसका मजा है। आप उत्तर देंगे भी, तो उत्तर में उसे कोई बहुत रस नहीं है।

... क्या बात है?

मनस्विद् कहते हैं कि बच्चे नया-नया बोलना सीखते हैं, तो अपने बोलने का अभ्यास करते हैं पूछ-पूछकर। जैसे बच्चा नया-नया चलना सीखता है, तो बार-बार

उठकर चलने की कोशिश करता है। बोलना सीखता है, तो बार-बार बोलने की कोशिश करता है। इसलिए बच्चे एक ही बात को कई दफा कहते हैं। इसलिए कई दफा कहते हैं, क्योंकि उन्हें बोलने का एक नया अनुभव, एक नया आयाम मिला है। उस नये आयाम में वे तैरकर अभ्यास कर रहे हैं। इसलिए कुछ भी पूछते हैं, कुछ भी बोलते हैं।

अगर आप भी धर्म की दुनिया में कुछ भी पूछ रहे हैं, कुछ भी बोल रहे हैं, कुछ भी सोच रहे हैं--और कोई गहरी जिज्ञासा नहीं है, बस कुतूहल है--तो, अभी आप और कुछ बुद्धों को दफनाएँगे! अभी और न-मालूम कितने बुद्धों को आपके साथ मेहनत करनी पड़ेगी!

कुतूहल से सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ लोग कुतूहल से थोड़ा आगे बढ़ते हैं और 'जिज्ञासा' करते हैं। जिज्ञासा में थोड़ी ज्यादा गहराई है। लेकिन, बस थोड़ी ज्यादा।

जिज्ञासा भी बहुत गहरी नहीं है, वह भी उथली है; क्योंकि जिज्ञासा है केवल बौद्धिक। और बुद्धि भी ऐसी है, जैसी खाज होती है। खुजलाएँ, तो थोड़ा रस आता है। ऐसा बुद्धि को भी खाज होती रहती है।...ईश्वर है? ...आत्मा है? ...मोक्ष है? ...ध्यान क्या है?--करने के लिए नहीं; ईश्वर क्या है, जानने के लिए नहीं--चर्चा के लिए, बातचीत के लिए।

...एक बौद्धिक मजा है! ...एक बौद्धिक व्यायाम है!

तो लोग ऊँची बातें करते हैं, लेकिन उन बातों पर कभी भी कोई दाँव नहीं लगाते। ईश्वर है या नहीं, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। और ईश्वर हो--तो, ईश्वर न हो--तो, वे जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं।

यह बड़े मजे की बात है: एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, और एक आदमी मानता है कि ईश्वर नहीं है, और दोनों की जिंदगी बराबर एक-सी! कोई गाली दे तो उसे भी क्रोध आता है--जो मानता है कि ईश्वर है, और उसे भी क्रोध आता है--जो मानता है कि ईश्वर नहीं है! बल्कि कई दफा तो यह देखा जाता है कि जो मानता है ईश्वर है, उसे ज्यादा क्रोध होता है! क्योंकि जो मानता है कि ईश्वर नहीं है, वह ज्यादा-से-ज्यादा क्या कर सकता है आपका? ...गाली दे सकता है! मार सकता है! हत्या कर सकता है! लेकिन जो मानता है ईश्वर है, वह आपको नर्क तक में सड़ा सकता है! उसके पास ज्यादा उपाय हैं क्रोधित होने के।

अगर ईश्वर के मानने और न-मानने से कोई भी अन्तर जीवन में न पड़ता हो, तो उसका अर्थ है कि ये ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है, बौद्धिक बातचीत है। ऐसी

जिज्ञासा हो तो आदमी दार्शनिक हो जाता है, चिंतन-मनन करने लगता है, शास्त्र अध्ययन करने लगता है, बहुत सिद्धान्त इकट्ठे कर लेता है--पक्ष में, विपक्ष में सोच लेता है, वाद-विवाद करता है, शास्त्रार्थ करता है, लेकिन जीता कभी नहीं।

अगर आप भी सिर्फ जिज्ञासा से भरे हैं, तो यात्रा नहीं होगी। जिज्ञासा से भरे हुए लोग वे हैं, जो मील के पत्थर के पास बैठ जाते हैं और पूछते हैं: मंजिल क्या है? कितनी दूर है? और सदा ही यही पूछते हैं, लेकिन कभी उठकर चलते नहीं।

जानते तो आप भी कितना हैं! क्या कमी है जानने में! करीब-करीब सभी कुछ जानते हैं। जो बुद्ध ने जाना और महावीर ने, कृष्ण ने जाना, वह सभी आप भी तो जानते हैं। गीता में पढ़कर आपको ऐसा नहीं लगता कि ये बातें तो हमें भी मालूम हैं?

मालूम आपको भी हैं, पर सिर्फ बुद्धि तक हैं। आपके हृदय तक उसका बीज नहीं पहुँचा है। और बुद्धि पर रखे हुए विचार वैसे ही होते हैं, जैसे पत्थर पर कोई बीज को रख दे। बीज तो होता है, लेकिन पत्थर पर रखा रहता है। अंकुर नहीं फूट सकता। अंकुर फूटना हो तो बीज को पत्थर से गिरना पड़े, जमीन खोजनी पड़े। और जमीन की भी ऊपर की सतह ठीक नहीं है, क्योंकि और गीली जगह चाहिए। तो थोड़ा जमीन के भीतर पहुँचना पड़े--जहाँ थोड़ी पानी की सुविधा हो, थोड़ा रस बहता हो।

बुद्धि पर पत्थर की तरह बीज रखे रह जाते हैं। हृदय में जब तक न गिर जायें, तब तक गीली जगह नहीं मिलती। हृदय में थोड़ा रस बहता है; थोड़ा प्रेम। वहाँ थोड़ा पानी है। वहाँ कोई बीज गिरे तो अंकुरित होता है, नहीं तो कभी अंकुरित नहीं होता।

जिज्ञासु व्यक्तियों के पास बहुत कुछ होता है, लेकिन पत्थर पर रखे हुए बीजों की भाँति। जमीन भी ज्यादा दूर नहीं होती, लेकिन थोड़ी यात्रा भी मुश्किल है। चलना बिलकुल नहीं है, तो पत्थर पर ही बीज रखा रह जाता है। इतनी यात्रा तो करनी ही पड़ेगी कि बीज पत्थर से नीचे गिरे, जमीन पर आये, जमीन में जगह खोजे, थोड़ी गीली भूमि को पाये, थोड़ा छिप जाये अन्धेरे में।

ध्यान रहे, जगत् में जो भी जन्म पाता है, वह गहन मौन, एकान्त, अँधेरे को चाहता है। बुद्धि में तो जितनी चीजें रखी हैं, वे सब खुले प्रकाश में रखी हैं। वहाँ अंकुर नहीं होते। हृदय आपके भीतर गीली जमीन है, छिपी हुई। वहाँ कुछ पैदा होता है।

इसलिए जो सिर्फ जिज्ञासा से जीते हैं, वे विद्वान बन जाते हैं, पण्डित बन

जाते हैं, ज्ञानी बन जाते हैं, लेकिन कुछ अंकुरित नहीं होता उनके भीतर; कोई नया जन्म, कोई नया जीवन, कोई नये फूल--कुछ भी नहीं।

एक और भी दिशा है खोज की; उसे हम कहते हैं, 'मुमुक्षा'। जानने की फिक्र नहीं है, जीने की फिक्र है। जानने की फिक्र नहीं है, होने की फिक्र है। यह सवाल नहीं है कि ईश्वर है, सवाल यह है कि क्या मैं ईश्वर हो सकता हूँ? अगर ईश्वर हो भी, और मैं ईश्वर न हो सकूँ, तो कोई सार नहीं है। सवाल यह नहीं है कि मोक्ष है, सवाल यह है कि क्या मैं भी मुक्त हो सकता हूँ? अगर मैं मुक्त हो ही न सकूँ, और मोक्ष हो भी कहीं, तो क्या अर्थ है? यह बात नहीं है कि आत्मा है भीतर या नहीं, हो या न हो, सवाल असली यह है कि क्या मैं आत्मा हो सकता हूँ?

मुमुक्षा है होने की खोज। और जब कोई होना चाहता है, तब दाँव पर लगना पड़ता है। इसलिए कहता हूँ: धर्म है जुआरियों का काम।

...वही कहूँगा, जो मैं जानता हूँ; जो जिया है। अगर आप तैयार हुए दाँव पर लगाने को, तो जो मेरा अनुभव है वह आपका अनुभव भी बन सकता है।

अनुभव किसी के नहीं होते, जो भी लेने को तैयार हों, उसी के हो जाते हैं। सत्य पर किसी का कोई अधिकार नहीं है। जो भी मिटने को राजी है, वही उसका मालिक हो जाता है। सत्य तो उसका है, जो भी उसे मानने की तैयारी दिखलाता है; जो भी अपने हृदय के द्वार खोलता है और उसे पुकारता है।

इस उपनिषद् को इसीलिए चुना है। यह उपनिषद् अध्यात्म का सीधा साक्षात्कार है। सिद्धान्त इसमें नहीं है, इसमें सिद्धों का अनुभव है। इसमें उन सब की कोई बातचीत नहीं है जो कुतूहल से पैदा होती है, जिज्ञासा से पैदा होती है। नहीं, इसमें तो उनकी तरफ इशारे हैं जो मुमुक्षा से भरे हैं, और उनके इशारे हैं जिन्होंने पा लिया है।

कुछ ऐसे लोग भी हैं कि जिन्होंने नहीं पाया है, लेकिन फिर भी मार्ग-दर्शन देने का मजा नहीं छोड़ पाते। मार्ग-दर्शन में बड़ा मजा है। सारी दुनिया में अगर सबसे ज्यादा कोई चीज दी जाती है, तो वह मार्ग-दर्शन है! और सबसे कम अगर कोई चीज ली जाती है, तो वह भी मार्ग-दर्शन है! सभी देते हैं, लेता कोई भी नहीं है!

जब भी आपको मौका मिल जाये किसी को सलाह देने का, तो आप चूकते नहीं हैं। जरूरी नहीं है कि आप सलाह-देने-योग्य हों। जरूरी नहीं है कि आपको कुछ

भी पता हो, जो आप कह रहे हैं। लेकिन जब कोई दूसरे को सलाह देनी हो, तो शिक्षक होने का मजा छोड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है।

शिक्षक होने में मजा क्या है?...आप तत्काल ऊपर हो जाते हैं मुफ्त में और दूसरा नीचे हो जाता है। अगर कोई आपसे दान माँगने आये, तो दो पैसे देने में कितना कष्ट होता है! क्योंकि कुछ देना पड़ता है जो आपके पास है। लेकिन सलाह देने में जरा भी कष्ट नहीं होता; क्योंकि जो आपके पास है ही नहीं, उसको देने में कष्ट क्या! आपका कुछ खो ही नहीं रहा। बल्कि, आपको कुछ मिल रहा है। मजा मिल रहा है। अहंकार मिल रहा है। आप भी सलाह देने की हालत में हैं आज, और दूसरा लेने की हालत में है। आप उपर हैं, दूसरा नीचे है।

इसलिए कहता हूँ कि इस उपनिषद् में कोई सलाह, कोई मार्ग-दर्शन देने का मजा नहीं है, बड़ी पीड़ा है। क्योंकि उपनिषद् का ऋषि जो दे रहा है, वह जानकर दे रहा है। वह बाँट रहा है कुछ--बहुत हार्दिक, बहुत आन्तरिक।

संक्षिप्त इशारे हैं, लेकिन गहरे हैं। बहुत थोड़ी-सी चोटें हैं, लेकिन प्राणघातक हैं। और अगर राजी हों, तो तीर सीधा हृदय में चुभ जायेगा और जान लिये बिना न रहेगा। जान ही ले लेगा। इसलिए थोड़ा सावधान! थोड़ा सचेत! क्योंकि यह सौदा ही खतरनाक है। इसमें पागल हुए बिना कोई मार्ग ही नहीं है। इसमें अपने को मिटाये बिना पाने का कोई उपाय ही नहीं है। यहाँ तो खोनेवाले ही बस पानेवाले बनते हैं।

और इसीलिए इस उपनिषद् को भी चुन लिया है। ऐसे तो सीधा ही आपले कह सकता हूँ, कोई कारण इस उपनिषद् को चुनने का नहीं है--बहाना, आड़; क्योंकि तीर सीधा मारो, आदमी बच सकता है; उपनिषद् की आड़ से थोड़ी सुविधा रहेगी। इसलिए चुन लिया है कि आपको ऐसा भी पता नहीं लगेगा कि मैं कोई सीधा ही आपको तीर मार रहा हूँ! तो बचने का जरा उपाय कम हो जाता है। सभी शिकारी जानते हैं कि थोड़ी आड़ से शिकार ठीक होता है। यह उपनिषद् सिर्फ आड़ है, और इससे कुछ लेना-देना ज्यादा नहीं है।

जो मैंने जाना है वही कहूँगा, लेकिन उसमें और उपनिषद् में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि इस उपनिषद् के ऋषि ने जो कहा है वह जानकर ही कहा है।

यह उपनिषद् अध्यात्म के सूक्ष्मतम रहस्यों का उद्घाटन है। लेकिन, अगर मैं उपनिषद् पर ही बात करता रहूँ तो डर है कि बात बात ही रह जाए। इसलिए चर्चा तो पृष्ठभूमि होगी, इस चर्चा के साथ-साथ प्रयोग होंगे। जो कहा है, जो इस ऋषि ने देखा है--या जो मैं कहता हूँ मैंने देखा है, उस तरफ आपके चेहरे को मोड़ने की कोशिश--उस तरफ आपकी भी आँखें उठानी हैं।

उस तरफ आपकी भी आँखें उठाने का प्रयास--वही मुख्य होगा, उपनिषद् की बात तो सिर्फ हवा पैदा करने के लिए होगी; कि आपके चारों तरफ वे तरंगें पैदा हो जायें; कि आप भूल जायें बीसवीं सदी को--पहुँच जायें उस लोक में जहाँ यह ऋषि रहा होगा; मिट जाये यह जगत् जो चारों तरफ बहुत बेरौनक और बहुत कुरूप हो गया है--और याद आ जाये उन दिनों की जब यह ऋषि जिन्दा रहा होगा।

एक हवा, एक वातावरण--बस, उसके लिए उपनिषद्। पर उतना काफी नहीं है--जरूरी है, काफी नहीं है।

तो जो मैं कहता हूँ, अगर आप उसको सुनकर ही रुक जाते हैं, तब मैं मानूँगा आपने सुना भी नहीं; क्योंकि सुनकर जो चलता नहीं, मैं नहीं मान सकता कि उसने सुना है। अगर आप सोचते हैं कि सुनकर आपकी समझ में आ गया,...

...इतनी जल्दी मत करना। सुनकर समझ में आता होता तो हम कभी के समझ गये होते। सुनकर ही समझ में आता होता तो इस दुनिया में समझदारों की कमी न होती; नासमझ खोजना मुश्किल हो जाता। मगर नासमझ-ही-नासमझ हैं!

सुनकर कुछ भी समझ में नहीं आता। सुनकर सिर्फ शब्दों पर मुट्ठियाँ बंध जाती हैं। सुनकर नहीं, करके ही समझ में आता है। इसलिए सुनना करने के लिए --समझने के लिए नहीं। सुनना करने के लिए, करना समझने के लिए। सुनकर ही सीधा मत सोच लेना कि समझ गये। वह बीच की कड़ी के बिना कोई भी उपाय नहीं है, कोई भी रास्ता नहीं है। लेकिन, मन कहता है कि समझ गये, अब करने की क्या जरूरत है!

मंजिलें चलकर पहुँची जाती हैं। सब भी समझ लिया हो, यात्रा-पथ पूरा स्मृति में आ गया हो, पूरा नक्शा जेब में हो, फिर भी बिना चले कोई मंजिल तक कभी पहुँचता नहीं है। लेकिन सपना देखा जा सकता है। कोई आदमी यहीं सो जाये, और सपना देख सकता है कहीं भी पहुँचने का। मन सपना देखने में बड़ा कुशल है।

और ऐसा मत सोचना कि आप ही ऐसे सपने देखते हैं। जिनको आप बहुत बुद्धिमान कहते हैं, वे भी इसी तरह के सपने देखते रहते हैं। साधु हैं, संन्यासी हैं, महात्मा हैं--वर्षों-वर्षों से खोज में लगे हैं, लेकिन कहीं इंचभर नहीं पहुँचते। यात्रा ही नहीं करते; वे जो वर्षों से खोज में लगे हैं!

सारी-की-सारी खोज वर्तुलाकार है। बुद्धि में ही वर्तुल बन जाता है, भँवर बन जाता है। उसी भँवर में घूमते रहते हैं। फिर उस भँवर में सब समा जाता है। वेद समा जाते हैं, उपनिषद् समा जाते हैं--कुरानें, बाइबिलें समा जाती हैं; उस भँवर में सब समा जाता है, लेकिन एक इंच भी गति नहीं होती।

उपनिषद् की हम चर्चा करेंगे--उपनिषद् समझाने के लिए नहीं, उपनिषद् बन जाने के लिए। यहाँ सुनकर कुछ कंठस्थ हो जाये और आप भी बोलने लगें, तो मैंने आपका नुकसान किया; मैं फिर आपका मित्र साबित न हुआ। यहाँ सुनकर आप, जो सुना है वह बोलने लग जाएँ, तो कोई मूल्य नहीं है। यहाँ सुनकर आपको भी वह हो जाये, आप भी वह देख लें, वह आँख आपकी भी खुल जाये--तो ही।

ऐसा समझें: एक कवि गीत गाता है किसी फूल के सम्बन्ध में। गीत में बड़ा माधुर्य हो सकता है, छन्द हो सकता है, लय हो सकती है, संगीत हो सकता है। गीत की अपनी खूबी है। लेकिन गीत कितना ही गाए उस फूल को, और कितना ही गुनगुनाए, तो भी गीत गीत है, फूल नहीं है। और लाख हो गति, और लाख हो छन्द, तो भी गीत गीत है, फूल की सुगन्ध नहीं। और आप उसी गीत से तृप्त हो जाएँ तो आप भटक गये।

उपनिषद् गीत है किसी फूल का जिसे आपने देखा नहीं अभी। गीत गजब का है, गानेवाले ने देखा है। पर गीत से तृप्त मत हो जाना, गीत फूल नहीं है। ऐसा भी हो जाता है कि कभी-कभी आप फूल के पास भी पहुँच जाते हैं। कभी-कभी। कभी-कभी फूल की एक झलक भी मिल जाती है--अचानक, आकस्मिक; क्योंकि फूल कोई विजातीय नहीं है, आपका स्वभाव है। आपके बिलकुल निकट है, किनारे-किनारे है। कभी-कभी छू जाता है--बिना आपके, बावजूद आपके।

कभी-कभी फूल एक झलक दे जाता है। कोई बिजली कौंध जाती है। किसी क्षण में आकस्मिक अनुभव में आ जाता है: कुछ और भी है इस जगत् में यही जगत् सब-कुछ नहीं है। इस पथरीले जगत् के बीच कुछ और भी है, जो पत्थर नहीं फूल है--जीवन्त, खिला हुआ। जैसे किसी स्वप्न में देखा हो। या अँधेरी रात में चमकी हो बिजली और कुछ दिखा हो और फिर खो गया हो--ऐसा कभी-कभी आपके जीवन में भी हो जाता है। कवियों के जीवन में अक्सर हो जाता है। चित्रकारों के जीवन में अक्सर हो जाता है। फूल की झलक बिलकुल पास आ जाती है।

फिर भी, फूल कितना ही पास हो--और कितनी ही झलक मिल गई हो --पास होना भी दूर होना ही है। और कितने ही पास आ जाए फूल, तो भी फासला तो बना ही रहता है। और मैं बिलकुल हाथ से भी छू लूँ फूल को, तो भी पक्का नहीं है कि जो अनुभव मुझे होता है वह फूल का है, क्योंकि हाथ खबर लाने वाला है। और हाथ अगर बीच में गलत खबर दे दे, तो कुछ भरोसा नहीं है। और हाथ सही ही खबर देगा, इसको मानने का कोई कारण नहीं है। फिर हाथ जो खबर देगा, वह फूल के सम्बन्ध में कम और हाथ के सम्बन्ध में ज्यादा होगी। फूल ठंडा मालूम पड़ता है, जरूरी नहीं कि फूल ठंडा हो। हो सकता है कि हाथ

गरम हो, इसलिए फूल ठंडा मालूम पड़ता हो। खबर हाथ के सम्बन्ध में है; क्योंकि खबर जब भी किसी माध्यम से आती है तो सापेक्ष होती है।

पक्का नहीं हुआ जा सकता।

पोपोफ का मैं एक संस्मरण पढ़ रहा था। पोपोफ एक साधिका थी--और गहरी साधिका थी। और पियोत्तर दिमित्रोविच ऑस्पेंसकी के पास साधना करती थी। एक दिन बैठी थी पास, एक सज्जन ने आकर ऑस्पेंसकी से पूछा कि ईश्वर है या नहीं। तो ऑस्पेंस्की ने कहा कि ईश्वर! नहीं, ईश्वर नहीं है! फिर ऑस्पेंस्की थोड़ी देर रुका और उसने कहा: लेकिन मैं कोई गारन्टी भी नहीं कर सकता, क्योंकि जो भी मैं जानता हूँ वह सब माध्यम से जाना गया है। कभी आँख से देखा है--लेकिन आँख का भरोसा क्या! कभी कान से सुना है--लेकिन कान गलत सुन सकते हैं! कभी हाथ से छुआ है--लेकिन हाथ का क्या कहना! अभी तक सीधा नहीं देखा है; अभी तक आमने-सामने नहीं हुआ हूँ; इसलिए कोई गारन्टी भी नहीं है। अभी तक जो भी जाना है, उसमें मुझे ईश्वर का कोई अनुभव नहीं हुआ। लेकिन जरूरी नहीं है कि ईश्वर न हो। इससे सिर्फ मेरी खबर मिलती है कि मेरे अनुभव क्या हैं। इसलिए मैं कोई गारन्टी नहीं कर सकता कि नहीं ही है। इसलिए मुझ पर भरोसा करके मत रुक जाना; खोजना।

जब भी माध्यम से कुछ घटता है, तो भरोसे का नहीं है। अगर फूल के बिलकुल पास भी पहुँच जाएँ, तो भी आँख देखती है, हाथ छूते हैं, सुगन्ध नाक में आती है--यह भी दूरी का अनुभव है।

तो कभी-कभी कोई कवि उस परम फूल के इतने पास पहुँच जाता है कि उसके गीत में उतर आती है गूँज 'उसकी'। लेकिन, फिर भी बुद्ध नहीं है वह, महावीर नहीं है वह।

...महावीर कौन हैं? ...बुद्ध कौन हैं?

बुद्ध हैं वह चैतन्य, जो फूल ही हो गया; इतनी भी दूरी न रही कि फूल को देखा हो--फूल ही हो गया।

फूल होकर ही पूरी तरह जाना जा सकता है, क्या है?

उपनिषद् के ऋषि की बात है। गीत है किसी फूल के सम्बन्ध में। उसे गुनगुनाना। मिठास है बड़ी उसमें, स्वाद है उसमें बहुत--लेकिन वह फूल नहीं है, गीत ही है। अगर प्रयास करेंगे तो कभी-कभी झलक भी मिलेगी।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: ध्यान में बड़ी झलक मिली, लेकिन फिर खो गई। अनन्त प्रकाश हो गया था, फिर खो गया। आनंद-ही-आनंद हो गया था।'

लेकिन अब कहाँ है? अब खोजते हैं और नहीं मिलता।

झलक का मतलब है, पास पहुँच गये थे। झलक तो खो ही जायेगी। इसलिए ध्यान ज्यादा-से-ज्यादा झलक ही दे सकता है। उस पर भी मत रुक जाना, कि उसी झलक को पकड़कर बार-बार खोजते रहना है। ध्यान का तो मूल्य ही इतना है कि झलक मिल जाये। फिर आगे जाना है समाधि में, ताकि आप फूल ही हो जायें।

ध्यान में है झलक, समाधि में है हो जाना।

झलकों पर मत रुकना। झलकें बड़ी प्रीतिकर हैं। सारा जगत् बासा मालूम पड़ने लगता है--एक झलक ध्यान में मिल जाए उस जीवन्त की, फूल की, उस खिलावट की जो भीतर है, तो सारा जगत् फीका और व्यर्थ हो जाता है।

लेकिन फिर कुछ लोग झलकों को पकड़ लेते हैं और उन्हीं को दोहराने लगते हैं और सोचते हैं सब हो गया। नहीं, जब तक आप ही न हो जाएँ, ईश्वर ही जब तक आप न हो जाएँ, तब तक भरोसा मत करना कि ईश्वर है।

हो सकते हैं; क्योंकि हैं ही। खुलना है जरा, उघड़ना है जरा; छिपे हैं, मौजूद हैं अभी और यहीं; थोड़े-से वस्त्र हैं, और बड़े झीने वस्त्र हैं...कि चाहें तो अभी उतार कर फेंक दे और नग्न हो जाएँ, और ईश्वर हो जाएँ--लेकिन बड़ी पकड़ है; झीने तो हैं, लेकिन पकड़ गहरी है।

क्यों है यह पकड़ इतनी?

यह पकड़ है, क्योंकि हम सोचते हैं ये वस्त्र ही हमारा होना है, यही हम हैं; इसके अलावा हमें कुछ और किसी अस्तित्व का पता नहीं।

इस उपनिषद् में इशारे होंगे उस अस्तित्व के, जो वस्त्रों के पार है। और इस उपनिषद् के साथ-साथ हम करेंगे ध्यान, ताकि मिले झलक। और आशा बाँधेंगे समाधि की ताकि हम भी हो जाएँ वही, जिसके हुए बिना न कोई सन्तोष है, न कोई शान्ति है, न कोई सत्य है।

उपनिषद् शुरू होता है प्रार्थना से। प्रार्थना है समस्त जगत् से।

"सूर्य कल्याणकारी हों। वरुण, अर्यमा, इन्द्र और बृहस्पति, विष्णु कल्याणकारी हों। उस ब्रह्म को नमस्कार हो। हे वायु! तुम्हारे लिए नमस्कार, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। सत्य और ऋत, वे सब मेरी रक्षा करें, आचार्य की भी।"

इस प्रार्थना से शुरू होता है।

धर्म की यात्रा प्रार्थना से शुरू हुई।

होगी ही।

प्रार्थना का अर्थ है--आस्था, आशा।

प्रार्थना का अर्थ है--इस सारे जगत् के साथ हमारे जुड़े हुए होने का भाव।

प्रार्थना का अर्थ है--मुझ अकेले से क्या होगा!

मुझ अकेले से होता तो हो गया होता। मुझ अकेले से तो क्षुद्र भी नहीं सध पाया! चाहा था धन मिल जाए, वह भी नहीं मिला! चाहा था पद मिल जाए, वह भी नहीं मिला! कैसी-कैसी चाहें की थीं--बड़ी, छोटी--वे भी पूरी न हुईं। मुझ अकेले से तो संसार भी न सधा, तो सत्य की यह महायात्रा मुझ अकेले से हो सकेगी? अकेले-अकेले तो मैं संसार में भी हार गया हूँ।

सभी हारे हुए हैं संसार में। जो जीते हुए दिखाई पड़ते हैं, वे भी। बस वे दूसरों को जीते हुए दिखाई पड़ते हैं, खुद तो बिलकुल हारे हुए हैं।

आप भी अपने को हारे हुए दिखाई पड़ते हैं, लेकिन औरों को तो आप भी जीते हुए दिखाई पड़ते हैं। आपसे भी पीछे लोग हैं, जो आप को समझते हैं: पा लिया आपने, जीत गये संसार में। लेकिन भीतर से अगर हम आदमी को देखें तो एक-एक आदमी हारा हुआ है।

संसार पराजय की लम्बी कथा है; वहाँ जीत होती ही नहीं। वहाँ जीत हो ही नहीं सकती; वह संसार का स्वभाव नहीं है। वहाँ हार ही नियति है। किसी की नहीं, किसी व्यक्ति की नहीं, संसार में होने की नियति ही हार है। वहाँ हारना ही होगा। वहाँ कोई कभी जीतता नहीं है।

वहाँ हम नहीं जीत पाये--जहाँ क्षुद्र था, स्वप्न था, (शंकर कहते हैं: माया है।) वह माया में भी हार गये! सपना था, भ्रम था, वहाँ भी तो जीत न पाए! जब भ्रम में भी हार गये, सपने में भी न जीते, तो यथार्थ में, सत्य में अकेले से क्या होगा?

प्रार्थना का अर्थ है: संसार में पराजित हुए व्यक्ति का यह अनुभव कि जन्मों-जन्मों तक चेष्टा करके मैं हार गया क्षुद्र में, तो विराट् में मेरी क्या सामर्थ्य?

इसलिए प्रार्थना।

इसलिए सारे जगत् को पुकारा है ऋषि ने कि मुझे साथ देना।

सूर्य को पुकारा है, वरुण को पुकारा है।

...ये सब नाम हैं, प्रतीक हैं जीवन की समस्त शक्तियों के।

सूर्य को पहले पुकारा है, क्योंकि सूर्य हमारा जीवन है। उसके बिना हम नहीं होंगे। हमारे भीतर सूर्य ही जीता है, जलता है। उधर सूर्य बुझ जाए, यहाँ हम बुझ जायेंगे। सूर्य ही हमारा प्राण है, इसलिए पुकारा।

कहा: "वायु को नमस्कार है।"

विशेष रूप से वायु को नमस्कार कहा है इस प्रार्थना में।

"क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।"

अजीब-सी बात है! थोड़ा सोचें! बड़े मजे की बात है; क्योंकि वायु है बिलकुल अप्रत्यक्ष, और सब चीजें प्रत्यक्ष हैं। सूर्य को कहा होता "प्रत्यक्ष ब्रह्म हो"—जीते-जागते, जलते, प्रखर—समझ में आता। सूर्य को नहीं कहा प्रत्यक्ष ब्रह्म, कहा वायु को—जो बिलकुल दिखाई पड़ती नहीं, जो बिलकुल अप्रत्यक्ष है।

कहाँ है प्रत्यक्ष वायु? सिर्फ अनुमान है कि है, लगता है कि है, भासता है कि है, दिखाई तो पड़ती नहीं; आँख के सामने कहाँ है?

प्रत्यक्ष का मतलब है, आँख के सामने है जो। आँख के सामने वायु बिलकुल नहीं है। पत्थर, पहाड़, सब आँख के सामने हैं, वायु नहीं है। लेकिन ऋषि कहता है—"हे वायु! नमस्कार तुम्हें, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।"

इसलिए कहा कि वायु जैसे दिखाई नहीं पड़ती और है, और आँख को दिखाई नहीं पड़ती फिर भी आँख को छू रही है प्रतिपल—ऐसा ही परम सत्य है: दिखाई नहीं पड़ता, छू रहा है प्रतिपल।

वायु दिखाई नहीं पड़ती, क्योंकि हमारे पास देखनेवाली आँख नहीं है। वायु तो यहाँ है। वायु के बिना तो हम भी नहीं हो सकते हैं। वही तो हमारी श्वास में है, हमें सम्हाले है। उसका ही आवागमन तो हमारा सारा जीवन है।

जो इतनी निकट है, श्वास है जो हमारी, वह हमें दिखाई नहीं पड़ती; क्योंकि हमारे पास आँखें बड़ी स्थूल हैं। तो हम जो बहुत मोटा-मोटा है, स्थूल-स्थूल है, वह देख लेते हैं; जो सूक्ष्म है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ता।

वायु सूक्ष्मतम है, हमारे सामने मौजूद है; भीतर मौजूद है, बाहर मौजूद है; रोएँ-रोएँ में मौजूद है—और दिखाई नहीं पड़ती! इसलिए कहा कि "तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो"—तुम ठीक ब्रह्म-जैसी हो।

'वह' भी यहाँ मौजूद है और दिखाई नहीं पड़ता! और रोएँ-रोएँ में 'वही' समाया हुआ है, रोआँ-रोआँ 'वही' है और फिर भी 'उसका' कोई पता नहीं चलता! इसलिए वायु को नमस्कार किया है कि हम वायु को तो जानते हैं, ब्रह्म को नहीं जानते। वायु से एक धागा जोड़ा है कि ब्रह्म भी ठीक वायु-जैसा है।

"इसलिए मैं तुम्हें प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा"—ऋषि कहता है, वायु को।

"सत्य और ऋत के नाम से भी कहूँगा", क्योंकि तुम ठीक 'उस'-जैसी हो—जो है और जिसका हमें पता नहीं है; जो हम स्वयं हैं और जिसका हमें पता नहीं है; जो अभी और यहाँ सदा से मौजूद है और हमें उसका पता नहीं है। लेकिन, यह खोज पूरी हो सके अगर सब देवता रक्षा करें।

देवता से अर्थ है, सदा से, जीवन की अनन्त-अनन्त शक्तियाँ। और जीवन है एक विराट् जाल अनन्त शक्तियों का। आपका होना भी एक विराट् जाल है अनन्त शक्तियों का। मिलता है आपमें सूर्य, मिलता है वरुण, मिलता है इन्द्र, मिलती है वायु, मिलती है अग्नि, मिलती है पृथ्वी, सब-कुछ, मिलता है आकाश—सब आपमें मिलते हैं। अगर एक व्यक्ति को हम पूरा-का-पूरा जान लें, तो हमने बीज-रूप में समस्त अस्तित्व को जान लिया। सब-कुछ उसमें है। सबका दान उसमें है। सब मिलकर ही उसका अस्तित्व है।

इन सबकी सहायता की प्रार्थना है। लेकिन, क्या सूर्य सहायता करेगा? ये सवाल उठता ही है। प्रार्थना भी की तो क्या सूर्य सहायता करेगा? प्रार्थना भी की तो क्या वायु सहायक हो जायेगी? प्रार्थना भी की तो पृथ्वी क्या सहायता करेगी?

पृथ्वी की सहायता और सूर्य की सहायता का सवाल नहीं है; आपने प्रार्थना की, यही बड़ी सहायता है। इसे थोड़ा ठीक-से समझ लें।

कोई सूर्य आकर आपकी सहायता नहीं करेगा, लेकिन आपने प्रार्थना की, इसका जो परिणाम है वह सूर्य पर नहीं होगा, आप पर होगा; क्योंकि प्रार्थना करनेवाला चित्त हो जाता है विनम्र; प्रार्थना करनेवाला चित्त हो जाता है असहाय; प्रार्थना करनेवाला चित्त स्वीकार कर लेता है इस बात को कि मुझ अकेले से नहीं होगा। प्रार्थना करनेवाला चित्त मिटने को तैयार हो जाता है। प्रार्थना करनेवाला चित्त अपने अहंकार को, इस भाव को कि मैं कर सकता हूँ, छोड़ देता है। इसके परिणाम होते हैं।

प्रार्थना का सारा परिणाम आप पर होता है। प्रार्थना से सूर्य नहीं बदलता, आप बदलते हैं। प्रार्थना से जगत् नहीं बदलता, आप बदलते हैं। लेकिन आपके बदलते ही दूसरे जगत् में आपका प्रवेश हो जाता है।

प्रार्थना आमतौर से जब आप करते हैं तो यही सोचते हैं कि कोई कुछ करेगा; इसलिए प्रार्थना करते हैं। न, प्रार्थना है एक उपाय, एक डिवाइस। हाथ तो आप जोड़ते हैं किसी और के सामने, लेकिन जो परिणाम होता है वह होता है भीतर—जिसने हाथ जोड़े हुए हैं, उस पर।

इसलिए बड़ी कठिनाई होती है। अगर आप वैज्ञानिक के सामने कहें कि 'हे सूर्य, सहायता कर!' तो वह कहेगा मूढ़ता की बात है; क्या सूर्य तुम्हारी सहायता करेगा? और कब किसी को सहायता की? कि 'हे इन्द्र, वर्षा कर!'

..."पागल हो गये हो? प्रार्थनाओं से कहीं वर्षाएँ हो गयी है?"

वैज्ञानिक ठीक कहता है: न तो सूर्य आपकी सुनेगा, न बादल आपकी सुनेंगे, न हवा आपकी सुनेगी; कोई आपकी नहीं सुनेगा, लेकिन आपने पुकारा, यह आपको बदल जायेगा। आपने कितनी जोर से पुकारा, उतनी गहरी हूँक आपके भीतर प्रवेश हो जायेगी। अगर आपके पूरे प्राण ही पुकार उठे, तो आप दूसरे ही आदमी हो जायेंगे।

इसलिए है प्रार्थना।

दूसरा प्रवचन

१४ अक्तूबर, १९७२, प्रातः

अन्तः शरीरे निहतो गुहायामज एको नित्यमस्य।
पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद।
यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः।
यस्त तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद।
यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद।
यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद।
यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद।
यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद।
यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद।
यस्य चित्त शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यमचित्तं न वेद।
यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद।
यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद।
यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद।
स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव नारायणः।
अहं समेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासो यं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया ॥१॥

शरीर के भीतर हृदय रूपी गुहा में एक 'अजन्मा नित्य' रहता है। इसका शरीर पृथ्वी है, वह पृथ्वी के भीतर रहता है, पर पृथ्वी उसे जानती नहीं। जल जिसका शरीर है और जल के अन्दर जो रहता है, पर जल जिसे जानता नहीं। तेज जिसका शरीर है और जो तेज के भीतर रहता है, तो भी तेज जिसको जानता नहीं। जो वायु के भीतर रहता है और वायु जिसका शरीर है, पर वायु जिसे जानता नहीं। आकाश जिसका शरीर है और जो आकाश के भीतर रहता है, पर आकाश जिसे जानता नहीं। मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहता है, तो भी मन जिसको जानता नहीं। बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धि के भीतर जो रहता है, तो भी बुद्धि जिसको जानती नहीं। अहंकार जिसका शरीर है और जो अहंकार के भीतर रहता है, तो भी अहंकार जिसको जानता नहीं। चित्त जिसका शरीर है और चित्त के भीतर जो रहता है, तो भी चित्त जिसको जानता नहीं। अव्यक्त जिसका शरीर है और अव्यक्त के भीतर जो रहता है, तो भी अव्यक्त जिसको जानता नहीं। अक्षर जिसका शरीर है और अक्षर के भीतर जो रहता है, तो भी अक्षर जिसको जानता नहीं। मृत्यु जिसका शरीर है और मृत्यु के अन्दर जो रहता है, तो भी मृत्यु जिसे जानती नहीं। वही इन सर्वभूतों का अन्तरात्मा है, उसके पाप नष्ट हो गये हैं और वही एक दिव्य देव नारायण है।

देह, इन्द्रियाँ, आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर 'मैं-मेरा' ऐसा जो भाव होता है, वह अध्यास (भ्रम) है, इसलिए विद्वान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को दूर करना चाहिए।

सागर की मछली सागर से अपरिचित रह जाती है--इसलिए नहीं कि सागर बहुत दूर है--इसीलिए कि सागर बहुत निकट है। जो दूर है वह दिखाई पड़ता है, जो निकट है वह आँख से ओझल हो जाता है। दूर को जानना कठिन नहीं है, निकट को जानना ही कठिन है। और जो निकट से भी निकट है, उसे जानना असम्भव है।

...इसे थोड़ा हम ठीक-से समझ लें; क्योंकि अन्तर्यात्रा में अत्यन्त अपरिहार्य है यह जान लेना।

पूछते हैं लोग, कहाँ खोजें परमात्मा को? पूछते हैं कि जो भीतर ही छिपा है, वह भूल कैसे गया? पूछते हैं कि जो इतना करीब है कि हृदय की धड़कन भी उतनी करीब नहीं, श्वासें भी उतनी पास नहीं स्वयं के--वह बिछुड़ कैसे गया है? जो मैं स्वयं ही हूँ, उससे भी विस्मृति कैसे हो गई है? और उनका पूछना तर्कयुक्त मालूम पड़ता है। प्रतीत होता है: जो वे पूछते हैं, ठीक ही पूछते हैं। और लगता है कि होना नहीं चाहिए था ऐसा।

जो मेरे भीतर ही छिपा है, उसे ही मैं नहीं जान पाता हूँ! जो मैं ही हूँ, वह भी अपरिचित रह जाता है! तो फिर परिचय किससे होगा; पहचान किससे होगी; ज्ञान किसका होगा? जब पास ही छूट जाता है हाथ से, तो दूर को हम कैसे पा सकेंगे!

...और ऐसा नहीं कि वह आज पास हो गया हो, वह सदा से ही पास है--अनन्त-अनन्त काल से पास है। उससे क्षणभर को भी हमारा छूटना और दूर होना नहीं हुआ है। हम जहाँ भागें, वह हमारे साथ भागता है। हम जहाँ जाएँ, वह हमारे साथ जाता है। नर्कों में भी वह हमारे साथ यात्रा करता है और स्वर्गों में भी। पाप में भी वह हमारे साथ उतना ही खड़ा होता है, जितना पुण्य में। यह कहना भी ठीक नहीं है कि साथ खड़ा होता है, क्योंकि जो हमारे साथ होता है उससे भी थोड़ी दूरी होती है। हमारा होना और उसका होना एक ही बात है।

अगर यह सच है तो इस जगत् में बड़ा चमत्कार हो गया--कि हम अपने को ही खो बैठे: जो असम्भव मालूम पड़ता है। अपने को कैसे खोया जा सकता है! अपनी छाया तक को खोना मुश्किल है। हम अपनी आत्मा को खो बैठे हैं, यह कैसे हो सकता है!

पर यह हुआ है। उसके खोने की घटना कैसे घटती है, वही इस सूत्र का सार है। इस सूत्र में प्रवेश करने के पहले इसके बुनियादी आधार समझ लें।

आँख की एक सीमा है, एक परिधि है। उससे ज्यादा दूर हो तो आँख नहीं देख पाती, उससे ज्यादा पास हो तो भी आँख नहीं देख पाती। आँख के देखने का एक विस्तार है। किसी चीज को आँख के बहुत पास ले आयें तो आँख नहीं देख पायेगी; बहुत दूर ले जाएँ तो भी आँख नहीं देख पायेगी। एक क्षेत्र है जहाँ तक आँख देखती है। और इस क्षेत्र के उस पार या इस पार आँख अंधी हो जाती है। और आप तो इतने निकट हैं कि आँख के पास ही नहीं हैं, आँख के पीछे हैं। यही अड़चन है।

...ऐसा समझें कि दर्पण के सामने खड़े हैं, तो एक खास दूरी से दर्पण पर ठीक प्रतिबिम्ब बनता है, अगर बहुत दूर चले जाएँ तो फिर दर्पण पर प्रतिबिम्ब नहीं बनेगा। बहुत पास आ जाएँ, कि आँख को दर्पण से ही लगा लें, तो प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ेगा। लेकिन यहाँ मामला ऐसा है कि आप दर्पण के पीछे खड़े हैं; इसलिए दर्पण पर प्रतिबिम्ब बनने का कोई उपाय ही नहीं है। आँख आगे है, आप पीछे हैं।

आँख देखती है उसको जो आँख के आगे हो। आँख उसको कैसे देखे जो आँख के पीछे है? कान सुनते हैं उसको जो कान के बाहर है। कान उसको कैसे सुने जो कान के भीतर है? आँख बाहर खुलती है; कान भी बाहर खुलते हैं। मैं आपको छू सकता हूँ, अपने को कैसे छुऊँ? और अगर अपने शरीर को भी छू लेता हूँ, तो वह इसीलिये कि शरीर भी मैं नहीं हूँ। वह भी पराया है, इसलिए छू लेता हूँ; लेकिन जो मैं हूँ, जो छू रहा है, उसे कैसे छुऊँ? उसे किससे छुऊँ?

इसलिए हाथ सब छू लेते हैं और खुद को नहीं छू पाते हैं; आँखें सब देख लेती हैं और खुद को नहीं देख पाती हैं, अपने लिए हम बिलकुल अंधे हैं। हमारी कोई इन्द्रिय काम की नहीं है। जिन इन्द्रियों से हम परिचित हैं, वह कोई भी काम की नहीं हैं। अगर किसी और इन्द्रिय का उद्घाटन न हो--जो भीतर देखती हो, अगर कोई और आँख न खुल जाये--जो भीतर देखती हो, जो पीछे देखती हो, जो उलटा देखती हो--कोई कान न खुल जाये, जिस पर भीतर की ध्वनि-तरंगें भी प्रभाव लाती हों--तब तक हम स्वयं को देख और जान और सुन न पायेंगे। तब तक स्वयं को छूने का कोई उपाय नहीं है।

जो निकट है वह चूक जाता है। जो निकट से भी निकट है––वह असम्भव है!...इसीलिए मछली सागर को नहीं जान पाती।

दूसरी बात: सागर में ही पैदा होती है, सागर में ही जीती है, सागर ही उसका भोजन, सागर ही उसका पेय, सागर ही उसका प्राण, सागर ही सब-कुछ––फिर सागर में ही मरती है और लीन हो जाती है, पर जानने के लिए मौका नहीं मिलता––क्योंकि दूरी नहीं मिलती, फासला नहीं मिलता। मछली को सागर का पता चलता है, अगर कोई उठाकर उसे सागर के किनारे ले जाए––तभी। ये बड़ी उलटी बात हुई: सागर का पता तब चलता है, जब सागर से दूर हो जाए। तो जब मछली तड़पती है रेत पर, धूप में, तब उसे सागर का पता चलता है। क्योंकि इतनी दूरी तो चाहिए पता चलने के लिए।

पैदा होने के भी पहले जो मौजूद था और मरने के बाद भी जो मौजूद रहेगा, और जिसमें ही पैदा हुए और जिसमें ही लीन हो गये, उसका पता कैसे चलेगा? पता चलने के लिए थोड़ी बिछुड़न, थोड़ा बिछोह होना चाहिए। इसलिए मछली को सागर का पता नहीं चलता। किनारे पर कोई फेंक दे तो पता चलता है।

आदमी की और भी मुसीबत है। परमात्मा सागर-ही-सागर है; उसका कोई किनारा नहीं जिस पर आपको फेंका जा सके, जहाँ आप तड़पने लगें मछली की तरह। ऐसा कोई किनारा होता तो बड़ी आसानी हो जाती। ऐसा कोई किनारा नहीं है। परमात्मा सागर-ही-सागर है। इसीलिए तो जो परमात्मा में किनारा खोजते हैं वे उसे कभी नहीं खोज पाते। जो परमात्मा की मझधार में डूबने को राज़ी हैं, उन्हीं को ही उसका किनारा मिलता है।

किनारा है ही नहीं; खोजने का कोई उपाय नहीं। और किनारा हो भी कैसे! सब चीज़ों का किनारा हो सकता है, समस्त का किनारा नहीं हो सकता; क्योंकि किनारा बनता है किसी और चीज़ से। नदी का किनारा बनता है, सागर का किनारा बनता है किसी और चीज़ से। परमात्मा के अतिरिक्त कुछ और नहीं है, जिससे किनारा बन सके।

परमात्मा का अर्थ ही इतना है कि जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परमात्मा का मतलब कोई आकाश में बैठे हुए किसी व्यक्ति का नहीं है, जो जगत् को चला रहा है। ये तो बच्चों की कहानियाँ हैं। परमात्मा से अर्थ है उस तत्त्व का, जिसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह उसकी वैज्ञानिक परिभाषा हुई।

परमात्मा का अर्थ है: समस्त, सर्व, सब-कुछ––जो भी है। जो भी है उसका कोई किनारा नहीं हो सकता; क्योंकि उसके अतिरिक्त कुछ किनारा बनने को

बचता ही नहीं। इसलिए परमात्मा मझधार है। वहाँ कोई किनारा नहीं है। जो डूबने को राज़ी है, वह उबर जाता है; जो उबरने की कोशिश करता है, बुरी तरह डूबता है। कोई किनारा हो तो पता भी चल जाये। इसीलिये हमें पता नहीं चला है। उसी में हम हैं। जिसे हम खोजते हैं, उसी में हम हैं।

जिसे हम पुकारते हैं, उसे पुकारने की जरा भी ज़रूरत नहीं है; क्योंकि इतनी भी दूरी नहीं है कि हमें जोर से पुकारना पड़े। इसलिए कबीर ने कहा है कि क्या तुम्हारा खुदा बहरा हो गया है जो तुम इतनी जोर से अज़ान पढ़ते हो! क्या तुम्हारा ईश्वर बहरा हो गया है जो तुम इतनी जोर से पुकारते हो! इतना पास है कि आवाज़ देने की भी तो ज़रूरत नहीं है। अगर मौन भी कुछ भीतर होगा तो वह भी सुन लिया जायेगा, इतने पास है।

दूसरे को पुकारना हो तो आवाज़ देनी पड़ती है, खुद को पुकारने के लिये आवाज़ देने की भी क्या ज़रूरत है। दूसरे का तो तब ही सुनाई पड़ता है जब शब्द ध्वनित हो, स्वयं का तो मौन भी सुनाई पड़ता है।

इतने जो निकट है, वही कठिनाई है। इसे ठीक-से ख्याल में ले लें: कि सत्य से हम इसलिए चूक गये हैं, क्योंकि हम उसी में पैदा होते हैं। उसी से बनती है हमारी मांस-मज्जा, उसी से निर्मित होती हैं हमारी हड्डियाँ। वही है हमारा श्वास, वही है हमारा प्राण, वही सब-कुछ है। अनेक-अनेक रूपों में, अनेक-अनेक द्वारों से हम उसी का जोड़ हैं, उसी का खेल हैं। फासला बिलकुल नहीं है; इसलिए स्मरण नहीं आता। इसलिए स्मरण असम्भव हो गया है। इसलिए संसार तो बहुत दिखाई पड़ता है, सत्य बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। संसार दूर है; जगह है दोनों के बीच में; इसलिए संसार की वासना जगती है।

वासना का अर्थ क्या है...?

वासना का अर्थ है: जिससे हमें दूरी मालूम पड़ती हो उससे दूरी मिटाने की कोशिश। इसलिए परमात्मा की कोई वासना नहीं, क्योंकि दूरी ही मालूम नहीं पड़ती। या कभी कोई परमात्मा को खोजता भी मालूम पड़ता है तो झूठी वासना मालूम पड़ती है। परमात्मा के नाम से कुछ और खोजता मालूम पड़ता है। नाम परमात्मा का लेता है, चाहता कुछ और है। शक्ति चाहता हो, शुद्धि चाहता हो, धन चाहता हो, पद चाहता हो––कुछ और...

एक मित्र मुझे आकर कहते थे कि "जब से आपके शिविर में साधना में लीन होने लगे हैं, बड़ा लाभ हो रहा है!"

पूछा, "क्या लाभ हो रहा है?" तो उन्होंने कहा कि "अध्यात्मिक तो नहीं हो रहा, लेकिन आर्थिक शुरू हो गया है!"

ठीक है! ...अध्यात्म की! ...इतनी जल्दी भी क्या है! ...टाला जा सकता है, स्थगित किया जा सकता है! ...आर्थिक तत्काल है!

हम खोजते कुछ और हैं, नाम कुछ और देते हैं। जहाँ-जहाँ हमने परमात्मा लिख छोड़ा है, अगर जरा हम लेबिल उखाड़ें, तो भीतर कुछ और पाया जायेगा। हम कुछ और चाहते हैं। जो आदमी कुछ और चाहता है परमात्मा के नाम से, वह आदमी उससे ज्यादा बेईमान है जो सीधा संसार चाहता है। कम-से-कम एक ऑनेस्टि, एक ईमानदारी है, एक प्रामाणिकता है। एक आदमी कहता है 'मैं धन चाहता हूँ', एक आदमी कहता है 'मैं कामवासना चाहता हूँ', एक आदमी कहता है 'मुझे पद चाहिए, अहंकार की तृप्ति चाहिये', और एक आदमी कहता है 'मैं तो परमात्मा चाहता हूँ'—लेकिन परमात्मा की चाह में मन उसका कुछ ऐसा ही है: कि एक दिन दुनिया को मैं दिखा दूँ कि मेरी मुट्ठी में परमात्मा भी है!

इसलिए परमात्मा के खोजी को ख्याल से देखें: अगर उसका अहंकार बढ़ता जाये तो समझना कि उसकी खोज किसी और चीज़ की है; अहंकार क्षीण होता जाये, टूटता जाये, विर्सजित होता जाये, तो ही समझना कि खोज परमात्मा की है।

संन्यासियों की अकड़ जाहिर है।...महात्माओं की अकड़! ...बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी मात हो जाएँ उस अकड़ से। राजनैतिक की तो खोज भी ठीक है, उसी अकड़ के लिए है। बात सीधी-साफ है; उसमें कोई जाल नहीं है ज्यादा। कुछ होने का मजा ही सारी बात है। लेकिन महात्मा की बात कुछ और है। वह कहता है: 'हम न-कुछ होने की खोज में हैं'...और फिर कुछ होता चला जाता है। दो महात्मा मिल जाएँ तो उनको एक तख्त पर बिठाया नहीं जा सकता; क्योंकि ऊँचा-नीचा कौन बैठे, कहाँ बैठे! इसीलिए महात्मा मिलते ही नहीं एक-दूसरे से; क्योंकि बड़ी दिक्कतें आती हैं!

एक मित्र—पागल हैं थोड़े। पागल ऐसे हैं कि महात्माओं को मिलाने की कोशिश करते हैं। वे मुझसे कहने लगे कि बड़ी मुसीबतें आती हैं। यहाँ तक सवाल उठता है कि अगर दो महात्माओं को मिलाया तो नमस्कार में पहले हाथ कौन जोड़े! कठिन है मामला! संसारी भी इतने संसारी नहीं मालूम होते। न भी जोड़ना चाहते हों हाथ, तो भी जोड़ लेते हैं। मन में भला होता हो कि दूसरा ही पहले जोड़ता है; लेकिन, फिर भी उसको छिपाकर चलते हैं। अभद्र मालूम पड़ता है। लेकिन महात्माओं को अभद्र भी नहीं मालूम पड़ता। कुछ महात्मा तो नमस्कार करते ही नहीं! उन्होंने व्यवस्था ही बंद कर रखी हैं। वे सिर्फ आशीर्वाद देते हैं!

ऐसे ही एक महात्मा को मिलाने के लिए कोई मित्र कोशिश में थे; किसी दूसरे महात्मा से। तो उस दूसरे महात्मा ने कहा: और सब तो ठीक है, लेकिन हम

नमस्कार न करें और वे आशीर्वाद दे दें तो इसमें सब खराब हो जायेगा!

यह हमारी खोज कुछ और है। धर्म से, परमात्मा से कुछ लेना-देना नहीं है। हम कुछ और चाह रहे हैं; हम कुछ और माँग रहे हैं; लेकिन बेईमान हैं, और हमने सत्य कुछ और ओढ़ रखे हैं।

परमात्मा की खोज कैसे हो, क्योंकि दूरी नहीं है। दूरी हो तो वासना जगती है। फासला हो तो दिल होता है, दौड़ें। फासला हो तो जीतने की आकांक्षा पैदा होती है। कठिनाई हो तो अहंकार को रस आता है—पराजित करने का, जीतने का। और परमात्मा में तो फासला ही नहीं है, दूरी ही नहीं है। परमात्मा मिला ही हुआ है। ऐसी हालत है।

जब तेनसिंग या हिलेरी एवरेस्ट पर चढ़ते हैं, तो मज़ा क्या है? पहला आदमी मनुष्य के इतिहास में एवरेस्ट पर खड़ा हो जाता है! और तो एवरेस्ट पर कुछ भी नहीं है। लेकिन एवरेस्ट पर पहला आदमी! ...इतिहास खड़ा हो जाता है; अहंकार को एक ऐतिहासिकता मिल जाती है। अब दुनिया में जब तक एवरेस्ट है, तब तक हिलेरी और तेनसिंग का नाम मिटाना मुश्किल है।

अभी चाँद की इतनी दौड़ चलती थी। यह बड़े मजे की बात है: कि चाँद पर हम क्या छोड़ आये! जो गये वे ईसाई हैं, लेकिन जीसस की मूर्ति नहीं छोड़ आये, झंडा छोड़ आये हैं अमरीका का! थोड़ा सोचें: झंडे असली हैं, जीसस-वगैरह सब झूठे हैं! ख्याल भी नहीं आया अमरीका के यात्रियों को कि जीसस की एक छोटी मूर्ति भी ले जायें कम-से-कम। झंडा ले गये! झंडा है असली आदमी का अहंकार। और जीसस का भी अगर कभी-कभार नाम ले लेते हैं, तब उसका भी मतलब झंडा ही होता है, और कुछ मतलब नहीं होता। जब लड़ना हो, झंडा ऊँचा रहे हमारा; तब! ...तब जीसस, राम, कृष्ण, बुद्ध—सब आ जाते हैं। मगर उनका भी उपयोग झंडे से ज्यादा नहीं है। वे भी आदमी के अहंकार पर लगाई गई पताकाएँ हैं।

चाँद पर हम छोड़ आये हैं झंडे। आदमी इस आकांक्षा में लगा रहता है कि कुछ मैं कर दिखाऊँ जो मैं ही कर पाऊँ—ताकि मेरा मैं एक ऐतिहासिकता ले ले। पर अगर आप एवरेस्ट पर ही पैदा हुए हों! तब बड़ी मुश्किल में पड़ जायेंगे: कि झंडा भी कहाँ लगाएँ?

आदमी परमात्मा पर ही पैदा हुआ है; वहीं है। आप वहाँ हैं ही, वहाँ से आपका कभी जाना नहीं हुआ। वही है आपकी भूमि जहाँ आप खड़े हैं। इसलिए परमात्मा के पाने में कोई अहंकार के लिये दौड़ नहीं है, गुंजाइश नहीं है; कोई तरह

का रस नहीं मालूम पड़ता। फिर परमात्मा कि वासना ही न हो तो अभीप्सा, प्यास कैसे जगे?

परमात्मा की प्यास बड़े उलटे ढंग से जगती है, इसे ख्याल में ले लें। क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई रास्ता ही नहीं है। संसार की प्यास जगती है दूरी से। और अगर अलंघ्य दूरी हो तो आकर्षण भारी हो जाता है। और इसलिए संसार में जो चीजें भी पा ली जाती हैं, उनका मज़ा चला जाता है; क्योंकि दूरी खत्म हो जाती है। आप एक स्त्री को पाना चाहते थे—फिर पा लिया; आप एक मकान बनाना चाहते थे—बन गया; आप—सोने का शिखर चढ़ाना चाहते थे अपने मकान पर, वह चढ़ गया;—अब?

जो मिल जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि वह पास आ जाता है। उसमें दूरी नहीं रह जाती। दूर हो, कठिनाई हो, कोई न पा सके, आप ही पा सकें, तो ही मज़ा होता है।

अमीरी का मज़ा अमीरी में नहीं है, बहुत लोगों की गरीबी में है। अगर सब लोग अमीर हो जायें तो बात खराब हो जाती है। अमरीका में वही परेशानी है। अमीर का मज़ा कम हुआ जा रहा है। गरीब भी वही कपड़े पहन रहा है, उन्हीं कारों में चल रहा है, उन्हीं मकानों में रह रहा है। गरीब और अमीर के बीच कोई बहुत बुनियादी फासला नहीं है। अमीर का मज़ा किरकिरा हुआ जा रहा है। अमीर परेशान है। वह कुछ और तरकीबें खोज रहा है, जो वही कर सके और सभी लोग न कर पायें।

परमात्मा में ही हम हैं, इसलिए परमात्मा में कोई अहंकार के लिए बुलावा नहीं है; कोई निमंत्रण नहीं है; कोई चोट, कोई चुनौती, कोई चैलेन्ज नहीं है। फिर परमात्मा की अभीप्सा कैसे पैदा होगी?

संसार की अभीप्सा पैदा होती है दूरी से, बुलावे से, चुनौती से; परमात्मा की अभीप्सा होती है संसार की असफलता से—इसे ख्याल कर लें: जब आप सब तरफ दौड़ चुकते हैं और सब तरफ हार जाते हैं; सब पा लेते हैं और सब व्यर्थ हो जाता है; खोज पूरी हो जाती है और पूरे होते ही नकार हो जाता है; सब शून्य हो जाता है। हाथ में आते ही सब चीजें मिट्टी सिद्ध होती हैं, दूर सब सोना मालूम पड़ती हैं। जितनी हो दूरी उतना स्वर्ण शुद्ध मालूम पड़ता है। जैसे-जैसे पास आता है, अशुद्ध होने लगता है। और पास आता है, मिट्टी होने लगता है।

यूनानी कथा मिदास की है। कथा में बड़ा व्यंग है। कथा है कि मिदास ने ऐसी सिद्धि पा ली, ऐसा वरदान पा लिया कि जो भी छुए, सोना हो जाए। हम सब मिदास से उलटे हैं: जो भी छुएँ, मिट्टी हो जाए!

लेकिन बड़ा मज़ा है। मिदास भी मुश्किल में पड़ गया था तो हमारी मुश्किल का तो क्या अंत! मिदास जो भी छूता, सोना हो जाता। उसने अपनी पत्नी को छुआ, वह सोना हो गई! उसने भोजन छुआ, वह सोना हो गया! उसने पानी पीने को उठाया, ओंठ तक पानी गया और सोना हो गया! ...मरा मिदास! बड़ी मुश्किल में पड़ गया कि सोने से तो प्यास नहीं बुझती। और कितनी ही लोग बातें करें: 'कनक-जैसा शरीर', 'स्वर्ण-जैसा शरीर'; सोने के शरीर से कोई तृप्ति होनेवाली नहीं है। कोई कितना ही कहे कि मेरी प्रेयसी की जो काया है, कनक-काया है, स्वर्ण-काया है—लेकिन हो जाये तब पता चले! तब सिर धुनें बैठकर कि यह क्या हो गया! इससे तो वही काया बेहतर थी।

तो मिदास इस मुश्किल में पड़ गया; कवियों की बातों में आ गया। वरदान माँग बैठा। पत्नी हो गई सोने की। पानी सोना हो गया। भोजन सोना हो गया। लोग उससे भागने लगे। खुद के बेटे-बेटी दूर रहने लगे। कहीं वे छू न दें! कोई मित्र पास न आए: कि कहीं छू न दे। मिदास अकेला हो गया। भरा-पूरा जगत् था उसका; सम्राट था, अकेला हो गया। वज़ीर पास न आएँ। सदा एक फासला रखें, कि बचने का उपाय रहे, भागने की सुविधा रहे।...अगर वह छू ही दे! और मिदास भूखा मरने लगा। पानी मिले न, भोजन मिले न। वह चिल्लाने लगा, चीखने लगा कि 'हे भगवान्! वापिस कर दे, वही ठीक था।'

यह तो वरदान अभिशाप हो गया। मिदास की यह हालत हो गई, सब चीज़ें सोना होने लगीं। तब हमारी क्या हालत होगी: जब जो भी छूते हैं, मिट्टी हो जाता है! पत्नी दूर थी तो सोने की मालूम पड़ती थी। जिस दिन विवाह किया, उसी दिन मिट्टी की होनी शुरू हो गई। दो-चार साल बाद मिट्टी रह जाती है: 'कुछ नहीं है उसमें'। सब चीज़ें मिट्टी हो जातीं; जो भी छुएँ मिट्टी हो जाता।

जिस दिन आपको यह अनुभव होता है कि सब दौड़ व्यर्थ है, उस दिन आप उसी जगह खड़े रह जाते हैं जहाँ परमात्मा है। जिस दिन आपको पता चलता है कि दौड़कर कुछ भी नहीं मिला, कुछ भी नहीं पाया, उस दिन दौड़ते नहीं हैं। और न दौड़ने की वजह से वह दिखाई पड़ जाता है, जो दौड़ने की वजह से दिखाई नहीं पड़ रहा था।

दौड़ने की धुन थी सवार तो दूर की चीज़ें दिखाई पड़ती थीं। दौड़ना व्यर्थ हो जाये तो दूर से आँख पास लौट आती है। और अगर सारी ही दौड़ व्यर्थ हो जाये तो आँख उलटी हो जाती है; अब तक बाहर देखती थी, अब भीतर देखने लगती है। दर्पण घूम जाता है। तब संसार में देखने-योग्य कुछ भी नहीं लगता, पाने-योग्य कुछ

भी नहीं लगता, खोजने-योग्य कुछ भी नहीं लगता; जब संसार वासना नहीं रह जाती। इसलिए इतना ज़ोर दिया है बुद्ध ने, महावीर ने और उपनिषदों ने कि निर्वासना द्वार है।

वासना है दूर जाने की व्यवस्था, निर्वासना है पास आने का द्वार।

इस सूत्र को अब हम ख्याल में ले लें:

शरीर के भीतर छिपा है वह 'अजन्मा नित्य'।

कभी पैदा नहीं हुआ जो—और सदा है, और सदा है, और सदा है।

ऐसा जो 'अजन्मा नित्य' है, वह इसी शरीर के भीतर छिपा है, लेकिन शरीर को उसका कोई पता नहीं। शरीर है पृथ्वी का अंग, वह पृथ्वी के भीतर छुपा है, पर पृथ्वी को उसका कोई पता नहीं है। इसी की पुनरुक्ति है—इसी सूत्र की।

अग्नि के भीतर छिपा है, अग्नि को पता नहीं। सब जगह छिपा है; और जहाँ छिपा है, जिसके भीतर छिपा है, उसे ही पता नहीं; क्योंकि जिसके भीतर छिपा है, वह बाहर दौड़ रहा है।

आपने कभी अनुभव किया है? शरीर की भीतर की तरफ दौड़ अगर आप अनुभव कर लें, तो समाधि उपलब्ध हो जाये। आपने शरीर की बाहर की तरफ दौड़ अनुभव की है। एक सुन्दर काया दिखाई पड़ती है: शरीर दौड़ने लगा, पुलक आ गई; शरीर का रोआँ-रोआँ भागने लगा। एक सुन्दर फूल दिखाई पड़ा—आँखें भागने लगीं। एक सुन्दर ध्वनि सुनाई पड़ी, कान भागने लगे।

शरीर भागता है सदा बाहर की तरफ। कभी आपने अनुभव किया है कि भीतर की तरफ भी शरीर भागा है? कभी अनुभव नहीं किया। तो शरीर को पता भी कैसे चले कि कौन भीतर छिपा है। जहाँ शरीर जाता ही नहीं, जहाँ शरीर कभी देखता ही नहीं—सुनता नहीं, खोजता नहीं—शरीर को पता कैसे चले? शरीर अपरिचित रह जाता है उससे ही, जिसका वह शरीर है।

सब दौड़ बाहर की तरफ है, इसलिए भीतर अज्ञान छा जाता है।

यह सूत्र अनेक-अनेक द्वारों से एक ही बात की पुनरुक्ति है:

वायु के भीतर जो छिपा है, वायु उसे जानती नहीं। मन जिसका शरीर है, मन उससे अपरिचित है। अहंकार जिसकी देह है, अहंकार उसके प्रति अनजान है। चित्त जिसका शरीर है, अक्षर, अव्यक्त जिसका शरीर है, वे भी उसे जानते नहीं जो भीतर छिपा है।

मृत्यु भी उससे अपरिचित रह जाती है, जिसकी मृत्यु घटित होती है; जो

मरता है। यह जरा अजीब वाक्य है; क्योंकि जो मरता है, मृत्यु उससे अपरिचित रह जाती है! जो मरता है, वह मरता ही नहीं!

मृत्यु जब घटती है तो कौन मरता है?...कोई भी नहीं मरता। क्योंकि शरीर सदा से मरा हुआ है; उसके मरने का कोई उपाय नहीं। और शरीर के भीतर जो छिपा है, वह सदा से अमृत है। उसके मरने का कोई उपाय नहीं। सिर्फ सम्बन्ध टूटता है। अमृत का और मृत का सम्बन्ध टूटता है मृत्यु में। लेकिन मृत्यु इतने निकट भी आकर उससे अपरिचित रह जाती है, वह जो अमृत है।

इसीलिए तो हम कितनी बार मर चुके हैं और हमें अब तक पता नहीं चला कि हमारे भीतर वह भी है जो मरता नहीं है। इस अपरिचय की प्रक्रिया ही यही है कि निकट आकर भी भीतर देखना नहीं हो पाता है, देखना बाहर ही होता रहता है। मरता हुआ आदमी देखें: मरने को पड़ा है, लेकिन बाहर ही देखता रहता है। अभी भी भीतर जाने का मन नहीं हो रहा है उसका। मृत्यु उसे धकाती है, हटाती है शरीर से, लेकिन वह पकड़ रहा है—जोर से पकड़ रहा है; और भी ज़ोर से पकड़ रहा है, जैसा उसने कभी नहीं पकड़ा था।

इसलिए वृद्ध आदमी कुरूप हो जाते हैं, जवान सुन्दर मालूम पड़ते हैं। उसका कारण गहरे में शरीर ही नहीं है। जवान शरीर को पकड़ता नहीं; अभी आश्वस्त है। बूढ़ा शरीर को पकड़ने लगता है। उस पकड़ने से सब कुरूपताएँ पैदा हो जाती हैं। बूढ़ा डरने लगता है कि अब मरे, अब मरे; अब मौत करीब है। जितना मौत से डरता है, उतना जीवन को ज़ोर से पकड़ता है। और जितना ज़ोर से पकड़ता है, उतना ही जीवन कुरूप हो जाता है।

बच्चे इतने प्यारे लगते हैं! पकड़ते ही नहीं हैं। बिलकुल अभी उन्हें पता ही नहीं कि मौत भी है। पशु-पक्षी देखें! कितना ही बूढ़ा हो जाए पशु, कितना ही बूढ़ा हो जाए पक्षी।

...उनकी बात कर रहा हूँ जिनका आदमी से सत्संग नहीं है। आदमी तो बिगाड़ ही देता है...।

तो बड़ी हैरानी होती है: जंगल में पशु और पक्षी बूढ़े नहीं होते मालूम पड़ते। जैसा बुढ़ापा आदमी को पकड़ता है, ऐसा पशु-पक्षियों को पकड़ता नहीं मालूम पड़ता। बच्चे ही बने रहते हैं। किसी गहरे तल पर उन्हें पता ही नहीं कि मौत होनेवाली है। इसलिए कोई शरीर की पकड़ नहीं आती।

बच्चे में जो ताज़गी है: जीवन सहज है, मौत की पकड़ नहीं है कोई। बुढ़ापे में कठिनाई आ जाती है। मौत साफ होने लगती है। ज़िन्दगी अब चेष्टा है। अब प्रयास से जीता है। अब इंच-इंच सोच के चलता है कि कहीं मौत न आ जाए। इससे

दुविधा पैदा हो जाती है। तनाव बढ़ जाता है भीतर और पूरे समय चिन्ता, सन्ताप पकड़ लेता है। वही चित्त को कुरूप कर जाता है।

मौत भी नहीं जान पाती है उसको जो भीतर छिपा अमृत है। कारण एक ही है कि भीतर देखने की घटना ही तब घटती है जब बाहर देखने का सारा सिल-सिला व्यर्थ हो जाये। इसे थोड़ा हम समझ लें: व्यर्थ कई बार होता मालूम पड़ता है, फिर भी होता नहीं। ऐसा नहीं है कि आपको व्यर्थ नहीं हो जाता, आपको भी व्यर्थ हो जाता है। एक कार खरीदने का सोचते थे--खरीद ली। जब नहीं खरीदी थी तो रात उसके सपने भी आते थे। जिस दिन कार की डिलीवरी मिलनेवाली थी उस दिन रात सो भी नहीं सके थे; रातभर!

ओटेगा बाई गासिप ने लिखा है--अपने एक मित्र के बाबत--कि उसने एक बहुत खुबसूरत गाड़ी फरारी खरीदी। बड़ी कीमती गाड़ी। और पहले ही दिन लेकर उसे निकला और ज़रा-सी खंरोच लग गई।

···बच्चा नहीं था मित्र, पचास साल का आदमी था! ...गैर पढ़ा-लिखा नहीं था, युनिर्वासिटी का प्रोफेसर था! ...साधारण विषय का प्रोफेसर नहीं था, फिलॉस्फी का प्रोफेसर था...!

ओटेगा बाई गासिप ने लिखा है कि मैंने अपने उस मित्र को अपनी माँ के कंधे पर सिर रखकर रोते देखा। फरारी में खरोंच लग गई, कार थी कीमती, न-मालूम कितने सपने देखे होंगे! जो खरोंच थी, वह भीतर तक चली गई, आत्मा तक प्रवेश कर गई होगी। तभी रोया।

रोते आप सभी हैं। वह आदमी ज़रा ईमानदार रहा होगा। खुली सड़क पर, माँ के कन्धे पे सिर रखकर रोने लगा। लेकिन कितने दिन चलेगा यह? दो-चार दिन में फरारी पुरानी पड़ जायेगी। महीने-दो-महीने में यह आदमी इसी गाड़ी में बैठेगा, इसे पता भी नहीं चलेगा कि किस गाड़ी में बैठा है। इस गाड़ी से ऊब जायेगा, लेकिन, गाड़ियों से नहीं ऊबेगा। दूसरी गाड़ी का सपना पकड़ लेगा। सोचेगा एक रोल्सरायस हो जाए; कि कुछ और हो जाए। एक स्त्री से ऊब जायेगा मन, एक पुरुष से ऊब जायेगा--लेकिन स्त्रियों से नहीं ऊबेगा, पुरुषों से नहीं ऊबेगा।

ऊबते हम भी हैं, लेकिन हमारी ऊब वस्तुओं से बंधी होती है। हमारी ऊब दर्शन नहीं बनती; हमारी ऊब दृष्टि नहीं बनती। एक चीज़ से ऊबते हैं तो ठीक वैसी ही दूसरी चीज़ से पकड़ जाते हैं। और यह सिलसिला जारी रहता है।

इतना ही फर्क है आप में और किसी बुद्ध में कि आप एक स्त्री से ऊबते हैं, दूसरी स्त्री में रस बना रहता है। अपनी स्त्री से ऊब जाते हैं, दूसरे की स्त्री में बना

रहता है। जो पास है वह व्यर्थ हो जाता है, लेकिन जो दूर है वह सार्थक मालूम रहता है। वह भी कल पास आकर व्यर्थ हो जायेगा। लेकिन सभी चीज़ें पास नहीं आ पातीं, कुछ चीजें दूर बनी ही रहती हैं। इसलिए रस बना ही रहता है, वासना दौड़ती ही रहती है।

बुद्ध एक स्त्री में ऊब के समस्त स्त्रियों से ऊब जाते हैं। बुद्ध एक महल में रह के सब महलों में रह लेते हैं। बुद्ध के लिए एक घटना काफी है। यह वैज्ञानिक बात है: एक पानी की बूंद अगर जान ली जाए तो सब सागर जान लिए गए। वह पागल होगा वैज्ञानिक जो पूरे सागरों की जाँच करता रहे और कहे कि जब मैं सब पानी की बूँदों की जाँच कर लूंगा, तब वक्तव्य दूंगा कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनता है।

हम सब वैसे ही पागल हैं। एक वैज्ञानिक एक बूंद को परख लेता है, खोज लेता है, तौल लेता है--पा लेता है कि एच० टू०ओ०; यहाँ उद्जन और ऑक्सीजन के अणुओं का ऐसा जोड़ है। खत्म हो गये, सब सागर व्यर्थ हो गये; सब सागर जान लिए गये। अब कहीं भी होगा पानी, न केवल इस पृथ्वी पर, वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई पचास हज़ार पृथ्वियाँ होंगी सारे विस्तार में, इन पचास हज़ार पृथ्वियों पर कहीं भी अगर पानी होगा, तो भी एच० टू० ओ०; तो भी वह बनेगा इसी व्यवस्था से।

सारा पानी जान लिया गया एक बूंद को जानकर।

एक वासना की व्यवस्था को समझकर सारी वासना को जो जान लेता है, वह बुद्ध हो जाता है। एक वासना को पहचानकर उसकी व्यर्थता को, उसकी अनि-वार्य व्यर्थता को, उसकी अपरिहार्य असफलता को जो देख लेता है, उसकी वासना गिर जाती है। उसकी वासना ऐसे गिर जाती है, जैसे लंगड़े की बैसाखियाँ अचा-नक गिर जाएँ। उनसे ही वह चलता था; पैर तो थे नहीं चलने के, बैसाखियों से चलता था। लकड़ी के पैर थे।

अचानक बैसाखियाँ गिर जाएँ और लंगड़ा वहीं गिर पड़े, ठीक ऐसी ही घटना घटती है जब वासना की बैसाखियाँ गिर जाती हैं। संसार में चलने के कोई पैर थोड़े हैं! लकड़ी के पैर हैं, नकली पैर हैं, वासनाओं से निर्मित हैं। वासना के गिरते ही बैसाखियाँ गिर जाती हैं और आदमी अचानक अपने को वहाँ पाता है जहाँ से वह कभी हटा ही नहीं था; जहाँ वह सदा था, जहाँ होना उसका स्वभाव है।

वही है परमात्मा, वही है अध्यात्म।

इस सूत्र का आखिरी हिस्सा और इसकी खबर है--

"मृत्यु जिसका शरीर है और मृत्यु के अन्दर जो है, और मृत्यु जिसे जानती नहीं, वही इन सर्वभूतों का अन्तरात्मा है, उसके पाप नष्ट हो गये हैं और वही एक दिव्य देव नारायण हैं।

"देह, इन्द्रियाँ आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर 'मैं-मेरा' ऐसा जो भाव है, वह अध्यास(भ्रम)है, इसलिए विद्वान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को इस भ्रम को दूर करना चाहिए।"

आखिरी बात इस सूत्र में।

यह जो वासनाओं की दौड़ है, यह इसीलिए है कि हमें दिखता है दूर कहीं कोई सपना पूरा होता हुआ। जैसे मरुस्थल में कोई देखता है, दूर मालूम होता है जल का सरोवर। दौड़ता है, जल के लिए दौड़ता है; वहाँ जाकर पाता है: नहीं है कुछ, रेत-ही-रेत है। लेकिन तब तक कहीं और जल का सरोवर दिखाई पड़ने लगता है। यह भ्रम है, अध्यास है।

सूर्य की किरणें जब तपती हैं जोर से रेत के ऊपर और वापिस लौटती हैं; रिफलेक्ट होती हैं, जब वापिस लौटने लगती हैं; तो कंपती हुई सूर्य की किरणें जब वापिस लौटती है तो उनके कंपन के कारण भ्रम पैदा होता है कि लहरें कंप रही हैं। और वह कंपन इतना सतत होता है--और कंपन की एक धारा बन जाती है--कि अगर पास में कोई वृक्ष खड़ा हो तो उस कंपन में उस वृक्ष की छाया नीचे दिखाई पड़ने लगती है, वह कंपन दर्पण का काम करने लगता है। और जब आपको दूर से दिखाई पड़ता हो पानी भी--और न केवल पानी, आकाश में उड़ती हुई बदलियों की नीचे प्रतिछाया भी दिखाई पड़ती हो--तो भरोसा भी कैसे न करें! आकाश में उड़ती हो बगुलों की कतार और नीचे पानी में भी उसकी छाया हो जाती हो, पास में खड़े वृक्ष भी नीचे दिखाई पड़ते हों तो फिर भरोसा पक्का हो जाता है कि पानी होना चाहिए: "न केवल लहरें दिखाई पड़ती हैं, लहरों में प्रतिबिंब भी दिखाई पड़ता है!" पास जाकर, जैसे-जैसे पास पहुँचते हैं, वैसे-वैसे तिरोहित होने लगती है छायाएँ। बिलकुल पास पहुँचकर रेत हाथ लगती है।

अध्यास का अर्थ है: जो नहीं है, उसका दिखाई पड़ना। शंकर के लिए बड़ा प्यारा शब्द है और उपनिषदों के लिए बड़ा आधारभूत। अध्यास का अर्थ है: प्रोजेक्शन, प्रक्षेपण--जो नहीं है, उसका दिखाई पड़ना।

वह जो दिखाई पड़ता है, वहाँ है नहीं, आप अपने भीतर से आरोपित करते हैं। आप ही कारणभूत हैं उसे आरोपित करने के। एक चेहरा आपको सुन्दर लगता है। वह सौन्दर्य वहाँ है या आप आरोपित करते हैं? क्योंकि कल वही चेहरा आपको कुरूप

लग सकता है। हो सकता है कल तक सुन्दर न लगा हो। आज अचानक आपका दिव्य-चक्षु खुल गया और आपको सुन्दर दिखाई पड़ने लगा! और आपके मित्रों को अभी भी दिखाई नहीं पड़ता।

कहते हैं 'लैला' सुन्दर नहीं थी, 'मजनू' को दिखाई पड़ती थी। सारा गाँव परेशान था। और लोगों ने समझाया मजनू को कि तू पागल है, इससे बहुत सुन्दर लड़कियाँ हैं गाँव में, तू व्यर्थ ही दीवाना हुआ जाता है। तो कहा है मजनू ने कि 'लैला को देखना हो तो मजनू की आँख चाहिए'।... यह अध्यास है। सवाल लैला नहीं, सवाल मजनू की आँख है। सवाल वह नहीं है जो दिखाई पड़ रहा है, सवाल वह है जो देख रहा है।

तो मजनू ने कहा 'मेरी आँख से देखो, तब तुम्हें लैला दिखायी पड़ेगी'। लेकिन उसमें खतरा है, मजनू की आँख से दिखायी पड़ेगी। अगर सच में मजनू की आँख उधार मिल जाए तो लैला जैसी मजनू को दिखाई पड़ती है, वैसी आपको दिखाई पड़ेगी।

आँख भी एक चश्मा है। चश्मे के रंग उतर जाते हैं विषयों पर। आपकी सारी इन्द्रियाँ प्रक्षेपण कर रही हैं। आप अपने चारों तरफ एक जगत् निर्माण कर रहे हैं। आप का मन केवल ग्राहक नहीं, निर्माता है। आप बना रहे हैं एक दुनिया अपने चारों तरफ सौन्दर्य की, सुगन्ध की-- इसकी, उसकी, आप एक दुनिया निर्मित कर रहे हैं।

यह दुनिया वैसी नहीं है, जैसी आप देखते हैं। यह आप पर निर्भर है। और आप बदल जाते हैं तो दुनिया इसीलिए बदल जाती है। जवान दूसरी दुनिया देखता है, बूढ़ा दूसरी दुनिया देखता है, बच्चे दूसरी दुनिया देखते हैं--क्या फर्क क्या पड़ जाता है?... दुनिया वही है!

लेकिन बच्चों के पास वह आँख नहीं है, जो जवान के पास है। बच्चे अभी कंकड़-पत्थर बीन रहे हैं। रंगीन होना काफी है। जवान कहता है फेंको भी इनको, इनमें क्या रखा है! इनकी कीमत क्या है! जवान के लिए अर्थ मूल्यवान हो गया, धन समझ में आने लगा। अब सिर्फ कंकड़-पत्थर बीनने से काम नहीं चलेगा; तितलियों के पीछे दौड़ने से कुछ हल होनेवाला नहीं।

बच्चे तितलियाँ पकड़ रहे हैं, तितलियाँ स्वर्ग मालूम पड़ती हैं। जवान बच्चों को नासमझ समझते हैं। फिर आदमी बूढ़ा हो जाता, इन्द्रियाँ थक जातीं, अनुभव तिक्त होते, कड़ुवे होते, मुँह उनकी बेस्वाद धारा से भर जाता। जवान भी उसको देखते हैं।

ये भी दूसरी तरह की तितलियाँ पकड़ रहे हैं। तितलियाँ बदल गई हैं।

तितलियाँ नहीं बदली हैं, बस और तरह की तितलियाँ पकड़ रहे हैं। बूढ़े कहे जाते हैं, समझाए चले जाते हैं, कोई जवान उनकी सुनता नहीं। उन्होंने भी अपने बाप-दादों की नहीं सुनी थी। नहीं सुनने का कारण है, आँखें दूसरी हैं। बूढ़े की आँख अगर जवान को मिल जाये तो उसे भी ऐसा ही दिखायी पड़ेगा। और ध्यान रखो कि मजा यह है कि अगर अभी बूढ़े को फिर जवान की आँख मिल जाए तो वह सब अनुभव भूल जायेंगे! वह जो ज्ञान बता रहे हैं, वह सब भूल जायेगा। फिर जगत् रंगीन हो जायेगा।

सुना है मैंने, अमरीका की सुप्रीम कोर्ट का एक चीफ जस्टिस, न्यायाधीश जब जवान था, तब पेरिस आया था—शादी करके सीधा पेरिस आया था। फिर तीस साल बाद, जब बूढ़ा हो गया, और बेटों की शादियाँ हो गयीं, और बेटे पेरिस हो आये, तब फिर दुबारा अपनी पत्नी को ले के आया। उसका नाम था, पीयरे। पेरिस देख के उसने अपनी पत्नी से कहा: वह बात न रही पेरिस में, सब फीका-फीका हो गया है। कहाँ वो दिन जब हम पहली दफा पेरिस आए थे! बात ही और थी, पेरिस कुछ और था!

तो उसकी पत्नी ने कहा: माफ करें, आप भूल रहे हैं। पीयरे और था, पेरिस तो वही है। पेरिस तो अब भी वही है। जवान की आँख से देखें, पेरिस अब भी वही है, पेरिस क्या बदलेगा! लोग बदल जाते हैं, दृष्टि बदल जाती है।

दृष्टि के बदलने से अगर जगत् बदल जाता है तो समझना कि आपने जो जाना था वह अध्यास था। वह दृष्टि की वजह से पैदा हुआ था, वह जगत् नहीं था। क्या ऐसा भी कोई उपाय है कि बिना दृष्टि के भी जगत् देखा जा सके? अगर हो, तो ही जगत् देखा जा सकता है, नहीं तो नहीं।

दृष्टियाँ अध्यास हैं, इसलिए ख्याल रखें: दर्शन का मतलब दृष्टि नहीं है, दर्शन का मतलब है वैसी अवस्था, जब सब दृष्टियाँ शान्त हो जाती हैं; जब कोई दृष्टि नहीं रह जाती, तब देखना; जब कोई अपनी आँख नहीं रह जाती थोपने को, और अपना कोई भाव नहीं रह जाता आरोपित करने को, अपनी कोई आकांक्षा नहीं रह जाती। मरुस्थल को तब देखना, जब भीतर को कोई प्यास नहीं होती—फिर मरुस्थल धोखा नहीं दे सकता।

प्यास की वजह से धोखा हो जाता है। पानी की चाह होती है, और नहीं मिलता तो चाह और बढ़ जाती है। और जब चाह ज़्यादा बढ़ जाती है तो मन विक्षिप्त हो जाता है, और जो नहीं है उसे भी मानने का मन होने लगता है। लेकिन एक ऐसी स्थिति भी है जहाँ सब दृष्टियाँ क्षीण हो जाती हैं और दर्शन का उदय होता है।

...कब होती हैं दृष्टियाँ क्षीण?

दृष्टियाँ तभी क्षीण होती हैं, जब सभी वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं; क्योंकि हर दृष्टि वासना का खेल है, वासना का फैलाव है।

यह सूत्र कहता है—"देह, इन्द्रियाँ आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर 'मैं-मेरा' ऐसा जो भाव है, वह अध्यास है। इसलिए, बुद्धिमान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को दूर करना चाहिए।"

"ब्रह्मनिष्ठा द्वारा"...अपने में निष्ठा द्वारा।

हमारी निष्ठा हमेशा पराये में है। किसी और में है, अपने में नहीं है। दौड़ कहीं और है, अपने में नहीं है। जा कहीं और रहे हैं एक जगह को छोड़कर, वो जगह जो भीतर है।

ब्रह्मनिष्ठा का अर्थ है कि वासनाओं की दौड़ हट गई, आदमी अपने में खड़ा हो गया। आदमी वहीं खड़ा हो गया जहाँ कोई मन नहीं है, कोई इन्द्रियाँ नहीं हैं, कोई शरीर नहीं है; सिर्फ शुद्ध चैतन्य है। उसमें प्रतिष्ठित होते ही सब अध्यास टूट जाते हैं। और तब संसार नहीं है, ब्रह्म ही है।

जब मैं हिन्दी में बोल रहा हूँ, बहुत लोगों को हिन्दी समझ में नहीं आती, लेकिन वे भी उपयोग कर सकते हैं। जिन्हें हिन्दी समझ में नहीं आती, वे आँख बन्द कर लें और केवल ध्वनि सुनें; शान्त बैठ जाएँ, जैसे ध्यान में हों। और बहुत बार जो सत्य समझ के भी समझ में नहीं आता, वह मात्र ध्वनि सुनने से समझ में आता है।

जब मैं अंग्रेज़ी में बोल रहा हूँ, जिन मित्रों को अंग्रेज़ी समझ में नहीं आती, वे ऐसा न सोचें कि उनके काम का नहीं है। वे आँख बन्द कर लें और जो मैं बोल रहा हूँ उसकी ध्वनि पर ध्यान करें, समझने की कोशिश न करें। जो भाषा समझ में नहीं आती, समझने की कोशिश ही मत करें। बिलकुल नासमझ हो के शान्त बैठ जायें, सिर्फ ध्वनि के आघात पर ध्यान करें; सिर्फ सुनें। वह सुनना ध्यान बन जायेगा। और उपयोगी होगा।

बड़ा सवाल समझना नहीं है, बड़ा सवाल शान्त होना है। बड़ा सवाल सुनना नहीं है, बड़ा सवाल मौन होना है। तो कई बार तो ये होता है: जो बात आपकी समझ में आ जाती है वह आपके भीतर विघ्न बन जाती है, क्योंकि उससे विचार शुरू हो जाते हैं। कई बार तो अच्छा है कि जो बात बिलकुल समझ में नहीं आती, उसको सुनें, क्योंकि फिर विचार नहीं चल सकते। जो समझ में नहीं आए तो विचार के चलने का कोई उपाय नहीं है, विचार रुक जाते हैं।

इसलिए कभी तो वृक्षों के बीच से गुज़रती हुई हवा को सुनना, कभी पक्षियों की आवाज़ सुनना, कभी पानी की कलकल, धारा से उठता हुआ निनाद सुनना, ऋषियों-मुनियों को सुनने से भी ज़्यादा बेहतर है। असली उपनिषद् वहाँ बह रहे हैं। पर वह आपकी समझ में नहीं आयेंगे। और जब समझ में आयें और आप सुन सकें, तो थोड़ी देर में बुद्धि शान्त हो जाती है, क्योंकि उसका कोई काम नहीं होता। और जब बुद्धि शान्त हो जाती है तो आप वहाँ पहुँच जाते हैं, जिसकी तलाश है।

तीसरा प्रवचन

१४ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
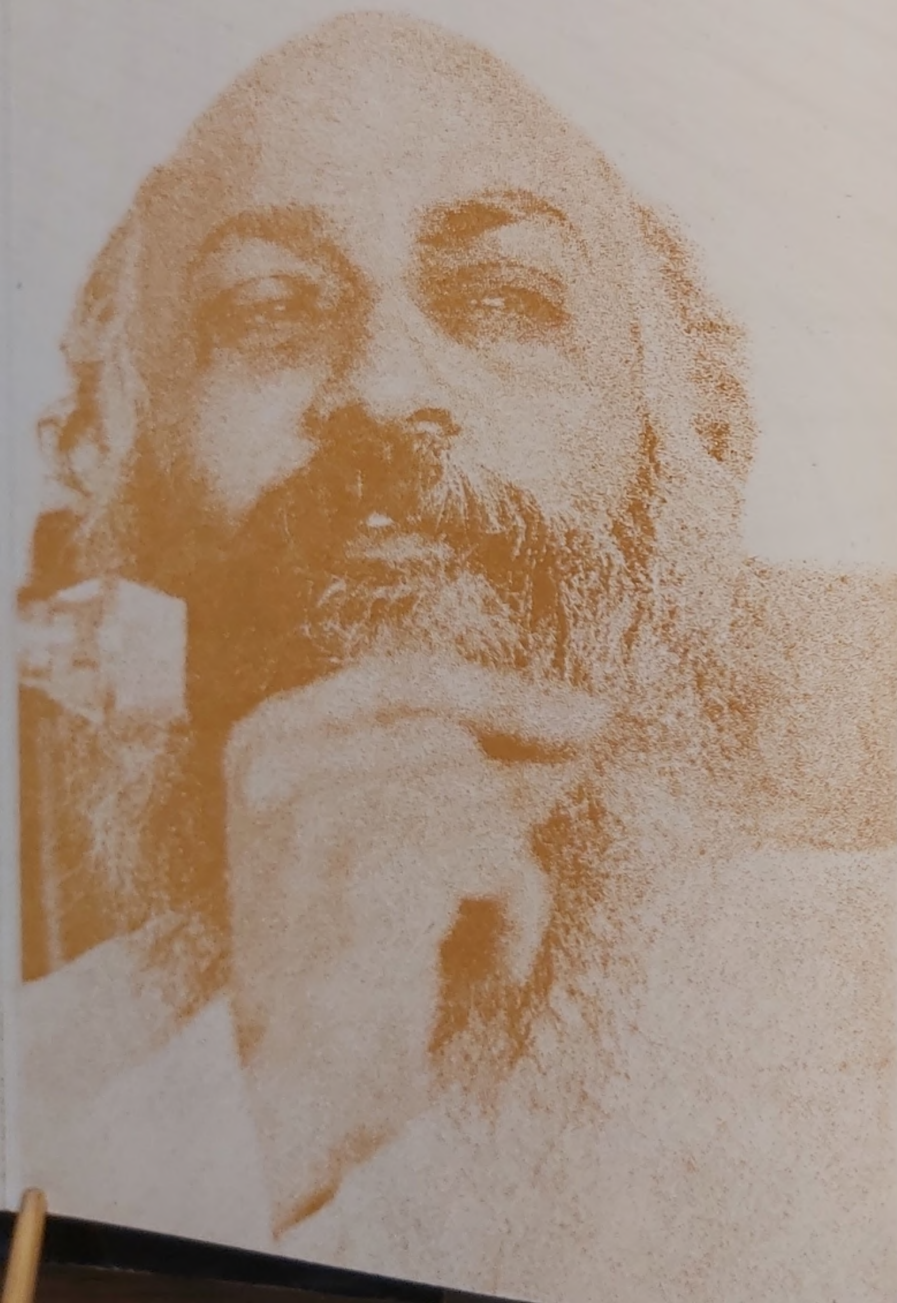
ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मनं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्।
सोऽहमित्येव तद्वृत्या स्वान्यत्रात्ममतिं त्यजेत्।।२।।
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनम् त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु।।३।।
स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः।।४।।
निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्वा चिन्तयात्मानमात्मनि।।५।।

अपने को बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी-प्रत्यगात्मा जानकर 'वह मैं ही हूं'—ऐसी वृत्ति द्वारा (अपने सिवाय) सब पदार्थों के ऊपर से आत्मबुद्धि का त्याग करना।

लोक का अनुसरण करना छोड़कर देह का अनुसरण भी छोड़ देना, इसके पश्चात शास्त्र का अनुसरण छोड़कर आत्मा के ऊपर का अध्यास भी छोड़ देना।

अपनी ही आत्मा में स्थित होकर युक्ति, श्रवण तथा स्वानुभव द्वारा अपने को ही सबका आत्मरूप जानकर योगी का मन नाश होता है।

निद्रा को, लोगों की बातों को, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों को तथा आत्मा के विस्मरण को किसी स्थल पर अवसर दिए बिना हृदय में आत्मा का चिन्तन करना।

कैसे कोई उस परम सत्य में प्रवेश करे, कैसे उस परम रहस्य को जान पाये—जो निकट है फिर भी नहीं जाना जाता; और जो सदा से पास है फिर भी खो गया है। उस तक हम कैसे पहुँचें; उस तक कोई भी कभी कैसे पहुँचा है, इस सूत्र में उस विज्ञान की व्याख्या है, उस मार्ग की विधि है।

अध्यास के सम्बन्ध में थोड़ी बातें हम समझें। अध्यास का अर्थ है: जैसा नहीं है वैसा देखना; और सत्य का अर्थ है: जैसा है वैसा ही देखना। हम जो भी देखते हैं, वह अध्यास है। हमारी दृष्टि में हम सम्मिलित हो जाते हैं और जो भी हमारा अनुभव है, वह वस्तुगत--ऑबजेक्टिव नहीं होता, सब्जेक्टिव--आत्मगत हो जाता है। जो वहाँ बाहर है, जैसा है, वैसा ही हम तक नहीं पहुँचता; हमारा मन उसे विकृत कर लेता है—सजा-सँवार लेता है; सजावट कर देता है; आभूषण पहना देता है; काँट-छाँट कर देता है--छोटा, बड़ा, बहुत-बहुत रूपों में उसे रूपांतरित कर देता है।

जो बड़े-से-बड़ा रूपांतरण है, जो गहरे-से-गहरा अध्यास है, वह है--हम प्रत्येक चीज के साथ अपने को जोड़ लेते हैं, जिससे हम जुड़े हुए नहीं हैं। जुड़ते ही चीज की जो वस्तुस्थिति है वह खो जाती है और जो स्वप्नस्थिति है वह सही मालूम पड़ने लगती है। जैसे; जहाँ-जहाँ हम कहते हैं 'मेरा'—कहते हैं 'मेरा मकान',... मकान, हम न थे तब भी था; हम न होंगे तब भी होगा। जो हमारे होने से पहले हो सकता है, और जो हमारे होने के बाद भी बना रहेगा, और जो हमारे मिटने के साथ मिटता नहीं है, वह 'मेरा' कैसे हो सकता है? मैं इसी क्षण मर जाऊँ तो मेरा मकान मिटता नहीं है। मेरे मकान को मेरे मिटने का पता भी नहीं चलेगा। तो मुझ से जोड़ ही क्या है मेरे मकान का? सम्बन्ध क्या है? कल कोई और रहेगा उस मकान में और वह भी उसे 'मेरा' कहेगा। कल कोई और रहता था, वह भी उसे 'मेरा' कहता था। न-मालूम कितने लोगों ने अपने मैं को उस मकान पर चिपकाया है और विदा हो गये हैं! लेकिन वह मैं चिपक नहीं पाता, वह मकान किसी का हो नहीं पाता। मकान हो भी नहीं सकता किसी का। मकान अपना है, मकान खुद का है।

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु स्वयं है, इसे हम ठीक-से समझ लें तो अध्यास को तोड़ने में आसानी हो जायेगी।

जमीन का एक टुकड़ा है। आप कहते हैं--मेरा खेत, मेरा बगीचा। आज नहीं कल, चाँद पर दावा खड़ा होगा: अमरीका कहेगा मेरा, या रूस कहेगा मेरा। कल तक चाँद किसी का भी न था। बस चाँद था। चाँद का ही था। लेकिन अब कोई-न-कोई दावा होगा। और आज नहीं कल, संघर्ष खड़ा होगा। अभी सूरज सिर्फ सूरज का है, कल उस पर भी दावा हो सकता है।

आदमी जहाँ भी पैर रखता है वहीं अपने 'मैं' की छाप लगा देता है। प्रकृति उसकी छाप को मानती नहीं; लेकिन दूसरे आदमियों को मानना पड़ता है, अन्यथा संघर्ष खड़ा होता है। और वे दूसरे लोग भी इसीलिये मानते हैं उस छाप को कि वे भी वैसी छाप लगाना चाहते हैं। तो मकान किसी का हो जाता है; जमीन किसी की हो जाती है। और हमारी इतनी आतुरता क्यों होती है कि हम इस 'मैं' की छाप को कहीं लगा दें? आतुरता इसलिए होती है कि जितनी जगह हम यह छाप लगा देते हैं, हस्ताक्षर कर देते हैं, जितना हमारा 'मेरे' का विस्तार बड़ा हो जाता है, उतना ही बड़ा 'मैं' हमारे भीतर हो जाता है।

'मैं' उतना ही बड़ा होगा, जितनी चीज़ों पर उसकी छाप लगी है। अगर कोई आदमी कहता है कि 'एक एकड़ जमीन मेरी', तो निश्चित ही उसके पास उतना बड़ा 'मैं' कैसे होगा! दूसरा आदमी कहता है: एक हज़ार एकड़ जमीन मेरी।

'मेरे' के विस्तार के साथ 'मैं' बड़ा होता मालूम पड़ता है। 'मेरे' का विस्तार कम होता है तो 'मैं' छोटा, कम होता है। तो 'मैं' की एक-एक ईंट 'मेरे' से निर्मित होती है। तो जितना ज्यादा मैं कह सकूँ 'मेरा', उतना बड़ा 'मैं' का महल खड़ा हो जाता है। इसलिये सारे जीवन हम एक ही दौड़ में होते हैं: कि कितनी ज्यादा चीजों पर छाप लगा दें अपनी--कह पायें कि मेरी हैं। इस छाप लगाने-लगाने में चीजों पर छाप लग भी जाती है और हम छाप लगाते-लगाते विदा भी हो जाते हैं; और जिसे हमने कहा था 'मेरा', उस पर कोई और छाप लगाना शुरू कर देता है।

वस्तुएँ अपनी हैं, किसी की भी नहीं। उपयोग उनका हो भी सकता है, मालकियत नहीं हो सकती। मालकियत भ्रम है। और उपयोग जब हम करते हैं तब अनुग्रह का भाव होना चाहिए; क्योंकि जो हमारा नहीं उसका हम उपयोग कर रहे हैं। लेकिन जब हम कहते हैं 'मेरा' तो अनुग्रह का भाव भी चला जाता है और 'मेरे' का एक जगत् निर्मित हो जाता है। उसमें धन है, पद है, प्रतिष्ठा है, शिक्षा है, सब सम्मिलित है। और ये ही सम्मिलित हों तो भी आश्चर्य नहीं, जिन चीजों का 'मैं'

से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, वे भी सम्मिलित हो जाती हैं। हम कहते हैं: मेरा धर्म, मेरा ईश्वर, मेरा देवता, मेरा मंदिर--जिनसे कि 'मैं' का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और अगर हो, तो फिर इस जगत् से छुटकारे का कोई उपाय नहीं; क्योंकि अगर धर्म भी मेरा और तेरा हो सके, और ईश्वर भी मेरा और तेरा हो सके, तब तो बड़ी कठिनाई है; फिर तो इस मेरे के बाहर जाने का मार्ग कहाँ मिलेगा! ईश्वर भी इसके भीतर आ जाता हो, तो फिर बाहर जाने के लिए कोई जगह भी नहीं बचती। लेकिन हम 'मेरे' की छाप मंदिर और मस्जिद पर भी लगा देते हैं, ईश्वर पर भी लगा देते हैं।

आदमी जहाँ भी जाता है, वहाँ मेरे को लेकर पहुँच जाता है। और इसके अनु-षांगिक हिस्से समझ लें: 'मैं' बड़ा होता है 'मेरे' से; लेकिन जितना मेरे का फैलाव होता है, उतना दुख भी बढ़ जाता है। अकेला मैं ही बड़ा होता, तब भी कोई कठि-नाई न थी। मैं की बढ़ती दुख की भी बढ़ती है; क्योंकि 'मैं' है एक घाव। और जितना बड़ा 'मैं' होता है, उतने ही आप चोट के लिए खुले हो जाते हैं; उतनी बड़ी जगह हो जाती है जिस पर चोट की जा सकती है। जैसे की बड़ा घाव हो तो उस पर दिनभर चोट लगे; कहीं से भी उठें-बैठें और चोट लगे। घाव है बड़ा, जगह है बड़ी, कुछ भी इशारा चोट बन जाता है। जितना बड़ा 'मैं' हो, उतनी बड़ी चोट लगने लगती है, उतना दुख होता है।

'मेरे' के विस्तार से 'मैं' बढ़ता है, रस आता है। 'मैं' बढ़ता है, दुख भी बढ़ता है। इधर लगता है सुख बढ़ रहा है, उधर साथ-साथ दुख भी बढ़ता जाता है। जितना हम सुख बढ़ाते हैं, उतना दुख बढ़ता चला जाता है। और इन दोनों के बीच में एक अध्यास, एक भ्रम चल रहा है। जहाँ मेरे का कोई उपाय नहीं कहने का, वहाँ हम व्यर्थ ही, झूठ ही 'मेरा' कहे चले जा रहे हैं। यह हाथ जिसको आप 'मेरा' कहते हैं, शरीर जिसको आप 'मेरा' कहते हैं, यह भी आपका नहीं है। आप नहीं थे तब भी इस हाथ की हड्डी इस हाथ की चमड़ी, इस हाथ का खून कहीं था; और आप नहीं होंगे तब भी यह होगा। आपके शरीर में जो हड्डियाँ हैं, वे न-मालूम कितने शरीरों में हड्डियाँ रह चुकी हैं। जो आज आपका खून है, कल किसी पशु में बहता था, परसों किसी वृक्ष में बहता था। और न-मालूम कितनी लम्बी यात्रा है उसकी अरबों खरबों वर्षों की। आप नहीं होंगे तब भी आपके शरीर में एक-एक कण कोई भी नष्ट होनेवाला नहीं है। वह सब बना रहेगा। वह किन्हीं और शरीरों में बहेगा।

इसे ऐसा समझें कि जो साँस अभी आपके भीतर है, एक क्षण पहले आपके पड़ोसी के भीतर थी। जो आपके पास में बैठा है, उसने जो साँस छोड़ दी है, वह अब आपकी साँस हो गई है। क्षणभर पहले वह कहता था 'मेरी साँस', क्षणभर बाद

उसकी नहीं रही, किसी और की हो गई। और अब दूसरा भी कह न पायेगा 'मेरी साँस' कि दूसरे की हो जायेगी।

जिन्दगी प्रतिपल किसी का दावा स्वीकार नहीं करती, बही चली जाती है। और हम दावे ठोंकते चले जाते हैं। यह दावे का जो भ्रम है, यह मनुष्य का गहरे-से-गहरा अध्यास है।

तो जब भी कोई आदमी कहता है 'मेरा', तब अज्ञान में गिरता है। यह सूत्र इस अध्यास को तोड़ने के लिए है। जमीन तो मेरी है ही नहीं, मकान तो मेरा है ही नहीं, धन तो मेरा है ही नहीं, शरीर भी मेरा नहीं है। आपका जो शरीर है वह आपके माँ और पिता के अणुओं से बना है। वे आपके पहले थे। और वे अणु लम्बी यात्रा करके आ रहे हैं; वे आपके माता-पिता के माता-पिता के पास थे। हजारों-लाखों वर्षों की यात्रा उन अणुओं की है। उनसे आपका शरीर बना है। वह शरीर भी एक क्षेत्र है, एक जमीन है जिसमें आप स्थापित हैं, लेकिन आप हैं नहीं। आप वही नहीं हैं, उससे अलग हैं।

यह सूत्र कहता है मनुष्य शरीर भी नहीं है। इतना ही नहीं, यह सूत्र और गहरे जाता है और कहता है मनुष्य मन भी नहीं है। क्योंकि मन भी तो संग्रह है।

आपके पास कोई भी ऐसा एक विचार है जो आपका हो? जिसको आप कह सकें 'मेरा'? कोई विचार नहीं है। कोई परम्परा से आया है, कोई शास्त्र से आया है, कोई किसी से सुनके, कहीं से पढ़के, कहीं-न-कहीं से आया है। अगर आप अपने एक-एक विचार की जन्मपत्री की खोज करें, और एक-एक विचार की यात्रा देखें, तो आप पायेंगे आपके पास एक भी विचार अपना नहीं है, सब विचार उधार हैं; सब कहीं से आये हैं।

कोई विचार मौलिक नहीं होता, ओरिजनल नहीं होता, सब विचार उधार होते हैं। पर विचार को भी हम कहते हैं 'मेरा'! वहाँ भी हम...

ध्यान रहे, श्वास तक मेरी नहीं कही जा सकती, विचार और भी सूक्ष्म बात है। लेकिन उसे भी मेरा नहीं कहा जा सकता। इस विश्लेषण में गहरे उतरते-उतरते कहाँ पहुँचता है आदमी? उपनिषद् कहाँ पहुँचे हैं? बुद्ध कहाँ पहुँचते हैं? महावीर कहाँ पहुँचते हैं? इस विश्लेषण को करते-करते, इस काट को करते-करते--यह भी मैं नहीं हूँ, यह भी मैं नहीं हूँ, यह भी मैं नहीं हूँ--आखीर में जब काटने को कुछ भी नहीं बचता; जब कुछ भी नहीं बचता जिसको मैं सोच भी सकूँ कि मेरा है या नहीं, तब भी जो बच रहता है; जब सब काट डाला जाता है और काटने का कोई उपाय नहीं रह जाता; जब सब तोड़ दिये जाते हैं सम्बन्ध और कोई सम्बन्ध बचता नहीं

जिसे तोड़ा जाये, तब भी जो बच रहता है, उसी को उपनिषद् 'साक्षी' कहते हैं; वही है 'विटनेस'।

यह बड़ा संसार है चारों तरफ, यह मेरा नहीं है। और सिकुड़कर पास आता हूँ, यह शरीर भी मेरा नहीं है। और भीतर उतरता हूँ, यह मन भी मेरा नहीं है। फिर कौन है, जिसको मैं कहूँ 'मैं'? या कि मेरे भीतर कोई भी नहीं है जिसको मैं कहूँ 'मैं'। मैं हूँ, या नहीं हूँ? सब मेरे को तोड़ते-तोड़ते शुद्धतम क्या बचता है भीतर? एक चीज बच रहती है जो नहीं कटती। जिसको काटने का कोई भी उपाय नहीं है।

पश्चिम में एक विचारक हुआ, देकार्त। गहरा विचारक था। और उसने तय किया कि तब तक कोई बात न मानूँगा जब तक कि असंदिग्ध सत्य उपलब्ध न हो जाये; जिस पर संदेह न किया जा सके। तो उसने चिन्तन शुरू किया। बड़ी मेहनत की उसने और सारी चीजें संदिग्ध मालूम पड़ीं। कोई कहे 'ईश्वर है'—संदेह किया जा सकता है। हो या न हो, लेकिन संदेह तो किया जा सकता है। कोई कहे 'स्वर्ग है', 'मोक्ष है'— संदेह किया जा सकता है। देकार्त कहता था कि मैं तो जिस पर संदेह ही न किया जा सके—ऐसा नहीं है कि जिसको सिद्ध किया जा सके, तर्क किया जा सके—नहीं, संदेह ही न किया जा सके—इनेविटेबल, असंदिग्ध हो, तभी मानूँगा।

बहुत खोज करके, लेकिन एक जगह आकर वह भी रुक गया। उसने सब इन्कार कर दिया—ईश्वर, स्वर्ग, नर्क, सब फेंक दिये, लेकिन एक जगह आकर अटक गया—'मैं'।...मैं हूँ या नहीं?

देकार्त ने कहा, इस पर संदेह नहीं किया जा सकता। क्योंकि अगर मैं यह भी कहूँ कि मैं नहीं हूँ, तो यह कहने के लिये भी मेरे होने की जरूरत पड़ जाती है। तो यह वैसे ही होगा, जैसे घर के भीतर कोई आदमी हो और वह आपसे कहे कि 'मैं अभी बाहर गया हूँ—या मैं अभी घर पर नहीं हूँ, आप थोड़ी देर बाद आयें तब मैं आपको मिलूंगा, तब तक मैं घर लौट आऊंगा'। तो उसका यह कहना ही उसके होने का प्रमाण हो जायेगा। इसलिए मेरे होने की तो स्थिति असंदिग्ध है। इतना तो साफ है कि मैं हूँ। लेकिन क्या हूँ, यह इतना साफ नहीं है। शरीर हूँ कि मन हूँ—क्या हूँ? यह इतना साफ नहीं है।

उपनिषद् इसी की खोज में चलते हैं। साफ करते चले जाते हैं; एक-एक चीज को अलग करते जाते हैं—जैसे कोई प्याज के छिलके को उघाड़ता चले जाये। और जब तक छिलके बचते हैं, उघाड़ते ही चले जाते हैं।

अगर प्याज के छिलके उघाड़ते चले जाएँ तो पीछे आपके हाथ कुछ भी न

लगेगा। प्याज छिलका-ही-छिलका है—वस्त्र-ही-वस्त्र; निकालते चले जायें तो भीतर कुछ भी न मिलेगा। जैसे किसी ने कपड़ों की एक गुड़िया बनायी हो, और हम एक-एक कपड़ा निकालते चले जायें। एक कपड़े को निकालें, दूसरा कपड़ा बचे। उसे निकालें, तीसरा निकल आये। निकालते चले जायें, लेकिन कपड़े की ही गुड़िया हो। आखिर में सब कपड़े निकल जायेंगे, गुड़िया पीछे बचेगी नहीं। आखिर में शून्य हाथ लगेगा।

तो बड़ी खोज यही है मनुष्य की: कि आदमी भी कहीं पर्तों का ही एक जोड़ तो नहीं है? कि हम उखाड़ते चले जायें और भीतर फिर कुछ बचे ही न! कह दें कि शरीर भी मैं नहीं हूँ और मन भी मैं नहीं हूँ; और यह भी नहीं और यह भी नहीं। फिर कहीं ऐसा न हो कि प्याज की कहानी हो जाये! आखिर में कुछ भी न बचे जिसको हम कहे सकें कि मैं हूँ।

लेकिन, उपनिषद् कहते हैं, अगर यह भी हो तो भी सत्य को जान लेना जरूरी है। अगर यह भी सत्य हो कि भीतर कुछ भी नहीं है, तो भी जान लेना जरूरी है; क्योंकि सत्य को जान लेने के परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन, खोज करने पर अंततः पता चलता है कि नहीं, वस्त्रों का जोड़ ही नहीं है आदमी, मात्र पर्त और पर्त और पर्त ही नहीं है, पर्तों के भीतर भी कुछ है, जो पर्तों से भिन्न है। लेकिन उसका पता तभी चलता है जब हम सब पर्तों को उखाड़कर भीतर पहुँच जायें। उस तत्त्व का नाम उपनिषद् कहते हैं "साक्षी" है।

यह बड़ा कीमती शब्द है, और बड़ा मूल्यवान; और पूरब का सारा चिन्तन, सारी मनीषा, सारी प्रतिभा, इस एक छोटे-से शब्द में निहित हो गई है। इससे महत्त्वपूर्ण शब्द पूरब ने दूसरा दुनिया को नहीं दिया है: साक्षी।

साक्षी का मतलब क्या है? साक्षी का मतलब है: देखनेवाला; गवाह। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसा किसको अनुभव होता है? मैं मन नहीं हूँ, ऐसा किसको अनुभव होता है? ऐसा कौन इन्कार करता चला जाता है कि मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ? एक तत्त्व है हमारे भीतर दर्शन का, दृष्टि का, द्रष्टा का, देखने का। हम देख रहे हैं; हम जाँच रहे हैं।

वह जो देख रहा है, वही है साक्षी; जो दिखाई पड़ रहा है, वही है जगत्। जो देख रहा है, वही हूँ मैं; और जो दिखाई पड़ रहा है, वही है जगत्। अध्यास का अर्थ है कि जो देख रहा है, वह भूल से यह समझ लेता है कि जो दिखाई पड़ रहा है वह मैं हूँ। यह अध्यास है।

एक हीरा मेरे हाथ में रखा है। उसे मैं देख रहा हूँ। अगर मैं यह कहने लगूँ यह मैं हूँ, यही भ्रांति है। इस भ्रांति को तोड़ना है और अंततः उस शुद्ध तत्त्व को खोज लेना है जो सदा ही देखनेवाला है और कभी दिखाई नहीं पड़ता। यह थोड़ा

कठिन है। जो देखनेवाला है वह कभी दिखाई नहीं पड़ सकता। क्योंकि वह किसको दिखाई पड़ेगा? आप सारी चीज़ों को देख सकते हैं जगत् की, सिर्फ अपने को छोड़-कर। आप अपने को कैसे देखियेगा? क्योंकि देखने में दो की तो जरूरत पड़ेगी ही—— जो देखे और जो दिखाई पड़े। आप सब कुछ देख सकते हैं, अपने भर को आप नहीं देख सकते हैं। कैसे देखियेगा? किसी चमीटे को हम उसी चमीटे से पकड़ने की कोशिश करने लगें, सब पकड़ सकते हैं उस चमीटे से, सिर्फ उसी चमीटे को पकड़ने की कोशिश असफल जायेगी। और तब बड़ी मुश्किल होगी कि चमीटा भी कैसा पागल है! सब कुछ पकड़ लेता है तो अपने को क्यों नहीं पकड़ पाता?

हम सब कुछ देख लेते हैं, अपने को नहीं देख पाते। देख भी नहीं पायेंगे। और जिसको भी हम देख लेंगे, जान लेना कि वह हम नहीं हैं। तो जिस चीज को भी आप देखने में समर्थ हो जायें, आप समझ लेना कि इतनी बात तय हो गई कि यह मैं नहीं हूँ। कोई आदमी अगर ईश्वर का दर्शन कर ले तो समझ लेना एक बात पक्की हो गई, कि आप ईश्वर नहीं हैं। आपको भीतर प्रकाश का दर्शन हो जाये, तो समझ लेना एक बात पक्की हो गई कि आप प्रकाश नहीं हैं। आपको भीतर आनंद का अनुभव हो जाये, तो आप एक बात पक्की समझ लेना कि आप आनंद नहीं हैं। जिस चीज का भी अनुभव हो जाये वह आप नहीं हैं। आप तो वह हैं जिसको अनुभव होता है।

तो जो भी चीज अनुभव बन जाती है, उसके आप पार हो जाते हैं। इसलिए एक कठिन बात समझ लेनी उपयोगी होगी, कि अध्यात्म कोई अनुभव नहीं है। दुनिया में सब चीजें अनुभव हैं, अध्यात्म कोई अनुभव नहीं है। अध्यात्म तो उसकी तरफ पहुँच जाना है जिसको सब अनुभव होता है और जो स्वयं कभी अनुभव नहीं बनता—— अनुभोक्ता, साक्षी, द्रष्टा।

आपको मैं देखता हूँ; उधर आप हैं, इधर मैं हूँ। उधर आप हैं जो दिखाई पड़ रहा है; इधर मैं हूँ जो देख रहा है। ये दो हैं। अपने को बाँटने का कोई उपाय नहीं है कि मैं अपने को दो टुकड़े में कर लूँ: कि एक देखे और एक दिखाई पड़े। अगर टुकड़ा हो सके——दो टुकड़े हो सकें——तो जो टुकड़ा देखेगा, वही मैं हूँ और जो टुकड़ा दिखाई पड़ेगा, वह मैं नहीं हूँ। वह बात समाप्त हो गई। वह मुझसे टूट गया। वह अलग हो गया।

उपनिषद् की व्यवस्था, प्रक्रिया, विधि, यही है——नेति, नेति। जो भी दिखाई पड़ जाये, कहो कि यह भी नहीं। जो भी अनुभव में आ जाये, कहो——यह भी नहीं, और हटते जाओ पीछे, हटते जाओ पीछे, हटते जाओ पीछे। उस समय तक हटते

जाओ, जब तक कि कोई भी चीज इनकार करने को बाकी रहे। एक ऐसी घड़ी आती है, सब दृश्य खो जाते हैं। एक ऐसी घड़ी आती है, सब अनुभव गिर जाते हैं;——सब।

ध्यान रखना, सब। कामवासना का अनुभव तो गिरता ही है, ध्यान का अनुभव भी गिर जाता है। संसार के, राग-द्वेष के अनुभव तो गिर ही जाते हैं, आनंद, समाधि, इनके भी अनुभव गिर जाते हैं। बच रहता है खालिस देखनेवाला। कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, शून्य हो जाता है चारों तरफ। रह जाता है केवल देखनेवाला और चारों तरफ रह जाता है खाली आकाश। बीच में खड़ा रह जाता है द्रष्टा, उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि उसने सब इनकार कर दिया जो भी दिखाई पड़ता था, हटा दिया मार्ग से। अब उसे कुछ भी अनुभव नहीं होता। हटा दिये सब अनुभव। अब बच रहा अकेला, जिसको अनुभव होता था।

जब कोई भी अनुभव नहीं होता, और कोई दर्शन नहीं होता, और कोई दिखाई नहीं पड़ता, और कोई विषय नहीं रह जाता, और जब साक्षी अकेला रह जाता है, तब कठिनाई है भाषा में कहने की कि क्या होता है? क्योंकि हमारे पास अनुभव के सिवाय कोई शब्द नहीं है। इसलिए इसे हम कहते हैं "आत्म-अनुभव", लेकिन 'अनुभव' शब्द ठीक नहीं है। हम कहते हैं 'चेतना का अनुभव'——या 'ब्रह्म-अनुभव'। लेकिन यह शब्द, कोई भी शब्द ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव उसी दुनिया का शब्द है, जिसको हमने तोड़ डाला। अनुभव उस द्वैत की दुनिया में अर्थ रखता है जहाँ दूसरा भी था। यहाँ अब कोई अर्थ नहीं रखता। यहाँ सिर्फ अनुभोक्ता बचा, साक्षी बचा।

इस साक्षी की तलाश ही अध्यात्म है।

ध्यान देना, ईश्वर की तलाश अध्यात्म नहीं है। पुराने योगसूत्रों ने ईश्वर की चर्चा ही नहीं की, बात ही नहीं उठाई; कोई जरूरत न थी। बाद में योग-सूत्रों में ईश्वर की चर्चा भी की, तो उसको भी एक अध्यात्म की खोज का साधन कहा—— साध्य नहीं। उसे भी कहा कि यह साधना में सहयोगी होता है; अध्यात्म की खोज में। इसलिए मान लेना अच्छा है। एक उपकरण है, ईश्वर भी एक विधि है, बस।

इसलिए बुद्ध ने इनकार कर दिया, महावीर ने ईश्वर को इनकार कर दिया। उन्होंने दूसरी विधियाँ खोज लीं। उन्होंने कहा, इस विधि की कोई भी जरूरत नहीं है। अगर विधि ही है ईश्वर, तो फिर दूसरी विधियों से भी काम चल सकता है। लेकिन बुद्ध और महावीर भी साक्षी को इनकार नहीं कर सकते; ईश्वर को इनकार कर सकते हैं। सब कुछ इनकार किया जा सकता है, लेकिन अध्यात्म की जो साक्षी की कोई बात हो, तो समझना कि वह धर्म है। अगर साक्षी की बात ही न हो, तो

समझना कि उसका धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। और सब बातें गौण हैं; और सब बातें उपयोगी, गैर-उपयोगी हैं; और सब बातों में मतभेद हो सकता है, साक्षी के मामले में मतभेद नहीं हो सकता।

इसलिए अगर किसी दिन दुनिया में धर्म का विज्ञान निर्मित होगा तो उसमें ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, इन सबकी चर्चा नहीं होगी, क्योंकि ये सब स्थानीय बातें हैं: कोई धर्म मानता है, कोई नहीं मानता; लेकिन साक्षी की चर्चा जरूर होगी, क्योंकि साक्षी स्थानीय घटना नहीं है।

धर्म ही नहीं हो सकता बिना साक्षी के। तो साक्षीभर एक वैज्ञानिक आधार-शिला है समस्त धर्म-अनुभव की--समस्त धर्म की खोज और यात्रा की। और इस साक्षी पर ही सारे उपनिषद् घूमते हैं--इर्द-गिर्द। सारे सिद्धान्त और सारे इशारे इस साक्षी को दिखाने के लिए हैं।

थोड़ा हम समझने की कोशिश करें; क्योंकि शब्द से तो समझ में आ जाता है कि साक्षी का क्या मतलब है, लेकिन साधना में बड़ी जटिल बात है।

हमारा जो मन है वह एक तीर की तरह है, जिसमें एक तरफ फल लगा हुआ है। तीर को आपने देखा है, तीर दो तरफ नहीं चल सकता? अगर आप तीर को चला दें, तो एक ही तरफ जाएगा। या कि आप सोचते हैं दो तरफ भी जा सकता है? तीर के दो तरफ जाने का कोई भी उपाय नहीं है। तीर जाएगा अपने निशाने की तरफ--एक तरफ।

तो जब प्रत्यंचा पर कोई तीर को चढ़ाता है, और प्रत्यंचा से तीर छूटता है, तो दो बातें खयाल में ले लें: प्रत्यंचा, जहाँ वह चढ़ा था, वहाँ से छूट जाता है, दूर हटने लगता है; और जहाँ वह नहीं था--साध्य, लक्ष्य--उस तरफ बढ़ने लगता है। एक स्थिति यह थी कि प्रत्यंचा पर चढ़ा था तीर, दूर बैठा था पक्षी वृक्ष पर, उसकी छाती में नहीं चुभा था तीर, तीर था प्रत्यंचा पर--पक्षी पर नहीं था; फिर छूटा तीर, प्रत्यंचा से दूर होने लगा, और पक्षी के पास होने लगा। फिर एक स्थिति आयी, तीर पक्षी की छाती में चुभ गया; प्रत्यंचा खाली रह गई और तीर पक्षी की छाती में हो गया।

ध्यान में पूरे समय हम यही कर रहे हैं: कि जब भी हमारे ध्यान का तीर छूटता है तो हमारी प्रत्यंचा से खाली हो जाता है--भीतर; और जिसकी तरफ जाता है उस पर जाकर टिक जाता है।

कोई चेहरा आपको सुन्दर लगा, तीर छूट गया ध्यान का। भीतर नहीं है अब

तीर; अब ध्यान भीतर नहीं है; अब ध्यान भागा और दौड़ा और सुन्दर चेहरे से जाकर लग गया।

सड़क पर हीरा पड़ा है; तीर छूट गया प्रत्यंचा से। अब ध्यान भीतर नहीं है; अब ध्यान भागा, दौड़ा और जाकर चुभ गया हीरे की छाती में। अब ध्यान हीरे में है, अब आप में नहीं है—या ध्यान अब कहीं और है।

तो आपके सब ध्यान के तीर कहीं...कहीं...कहीं...कहीं जाकर छिद गये हैं। आपके पास भीतर कोई ध्यान नहीं है; हमेशा बाहर जा रहा है।

तीर तो एक-तरफा ही हो सकते हैं, लेकिन ध्यान दो-तरफा हो सकता है। और वही हो जाए, तो साक्षी का अनुभव होता है। ध्यान का तीर दो-तरफा हो सकता है; उसमें दो फल हो सकते हैं। और जब आपका ध्यान किसी की तरफ जाए, तो आप अगर इतना कर पाएँ, तो आपको साक्षी का अनुभव किसी-न-किसी दिन हो जाएगा।

जब आपका ध्यान किसी पर जाए: रास्ते से गुजरी कोई सुन्दर युवती, कोई सुन्दर युवक--आपका ध्यान अटक गया। अब आप अपने को बिलकुल भूल गये। यहाँ भीतर ध्यान न रहा। अब आप होश में नहीं हैं। अब आप बेहोश हैं; क्योंकि आपका होश तो किसी और के पास चला गया। अब आपका होश तो उसकी छाया बन गया। अब आप होश में नहीं हैं।

अगर आप यह काम कर सकें कि कोई आपको सुन्दर दिखाई पड़ा, ध्यान उस पर गया। उस समय इस पर भी भीतर ध्यान जाए जहाँ से प्रत्यंचा से तीर छूट रहा है; उसकी तरफ भी हम एक साथ ही अगर देख पाएँ--जहाँ से ध्यान जा रहा है वह स्रोत, और जिसकी तरफ ध्यान जा रहा है वह लक्ष्य--अगर दोनों हमारे ध्यान में एक साथ आ जाएँ, तो आपको पहली दफा पता चलेगा कि साक्षी का क्या अर्थ है। कहाँ से ध्यान जा रहा है, उस स्रोत का अनुभव होना चाहिए; कहाँ से ध्यान पैदा हो रहा है?

वृक्ष हमें दिखाई पड़ता है; शाखाएँ दिखाई पड़ती हैं; फूल-पत्ते दिखाई पड़ते हैं; फल लग जाते हैं वे दिखाई पड़ते हैं; जड़ें हमें नहीं दिखाई पड़तीं, जड़ें अन्धेरे में छिपी हैं। लेकिन वहीं से वृक्ष रस ले रहा है।

आपका ध्यान फैलता है चारों तरफ, जगत् का बड़ा वृक्ष निर्मित हो जाता है। लेकिन जहाँ से ध्यान निकलता है--जिस स्रोत से, जिस चैतन्य के सागर से निकलता है, उसका कोई भी पता नहीं चलता। उन जड़ों का भी बोध साथ-साथ होने

लगे, एक साथ आपको दोनों बात दिखाई पड़ने लगें,...

लगे, एक साथ आपको दोनों बात दिखाई पड़ने लगें,...

...इसे ऐसा समझें: मैं बोल रहा हूँ तो आपका ध्यान मेरे बोलने पर लगा है। इसको दोहरा तीर बना लें। यह दोहरा तीर 'अभी', इसी वक्त भी बन सकता है। जब मैं बोल रहा हूँ, तो आप केवल--मैं जो बोल रहा हूँ--वही न सुनें, आपको यह भी स्मरण रहे कि मैं सुन रहा हूँ। बोलनेवाला कोई और है, वह बोल रहा है; मैं सुननेवाला हूँ, मैं सुन रहा हूँ। अगर आप एक क्षण को भी--"अभी, यहीं"--ये दोनों बातें एक साथ कर लें--सुनें भी और सुननेवाले का स्मरण भी, रिमेम्बिरिंग भी भीतर बनी रहे कि मैं सुन भी रहा हूँ,...

...शब्द दोहराने की जरूरत नहीं है। अगर आप कहें कि मैं सुन रहा हूँ, तो उतनी देर में आप सुन न पाएँगे; जो मैंने कहा वह चूक जायेगा। भीतर शब्द बनाने की जरूरत नहीं कि 'मैं सुन रहा हूँ', 'मैं सुन रहा हूँ'। अगर आपने ऐसा किया तो उतनी देर आप बहरे हो जाएँगे। उस सेकेंड आप अपनी भीतर की आवाज सुनेंगे कि 'मैं सुन रहा हूँ', लेकिन जो मैं बोल रहा हूँ यहाँ से वह आपको सुनाई नहीं पड़ेगा...।

मैं जो बोल रहा हूँ वह सुनाई पड़ता रहे, और साथ ही आपको यह भी, सुनना भी सुनाई पड़ता रहे। आप सुननेवाले हैं, ऐसी भी आपको प्रतीति हुई, एहसास हुआ, अनुभव हुआ; यह दूसरा बिंदु हो गया।

यह दूसरा बिंदु पाना बहुत कठिन है। अगर यह दूसरा बिंदु आपको मिल जाए तो तीसरा बिंदु पाना बहुत सरल है। वह तीसरा बिंदु यह है कि बोलनेवाला है "अ", सुननेवाला है "ब", फिर आप कौन हैं भीतर जो कि दोनों को अनुभव कर रहे हैं--बोलनेवाले को भी और सुननेवाले को भी? आप तीसरे हो गये--दि थर्ड प्वाइन्ट। वह जो तीसरा बिंदु है, वही साक्षी है। इस तीसरे के पार नहीं जाया जा सकता। यह तीसरा आखिरी बिंदु है। और यह है त्रिकोण जीवन का: दो बिंदु--विषय और विषयी; और तीसरा बिंदु दोनों का--साक्षी; दोनों को अनुभव करनेवाला; दोनों को भी देख लेनेवाला; दोनों का भी गवाह।

इस सूत्र को अब हम समझें।

"अपने को बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी जानकर वह मैं ही हूँ, ऐसी वृत्ति द्वारा सब पदार्थों के ऊपर से आत्म-बुद्धि का त्याग करता है।"

...इस सत्य का खोजी, इस सत्य का अन्वेषक, मुमुक्षु, ऐसा अनुभव करके कि मैं सदा साक्षी हूँ, कभी कर्ता नहीं; सदा साक्षी हूँ, कभी भोक्ता नहीं, समस्त चीजों के ऊपर से अपनी वासना का, अस्मिता का, मेरे-पन का भाव छोड़ देता है। हटता

जाता है भीतर उस बिंदु तक, जिसके आगे हटने का फिर और कोई उपाय नहीं।

"लोक का अनुसरण करना छोड़कर, ऐसा व्यक्ति फिर लोक का अनुसरण करना छोड़ देता है।"

लोक का अर्थ है--समाज, संस्कृति, सभ्यता; लोग जो आपके चारों तरफ हैं; भीड़।

जब तक आपको साक्षी का अनुभव न हो, तब तक लोक का अनुसरण छोड़ना खतरनाक भी है; क्योंकि लोक के साथ जुड़ी है नीति, जुड़ा है नियम, जुड़ी है मर्यादा, जुड़ी है व्यवस्था, अनुशासन। तो जो अभी अपना मालिक नहीं है, निश्चित ही, समाज उसका मालिक होगा। जो अपना ही मालिक नहीं है, किसी को उसे नियंत्रित करना होगा। कोई अनुशासन चाहिए, अन्यथा विक्षिप्त हो जाएगी अवस्था; अराजक हो जाएगी। लेकिन, जिसे अपने होने का अनुभव हो गया, जिसे साक्षी का अनुभव हो गया, इस जगत् में अब वह अपना मालिक स्वयं है।

यह बड़े मजे की बात है: जो सब मालकियत छोड़ देता है, वह अपना मालिक हो जाता है; और जो सब मालकियत इकट्ठी करता रहता है, वह केवल खबर देता है कि अपनी मालकियत उसके पास नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि जो इस कोशिश में लगा है कि मेरा हो मकान, मेरी हो जमीन, मेरा हो राज्य, मेरा हो यह, मेरा हो वह--एक बात पक्की है कि वह खुद का नहीं है; क्योंकि जिसे अपने भीतर का राज्य मिल जाए, उसे फिर सब राज्य फीके और व्यर्थ हो जाते हैं; और जो अपने साम्राज्य को पा ले, फिर उसकी कोई आकांक्षा किसी साम्राज्य की नहीं रह जाती। उसके पास साम्राज्य भी हो, तो भी व्यर्थ हो जाता है। अगर उसकी बाहर के साम्राज्य की वासना प्रबल है तो वह इस बात की खबर है--इंगित है, इशारा है--कि भीतर के मालिक का उसे कुछ भी पता नहीं है; उसी की कमी-पूर्ति कर रहा है। भीतर मालिक नहीं है, चीजों की मालकियत बनाकर भरोसा बिठा रहा है अपने पर कि मैं मालिक हूँ: 'देखो! इतनी है मेरी जमीन! इतना है मेरा धन! इतना है मेरा फैलाव!' ऐसा करके वह अपने को भरोसा दिला रहा है कि 'नहीं, कौन कहता है कि मैं मालिक नहीं हूँ? इतनी चीजों का मालिक हूँ!'

यह मालकियत झूठी है, क्योंकि चीजों का कोई जगत् में कभी मालिक नहीं होता।

भर्तृहरि राज्य छोड़कर चला गया। तो बड़ी मीठी घटना घटी। राज्य छोड़कर जंगल में चला गया; साधना करने लगा; ध्यान में लीन रहने लगा। एक दिन अचानक ऐसा हुआ कि बैठा है अपनी गुफा के द्वार पर, एक घुड़सवार अचानक रास्ते पर आया। उसके आने में देरी भी नहीं हुई थी कि एक दूसरा घुड़सवार दूसरे मार्ग से उसी के सामने गुफा के द्वार पर आ गया। दोनों की तलवारें एकदम खिंच गईं! भर्तृहरि को कुछ समझ में न आया! दोनों की तलवारें जमीन पर टिक गईं, तब उसने नीचे की तरफ गुफा से देखा: वहाँ एक बड़ा हीरा पड़ा है! पहले घुड़सवार ने कहा कि नजर मेरी पहले पड़ी, इसलिए हीरा मेरा है; दूसरे घुड़सवार ने कहा कि मेरी तलवार की तरफ देखते हो; मेरी भुजाओं की तरफ देखते हो? नजर कब किसकी पड़ी है, इससे क्या लेना-देना है? जो मालिक हो सकता है, वह मालिक है! मालिक मैं हूँ!

...तलवारें खिंच गईं! गर्दनें कट गईं! क्षणभर बाद ही दोनों गर्दनें जमीन पर कटी हुई पड़ी थीं; दोनों शरीर रक्त से भरे हुए जमीन पर पड़े थे; हीरा अपनी जगह पड़ा था!

भर्तृहरि ने कहा कि बड़ी हैरानी की बात है! जिस हीरे के लिए दोनों ने मालकियत की और दोनों मिट गये, उस हीरे को पता भी नहीं होगा कि क्या-क्या हो गया उसके आस-पास! और पता नहीं इस हीरे के आस-पास कितना-कितना नहीं हो गया होगा! और हीरा वहीं पड़ा है! और कितने लोग कटते-पिटते रहेंगे उस हीरे के लिए! और हीरा वहीं पड़ा रहेगा!

मालकियत की कोशिश वस्तुओं पर इस बात की खबर है कि अपने पर मालकियत नहीं है। और जब कोई व्यक्ति साक्षी का अनुभव करने लगता है तो अपना मालिक हो जाता है; मालकियत की वासना गिर जाती है। अब वह किसी का मालिक नहीं होना चाहता, क्योंकि वह जानता है: कोई उपाय ही नहीं है किसी और के मालिक होने का। इसे दोहरा दूँ:

"कोई उपाय ही नहीं है किसी और के मालिक होने का।"

पति अगर सोचता हो कि पत्नी का मालिक है, तो विक्षिप्त है। पत्नी अगर सोचती हो कि पति की मालिक है, तो उसके मस्तिष्क के इलाज की जरूरत है। कोई मालिक किसी का हो नहीं सकता; क्योंकि सभी अपने मालिक पैदा हुए हैं। स्वभाव से सबकी मालकियत भीतर छिपी है। उसे किसी भी हिसाब से हटाया नहीं जा सकता। और जब तक वह हटे न, तब तक दूसरा कोई मालिक कैसे हो सकेगा! इसलिए एक मजे की घटना घटती है: पति सोचता है: "मैं मालिक हूँ"; पत्नी

हँसती है भीतर मन-ही-मन में और वह जानती है, "मालिक मैं हूँ।" इसीलिए कलह है; चौबीस घंटे कलह है। वह कलह इसी बात की है कि प्रतिपल तय करना पड़ता है कि मालिक कौन है? कौन है अधिकार में?

भरोसा पक्का नहीं है। कभी भी पक्का भरोसा नहीं है। किसी चीज का कोई भरोसा नहीं है, तो व्यक्तियों का तो बिलकुल भरोसा नहीं है। हीरे तक की मालकियत नहीं हो सकती, तो जीवित व्यक्ति की मालकियत कैसे हो सकती है!

साक्षी जिसको अनुभव हुआ, वह सब मालकियत छोड़ देता है; क्योंकि अपना मालिक हो जाता है। जो मालकियत हो सकती है, वह उसकी हो जाती है; जो नहीं हो सकती, उस पागलपन में वह नहीं पड़ता। ऐसी अवस्था में वह लोक की चिंता छोड़ दे सकता है। छोड़ देता है; क्योंकि अब कोई नियंत्रण उसके ऊपर नहीं है; अपना नियंता है। अब अपने पैर से ही यात्रा कर सकता है; अब अपने ही प्रकाश में चल सकता है; अब किसी उधार प्रकाश की कोई भी जरूरत नहीं है।

"लोक का अनुसरण करना छोड़कर वह देह का अनुसरण करना भी छोड़ देता है।"

दूसरों का अनुसरण तो छोड़ ही देता है, जैसे ही साक्षी की प्रतीति गहरी होती है, वह देह की गुलामी भी छोड़ देता है। फिर देह उससे नहीं कहती कि ऐसा करो तो वह करेगा। उसे जो करना होता है वही करता है, और देह छाया की तरह उसके पीछे चलती है।

अभी आपकी देह छाया की तरह नहीं चलती, आप छाया की तरह देह के पीछे चलते हैं। देह कहती हैं, 'ऐसा करो', वैसा आपको करना पड़ता है। देह कहती है, 'ऐसा मत करो', वैसा आपको रोकना पड़ता है। देह मालिक है; उसके इशारे हैं; वे आपको चलाते हैं।

...होगा ही; क्योंकि जो अपना मालिक नहीं है, समाज उसका मालिक होगा; और प्रकृति उसकी मालिक होगी।

समाज है हमारे चारों तरफ फैला हुआ मनुष्यों का समूह, और देह है हमारी पृथ्वी से, प्रकृति से जुड़ी हुई।

जो अपना मालिक हुआ वह लोगों के समूह की व्यवस्था से भी मुक्त हो जाता है और प्रकृति की व्यवस्था से भी। फिर देह उसे नहीं बताती कि ऐसा करो; फिर वही चलता है और देह उसका अनुसरण करती है।

देह के अनुसरण करने की घटना बड़ी मूल्यवान है। हमें तो खयाल में भी

नहीं आ सकता कि देह कैसे अनुसरण कर सकती है! हम सोच भी नहीं सकते कि जब देह को भूख लगेगी--तो महावीर को भी तभी भूख लगेगी न, जब देह को भूख लगेगी। और जब देह कहेगी कि भूख लगी है, तभी तो महावीर भोजन की तलाश पर निकलेंगे, भिक्षा के लिए। देह कैसे पीछा करेगी? क्या महावीर कह देंगे कि ठीक, अब मुझे भूख लगी है तो देह को भूख लग जाएगी?

क्या मतलब है देह के अनुसरण का?

गहरी कीमिया है। निश्चित ही, महावीर जब तक राजी न हों तब तक देह को भूख नहीं लगेगी। नहीं लगने का क्या मतलब है? देह को क्या होता है, देह को क्या प्रतीतियाँ होती हैं, यह महावीर जब सुनने को राजी होंगे, तभी देह बता पायेगी। यह महावीर तय करते हैं कि मैं एक महीना उपवास करूँगा। आप तय करें कि मैं आज उपवास करूँगा, तो आप चौबीस घंटे भोजन करेंगे; मन-ही-मन में भोजन चलेगा; क्योंकि देह कहेगी: 'मालिक कौन है? मुझसे बिना पूछे! ...उपवास!' तो ठीक है। तो देह चौबीस घंटे खबर देगी--भूख,...भूख,...भूख; और आपकी पूरी चेतना भूख से आच्छादित हो जाएगी। ऐसे भूखा रहने में ज्यादा देह दिक्कत नहीं देगी; अगर एक दिन भोजन न करें, तो देह इत्ता परेशान न करेगी। सुबह से तय कर लें,...

...यह बड़े मजे की बात है: अगर आप रोज एक बजे भोजन करते हैं, तो सुबह से एक बजे तक तो भोजन करते ही नहीं हैं, रोज एक बजे भोजन करते हैं। कल सुबह छह बजे उठकर तय कर लें कि आज उपवास करेंगे...सुबह छह बजे से भोजन शुरू हो जायेगा! एक बजे तक तो रुकना चाहिए था देह को कम-से-कम! लेकिन देह को इशारा मिल गया कि आप मालकियत करने की कोशिश कर रहे हैं। देह सुबह से ही उपद्रव शुरू कर देगी, एक बजना तो बहुत दूर का मामला है। कभी ऐसा न होता था, एक बजे ही भूख लगती थी; आज सुबह छह बजे से शुरू हो जायेगी!

देह की मालकियत पुरानी है; हजारों-हजारों जन्मों की है। और जिसकी भी मालकियत हो, कोई अपनी मालकियत इतनी आसानी से नहीं छोड़ता। महावीर कहते हैं महीनेभर उपवास करूँगा, तो महीनेभर के लिए देह चुप हो जाती है; कोई खबर नहीं देती है।

देह अनुसरण करती है, इसका अर्थ यह है: देह कोई खबर नहीं देती। महीने-भर के बाद ही देह खबर देगी कि भूख लगी कि नहीं लगी; महीनेभर तक देह चुप होगी। मगर इसका क्या मतलब है? क्या अभ्यास करने से ऐसा हो जायेगा कि

रोज-रोज अभ्यास करते रहें, जैसा कोई व्यायाम करता है; ऐसा रोज-रोज अभ्यास करते रहें उपवास का तो धीरे-धीरे आदत हो जाएगी?

इस गलती में मत पड़ना। अभ्यास और आदत का सवाल नहीं है, साक्षी के अनुभव का सवाल है। अगर साक्षी का अनुभव होगा तो देह, महीना नहीं अगर सालभर के लिए भी महावीर कह दें, तो देह चाहे सूख जाए, मर जाए, समाप्त हो जाए, लेकिन महावीर को खबर पहुँचाने की जरूरत नहीं होगी; हिम्मत नहीं होगी कि महावीर को खबर पहुँचाए कि भूख लगी है। यह काम देह का नहीं है कि वह खबर पहुँचाए। यह तो एक दफे तय करने की बात है कि मालिक कौन है। जब तक देह को पता है कि मालिक मैं हूँ, तब तक वह मालकियत करती है, जब आपका साक्षी अनुभव में आ जाता है, देह की मालकियत तत्क्षण मिट जाती है। कानून ही बदल जाता है भीतर का। देह आपके पीछे चलने लगती है। और तब बड़े अनूठे अनुभव।

महावीर के पीछे हजारों लोगों ने उपवास किये, लेकिन महावीर?--जैसे उपवास की बात मुश्किल है। न-मालूम कितने जैन साधु उपवास में लगे हुए हैं! लेकिन महावीर का शरीर देखा? उनकी मूर्ति देखी? जैन साधुओं के शरीर को उनके सामने रखें, तो पता चलेगा कि मामला...

...फर्क कहाँ होगा? इनकी देह तो पूरी खबर दे रही है। उनको नहीं, आप तक को खबर दे रही है कि भूख लगी है!

महावीर की देह खबर नहीं देती। उनको तो खबर देती नहीं, आपको भी खबर नहीं देती कि भूख लगी है।

महावीर-जैसी सुन्दर काया खोजनी मुश्किल है। वह सुन्दर काया कह रही है कि भीतर कोई मालिक हो गया है और अब देह परेशान करने का सामर्थ्य नहीं रखती है। अब देह कुछ कह नहीं सकती है कि ऐसा करो, वैसा मत करो। यह देह का मामला नहीं है, यह भीतर के जाननेवाले का मामला है। वह जैसा तय करे, जो तय करे। निर्णय उसके हाथ में है। वह मरना चाहे तो मरे, जीना चाहे तो जीये; लेकिन देह बीच में अड़ंगा नहीं डाल सकती। वह सिर्फ छाया की तरह पीछा करेगी।

"लोक का अनुसरण छूट जाता है। देह का अनुसरण भी छोड़ देता है। इसके पश्चात् शास्त्र का अनुसरण छोड़कर आत्मा के ऊपर का अध्यास भी छोड़ देता है।"

ऐसे छोड़ता चला जाता है: लोक को, देह को। शास्त्र का अनुसरण छोड़ देता है। जिसको साक्षी का अनुभव हुआ, उसके लिए शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। यह जरा जटिल मामला है। इसे हम उलटा भी कह सकते हैं: कि जिसे साक्षी का अनुभव

हुआ, उसके लिए शास्त्र सार्थक हो जाते हैं। ऐसा भी कह सकते हैं कि जिसको साक्षी का अनुभव हुआ, उसके लिए शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। और इन दोनों का मतलब एक है। इनका मतलब एक इसलिए है कि जब तक आपको साक्षी का अनुभव नहीं हुआ। तब तक आपके लिए कोई भी शास्त्र सार्थक नहीं है। आप कंठस्थ कर ले सकते हैं, आपको पूरा वेद कंठस्थ हो सकता है, लेकिन सार्थक नहीं है; क्योंकि अर्थ शब्द में नहीं होता, अर्थ अनुभव में होता है। आपको खुद का कोई अनुभव नहीं है। आप तोते की तरह रटते रह सकते हैं कि साक्षी, साक्षी, साक्षी। जब आप रट रहे हैं, तब भी कोई साक्षी भीतर नहीं है जो इसको सुन रहा हो।

शास्त्र तब तक व्यर्थ है, जब तक आपको अपना अनुभव नहीं हुआ; लेकिन तभी तक सार्थक मालूम पड़ता है, जब तक आपको अपना अनुभव नहीं हुआ। जिस दिन आपको अपना अनुभव हो जाता है, तब आप स्वयं ही शास्त्र हो जाते हैं। जब आप अपने स्वयं ही शास्त्र हो गये, तो अब शास्त्र की क्या सार्थकता?

तो शास्त्र जिस दिन सार्थक होता है उसी दिन व्यर्थ हो जाता है। जान लिया आपने भी वह, जो शास्त्र जनाते हैं। अब शास्त्र का क्या मूल्य है? पहुँच गये मंजिल पर, हो गई यात्रा। तो वह जो नक्शा ढोये रखते थे अब तक, उसका अब क्या अर्थ! उसको फेंक दे सकते हैं। उस नक्शे को अब क्या करियेगा?

बुद्ध कहा करते थे कि कोई नदी पार करता है नाव पर। पार होते ही नदी नाव व्यर्थ हो जाती है। फिर उसे वहीं छोड़कर चल देता है। लेकिन बुद्ध कहते थे कि एक दफा चार गंवारों ने भी नदी पार की। तो पार कर ली उन्होंने, फिर उतरकर नाव अपने सिर पर रख ली। गाँव के लोगों ने बहुत समझाया कि हमने और पार करनेवाले भी देखे, नाव वहीं छोड़ देते हैं, यह तुम क्या करते हो? तो उन्होंने कहा: 'जिसने इतना सहारा दिया, उसको हम ऐसे ही छोड़ दें? हम ऐसे गंवार नहीं हैं!'

...फँस गये! नाव ने नदी तो पार करवा दी, अब नाव कैसे पार हो? अब उसको सिर पर लिए घूमने लगे! अब उस नाव से छुटकारा न हो।

और ऐसा मत सोचना कि वे लोग मर गये! वे मर गये, लेकिन उनकी औलाद? ...वह नावों को ढोती रहती है! कहते हैं--'हमारे बाप इसी शास्त्र को ढोते थे; हम भी इसको ढोयेंगे! हमारे बाप के बाप ने भी यही किया था, अब हम क्या कर सकते हैं, मजबूरी है! यह सदा हमारे बाप-दादों के सिर पर रहा, हम भी इसको सिर पर रखेंगे! और फिर यह शास्त्र नाव है, इससे कितने ऋषि-मुनि पार नहीं हो गये हैं!'

जिस दिन स्वयं का अनुभव होता है, उस दिन शास्त्र में कुछ भी नहीं बचता

--यह भी ठीक है, उसी दिन शास्त्र सार्थक होता है--यह भी ठीक है; क्योंकि उसी दिन पता चलता है जो शास्त्र ने कहा था वह ठीक है।

यह पेराडॉक्सिकल, विरोधाभासी वक्तव्य मालूम पड़ेगा: जिस दिन शास्त्र पता चलता है सही है, उसी दिन बेकार हो जाता है।

...उसको छोड़ देता है--असली अध्यात्म का पथिक शास्त्र को छोड़ देता है।

और अन्तिम बात उपनिषदों में कमाल की कही है। सिर्फ बुद्ध ने उतनी हिम्मत की और कह दिया कि आत्मा भी मैं नहीं हूँ। उपनिषद् का यह आखिरी सूत्र अद्भुत है। इसमें बुद्ध का सारा सार आ गया है।

"और अन्त में जब शास्त्र भी छोड़ देता है तो आत्मा के ऊपर का भी अध्यास छोड़ देता है।"

...फिर वह यह भी नहीं कहता कि मैं आत्मा हूँ।

मैं मकान नहीं हूँ, यहाँ से शुरू हुई थी बात। मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, यहाँ गहरी गई थी। यह आखिरी छलाँग है कि मैं आत्मा भी नहीं हूँ। इसका क्या मतलब होगा? इसका मतलब यह होगा कि अब मैं कोई भी अपनी सीमा बनाऊँ वह नासमझी है।

जब हम कहते हैं 'मैं आत्मा हूँ', तब आपकी आत्मा अलग हो जाती है, मेरी अलग हो जाती है। जब मैं कहता हूँ 'मैं आत्मा हूँ', तो मैं व्यक्ति हो जाता हूँ और यह सारी समष्टि मुझसे अलग हो जाती है। आखिरी अध्यास यह भी टूट जाता है कि मैं अलग हूँ, कि मैं व्यक्ति हूँ। तब यह सारी समष्टि और मेरे बीच के सारे फासले, सारी सीमाएँ गिर जाती हैं। तब बूंद सागर हो जाती है। तो बूँद यह भी कैसे कहे कि मैं बूँद हूँ! तब बूंद गिर के सागर हो जाती है। तो बूँद कैसे कहे कि मैं बूँद हूँ!

आखिर में जब सब छूट जाता है तब यह भी छूट जाता है कि मैं आत्मा हूँ--इसका अर्थ?

इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा नहीं है। इसका यह अर्थ है कि 'मैं परमात्मा हूँ'। आत्मा भी होने से काम नहीं चल सकता है। यह घोषणा बड़ी कठिन है। और यह घोषणा जब भी कि जाती है, तब कठिनाई खड़ी हो जाती है।

अलहिल्लाज मन्सूर ने कहा मुसलमानों से कि 'मैं परमात्मा हूँ'। उन्होंने फौरन उसे सूली दे दी: कि कैसी कुफ्र की बात करते हो,...पाप की बात करते हो,...तुम और परमात्मा! कितने ही ऊँचे हो जाओ, सिद्ध-से-सिद्ध हो जाओ, लेकिन कोई

परमात्मा नहीं हो सकता; क्योंकि परमात्मा होने का मतलब--आखरी बात। आदमी मिट्टी से पैदा हुआ है।...इतनी ऊँची उड़ान! ...यह नहीं होगा।

तो मन्सूर को उन्होंने काट डाला। और जब मन्सूर काटा जा रहा था, तब भी मन्सूर हँस रहा था। किसी आदमी ने भीड़ में से पूछा कि 'तुम क्यों हँस रहे हो?' तो मन्सूर ने कहा: 'मैं इसलिए हँस रहा हूँ कि जिसे ये काट रहे हैं, उसको तो मैं पहले ही कह चुका था कि मैं नहीं हूँ। यह किसको काट रहे हैं? यह तो हम पहले ही कह चुके नासमझो कि यह मैं नहीं हूँ। और जब हम यह कहे, तभी तो हमें पता चला कि हम परमात्मा हैं। मैं परमात्मा हूँ।'

वह मरते दम तक, आखिरी दम तक उसकी जुबान से "अनलहक़", "अनलहक़"--मैं हूँ ब्रह्म, मैं हूँ ईश्वर--ये आखिरी शब्द उसके मुँह से गूँजते रहे।

सरमद हुआ एक फकीर। सूफी, सरमद को बड़े आदर से देखते हैं। और वह आदमी भी, दो-चार-दस, इने-गिने आदमियों में एक हुआ जमीन पर। औरंगजेब के पास शिकायत पहुँची सरमद की, कि वह जरा अजीब-सी बातें कहने लगा है। मुसलमानों का मन्त्र है--'कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक अल्लाह ही है।' लेकिन, यह जो सरमद था, यह सिर्फ इतना ही कहता था: 'कोई नहीं अल्लाह'--आधा। यह तो उलटा ही हो गया मतलब! 'कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक ही अल्लाह है'--यह पूरा सूत्र है। और सरमद इतना ही कहता था--'कोई नहीं अल्लाह।' यह क्या हुआ मामला! यह तो सब बात ही बिगड़ गई!

औरंगजेब ने सरमद को बुलाकर कहा कि 'हद हो गई! तुम सूफी कहते हो अपने को! फकीर कहते हो! ईश्वर का प्रेमी कहते हो! और तुम कहते हो--'कोई नहीं अल्लाह'!'

तो सरमद ने कहा: 'हम अभी यहीं तक पहुँचे हैं, आगे अभी यात्रा करनी है। आप पूरा सूत्र कहते हैं: 'कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक ही अल्लाह है। अभी हम वहाँ तक नहीं पहुँचे हैं। बढ़ने दो, धीरे-धीरे शायद पहुँच जाएँ। बाकी जहाँ तक हम पहुँचे हैं, वहीं तक हम बोलते हैं। और झूठ हम न बोलेंगे। अभी हमें इतना ही पता चला है 'कोई नहीं अल्लाह'; ...'के सिवाय, एक ही है अल्लाह';--जरा रुको, कोशिश करने दो। और तुम्हें पता चल गया हो पूरा, तो बोलो!'

निश्चित ही, यह कुफ्र की बात थी। और यह आदमी नास्तिक है। और इस नास्तिक के पीछे न-मालूम कितने और लोग बरबाद हो रहे हैं।

सरमद की बड़ी प्रतिष्ठा थी दिल्ली में। लाखों लोग उसके चरण छूते थे--इस आदमी के, जो कहता था: 'कोई नहीं अल्लाह'!

...इसको कहते हैं चमत्कार! जब कोई आदमी कहता है 'कोई नहीं अल्लाह', और लाखों आदमी उसमें अल्लाह को देख लेते हैं!

ऐसा हुआ है। बुद्ध के साथ हुआ, महावीर के साथ हुआ, सरमद के साथ हुआ। महावीर ने कहा 'कोई नहीं परमात्मा', और लाखों लोगों ने महावीर को कहा 'भगवान्'। और बुद्ध ने कहा 'कोई न परमात्मा है, न कोई आत्मा है', और लाखों लोगों ने बुद्ध के चरणों में सिर रखकर पूछा कि रास्ता बताओ, कैसे पहुँचे उस जगह--जहाँ न कोई आत्मा है, न कोई परमात्मा...।

सरमद को औरंगजेब ने कहा कि तीन दिन का समय देता हूँ, सुधार कर लो; और यह वाक्य पूरा कर लो, नहीं तो हम गरदन कटवा देंगे।

सरमद ने कहा कि तीन दिन का क्या भरोसा--हम बचें-न-बचें, और तुम गरदन काटने से वंचित रह जाओ! और यह भी कुछ पक्का नहीं कि हम तीन दिन में पहुँच पायें पूरे सूत्र तक, और जब तक न पहुँचें तब तक यह जबान दोहराने वाली नहीं। अनुभव हो तो ही हम कहेंगे। तो तुम आज ही कटवा दो।

और कहते हैं कि सरमद ने कहा कि यह भी हो सकता है कि गरदन कटने से, जो बाकी यात्रा है, वह पूरी हो जाए। वह जो हमें अभी आगे का पता नहीं है, शायद यह गरदन ही बाधा बन रही है।

औरंगजेब तो शायद ही समझा होगा! सम्राटों और अकल का तो वैसे ही कोई सम्बन्ध नहीं है! उसने उसी दिन कटवा दी गरदन सरमद की। दिल्ली में जामा मस्जिद है, उसमें उसकी गरदन काटी गई। और जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर जब उसकी गरदन गिरी और सीढ़ियों पर लुढ़कने लगी, तो हजारों लोगों ने यह आवाज सुनी, जो वहाँ गवाह थे, कि वह गरदन चिल्लाकर कह रही थी--'कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक ही है अल्लाह'। इसके चश्मदीद गवाह हैं। लाखों लोगों ने सामने सुनी यह आवाज।

औरंगजेब बहुत पछताया, लेकिन तब तो कोई उपाय न था। सरमद के शिष्यों से उसने पूछा, तो वे हँस रहे थे और वे कह रहे थे: 'सरमद कहता था कि जब तक मैं बचा हूँ थोड़ा भी, तब तक आगे की बात कैसे हो सकती है! अल्लाह तो उस दिन होगा, जिस दिन मैं न रहूँगा। तो यह गरदन थोड़ी बाधा है, यह कट जाए। औरंगजेब की बड़ी कृपा है, कटवाये देता है। ऐसे तो हम भी काट लेते, लेकिन वक्त लगता। वह जल्दी किये दे रहा है।'

आदमी जब मिटता है पूरा, तो यह भी नहीं कहता कि आत्मा है। तब आखिरी

अभ्यास भी गिर जाता है। जब तक आपको पता न चल जाए कि आप परमात्मा हो, तब तक जानना अभ्यास बाकी है, भ्रम बाकी है। जब तक यही अनुभव न हो जाए कि मैं ही ब्रह्म हूँ, तब तक समझना कि अभी अज्ञान बाकी है, और उसे काटते ही चले जाना। लोक से छूट जाना, देह से छूट जाना, शास्त्र से छूट जाना, और फिर अपने से भी--और फिर स्वयं से भी छूट जाना।

"अपने में ही स्थित होकर, भक्ति, श्रवण और स्वानुभव के द्वारा अपने को ही सबका आत्मरूप जानकर योगी का मन नाश होता है।"

मन दब तो जाता है, कठिनाई पड़ती है दबाने में भी; छिप तो जाता है, छिपाना भी मुश्किल है मामला। लेकिन नाश, मनोनाश--आखिरी बात है।

आपका मन शांत भी हो जाए, तो कल फिर अशांत हो जाता है; फिर जाग आता है; जाग-जाग आता है। बार-बार अंकुर फूट जाते हैं; बीज बना ही रहता है। कितना ही ध्यान करें, कितनी ही प्रार्थना, कितना ही प्रभु-स्मरण, कितना ही नाम;--कभी लगता है 'सब ठीक', और क्षणभर में लगता है 'सब बिगड़ गया'; कभी लगता है 'आ गई जगह, आ गया मकान' और फिर सब खो जाता है।

यह खेल ऐसा मालूम होता है, जैसे बच्चे खेलते हैं लूडो का खेल। उसमें सीढ़ियाँ भी रहती हैं और साँप भी रहते हैं। सीढ़ियों पर से चढ़ते हैं और फिर किसी साँप के मुँह पर पड़ गये, वापिस लौटकर नीचे उतर आते हैं। ऐसा होता ही रहता है: चढ़ते हैं, उतरते हैं।

करीब-करीब मन के साथ ऐसा ही चलता है। कभी लगता है 'चढ़ गये'--'सब ठीक', 'बिलकुल ठीक'; ऐसा लगता है 'पहुँच गये'। यही तो कहा है संतों ने। यहीं, इसी जगह की बात कही, और इतना खयाल भी नहीं आया! कि संतों का नाम खयाल में आया! कि पकड़े साँप के मुँह में, आ गये नीचे। पता चला हम वहीं हैं। वे संत-बगैरह सब झूठ ही कहते रहे होंगे, कि वहम हो गया होगा। एक खयाल आ गया था कि 'सब ठीक हो गया', यह तो सब गड़बड़ है!

मेरे पास निरंतर, रोज-रोज सीढ़ियों से चढ़नेवाले, साँपों से उतरनेवाले लोगों की भीड़ है। एक दिन आकर मुझे खबर देते हैं 'गजब हो गया! ...फेन्टेस्टिक! ...बस, अब कुछ करने को नहीं रहा।' दूसरे दिन सुबह कुटे-पिटे चले आ रहे हैं!

वह हर सीढ़ी के पास साँप टिका हुआ है।

मन, बहुत बार लगेगा कि गया, और लौट आयेगा। झलकें मिलेंगी। इतनी देर को भी जाता है, तो भी मन के पार की जरा-सी झलक मिलती है। जरा-सी देर

को भी मन हट जाता है, तो जगह खाली हो जाती है। उस खाली जगह में से खुला आकाश और आकाश के तारे दिखाई दे जाते हैं, एक खिड़की खुल जाती है। लेकिन ज्यादा देर यह नहीं चलता। योगी तो तभी सिद्ध होता है जब मनोनाश हो जाता है। मनोनाश तभी होता है जब ऐसा अनुभव में आ जाए कि मैं आत्मा भी नहीं हूँ।

जब तक मुझे ऐसा लगता है कि नहीं शरीर, नहीं मन, लेकिन आत्मा तो मैं हूँ; जब तक मेरे 'मैं' को कोई भी सहारा बाकी है, तब तक मेरा मन बीज रूप में बना रहेगा। जब तक मेरे 'मैं' को कोई भी सहारा--कोई भी सहारा बाकी है कि आत्मा--तो भी मेरा मन बीज रूप में बना रहेगा। और कभी भी वर्षा की एक बूँद पड़ेगी और बीज चिटक जाएगा; और अंकुर निकल जायेंगे; और वृक्ष बड़ा होने लगेगा।

जब मैं ही नहीं बचता हूँ, तब ही मन मिटता है। धन छोड़ना आसान, पद छोड़ना आसान; शरीर के साथ भी मोह छोड़ लेना आसान; मन के साथ भी मोह छोड़ लेना आसान; लेकिन, आखिर मैं अपने ही साथ, अपनी निजता के साथ, मेरे होने के साथ भी मोह को तोड़ लेना अति कठिन है। उसके टूटते ही मनोनाश हो जाता है।

बुद्ध के पास सारीपुत्त गया। तो सारीपुत्त ने कहा कि 'मेरी मुक्ति कैसे हो?' तो बुद्ध ने कहा 'तू यहाँ आ ही मत, तू कहीं और जा। क्योंकि हम तेरी मुक्ति करवा ही नहीं सकते; तुझसे मुक्ति करवा सकते हैं।'

बुद्ध ने कहा 'मेरी मुक्ति नहीं होती, मुझसे मुक्ति होती है। तू अगर तेरी मुक्ति चाहता है तो तू कहीं और जा। हाँ, अगर तू तुझसे ही मुक्ति चाहता है, तो ठीक जगह आ गया है। हम तुझे छुड़ा देंगे तुझसे ही। तो यह मत पूछ कि मेरा मोक्ष कैसे होगा? तू कहाँ बचेगा मोक्ष में? तू यह पूछ कि इस मेरे से छुटकारा कैसे हो? इस मैं से मोक्ष कैसे मिले?'

इसलिए बुद्ध ने 'मोक्ष' शब्द को पसंद नहीं किया। उन्होंने शब्द चुना 'निर्वाण'। क्योंकि मोक्ष में ऐसा लगता है: 'मेरा';--इतना तो बचेगा कम-से-कम! कि आत्मा बचेगी, और सिद्धशिला पर बैठे हुए मोक्ष का आनन्द ले रहे हैं! ...हम ही! वही सज्जन, जो यहाँ दुकान करते थे, वही अब मोक्ष में सिद्धशिला पर बैठकर आनन्द ले रहे हैं!

आप तो बचे ही रहेंगे, यह तो मन में रस बना ही रहता है, कि हम तो बचे ही रहेंगे।

...है ही क्या आपमें बचने-योग्य? और बचाने-योग्य भी क्या है, कभी सोचा

आपने? कभी हिसाब लगाया अपना कि मेरे पास ऐसा क्या है जिसको मैं शाश्वत रूप से बचाने का आग्रह करूँ? ऐसी कौन-सी सुगन्ध है मेरे पास जो सदा रहे? ऐसा मैं कह सकूं। ऐसा कौन-सा स्वर है मेरे पास जिसको मैं अमृत पिला दूँ? ऐसा मेरे व्यक्तित्व में क्या है जिसको मैं कहूँ यह सदा रहे? ऐसा कुछ भी नहीं मालूम पड़ता।

बुद्ध कहते हैं यह भी वासना है; ए लस्ट फॉर लाइफ। यह भी जीवेषणा है: मैं बचूं, बिना कारण।

कोई वजह नहीं मालूम पड़ती, आप किसलिए बचें! और क्या है आपमें जो बचे तो जगत् का कुछ कल्याण हो? कुछ भी नहीं है।

तो बुद्ध कहते हैं, मोक्ष नहीं; यह शब्द ठीक नहीं है। तो उन्होंने शब्द चुना 'निर्वाण'।

यह सूत्र निर्वाण का सूत्र है। निर्वाण कहते हैं दीये के बुझ जाने को। दीया जब बुझता है, तो आप बता सकते हैं ज्योति कहाँ चली गई? कहीं नहीं जाती, बस बुझ गई, खो गई, लीन हो गई। अब कहीं आप खोज न पायेंगे उस ज्योति को जो बुझ गई। अब लोक-लोक में, कहीं भी अनन्त में, उस ज्योति को आप न खोज पायेंगे जो बुझ गई। वह लीन हो गई। इतनी लीन हो गई कि अब उसे वापिस इस अनन्त से नहीं लौटाया जा सकता। वह निराकार में इतनी चली गई कि अब उसका आकार फिर से नहीं बन सकता। मिट गई।

तो बुद्ध कहते हैं ऐसे ही तुम भी मिट जाओगे, जैसा दीया बुझ जाता है। इसलिए उन्होंने शब्द चुना 'निर्वाण'। वे कहते हैं तुम्हारा निर्वाण हो जाएगा; मोक्ष नहीं, तुम्हारा निर्वाण हो जाएगा। यह जो दीये की ज्योति तुम में टिमटिमा रही है, यह बुझ जाएगी।

यह बड़ी घबरानेवाली बात मालूम पड़ती है। तो फिर सार ही क्या है? अपने दीये में और मिट्टी का तेल डालकर किसी तरह इसकी ज्योति को जगाये रखना। यह सार क्या है? लेकिन बुद्ध कहते हैं जब तुम मिटोगे, तभी तुम जान पाओगे कि तुम क्या हो। और जब तुम खोओगे तभी तुम्हें पता चलेगा तुम खोये नहीं, तुमने सब पा लिया, तुम सब हो गये।

आत्मा भी छूट जाती है।

"निद्रा को, लोगों की बातों को, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को तथा आत्मा के विस्मरण को किसी स्थल पर अवसर दिये बिना हृदय में आत्म-चिन्तन करना।"

सब छूटता चला जाता है। निद्रा छूट जाती, बेहोशी छूट जाती है।

यह अपने को हम भूल गये हैं, इसे निद्रा कहते हैं उपनिषद्। यह जो हमें अपना विस्मरण हो गया है, कि हम कौन हैं; यह जो हमें पता नहीं है कि मैं परमात्मा हूँ; इसे कहते हैं निद्रा। जिस दिन यह निद्रा क्षणभर को भी नहीं पकड़ती, जिस दिन कोई उपाय नहीं रह जाता इस बेहोशी के ऊपर छा जाने का, ये धुआँ फिर घिरता ही नहीं, ये बादल फिर चारों तरफ मंडराते ही नहीं, आकाश निरभ्र, खुला हो जाता है; ये बदलियाँ फिर कभी नहीं घेरती और अन्धेरा कभी नहीं उतरता, तब एक सतत स्मरण,...

...स्मरण शब्द ठीक नहीं है। शब्द सभी गलत हैं--उपनिषद् जिसे कहना चाहते हैं, उसे कहने के लिए। पर मजबूरी है। शब्दों के सिवाय कहने को कोई और उपाय नहीं है।

स्मरण कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्मरण का मतलब ही यह होता है कि जिसका बीच-बीच में विस्मरण हो जाता हो। सतत स्मरण का मतलब यह हुआ कि जिसका विस्मरण नहीं होता।

ऐसा हुआ, एक तिब्बत में फकीर हुआ, नारोपा। अनेक लोग उसके पास आते थे, बड़े हैरान होते थे; क्योंकि उसकी ख्याति थी कि वह परमात्मा में लीन है, और लोगों ने कभी उसको ईश्वर का नाम स्मरण करते नहीं देखा। कभी,...कभी भी किसी ने नहीं देखा! तो शिष्य उससे अक्सर पूछते कि लोग तो कहते हैं आप परमात्मा में लीन हैं, लेकिन आप कभी स्मरण नहीं करते? तो नारोपा ने कहा है कि स्मरण कैसे करूँ, उसका विस्मरण ही नहीं होता। और जिस दिन स्मरण करूँ तो समझना कि नारोपा पतित हो गया। जिस दिन स्मरण करूँ, पुकारूँ 'ईश्वर', उस दिन समझ लेना कि नारोपा पतित हो गया; इसे विस्मरण हो गया, नींद आ गई। आती ही नहीं नींद, स्मरण भी कैसे करूँ? उसका विस्मरण ही नहीं होता।

ऐसी अवस्था में उस परम गुह्य गुहा में प्रवेश होता है, जो हम सब के भीतर है।

चौथा प्रवचन

१५ अक्तूबर, १९७२, प्रातः

मातापित्रोर्मलोद्‌भूतं मलमांसमयं वपुः।
त्यक्त्वा चण्डालवद्‌दूरं ब्रह्मभूयं कृती भव॥६॥
घटाकाशं महाकाशं इवात्मानम् परात्मनि।
विलाप्याखण्डभावेनं तूयर्णीं भव सदा मुने॥७॥
स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्॥८॥
चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम्।
निवेश्य लिंगमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा॥९॥
यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा।
तद्‌ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ॥१०॥

यह शरीर माता-पिता के मैल में से उत्पन्न हुआ है और मल तथा मांस से ही भरा है, इसलिए उसे चण्डाल की तरह त्यागकर ब्रह्म रूप होकर तू कृतार्थ हो।

हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके अखण्ड भाव से सदा शान्त रहो।

स्वयं ही अपने आप, स्वयं प्रकाश और अधिष्ठान-ब्रह्मरूप होकर पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का भी विष्ठा-पात्र के समान त्याग कर दे।

देह के ऊपर आरूढ़ हुई अहंकार बुद्धि को सदैव आनन्द रूप चिदात्मा में स्थापित करके लिंग शरीर को त्याग और सर्वदा केवल आत्मा रूप हो।

हे निर्दोष! दर्पण में जैसे शहर दिखाई दे, वैसे ही जिसमें इस जगत् का भास दिखाई पड़ता है, वही ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार जानकर तू कृतार्थ हो।
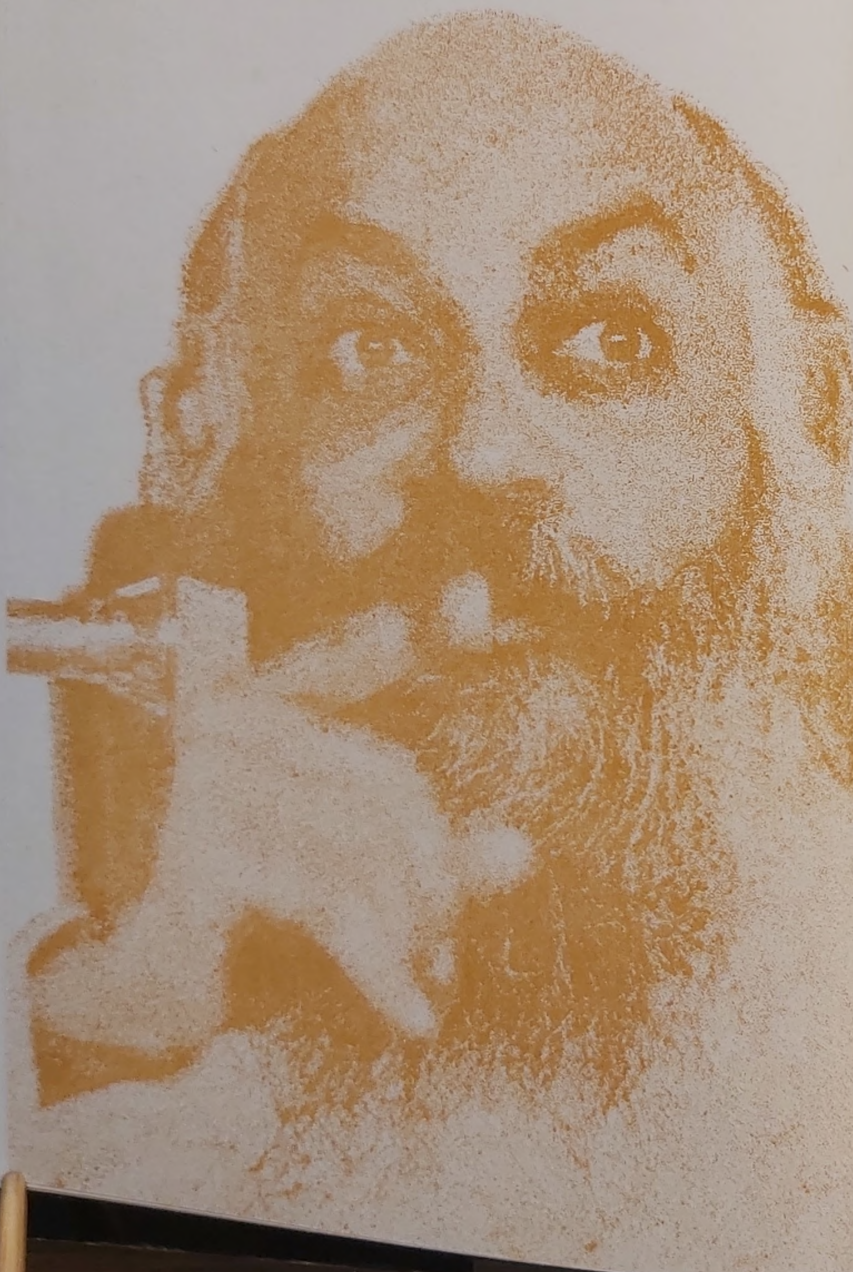
शरीर को भी हम बाहर से ही जानते हैं। जैसे कोई किसी महल के बाहर घूम ले, दीवालों का बाहरी रूप देख ले और समझे कि यही महल है, ऐसा ही हम अपने शरीर को भी बाहर से देखते हैं।

बाहर से दिखाई जो पड़ता है, शरीर वही नहीं है। शरीर को भीतर से देखकर तत्क्षण शरीर से छुटकारा हो जाता है। बाहर से तो शरीर का जो रूप दिखाई पड़ता है, वह ढका हुआ, आवृत्त रूप है। भीतर से शरीर की वस्तुस्थिति दिखाई पड़ती है; जैसा शरीर है।

बुद्ध अपने साधकों को भेजते थे मरघट––लाशों को देखने के लिए, हड्डियों को देखने के लिए, खोपड़ियों को देखने के लिए; शरीर भीतर से वैसा है। सब ढका है चमड़ी के आवरण में, अन्यथा शरीर से इतनी आसक्ति, इतना मोह, इतना ममत्व पैदा न हो।

कभी शरीर को भीतर से देखने का प्रयास करें, तो यह सूत्र समझ में आ सकेगा। कभी अस्पताल में चले जायें, कभी ऑपरेशन की टेबल पर खड़े हो जायें, देखें सर्जन को शरीर का ऑपरेशन करते हुए, तो भीतर जो दिखाई पड़े, शरीर की वस्तुस्थिति वही है।

यह सूत्र ध्यान के लिए बड़ा सहयोगी है। शरीर की कोई निन्दा नहीं है इस सूत्र में, इसे ठीक-से समझ लें। धर्म किसी की भी निन्दा में उत्सुक नहीं है; ना ही किसी की प्रशंसा में उत्सुक है; धर्म तो 'जैसा है' उसे जानने में उत्सुक है।

तो जब यह कहते हैं कि शरीर हड्डी, मांस, मज्जा, मल-मूत्र––इन सब का जोड़ है, तो ध्यान रखना कहीं भी निन्दा का कोई भाव नहीं है। यह कोई शरीर को नीचा दिखाने की चेष्टा नहीं है; शरीर ऐसा है। शरीर का जो होना है, उसको ही खोलकर रख देने की बात है।

यह सूत्र कहता है: "यह शरीर माता-पिता के मैल से उत्पन्न हुआ है और मल तथा मांस से भरा है। (इसका, जैसे अपने ही पास, अपने ही निकट चंडाल खड़ा हो, शूद्र खड़ा हो, और उसका कोई त्याग करके दूर हट जाये, ऐसा ही इस शरीर का त्याग करके तू) ब्रह्म-रूप होकर कृतार्थ हो।"

'चंडाल', 'शूद्र', बड़े मूल्यवान शब्द हैं। प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान कहता है कि जो व्यक्ति भी अपने को शरीर मानता है, वह शूद्र है। शूद्र का अर्थ है जिसने अपने को शरीर मान रखा है; ब्राह्मण का अर्थ है जिसने अपने को ब्रह्म जान लिया।

ब्राह्मण कोई ब्राह्मण के घर में पैदा होने से नहीं होता, न ही कोई शूद्र किसी शूद्र के घर में पैदा होने से शूद्र होता है। शूद्रता का और ब्राह्मणत्व का कोई भी संबंध घरों से नहीं है, परिवारों से नहीं है–– शूद्र एक मनोदशा है; ब्राह्मण भी एक मनोदशा है।

सभी लोग शूद्र की तरह पैदा होते हैं, कुछ ही लोग ब्राह्मण की तरह होकर मर पाते हैं। सारा जगत् शूद्र है। शूद्र अर्थात् जगत् में सभी लोग अपने को शरीर मानकर जीते हैं। ब्राह्मण को खोजना बहुत मुश्किल है। ब्राह्मण के घर में पैदा होना कोई कठिन बात नहीं है, ब्राह्मण होना बहुत मुश्किल है।

उद्दालक ने अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा है: कि श्वेतकेतु, तू जा ऋषि के आश्रम में और ब्राह्मण होकर लौट। श्वेतकेतु ने पूछा: लेकिन ब्राह्मण मैं हूँ ही, ब्राह्मणों का पुत्र हूँ! तो उद्दालक ने बड़े मीठे वचन कहे हैं, और बड़े तीखे। उद्दालक ने कहा: हमारे घर में ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई सिर्फ हमारे घर में पैदा होने से ब्राह्मण हुआ हो, हम वस्तुतः ही ब्राह्मण होते रहे हैं। तो तू जा गुरु के आश्रम में और ब्राह्मण होकर वापिस लौट। बाप से कहीं ब्राह्मणत्व मिला है, गुरु से मिलता है। और हमारे घर में नाम-मात्र का ब्राह्मण कभी भी नहीं हुआ, हम सदा ही ब्राह्मण होते रहे हैं। तू जा और जब ब्राह्मण हो जाये तो वापिस लौट आना।

यह सूत्र कहता है: शूद्र की भाँति, चांडाल की भाँति, इस शरीर से दूर हट जाओ। दूर हटना भी नहीं पड़ता––समझ में आ जाये कि दुर्गंध है, समझ में आ जाये मल-मूत्र है, समझ में आ जाये मांस-मज्जा है––दिखायी पड़ जाये––दूर हटना शुरू हो जाता है। हम खिंचते हैं वहाँ, आकर्षित होते हैं वहाँ, जहाँ सोचते हैं––सुगंध है, सुवास है। हटने लगते हैं वहाँ से, विकर्षित होते हैं वहाँ से––जहाँ लगता है दुर्गंध है।

शरीर के पास रहने का जो मन है हमारा, वह शरीर के संबंध में हमारे अज्ञान के कारण ही है। हमें पता ही नहीं कि शरीर हमारा क्या है।

तो शरीर को भीतर से देखें। अपने ही सर्जन बन जायें, अपने को ही उघाड़ें। चमड़ी बहुत मोटी नहीं है, बहुत पतली है। और चमड़ी के भीतर जो छिपा है, उससे हम कितना राग बना लेते हैं! और इस भाँति जीने लगते हैं, जैसे वही हमारा सब-कुछ होना है! तो जुड़ जाते हैं, बंध जाते हैं।

शरीर की ठीक-ठीक स्थिति ख्याल में आने लगे, तो आप पायेंगे दूर हटना

शुरू हो गया है; हटना भी नहीं पड़ता है, हटना शुरू हो जाता है। फिर तो पास आना हो तो चेष्टा करनी पड़े। लेकिन हम शरीर के पास हैं, इसका एक ही अर्थ है कि हमने कभी शरीर को भीतर से देखा नहीं है।

हम भी अपने शरीर को दर्पण में देखकर जानते हैं। दर्पण में जो दिखाई पड़ता है, वह हमारे शरीर का बाह्य आवरण है। बड़ा अच्छा हो कि विज्ञान ऐसे यंत्र ईजाद कर सके--जैसे एक्सरे की मशीन है--आज नहीं कल, विज्ञान ऐसे यंत्र बना ले; कि उनके सामने आदमी खड़ा हो जाये, तो जैसा वह भीतर से है पूरा-का-पूरा--हड्डी, मांस, मज्जा, मल-मूत्र--सब दिखाई पड़ जाये, तो वैसे यंत्र बड़े काम के हो सकते हैं।

आपको अपने शरीर की पूरी स्थिति का पता चल जाये, आप तत्क्षण पायेंगे कि आपमें और शरीर के बीच फासला हो गया: वे जो सेतु थे, टूट गये; जो जुड़ाव था, वह मिट गया, और दूरी बढ़ने लगी।

उपनिषद् के ऋषियों ने वह आँख पैदा करने की कोशिश की है जिससे आप भीतर झाँक सकें, चमड़ी के भीतर झाँक सकें--अपनी ही चमड़ी के भीतर झाँक सकें।

सत्य मुक्तिदायी है। स्वयं के शरीर का सत्य पता चल जाये तो भी मन मुक्त होना शुरू हो जाता है। असत्य बंधन है। नहीं हम जिसे जानते, उससे हम बंध जाते हैं।

"हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एकरूप कर के अखंड भाव से शान्त हो जा।"

जब शरीर की व्यर्थता दिखायी पड़े, शरीर का असार होना दिखाई पड़े--और शरीर केवल एक गंदगी का ढेर मालूम होने लगे, और जब शरीर से दूरी बढ़ने लगे--तभी परमात्मा से निकटता होनी शुरू होती है। शरीर के जितने निकट, परमात्मा से उतने दूर, शरीर से जितने दूर, परमात्मा के उतने निकट। शरीर से जितने जोर से हम बंधे हैं, उतने ही उस अशरीरी चैतन्य से हमारा फासला है। जब शरीर की तरफ पीठ हो जाती है, और जब शरीर से दूरी बढ़ने लगती है, तो शरीर से दूरी बढ़ने का एक ही मतलब होता है कि आत्मा से निकटता बढ़ने लगती है।

आत्मा है एक छोर, शरीर है दूसरा छोर, बीच में हम हैं। शरीर के बहुत पास होते हैं, आत्मा से बहुत दूर हो जाते; शरीर से दूर हटने लगते हैं, आत्मा के बहुत पास हो जाते हैं। इसलिए शरीर से दूर हटने को ध्यान की एक प्रक्रिया की तरह लिया गया है। इसके कई दुष्परिणाम भी हुए, क्योंकि जब पश्चिम में भारतीय

शास्त्रों का पहली दफा अनुवाद हुआ, तो उन्हें लगा कि ये तो शरीर के दुश्मन मालूम पड़ते हैं।

ऐसा है नहीं। ये सिर्फ उपाय है। शरीर की वस्तुस्थिति जानने से तत्काल चेतना भीतर की यात्रा पर निकल जाती है। शरीर का ठीक-ठीक बोध होते ही शरीर पर पकड़ ढ़ीली हो जाती है। वह पकड़ ढीली हो सके, इसलिए इस बोध को तीव्र करना जरूरी है।

मृत्यु पर चिंतन, शरीर की वस्तुस्थिति पर मनन, उघाड़कर शरीर का जो रूप है उसे आँख के सामने कर लेना, विधियाँ है ध्यान की। इनसे आदमी भीतर की तरफ सरकना शुरू हो जाता है। और वह सरकना सहज हो जाता है, उसके लिए चेष्ठा नहीं करनी पड़ती। अगर आप शरीर को बिना समझे भीतर की तरफ जाना चाहते हैं तो अति कठिनाई होगी, क्योंकि मन तो शरीर में लगा ही रहेगा, जुड़ा ही रहेगा।

बुद्ध का एक भिक्षु एक गाँव से निकलता है। सुन्दर है बहुत; ध्यान ने उसके सौंदर्य को और भी गरिमा दे दी है। मौन भीतर सघन हुआ है, तो उस मौन की किरणें उसकी आँखों और उसके चेहरे से और भी प्रकट होने लगी हैं। वह आभा मंडित हो गया है। एक वेश्या उस पर मोहित हो जाती है। रविन्द्रनाथ ने एक बहुत मधुर गीत इस घटना पर लिखा है। वह वेश्या उतर के अपने महल से नीचे आती है और उस भिक्षु को निवेदन करती है कि उसके महल में एक रात विश्राम कर ले। वह भिक्षु कहता है: निमंत्रण अस्वीकार करना हमारा नियम नहीं है। आऊँगा, लेकिन अभी समय नहीं आया। जब तुम्हारे शरीर की वास्तविक स्थिति प्रकट हो जायेगी, तब मैं आऊँगा। अभी तुम भूल में हो। जिस दिन तुम जगोगी, मैं आऊँगा।

वेश्या को तो समझ में नहीं आता। वेश्या का मतलब ही यह है कि शरीर की भाषा के अतिरिक्त जिसे कोई और भाषा समझ में नहीं आती। इसलिए यह मत सोचना कि कोई पत्नी है, तो वेश्या नहीं है। शरीर की ही भाषा समझ में आती हो तो वेश्या ही है। जब तक आत्मा की भाषा समझ में न आये तब तक कोई वेश्या होने से ऊपर उठ नहीं सकता। और वेश्या का मतलब स्त्री मत समझना; वेश्य भी। शरीर की भाषा समझ में आये, और शरीर से ही मोल-तोल चलता हो, इतना ही मतलब है वेश्या का; शरीर पर ही सब टिका हो मन, वही हो व्यवसाय।

भिक्षु ने कहा: आऊँगा जरूर, लेकिन जब तुम्हारा शरीर अपनी वस्तुस्थिति में आ जायेगा। उस वेश्या ने कहा: पागल हो गये हो! यही है समय, अभी मैं हूँ युवा, अभी सौंदर्य है अपने शिखर पर, शरीर इससे बेहतर हालत में फिर कभी न होगा।

उस भिक्षु ने कहा: बेहतर की चिंता नहीं है, वास्तविक की चिंता है; जब वास्तविक होगा, आ जाऊँगा।

उस वेश्या ने कहा: मैं कुछ समझ नहीं पा रही हूँ, थोड़ा स्पष्ट करके कह दें। उस भिक्षु ने कहा कि जब कोई भी तुम्हारे पास न आयेगा तब मैं आ जाऊँगा, क्योंकि तब शरीर वास्तविक स्थिति में होगा। तब शरीर बाहर भी वैसा ही दिखाई पड़ने लगेगा, जैसा भीतर है। अभी भीतर जैसा है, वैसा बाहर नहीं दिखायी पड़ता। जब कोई भी तुम्हारे पास न आयेगा, तब मैं आ जाऊँगा।

फिर बहुत वर्ष बीत गये; वेश्या वृद्ध हो गयी; सारे शरीर पर कोढ़ फैल गया; अंग-अंग उसके गलने लगे; गाँव ने उसे उठाकर बाहर फेंक दिया।

यह वही गाँव था, जो उसके द्वार के आसपास मंडराता था! ये वही लोग थे, जिनको उसके मकान में प्रवेश नहीं मिलता था; जो उसकी दूर से झलक ले लेते थे तो भी अपने को तृप्त, अहोभागी समझते थे। उन्होंने उसे गाँव के बाहर फेंक दिया।

अंधेरी अमावस की रात है, वह प्यासी गाँव के बाहर तड़प रही है, कोई उसे पानी पिलाने को भी नहीं है। उस रात वह भिक्षु आया है, और उस भिक्षु ने उसके सिर पर हाथ रखकर कहा कि मैं आ गया हूँ। अब शरीर अपनी वास्तविक स्थिति में है। अब कोई तुम्हारे पास आता नहीं! अब शरीर बाहर भी वैसा ही हो गया है, जैसा भीतर है। अब बाहर-भीतर का फासला टूट गया है। बीच की चमड़ी ने जो अवरोध डाले थे, वे मिट गये। अब भीतर की जो मांस-मज्जा है, वह बाहर भी झलकने लगी है। भीतर की जो गंदगी है, वह बाहर भी आ गयी है। अब तुम बाहर भीतर एक हो गयी हो। अब मैं आ गया हूँ। इसी दिन के लिए मैंने वादा किया था: जब कोई भी नहीं आयेगा, तब मैं आ जाऊँगा।

रही मेरी बात, उस भिक्षु ने कहा, मुझे तो उस दिन भी ये दिखाई पड़ता था जो आज बाहर आ गया है। तुम्हें नहीं दिखाई पड़ता था। मैं तो उस दिन भी तुम्हारे घर मेहमान हो सकता था; मुझे कोई अड़चन न थी। तुम्हें भ्रांति और बढ़ जाती कि अब तो भिक्षु भी मेरे घर मेहमान होने लगे हैं! मेरी कोई अड़चन न थी; उस दिन भी आ जाता, क्योंकि उस दिन भी मैं यही देख रहा था जो आज तुम्हें दिखाई पड़ रहा है। जो आज पूरे गाँव ने देख लिया है, वह मैंने उस दिन भी देख लिया था।

लेकिन वो वेश्या वहाँ बाहर पड़ी हुई अपने शरीर को नहीं देख रही, आँख बंद कर के वह उन्हीं दिनों का स्मरण कर रही है, जब शरीर सुन्दर था; जब गाँव में गरिमा थी, गौरव था!

बुढ़ापे में भी लोग जवानी का चिन्तन करते हैं! शरीर भी अपनी सचाई को प्रकट कर देता है तो मन से ढाँकते रहते हैं। चमड़ी भी साथ नहीं देती अब तो आँखें बंद कर लेते हैं, और भीतर, वह जो बीत गया है उसका रस लेते रहते हैं!

बूढ़ा भी जब जवानी का रस लेता है तो समझना कि वह शूद्र ही मरेगा; और जब जवान भी बुढ़ापे को आने के पहले ही शरीर में देख लेता है तो समझना कि ब्राह्मण होकर मरेगा। मरता हुआ आदमी भी जब जीवन की ही वासना लिये रहता है तो समझना कि शूद्र है। और भरी जवानी में भी आदमी जब मृत्यु को देखने लगता है तो समझना कि ब्राह्मण का जन्म शुरू हो गया। और यह ज़रूरी है कि शरीर की यह वास्तविकता हमें दिख जाये, तो हमारी पीठ हो जाये इसकी तरफ और मुँह हमारा उस तरफ हो जाये जहाँ चैतन्य है।

"हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एक रूप करके अखंड भाव से सदा शान्त रहो।"

...मोड़ लो मुँह अपना शरीर से और फिर देखो उस महाकाश की तरफ। वह महाकाश निकट ही है।

एक घड़ा रखा हो। ज़मीन पर हम उसे उलटा रख दें तो घड़ा आकाश की तरफ देखे; पर उसे दिखाई पड़ेगी केवल मिट्टी की देह, आकाश दिखाई नहीं पड़ेगा। घड़े को उलटा रख दिया ज़मीन पर, वह आकाश की तरफ देखे, उसे क्या दिखाई पड़ेगा? उसे दिखाई पड़ेगी अपनी ही मिट्टी की पर्त--अपनी देह, अपना शरीर--आकाश दिखाई नहीं पड़ेगा। फिर घड़े को हम सीधा रख दें, और घड़ा आकाश की तरफ देखे--मुँह आकाश की तरफ है अब--तो अब घड़ा देख पायेगा कि देह मैं नहीं हूँ। और घड़ा अब यह भी देख पायेगा कि जो छोटा-सा आकाश मेरे भीतर है, वही आकाश बाहर है, और हम दोनों के बीच कहीं भी कोई अन्तराल नहीं है; हम दोनों अविच्छिन्न हैं; सतत मैं ही फैलता चला गया हूँ इस आकाश में; सतत ये आकाश ही मुझ तक चला आया है और बीच में कहीं कोई अविरोध, कहीं कोई सीमा, कहीं कोई दीवाल नहीं है।

ठीक ऐसी ही घटना घटती है; जब आप शरीर की तरफ देख रहे होते हैं, तो आप उलटे घड़ी की तरह रखे हैं। आपको शरीर दिखाई पड़ता है। जब आप शरीर से मुँह मोड़ते हैं, आप सीधे घड़े की तरह हो गये। अब आपका मुँह आकाश की तरफ खुलता है। जैसे ही कोई व्यक्ति शरीर से मुड़ता है, तत्क्षण आकाश की तरफ उन्मुख हो जाता है, और पहली दफे उसे दिखाई पड़ता है कि जो विराट् फैला हुआ है उसमें और मुझ में कहीं भी कोई,...कहीं भी कोई रत्तीभर का भेद नहीं है: मैं ही विराट् हो गया हूँ, विराट् मुझ तक आ गया है।

"हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एक रूप करके अखंड भाव से शान्त रहो।"

...और जैसे ही ये दिखाई पड़ता है, शान्ति घटित हो जाती है।

अशान्ति क्या है?...क्या है हमारी बेचैनी?

हमारी बेचैनी यह है कि हम बहुत बड़े हैं और बहुत छोटे में कैद हैं। हमारी बेचैनी यह है कि जैसे एक बड़े आदमी को एक बच्चे के कपड़े पहना दिये हों! वह हिलडुल भी न सकता हो; और जगह-जगह बंध गया हो; और कपड़े भी कपड़े के न हों, लोहे के हों; तो जो अड़चन मालूम होगी, वही हम सब की अड़चन है।

हम हैं बड़े--बड़े नहीं विराट्--और बहुत छोटी देह में कैद हैं। घर बहुत छोटा है, निवासी बहुत बड़ा है। सब जगह अड़चन मालूम पड़ती है; सब जगह सीमा और सब जगह उपद्रव मालूम पड़ता है। कहाँ से निकलें, निकलने की कोई जगह नहीं मालूम पड़ती। और कठिनाई बढ़ गयी है; क्योंकि जो हमारा कारागृह है, उसे हमने अपना घर समझ लिया है। हम उसको सजाने में लगे हैं। हम उसका शृंगार कर रहे हैं। हम जगह-जगह से उसकी सजावट कर रहे हैं। हम कारागृह के भीतर सोने-चाँदी का इन्तज़ाम कर रहे हैं। हम कारागृह की दीवारों को सुन्दर कर रहे हैं, आभूषण दे रहे हैं। और उसी कारागृह में हम बंद हैं। और हमारा मुँह दीवालों की तरफ है, द्वार की तरफ नहीं।

रहेगा; मुँह उस तरफ रहता है जिस तरफ आकर्षण हो। जहाँ आकर्षण, वहाँ मुँह; जहाँ विकर्षण, वहाँ पीठ। जब तक शरीर में आकर्षण है, मुँह दीवाल की तरफ रहेगा। और जैसे ही शरीर में विकर्षण पैदा हुआ, मुँह शरीर की तरफ नहीं रह जाता है, पीठ हो जाती है।

आपके शरीर में भी द्वार है एक। लेकिन वह द्वार आपको तभी दिखाई पड़ेगा, जब शरीर से आकर्षण खो जाये। शरीर में द्वार है। उस द्वार को ही 'हृदय' कहा है। जिसको आप हृदय कहते हैं, उसको हृदय नहीं कहा है। आप तो हृदय उसको कहते हैं जहाँ फेफड़ा धड़क रहा है। वहाँ कोई द्वार नहीं है। वहाँ तो केवल पम्पिंग, श्वास का इंतज़ाम है। वहाँ तो खून और वायु का मिलन होता रहता है। उससे हृदय धड़क रहा है। वह हृदय नहीं है।

'हृदय', योग की भाषा में आपके भीतर उस द्वार का नाम है कि जब आप शरीर की तरफ से पीठ कर लेते हैं, जब आप शरीर को देखने के लिए भी उत्सुक नहीं रह जाते, जब कि शरीर में कोई भी रस नहीं रह जाता और विराट् का जन्म होता है, तब अचानक आप उस जगह खड़े हो जाते हैं जहाँ हृदय है; जहाँ से द्वार है; जहाँ से घड़ा आकाश की तरफ खुलता है।

आपके शरीर में बहुत तरह के द्वार हैं, लेकिन द्वारों का पता तभी चलता है, जब आप द्वारों पर पहुँचें। जब तक आप न पहुँचे तब तक पता नहीं चलता।

छोटा बच्चा है, उस छोटे बच्चे को कोई भी पता नहीं है कि उसके भीतर शरीर में एक काम-द्वार है, एक यौन-द्वार है; उसे कोई पता नहीं। अभी वह बड़ा होगा, जवान होगा, और एक दिन अचानक उसे काम-द्वार का पता चलेगा। उस काम-द्वार के द्वारा वह संसार में प्रवेश कर सकता है। वह भी एक शरीर के बाहर जाने का एक मार्ग है। और ध्यान रहे, इसीलिए कामवासना की इतनी आतुरता है। उससे क्षणभर को हम शरीर के बाहर बह पाते हैं। लेकिन क्षणभर को ही। क्षणभर को शरीर भूल जाता है और हम प्रकृति में डूब जाते हैं।

एक द्वार है मनुष्य का प्रकृति की तरफ--नीचे की तरफ, और एक द्वार है मनुष्य का परमात्मा की तरफ--ऊपर की तरफ। जब कामवासना से चित्त भरता है तो हम शरीर के निकटतम होते हैं। और जब हम शरीर के निकटतम होते हैं तो वह द्वार खुलता है जिससे हम और शरीरों के जगत् में प्रवेश कर जाते हैं। जब हम शरीर के प्रति विरस हो जाते हैं, और शरीर से दूर होते हैं, तब वह द्वार खुलता है जहाँ से हम आत्माओं के जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में दोनों द्वार हैं।

शरीर में वह द्वार है, जो पदार्थ की तरफ जाता है और वह द्वार भी जो परमात्मा की तरफ...। लेकिन शरीर के प्रति विरस हो जायें, ऐसा सोच-सोच के नहीं होगा। ऐसा आप मन में सोचते रहें कि शरीर हड्डी, मांस, मज्जा है और कुछ भी नहीं, सोचने से नहीं होगा। सोचना तो बताता है कि आपको पता नहीं है इसलिए सोच रहे हैं।

अनेक लोग, जिन्दगी हो गयी, यही भाव करते रहते हैं बैठकर कि शरीर में क्या रखा है! लेकिन उनको मालूम है कि रखा है। तभी यह भाव करते हैं। यह बार-बार कहने की ज़रूरत क्या है कि शरीर में क्या रखा है? यह वे अपने को ही समझा रहे हैं, अपने ही मन को समझा रहे हैं कि 'मन! मत पड़ शरीर की बातों में, शरीर में कुछ रखा नहीं है।' लेकिन ये मन कौन है जो शरीर में लग रहा है? ये वे ही हैं; वे खुद। और मन का रस अभी कायम है, इसीलिए तो समझाना पड़ता है।

नहीं, यह सूत्र समझाने का नहीं है। इसको आप दोहराना मत। इसको बैठ-कर आँख बंद करके आप दोहराना मत। यह सूत्र उद्घाटन का है। इस सूत्र को समझ के, आँख बंद करके शरीर के भीतर खोजना कि क्या यह सूत्र सच कहता है: कि मांस-मज्जा है? इसको मान मत लेना। इसको मान के खतरा हो जायेगा, आप दोहराने लगेंगे। इसकी खोज करना, तलाश करना। हो सकता है ऋषि मजाक कर

रहा हो; हो सकता है झूठ बोल रहा हो। ऋषियों ने जो भी कहा है, वह विश्वास करने के लिए नहीं है, खोजने के लिए है।

अपने भीतर खोजना। टटोलना अपनी हड्डियों को। अपने मांस में अपने पंजों को गपाना और खोजना। अपनी खोपड़ी को छूना और देखना वहाँ क्या है। और सब तरफ से अपने शरीर से परिचित होना। जिस दिन यह परिचय हो जायेगा... और इसमें देर क्या है? यह तो आज हो सकता है। यह शरीर तो आपको मिला ही हुआ है, लेकिन आपने कभी इसकी खोज नहीं की, इसको आपने कभी जाँचा-परखा नहीं। और ऐसा अजीब है आदमी कि आपको तो माफ भी किया जा सकता है।

मैं ऐसे डॉक्टर्स को जानता हूँ, जिनका सारा अध्ययन, जिनकी सारी शिक्षा हड्डी, मांस, मज्जा की है। वे भी इतने ही मोहित हैं शरीर में। एक डॉक्टर का भी शरीर में मोहित होना चमत्कार है। इसका मतलब है, अंधापन गजब का है, अंधेपन का कोई हिसाब नहीं। यह सर्जन की तरह, यह डॉक्टर टेबल पर शरीरों को काटता रहता है और फिर भी मजनुओं की तरह लैलाओं के गीत गाता रहता है! तो चमत्कार इसको कहना चाहिए। ये ताबीज वगैरह निकाल देते हैं साईंबाबा, यह कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार यह है कि यह आदमी रोज काटता है मांस-मज्जा को, और जब शरीर को खोलता है तो दुर्गंध की वजह से नाक बंद कर लेता है, एक-एक हड्डी से, एक-एक नस से परिचित है: भीतर सुन्दर-जैसा कुछ भी नहीं है।

लेकिन बड़े मजे की घटनाएँ घटती हैं। मैं एक डॉक्टर को यह कह रहा था--मित्र हैं। वे कहने लगे, 'आप कहते हैं तो मुझे ख्याल आया: मैं एक स्त्री का ऑपरेशन कर रहा था, और जब मैंने उसका पेट खोला...तो नासिया...बहुत मन...विकार...वह सब जो दिखाई पड़ा, उससे मन बहुत विकृत हो गया और बड़ी घबराहट भीतर मालूम होने लगी!' ये एक तरफ चल रहा है और उस डॉक्टर ने मुझे कहा--ईमानदार आदमी हैं--'यह एक तरफ चल रहा है और पास में मेरे नर्स खड़ी है, उसमें मेरा रस भी चल रहा है! इधर पेट खोल के रखा हुआ हूँ, इसको जल्दी किसी तरह निपटाऊँ, क्योंकि उस नर्स के साथ मुझे सिनेमा देखने जाना था!'

...यह है आदमी का मन! हम अपने को धोखा देने में इतने कुशल हैं। यह भी वही करेगा, यह जाकर अभी नर्स का हाथ हाथ में ले लेगा और बिलकुल भूल जायेगा कि हाथ क्या है!

तो आम आदमी को तो माफ किया जा सकता है...लेकिन, डॉक्टर की तुलना में कह रहा हूँ...माफ किया नहीं जा सकता; क्योंकि शरीर हमारे पास है और हम उससे भी परिचित नहीं हो पाये! और लोग आत्मा की खोज में निकल जाते

हैं। शरीर तक से परिचित नहीं हो पाये और आत्मा की खोज में निकल जाते हैं।

लोग पूछते हैं 'आत्मा को कैसे पायें?' कृपा करके पहले शरीर को तो ठीक-से जान लें; जो बहुत निकट और करीब है, इससे तो परिचित हो जायें। और इससे परिचित होना ही आत्मा की तरफ उठने की सीढ़ी बन जाती है। क्योंकि जो इससे परिचित हुआ, वह फिर इसकी तरफ विमुख हो जाता है। और जो शरीर से होता है विमुख, वह आत्मा की तरफ उन्मुख हो जाता है। तब उसका मुँह आत्मा की तरफ हो जाता है। और जब आकाश मिलता है भीतर के इस छोटे-से घटाकाश से, तो जो घटना घटती है, उसका नाम शान्ति है।

अशांति है इस कारागृह में बंद होना, शान्ति है इस कारागृह के बाहर विराट् के साथ एक होने का अनुभव। ईश्वर से मिले बिना कोई भी शान्त कभी हुआ नहीं है: इसलिए जब जितने भी आप उपाय करते हैं शांत होने के, वे व्यर्थ जायेंगे। कमो-बेश अशान्ति हो सकती है; कभी अशान्ति ज्यादा, कभी कम--बस। जिसको आप शान्ति कहते हैं, वह कम अशान्ति का ही नाम है, इससे ज्यादा नहीं; नॉर्मल अशांति। साधारण अशान्ति हो तो आदमी कहता है कि सब शांत है, सब ठीक चल रहा है। अशांति थोड़ी बढ़ जाती है तो थोड़ी दिक्कत मालूम होती है।

मनस्विद् कहते हैं कि हमारा धंधा कुल इतना है कि हम तुम्हें सामान्य रूप से पागल रख सकें। दो तरह के पागल हैं दुनिया में। बस, दो ही तरह के आदमी ही हैं: असाधारण रूप से पागल--उनको हमें पागलखाने में रखना पड़ता हैं; साधारण रूप से पागल--जो दुकानों में, दफ्तरों में, सब जगह बैठे हुए हैं। इनके बीच जो फर्क है, वह डिग्री का, मात्रा का है। इनमें से कोई भी उचक के दुकान से एक-दम पागलखाने में जा सकता है, कोई अड़चन नहीं है! जरा मात्रा बढ़ाने की ज़रूरत है।

और आप रोज़ कई दफा पागलखाने के करीब हो जाते हैं। जब आप क्रोध से भर जाते हैं, तो आप क्षणभर के लिए पागल हो गये। आपमें और पागल में कोई फर्क नहीं है। आप वह काम करेंगे जो पागल करता है। बस, फर्क इतना ही है कि आप कभी-कभी ऐसा होते हैं; यह पागलपन जो है आपका, कभी-कभी आता है। किसी का स्थिर हो गया है; जाता ही नहीं, ठहर गया है। आप थोड़े तरल पागल हैं--लिक्विड; बहते रहते हैं। कोई ठोस हो गया है, बर्फ की तरह जम गया है।

मनस्विद् कहते हैं कि हमारा कुल काम इतना है कि जो जरा ज्यादा आगे चले गये पागल हैं, उनको ज़रा पीछे ले आना और सामान्य भीड़ के साथ खड़ा कर देना। इससे ज्यादा हम कुछ कर नहीं सकते; एडजेस्टमेन्ट कर सकते हैं कि वापिस,

साल-दो साल में समझा-बुझाकर, दारू-दवा से वापिस बिठा देना नहीं, जहाँ वह पहले अपनी दुकान में बैठे थे। इतना पागलपन जिससे कि काम में बाधा न पड़े, काम चलता जाये।

अशान्ति हमारा स्वभाव बन गयी है। और स्वाभाविक है ऐसा होना, क्योंकि शांत होने का एक ही अर्थ है: जब गंगा सागर में गिरती है, उन दोनों के बीच जो घटना घटती है, उसका नाम है शान्ति। जब आपकी सरिता भी सागर में गिरती है, तब जो घटना घटती है उस मिलन के क्षण में उसका नाम है शान्ति।

परमात्मा से मिले बिना कोई शान्ति नहीं है।

"स्वयं ही अपने आप, स्वयं प्रकाश और अधिष्ठान और ब्रह्मरूप होकर पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का भी विष्ठा-पात्र के समान त्याग कर दे।"

न केवल इस शरीर को त्याग कर देना है, बल्कि यह जो विराट् शरीर दिखाई पड़ रहा है 'ब्रह्मांड', यह जो बड़ा जगत् दिखाई पड़ रहा है,...

छोटे रूप में आदमी तस्वीर है बड़े जगत् की। आपके बाहर फैला हुआ एक शरीर है, वह आपकी देह है। भीतर छिपी हुई चिदात्मन् ज्योति है आत्मा की। ठीक ऐसे ही इस पूरे विराट् का शरीर है जगत्, और उसके भीतर छिपा हुआ है ब्रह्म। इस शरीर का तो त्याग कर ही देना है, यह जो बाहर विराट् शरीर फैला हुआ है, यह भी इसी के साथ व्यर्थ हो जाता है, इसका भी त्याग कर देना है।

जब कोई व्यक्ति अपने शरीर से विमुख होता है, तो उसे 'आत्मा' का अनुभव होता है। इस शब्द को ठीक-से समझ लें। जब कोई व्यक्ति अपने शरीर से विमुख होता है तो उसकी आँखों में पहली दफे जो झलक आती है, वह अपनी ज्योति की है, आत्मा की है, घटाकाश की है। और जब कोई व्यक्ति सारे जगत् के, ब्रह्मांड शरीर से भी विमुक्त हो जाता है, तब उसे जो अनुभव होता है, वह 'ब्रह्म-ज्योति' का है।

आत्मा और परमात्मा में इतना ही फर्क है। आत्मा का मतलब है, आपको छोटी-सी ज्योति का अनुभव हुआ। परमात्मा का अर्थ है, अब आप महासूर्य के समक्ष खड़े हो गये। अपने शरीर से छूटकर आत्मा का अनुभव होता है और ब्रह्मांड से छूटकर परमात्मा का अनुभव होता है। पर दोनों में मात्रा का ही फर्क है। इसलिए जो आत्मा तक पहुँच गया, उसे कोई अड़चन नहीं है, उसे कोई बाधा नहीं है, वह दूसरी छलाँग भी आसानी से ले सकता है।

"देह के उपर आरूढ़ हुई अहंकार बुद्धि को सदैव आनंदरूप चिदात्मा में स्थापित करके लिंग शरीर को त्याग और सर्वदा केवल आत्मारूप हो।"

सतत यह मुख आकाश की तरफ बना रहे; यही संन्यास का अर्थ है। गृहस्थ चेष्टा करके कभी-कभी एक झलक पा लेता है, फिर लौट आता है अपने घर में।

गृहस्थ का मतलब आप समझ लेना; गृहस्थ का मतलब शरीर में जो लौट-लौट आता है। गृह से मतलब उस घर का नहीं है जिसमें आप रहते हैं, गृह से अर्थ इस घर का है जिसमें आप पैदा हुए हैं। इसमें जो ठहर गया है, उसका नाम है गृहस्थ। कभी-कभी झलक भी मिल जाती है, फिर लौट-लौट आता है। कभी-कभी घड़ा सीधा भी हो जाता है, फिर उलटा हो जाता है; फिर ठहर जाता है। उलटा होना आदत हो गयी है। आदत की वजह से उलटा होना सीधा मालूम होता है...आदत की वजह से! इतने दिन तक उलटे रहे हैं कि आदत की वजह से वही ठीक मालूम पड़ता है।

अगर एक आदमी को जन्म के साथ शीर्षासन करवा दिया जाए, और वे शीर्षासन किये ही बड़े किये जायें, तो किसी दिन अगर उनको सीधा खड़ा होने को कहा जाये, तो वह कहेगा: क्या उलटा खड़ा करवा रहे हैं! स्वभावतः, क्योंकि उनकी आदत तो एक पड़ गयी है कि सिर के बल खड़ा होना।

एक छोटी-सी जाति है दक्षिण अमरीका में; एक छोटे पहाड़ पर तीन सौ लोगों का कबीला है। एक मक्खी है वहाँ, जिसके काटने से सभी लोग अन्धे हो जाते हैं। तो वे तीन सौ लोग ही अन्धे हैं। छोटी-सी आदिवासियों की जाति है। सब बच्चे आँखवाले पैदा होते हैं, लेकिन तीन महीने के भीतर अंधे हो जाते हैं, क्योंकि तीन महीने के भीतर वह मक्खी काट ही लेती है। इसलिए उस कबीले को पता ही नहीं कि आँखें होती हैं। और तीन महीने के बच्चे को तो क्या पता चलेगा कि आँख है, बाकी तो सब अंधे हैं। तीन महीने के भीतर हर बच्चा अंधा हो ही जायेगा। अगर उस कबीले में कभी कोई आँखवाला पैदा हो जाये, तो निश्चित ही उस कबीले के डॉक्टर उसकी आँखों का ऑपरेशन कर देंगे; क्योंकि बिलकुल अस्वाभाविक मालूम पड़ेगा: आँख कहीं होती है! किसको होती है? किसी को नहीं होती। तो कुछ भूल हो गयी प्रकृति से। ऑपरेशन कर देना ज़रूरी हो जाये। अंधा होना स्वाभाविक है। आदत बन गयी है।

हम जैसे हैं वह स्वाभाविक लगता है, ज़रूरी नहीं कि स्वाभाविक हो; इसे थोड़ा ठीक-से समझ लें। आदत स्वभाव मालूम पड़ सकती है, लेकिन आदत स्वभाव नहीं है। आदत और स्वभाव में फर्क क्या है? आदत का मतलब है, जिसे हम करते रहे हैं इसलिए करते चले जा रहे हैं। स्वभाव का अर्थ है कि हम अपना सब करना भी छोड़ दें तो वह होता रहेगा; उसे करना नहीं पड़ता।

आदत है हमारी शरीर के साथ बंधे होने की जन्मों-जन्मों की--अनंत जन्मों

अ. उ....६

को। यह स्वभाव नहीं है। इसलिए एक दफा आपको ठीक अनुभव हो जाये स्वभाव का, तो यह आदत टूट जायेगी। लेकिन झलकें मिल सकती हैं। और झलक मिलती है तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। झलक, जैसे बिजली कौंध जाए, फिर अंधेरा घना हो जाए। पुरानी आदत में हम फिर वापिस सेटल हो जाते हैं, फिर स्थापित हो जाते हैं।

संन्यासी का अर्थ है जिसने यह निर्णय लिया कि अब मैं सतत घर की ओर पीठ ही रखूँगा, और सतत खुले आकाश को स्मरण रखूँगा, और निरंतर मेरी चेष्टा जारी रहेगी, उठते-बैठते, जागते--सोते भी, जहाँ तक मेरा बस चलेगा, वहाँ तक मैं ख्याल रखूँगा कि मेरा मन शरीर से न जुड़े, मेरी आत्मा उस विराट् सागर में प्रवाहित होती रहे, बहती रहे।

और जब मैं कहता हूँ, 'बहती रहे', तो सिर्फ शब्द नहीं कह रहा हूँ। जब आप इसका प्रयोग करेंगे तो आपको लगेगा ही कि आप सतत बह रहे हैं। जैसे ही आपका मुँह आत्मा की तरफ होगा, आपको लगेगा कि आप सतत उंडेले जा रहे हैं, आप गंगा की तरह सागर में गिर रहे हैं...गिर रहे हैं। यह स्मरण बना रहे; यह सतत स्मरण बना रहे।

"हे निर्दोष! दर्पण में जैसे शहर दिखायी दे, वैसे ही जिसमें इस जगत् का भास दिखायी पड़ता है, वही ब्रह्म में हूँ, इस प्रकार जानकर तू कृतार्थ हो।"

जैसे दर्पण में प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है,...लेकिन दर्पण में जो प्रतिबिंब दिखायी पड़ता है वह वास्तविक नहीं है, वास्तविक तो दर्पण है जिसमें प्रतिबिंब दिखायी पड़ता है। लेकिन आपको ख्याल हो या न हो, जब आप दर्पण देखते हैं तो दर्पण नहीं दिखायी पड़ता, प्रतिबिंब दिखायी पड़ता है। जब आप दर्पण के सामने खड़े होते हैं, तो आपने कभी ख्याल किया है कि आप दर्पण देख रहे हैं? आप चेहरा देख रहे होते हैं, दर्पण नहीं देख रहे होते। और जो चेहरा दिखायी पड़ता है वह वहाँ बिलकुल नहीं है, और जो है वह बिलकुल दिखायी नहीं पड़ता।

अगर ऐसा दर्पण बनाया जा सके, जिसमें आपको चेहरा न दिखायी पड़े तो दर्पण आपको दिखायी ही नहीं पड़ेगा। उधर चेहरा दिखायी पड़ता है, इससे आप अनुमान करते हैं कि दर्पण है। दर्पण आप अनुमान करते हैं कि है, क्योंकि चेहरा दिखायी पड़ रहा है। लेकिन दिखायी चेहरा पड़ता है, दर्पण दिखायी नहीं पड़ता। हाँ, दर्पण में कुछ अशुद्धि हो तो बात अलग। जितना शुद्ध दर्पण हो, उतना कम दिखायी पड़ेगा। अगर हम बिलकुल निर्दोष दर्पण बना सकें तो वह हमें दिखायी ही नहीं पड़ेगा।

महाभारत की सारी कथा ऐसे ही निर्दोष दर्पण के बनने से हुई। किया था मजाक, मजाक महंगा पड़ा। दुर्योधन और उसके सारे भाई अंधे बाप के बेटे थे। तो मजाक किया था। मजाक अच्छा भी नहीं था, क्योंकि जिस मजाक से दूसरे को चोट पहुँचे, वह मजाक कम हिंसा ज्यादा हो जाता है।

तो, पांडवों ने बनाया था एक मकान, निमंत्रित किया था अपने चचेरे भाइयों को। मकान में ऐसे दर्पण लगाये थे जो बड़े निर्दोष थे। दर्पण इतने निर्दोष थे कि दिखायी ही नहीं पड़ते थे कि दर्पण हैं। तो अगर दर्पण दरवाजे के सामने लगा था तो दरवाजा दिखायी पड़ता था, दर्पण दिखायी नहीं पड़ता था। दुर्योधन बेचारा, उन दरवाजों से निकलने की कोशिश में सिर टकरा गया उसका, गिर पड़ा। द्रोपदी हँसी, उस हँसी से सारा महाभारत पैदा हुआ। उस हँसी का बदला।

ऐसी कोई बड़ी बात न थी, लेकिन छोटी-सी हँसी भी बड़ी हिंसा हो सकती है। इसलिए द्रोपदी को फिर भरी सभा में नग्न करने की कोशिश का जुम्मेवार अकेला दुर्योधन नहीं है, द्रोपदी की हँसी भी उसमें सम्मिलित है। मूल कारण वही है। अंधे का बेटा है, इसलिए दिखायी नहीं पड़ता है। होगा ही ऐसा, क्योंकि अंधे का बेटा है। इसलिए हँसी की: गिरोगे ही; जहाँ दरवाजा नहीं, वहाँ दरवाजा देख रहे हो!

पर बात कुल इतनी थी कि बहुत निर्दोष दर्पण का उपयोग किया गया था। तो दर्पण तो दिखायी नहीं पड़ता, जो प्रतिबिंब पड़ता है वही दिखायी पड़ता है।

ऋषि कहता है: हे निर्दोष! दर्पण में जैसे प्रतिबिंब दिखाई दें, वैसे ही जिसमें इस जगत् का भास दिखाई पड़ता है,...

भीतर जो हमारी आत्मा है वह निर्दोष दर्पण है; सारा जगत् उसमें दिखाई पड़ता है। तो हम इस जगत् को पकड़ने दौड़ पड़ते हैं; लेकिन वह दर्पण हम नहीं देखते जिसमें यह दिखाई पड़ता है, जिसमें यह झलकता है।

एक हीरा दिखाई पड़ रहा है; कोहेनूर रखा है, वह दिखायी पड़ रहा है। तो आप कोहेनूर की तरफ दौड़ते हैं। आपको यह ख्याल में भी नहीं आता कि जिसको यह दिखाई पड रहा है, जिसमें यह कोहेनूर की छवि बन रही है, वह कौन है? वह दर्पण क्या है मेरे भीतर जो कोहेनूर को मेरे भीतर तक प्रतिबिंबत कर देता है? चाँद दिखाई पड़ता है आकाश में, भीतर वह कौन है जिसमें यह चाँद प्रतिबिंबित हो जाता है?

मेरे भीतर एक घूमता हुआ दर्पण है, जो सारे जगत् को देखता रहता है। जब तक आप जगत् को पकड़ने जा रहे हैं, तब तक आप प्रतिबिंबों को पकड़ रहे हैं। जिस दिन आप दर्पण को पकड़ने लगेंगे, आप का प्रवेश हो गया उस जगत् में जो सत्य का है। और दर्पण को जो पकड़ लेगा, फिर वह प्रतिबिंबों के मोह में नहीं पड़ता।

ऐसा नहीं कि फिर प्रतिबिंब बनने बंद हो जायेंगे, प्रतिबिंब बनते रहेंगे। लेकिन तब पकड़ने का आग्रह छूट जाता है। और दर्पण प्रतिबिंबों से कभी विकारग्रस्त नहीं होता है। चाहे आप कितने ही कितने संसारों में भटकते रहे हों, आपका दर्पण निर्दोष बना रहता है: इसे थोड़ा समझ लें। इसीलिए कहा है, 'हे निर्दोष!' यह आपसे कहा है, 'हे निर्दोष!' आपको भी शक होगा कि ऋषि से कोई भूल तो नहीं हो गयी! हमसे,...और कहा--'हे निर्दोष!' नहीं, पर कारण से कहा है। चाहे कितने ही दोष हो जायें, वह दर्पण निर्दोष ही रहता है।

एक दर्पण के सामने आप कुछ भी खड़ा कर दें; गंदगी रख दें, मल-मूत्र रख दें, दर्पण उसका प्रतिबिंब बना देगा, लेकिन क्या आप सोचते हैं कि दर्पण उस गंदगी से दोषी हो गया! गंदगी हटा लें, दर्पण वैसा का ही वैसा है, कहीं कोई रेखा भी न छूट जायेगी उस गंदगी की।

तो आपके दर्पण के सामने बहुत कुछ घटता रहता है, लेकिन सामने ही घटता रहा है, दर्पण में कुछ भीतर जाता नहीं; जा सकता नहीं। इसलिए कहा: हे निर्दोष!

यह एक बहुत बुनियादी फर्क है: ईसाइयत कहती है कि अपने दोष छोड़ो, हिन्दू चिंतन कहता है जानो कि तुम निर्दोष हो ही। ईसाइयत कहती है: छोड़ो पाप, छोड़ो दोष--हटाओ! हिन्दू, चिंतन कहता है हटाना क्या है! तुम दर्पण हो--यह भर जान लो, फिर सब हट गया; तब तुम निर्दोष हो ही।

बात एक ही है। अगर कोई हटाने में भी लग जाये, तो सामने से दर्पण के अगर सब दोष हटा दिये जायें, तो दर्पण निर्दोष मालूम पड़ेगा। वह था ही। इस छोर से भी शुरू किया जा सकता है। जैन और हिंदू-चिंतन का भी फर्क यही है।

इसलिए बहुत मजे की बात है: जैन का भी जोर है दोष को हटाने पर; हटा दो दोष को। तो जितने दोष हट जायेंगे, अगर दोष सब हट जायेंगे, तो दर्पण तो निखालिस है ही, वह निखालिस मालूम पड़ जायेगा। हिंदू-चिंतन का जोर है: क्यों व्यर्थ मेहनत करते हो दोष के साथ! दर्पण हो, इस सत्य को पहचान लो; फिर पड़े भी रहें दोष सामने, तो भी तुम निर्दोष हो।

इसलिए जैनों को ऐसा लगता रहा है, ईसाइयत को भी लगता है कि हिंदू-विचार थोड़ा खतरनाक है। क्योंकि इसमें फिर नीति, पाप-पुण्य के लिए बहुत जगह नहीं रह जाती है।

खतरनाक है। जितना गहरा सत्य होगा, उतना खतरनाक हो जाता है; क्योंकि जितना गहरा सत्य हो, उतना शक्तिशाली हो जाता है। और शक्ति में खतरा है। और गलत आदमी के हाथ पड़ जाये तो बहुत खतरा है। और अक्सर गलत आदमी शक्ति की तलाश में होते हैं, उनके हाथ में पड़ जाती है। पर हिंदू-विचार है बहुत गहन।

और बात इसकी है कि भीतर जो तुम्हारा चैतन्य है, वह मात्र दर्पण है; जस्ट ए मिरर--मात्र दर्पण। उसमें तुमने जो भी देखा है वह बाहर है, भीतर कभी कुछ गया नहीं है। हालांकि भीतर दिखाई पड़ता है; दर्पण के सामने कोई चीज रखो तो जितनी बाहर होती है उतनी भीतर दिखाई पड़ती है। किरणों के अनुपात का नियम: जितनी बाहर होती है उतनी भीतर दर्पण में दिखाई पड़ती है।

तो एक बड़े मजे का सूत्र आप ख्याल में ले लें: जो बात आपको जितनी भीतर दिखाई पड़े, जान लेना आप से उतनी ही बाहर है। अगर कोई बात आपको बिलकुल भीतरी मालूम पड़े तो बिलकुल पक्का समझ लेना कि इससे ज्यादा बाहरी चीज खोजनी मुश्किल है। जैसा अक्सर होता है: लोग कहते हैं, प्रेम बहुत भीतर है। उसका मतलब, यह सबसे बाहरी चीज है; सबसे दूर का मामला है। जब आप कहते हैं कि किसी का प्रेम बिलकुल मेरे हृदय में प्रवेश कर गया है, तब समझ लेना कि आप बहुत दूर की चीज छूने की कोशिश में लगे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि कोई बहुत दूर है आपसे और इसलिए दर्पण में इतने भीतर दिखायी पड़ रहा है।

पास की चीजें पास दिखायी पड़ेंगी, दूर की चीजें गहरी दिखायी पड़ेंगी। और जरूरी नहीं है, दर्पण में कोई चीज कितने भीतर दिखायी पड़ती है, इससे भीतर होने का कोई संबंध नहीं है। छोटी-सी तलैया में भी चाँद दिखायी पड़ता है उतना ही गहरा, जितना आकाश में दूर है। उतनी गहराई भी नहीं है उस तलैया में। आपके दर्पण की कितनी गहराई होती है! दर्पण को रख दें नीचे जमीन पर, चाँद दिखायी पड़ेगा उतनी ही गहराई में जितना दूर चाँद है।

बाहर के प्रतिबिंब कितने ही भीतर चले जायें, भीतर नहीं जाते। भीतर कुछ गया ही नहीं है कभी; जा भी नहीं सकता; मालूम पड़ता है, क्योंकि भीतर एक दर्पण है--चैतन्य एक दर्पण है; शुद्धतम दर्पण है। इतना शुद्धतम है! क्योंकि काँच कितना ही शुद्धतम हो, तो भी काँच तो होता ही है। उतना पदार्थ तो होता ही है। लेकिन शुद्धतम चैतन्य...!

अगर हम कभी वायु का दर्पण बना पायें, तो वह भी इतना शुद्धतम नहीं होगा, जितना चैतन्य का दर्पण शुद्धतम होगा। अगर हम वायु का दर्पण बना पायें और उसमें कोई चीज प्रतिबिंबित हो सके, तो हम बराबर प्रतिबिंब को खोजने निकल जायेंगें, दर्पण कोई बाधा भी नहीं देगा; वायु का दर्पण है, आप आर-पार चले जायेंगे।

चैतन्य का दर्पण और भी शुद्धतम है, क्योंकि चेतना इस जगत् में सबसे ज्यादा सूक्ष्म घटना है।...सबसे ज्यादा सूक्ष्म! शुद्धतम शक्ति है। उसमें यह जगत् फलित होता है।

ऋषि कहता है: हे निर्दोष, दर्पण में जैसे प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हों, ऐसे इस जगत् का भास तेरे भीतर होता है। इसे छोड़कर, इसे जानकर, इसे पहचानकर, मैं ब्रह्म हूँ, मैं दर्पण हूँ--वह नहीं जो प्रतिफलित होता है, बल्कि वह हूँ जिसमें प्रतिफलित होता है--तू कृतार्थ हो।

इसके बिना और कोई कृतार्थता है भी नहीं। जब तक कोई अपनी चेतना की शुद्धता को नहीं पहचानता, तब तक अकृतार्थ है। वह कुछ भी करता रहे, कुछ भी पाता रहे, सब पाया हुआ व्यर्थ होगा; सब किया अनकिया हो जायेगा; सब दौड़-धूप ऐसी ही होगी, जैसी कोई पानी पर लकीरें खींचता रहे। खींच भी नहीं पाता कि मिट जाती हैं। फिर-फिर खींचता रहे, मिटती जाती हैं।

जिंदगी के अखीर में, जिन लोगों ने प्रतिबिंबों की तलाश की है, मौत के क्षण में उन्हें पता चलता है 'पानी पर लकीरें खींचते रहे हैं।' सब खो जाता है। सब प्रतिष्ठा, सब पद, सब धन, सब संग्रह--सब खो जाता है। मौत के क्षण में पता लगता है कि बड़ी भूल हो गयी, हमने सोचा था ग्रेनाइट पर लकीरें खींच रहे हैं, पानी पर खींच रहे थे! लेकिन तब पता चलता है जब कुछ किया नहीं जा सकता।

इसका पता अगर आज चल जाये, अभी चल जाये, तो कुछ हो सकता है। पानी पर लकीरें खींचना बंद हो सकता है। और जो आदमी हाथ खींच लेता है पानी पर लकीरें खींचने से, उस आदमी का दूसरे जगत् में प्रवेश हो जाता है। उस जगत् में, जहाँ कुछ भी कभी नहीं मिटता है।

एक है जगत् मृत्यु का, एक है जगत् अमृत का। मृत्यु से जो हट जाता है, वह अमृत को उपलब्ध होता है।

पाँचवाँ प्रवचन

१५ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
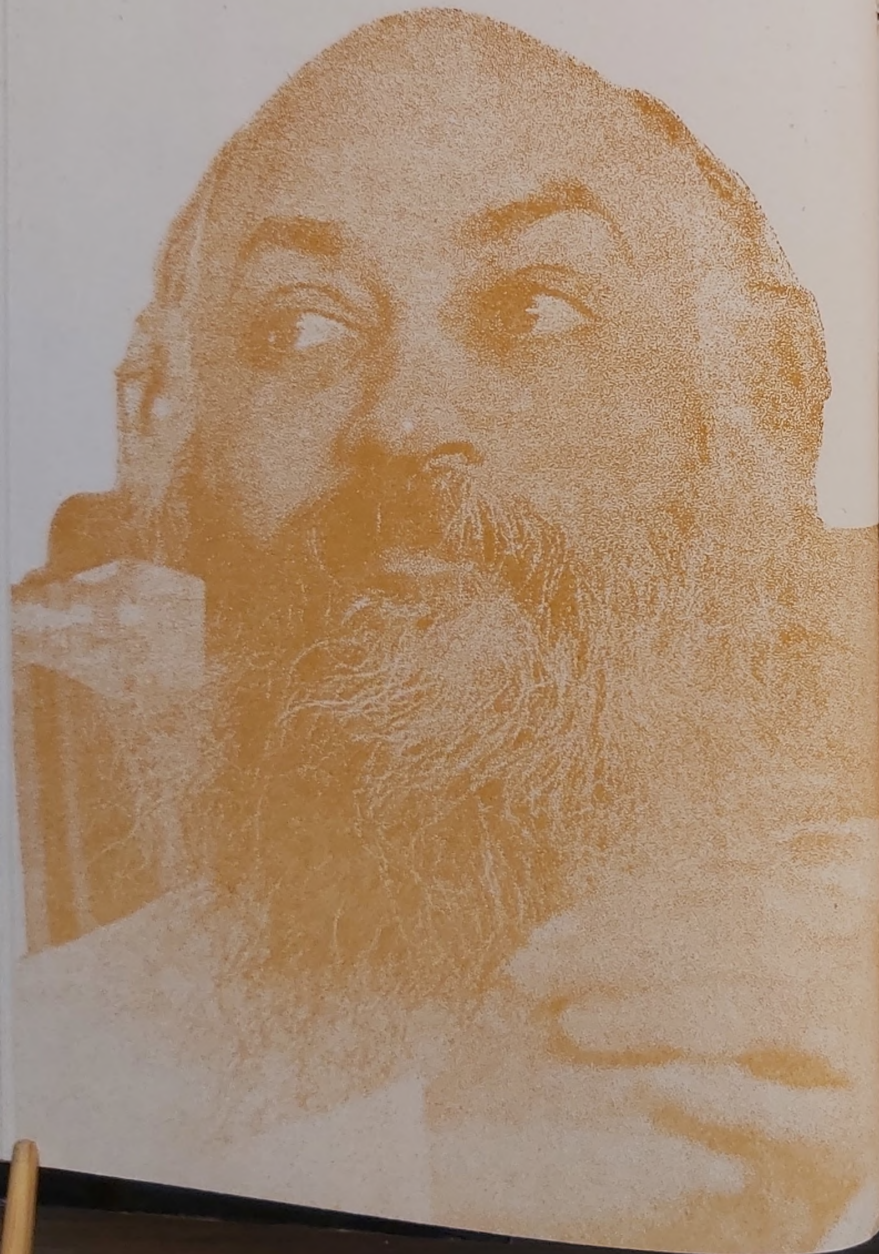
अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते।
चन्द्रवत्विमलः पूर्ण सदानन्दः स्वयंप्रभः।।११।।
क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशो स्माद्वासनाक्षयः।
वासनाप्रक्षयोमोक्षः स जीवन्मुक्तिरिष्यते।।१२।।
सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनम्।
सद्भावभावनादाढर्याद्वासनालश्यमनुते।।१३।।
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठाया न कर्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः।।१४।।
यथाऽपकृष्ठं शैवालं क्षणमात्र न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञां वाऽपि परांगमुखम्।।१५।।

अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य ही आतम स्वरूप को प्राप्त करता है, और फिर चन्द्रमा जैसा निर्मल होकर, सदा आनन्दरूप और स्वयं प्रकाश बनता है।

क्रिया का नाश होने से चिन्ता का नाश होता है, और चिन्ता का नाश होने से वासना का नाश होता है। वासनानाश यही मोक्ष है, और यही जीवनमुक्ति कहलाती है।

सर्वत्र, सब तरफ, सबको केवल ब्रह्मरूप देखना—ऐसी सद्भावना दृढ़ होने से वासना का नाश होता है।

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करना, क्योंकि यही मृत्यु है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं।

जिस प्रकार शैवाल को पानी से कुछ हटा भी दिया जाये तो भी वह पानी को बिना ढँके नहीं रहता, इसी प्रकार समझदार व्यक्ति भी ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी विमुख हो जाये तो माया उसे लिप्त कर देती है।

इस सूत्र में बहुत-सी मूल्यवान बातें कही गयी हैं।
मूल्यवान ही नहीं, मौलिक भी।

"अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य ही आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है।"

बड़ी गहरी बात इसमें है।

अहंकार ने आपको नहीं पकड़ा हुआ, आपने अहंकार को पकड़ा हुआ है। संसार ने आपको नहीं पकड़ा हुआ है, आपने संसार को पकड़ा हुआ है। दुख नहीं आपको जकड़े हैं, आपकी ही कृपा का फल हैं। दुख आपका पीछा नहीं कर रहे हैं, दुखों ने कुछ ठान नहीं रखी है आपको दुख देने की, आपके निमंत्रण पर ही आते हैं।

साधारणतः हम ऐसा सोचते नहीं। साधारणतः हम सोचते हैं--क्यों हैं दुख? क्यों है यह संसार का कष्ट? क्यों है यह आवागमन? क्यों यह अहंकार सताता है? कैसे इससे छुटकारा हो? निरन्तर हमारे मन में यह बात चलती है, 'कैसे इससे छुटकारा हो'। आप सबके मन में कभी-न-कभी यह प्रश्न उठता ही रहा होगा, अन्यथा यहाँ आना असम्भव था।...'कैसे इससे छुटकारा हो?'

लेकिन, यह सूत्र आपको बड़ा निराश करेगा; क्योंकि यह सूत्र कहता है: छुटकारे का सवाल ही नहीं है; क्योंकि अहंकार ने आपको पकड़ा नहीं है; संसार ने आपको रोका नहीं है; जन्मों ने आपको बुलाया नहीं है; यह आपकी मर्ज़ी है। इसलिए यह पूछना गलत है कि 'कैसे छुटकारा हो', यही पूछना उचित है कि 'किस भाँति, किस तरकीब से हमने इस सब दुख, उपद्रव को पकड़ रखा है'। छुटकारे का सवाल ही नहीं उठाना चाहिए। सवाल यही होना चाहिए कि कौन-सी है हमारी व्यवस्था, कौन-सा है हमारा ढंग, कि हम दुख को पकड़ लेते हैं, कि हम दुख को पकड़ते ही चले जाते हैं, कि अपने ही हाथ से हम आरोपित करते चले जाते हैं--और नये संसार, और नये जन्म, और नये जीवन--वासना के नये-नये विस्तार, नये आकाश हम कैसे निर्मित करते चले जाते हैं--इसे ही समझना ज़रूरी है।

इसके बहुत अंतर्निहित अर्थ होंगे। इसका एक अर्थ तो यह होगा कि मोक्ष कोई

ऐसी उपलब्धि नहीं है जो पाने को है। संसार ज़रूर खोने को है, लेकिन मोक्ष पाने को नहीं है। अगर आप संसार को छोड़ने में राजी हो जायें, तो मोक्ष पाया ही हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि मुक्त तो आप हैं ही, बड़ी तरकीब से आप बंधन में पड़े हैं।

कभी अगर देखा हो, तोतों को पकड़ते हैं जंगलों में, रस्सी बाँध देते हैं। तोता रस्सी पर बैठता है, वजन से उलटा लटक जाता है; रस्सी घूम जाती है। फिर तोता समझता है कि पकड़े गये! उलटा लटका तोता समझता है कि पकड़े गये, बुरी तरह फँसे! पैर फँस गया, अब निकलना मुश्किल है।

ज़ोर से रस्सी को तोता ही पकड़े होता है, रस्सी बिलकुल पकड़े नहीं होती। लेकिन तोते का मानना भी ठीक है कि जिस रस्सी ने उलटा दिया, लटका दिया, ...ज़रूर पकड़े गये होंगे! वह लटका रहता है! वह हर तरह की कोशिश करता है कि सीधा हो जाऊँ तो उड़ जाऊँ, लेकिन सीधा वह हो नहीं सकता। सीधा होने का कोई उपाय नहीं है। रस्सी पर वह सीधा नहीं बैठ सकता। रस्सी है पतली और तोता है वजनी। वह कितने भी उपाय करे, बार-बार चक्कर खाकर नीचे लटक जायेगा। जितने उपाय करेगा, उतना भरोसा मजबूत होता जायेगा कि अब छूटना मुश्किल है।

अगर वह चाहे तो उसी क्षण छोड़के उड़ सकता है, लेकिन पहले वह सीधे होने की कोशिश करता है। उलटा ही अगर छोड़ दे तो अभी उड़ सकता है, क्योंकि रस्सी ने उसे पकड़ा नहीं है। लेकिन तोता कभी उलटा उड़ा नहीं है; जब भी उड़ा है, सीधा बैठा है, तब उड़ा है। उड़ने की उसे एक ही तरकीब पता है कि पहले दो पैर पर सीधे बैठ जाओ, फिर उड़ जाओ। वह सोचता है कि उड़ने का कोई अनिवार्य संबंध दो पैर पर सीधे बैठने से है।

उलटा लटका हुआ तोता कैसे समझे कि मैं भी उड़ सकता हूँ, अभी और यहीं! और कहीं भी मैं पकड़ा नहीं गया हूँ। लेकिन उलटा लटके होने की वजह से यह भी उसे डर लगता है कि अगर छूट जाऊँ, तो ज़मीन पे गिरूँ, हड्डी-पसली चकनाचूर हो जाये! तो जोर से उस रस्सी को पकड़ता है। कितनी ही देर बाद उसको पकड़नेवाला आये, उसे पायेगा वहीं; वह वहीं लटका हुआ मिलेगा।

करीब-करीब आदमी की चेतना की स्थिति ऐसी है। किसी ने भी आपको पकड़ा नहीं है। किसको इसमें रस आयेगा,...आपको पकड़ने में! और इस जगत् को कोई उत्सुकता नहीं है कि आपको पकड़े रखे। प्रयोजन भी क्या है? आपको पकड़ रखने से जगत् को मिलता भी क्या है?

नहीं, किसी की कोई उत्सुकता आपको पकड़ रखने में नहीं है। आप पकड़े गये हैं, अपने ही द्वारा। कुछ भ्रांतियाँ हैं, जो आपको ख्याल देती हैं कि मैं पकड़ा गया हूँ। और बड़ी भ्रांति तो यही है कि आप अपने को इतना मूल्यवान समझते हैं कि सारा जगत् आपको पकड़ने को उत्सुक है। यह भी अहंकार है कि सारे दुःख आपकी ही तरफ चले आ रहे हैं। इतने दुःख! इतना ध्यान देते हैं आप पर! सारे नर्क आपके लिए निर्मित किये गये है! आपके लिए हैं! आप केन्द्र में बैठे हैं! जैसे यह सारे जगत् की व्यवस्था आपके लिए चल रही है! और आप केवल रस्सी में लटके हुए एक तोते हैं!

पर यह भ्रांति होने के ठीक वैसे ही कारण हैं, जैसे तोते को हो जाते हैं। आदमी का जैसे ही जन्म होता है, कई दुर्घटनाएँ घट जाती हैं। अनिवार्य हैं, इसलिए घट जाती हैं। छोटा बच्चा पैदा होता है, तो आदमी का बच्चा बिलकुल असहाय पैदा होता है। ऐसा किसी पशु का बच्चा असहाय पैदा नहीं होता। जानवरों के बच्चे पैदा होते हैं और पैदा होते हो दौड़ने लगते हैं। पशुओं के बच्चे, पक्षियों के बच्चे पैदा होते हैं, पैदा होते ही अपने भोजन की तलाश में निकल जाते हैं। आपका बच्चा पैदा होगा, पच्चीस साल लगेंगे, तब भोजन की तलाश पर निकल पायेगा! ...पच्चीस साल!

आदमी का बच्चा सबसे कमजोर है। बायोलॉजिस्ट कहते हैं कि कुछ भूल हो गयी है। जीवशास्त्री कहते हैं कि आदमी के बच्चे को अगर पूरा पैदा करना हो तो इक्कीस महीने गर्भ में रहना चाहिए। मगर आदमी की मादा कमजोर है, इक्कीस महीने बच्चे को गर्भ में रख नहीं सकती। इसलिए कुछ जीवशास्त्रियों के हिसाब से पूरी मनुष्य-जाति गर्भपात है। कोई बच्चा पूरा पैदा नहीं होता, सभी बच्चे अधूरे पैदा होते हैं; जानवरों के बच्चे पूरे पैदा होते हैं। मगर यह सौभाग्य भी है--दुर्भाग्य भी और सौभाग्य भी। इस जगत् में किसी भी चीज़ का एक पहलू नहीं होता, हर चीज़ के दोहरे पहलू होते हैं। यह दुर्भाग्य है कि आदमी का बच्चा कमज़ोर है, और यही सौभाग्य है, क्योंकि इसी कमज़ोरी के कारण आदमी सारे पशुओं से श्रेष्ठ हो गया। उसके कारण हैं गहरे। क्योंकि बच्चा आदमी का बिलकुल ही कमज़ोर पैदा होता है, उसको बड़े सहारे की ज़रूरत होती है; नहीं तो बच्चा बचेगा ही नहीं। उसी सहारे के लिए परिवार का जन्म हो गया, नहीं तो परिवार की कोई जरूरत नहीं है।

पशुओं में परिवार नहीं है, क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। आदमी का बच्चा तो मर ही जाएगा बिना परिवार के; इसलिए माँ है, पिता है, परिवार है, परिवार की पवित्र संस्था है। वह सब-की-सब बच्चे की कमज़ोरी से पैदा हुई

है। न केवल परिवार, फिर परिवार के आधार पर समाज और देश और सारी सभ्यता का जाल निर्मित हुआ। और चूँकि बच्चा असहाय पैदा होता है, उसके पास मूल वृत्तियाँ नहीं होतीं। सब जानवरों के बच्चे पैदा होते हैं, उनके पास बुद्धि होती है--पैदा होते ही। उतनी बुद्धि होती है, जितने से उनका जीवन चल जायेगा। आदमी के बच्चे के पास कोई बुद्धि नहीं होती। जीवन चलने का सवाल ही नहीं है, वह साँस भी नहीं ले पायेगा। उसे हम वैसे ही छोड़ दें तो वह मरेगा। कोई उपाय उसके बचने का नहीं है। इसलिए इस बच्चे को शिक्षित करना पड़ता है।

किसी जानवर के बच्चे को शिक्षा की कोई भी ज़रूरत नहीं है। आदमी के बच्चे को सिखाना पड़ता है। वह खुद कुछ लेकर आता ही नहीं, सब सिखाना पड़ता है। इसलिए कॉलेज है, यूनिवर्सिटी है, ये आदमी की कमज़ोरी से पैदा हुई संस्थाएँ हैं। सारी शिक्षा हमें देनी पड़ती है, सब सिखाना पड़ता है--एक-एक बात। तब भी कोई पक्का भरोसा नहीं है कि बच्चा मान ही जायेगा और सीख ही लेगा! बड़ी चेष्टा करनी पड़ती है। इसलिए सारी शिक्षा और सारे संस्कार का आयोजन आदमी की कमज़ोरी से हुआ है। लेकिन, इस सूत्र से उसका कुछ संबंध है।

बच्चा असहाय है इसलिए बच्चे के प्रति बहुत ध्यान देना पड़ता है माँ-बाप को। उस ध्यान के कारण बच्चे को लगता है 'मैं जगत् का केन्द्र हूँ; सारी दुनिया मेरे आसपास घूम रही है'। ज़रा-सा रोता है कि माँ भागी आती है! ज़रा बीमार पड़ता है कि बाप डॉक्टर को लिए खड़ा है! छोटा बच्चा जानता है कि मेरे इशारे पर सब चलता है। ज़रा-सी आवाज़, ज़रा-सा रोना, ज़रा-सा दुःख, और सारा घर उसके आसपास इकट्ठा होता है! और बच्चे के लिए घर ही सारी दुनिया है, उसे और दुनिया का कोई पता नहीं। तो बच्चे के मन में एक सहज भ्रम पैदा हो जाता है कि 'मैं केन्द्र हूँ जगत् का; और मेरे लिए ही सब आयोजन है; सबकुछ मेरे लिए हो रहा है; सब की नजरें मुझ पर टिकी हैं'। यह भ्रांति गहरी बैठ जाती है। और फिर हम जीवनभर अपने को केन्द्र मानकर ही चलते रहते हैं! इससे बड़ी पीड़ा होती है। इसलिए अहंकार दुःख देता है; क्योंकि यह सच नहीं है। आप केन्द्र नहीं हैं जगत् के। आपके बिना जगत् बड़े मज़े से चलता है। आपके न होने से कोई भी बाधा नहीं पड़ती है। पर आपके मन में कहीं लगता रहता है कि मैं केन्द्र हूँ। और आप इसी तलाश में रहते हैं कि ये सारा जगत् भी इस बात को स्वीकार कर ले कि मैं केन्द्र हूँ। यही अहंकार की खोज है।

यह सूत्र कहता है: "अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य, (वह जो बचपन से अहंकार की धारणा गहरी हो गयी है, उसे जो छोड़ने को राजी हो जाता

है,) वही, आत्मज्ञान को उपलब्ध होता है।"

अनिवार्य है यह। बच्चे के जन्म के साथ इस अहंकार का पैदा हो जाना अनिवार्य है। यह अनिवार्य बुराई है। लेकिन इस पर ही अटक जाना, इस पर ही रुक जाना--सारे जीवन का विनाश हो जाता है; क्योंकि तब हम उस तत्त्व को जानने से वंचित ही रह जाते हैं, जो हमारे भीतर छिपा था। उसको हम जान ही तब पायेंगे जब हम अहंकार को छोड़ दें;—क्यों?

क्यों इतना जोर है अहंकार को छोड़ देने पर धर्म का?

अहंकार को छोड़ देने पर इसलिए जोर है कि जिस आदमी को यह ख्याल है कि मैं जगत् का केन्द्र हूँ, वह अपने भीतर, अपने केन्द्र को जानने से वंचित रह जाता है। वह एक झूठे केन्द्र को अपना केन्द्र मानकर जीता है जो कि केन्द्र नहीं है। जो आदमी सोचता है कि मैं दूसरों की आँखों का केन्द्र हूँ, वह अपने केन्द्र को खोजता ही नहीं कि 'वस्तुतः मेरा कोई केन्द्र है या नहीं' और एक सूडो सेन्टर, एक मिथ्या केन्द्र निर्मित हो जाता है। यह मिथ्या केन्द्र दूसरों पर निर्भर होता है, इसीलिए अहंकार से दुःख मिलता है।

आप कहते हैं कि मैं अच्छा आदमी हूँ, तो आप मेरे अहंकार को बल देते हैं। कल आपने मुझसे कह दिया कि 'नहीं, वह हमारी भूल थी, आप अच्छे आदमी हैं नहीं'--आपने अहंकार को जो ईंट दी थी मेरे, जिससे मैंने भवन बनाया था, वह आपने वापिस ले ली; मेरा मकान गिरने की हालत में हो जाता है।

अहंकार का निर्माण है दूसरों की नजरों से, दूसरों के विचारों से। दूसरों पर निर्भर है अहंकार। और ध्यान रखिये, जो दूसरों पर निर्भर है, वह आपका केन्द्र नहीं हो सकता। जिसका होना ही दूसरों पर निर्भर है वह आपका केन्द्र नहीं हो सकता। तो कौन क्या कहता है, इसकी हम बड़ी चिंता करते हैं; कौन अच्छा कहता है, कौन बुरा कहता है।

एक मित्र मेरे पास आये थे। उन्होंने कहा 'मेरी तकलीफ ही यही है।' वे मौजूद हैं।...उनकी तकलीफ, उन्होंने कहा 'मेरी तकलीफ ही यही है कि कोई छोटी-छोटी बातें लोग कह देते हैं, जिनका कोई मूल्य नहीं, लेकिन मुझे इतनी पीड़ा हो जाती है कि मैं रातभर नहीं सो पाता!' उदाहरण के लिए उन्होंने कहा, "एक दुकान पर मैं कपड़ा लेने गया; कपड़ा मुझे लेना था, लेकिन पसंद नहीं पड़ा। दुकानदार ने कहा कि 'जाइये भी, पहले से ही पता था, आपकी शक्ल देख के, कि आप कपड़ा खरीदेंगे नहीं'! रातभर नींद नहीं आयी कि इस आदमी ने ऐसा कहा क्यों!"

हमारा अहंकार दूसरों की बातों पर निर्भर है। चारों तरफ जो लोग हैं हमारे, वे हमें अहंकार देते हैं या छीनते हैं। इसलिए हम पूरे वक्त ख्याल रखते हैं कि हमारे

बाबत कौन क्या कह रहा है, कौन क्या सोच रहा है। वही तो हमारी पूंजी है! दूसरों का मत, उसका ही संग्रह हमारी अस्मिता है। और निश्चित ही दूसरों के मत का क्या भरोसा है! दूसरों का मत दूसरों के हाथ में है। आज देते हैं, कल न दें! आज अच्छा कहते हैं, कल बुरा कहें! और उनके भी अपने प्रयोजन हैं। उस दुकानदार का भी अपना प्रयोजन है। उसने अहंकार को चोट की। दोनों बातें हो सकती थीं। यह भी हो सकता था कि यह सज्जन कपड़ा खरीद ही लेते, क्योंकि अपनी शकल को बचाने का सवाल था। और खरीद लेते तो बेहतर होता।...कम-से-कम रातभर!...रातभर की चिंता बच जाती! लेकिन तब दूसरी चिंता पकड़ती, कि जो कपड़ा नहीं खरीदना था वह मैंने खरीद क्यों लिया! और आप सब ऐसे बहुत से कपड़े खरीद के बैठे हैं जो आपको नहीं खरीदने थे! लेकिन कहीं-कहीं अहंकार कहता है कि खरीद ही लो!

पश्चिम में, दुकानों पर से पुरुष हटा लिये गये हैं, स्त्रियाँ दुकानों पर बैठ गयी हैं सेल्समैन की जगह। सेल्समैन अब कहीं हैं नहीं; सेल्समैन वुमैन! अब सेल्समैन कहने का कोई अर्थ नहीं है। और समझदार लोगों ने सलाह दी है: जब एक पुरुष जूता खरीदने आता है एक दुकान पर, और एक स्त्री--सुन्दर स्त्री, उसके पैर में जूता पहना देती है, बंद बंद कर देती है, और फिर मुस्करा के कहती है कि पैर बहुत सुन्दर मालूम पड़ रहा है! अब वह जूता भीतर कितना ही काट रहा हो, अब उसे खरीदना मजबूरी है! अब उसे खरीदना ही होगा! अब यह मामला जूते का है ही नहीं; अब आप कुछ और खरीद रहे हैं, जूता केवल बहाना है!

हम सब ऐसी चीजें खरीदे बैठे हैं। हमारी पूरी जिंदगी इसी तरह का जोड़ है। अहंकार, इस सबका संग्रह है। जो हमने दूसरों की आँखों से चमक चुरा ली है, उसको जोड़ लिया है, वही हमारा टिमटिमाता दिया है। लेकिन दूसरे हमेशा मालिक हैं। वे जिस दिन चाहें खींच लें। बड़े-से-बड़ा नेता अनुयायी से बड़ा नहीं होता। हो नहीं सकता, क्योंकि सारी नेतागीरी अनुयायी के हाथ में होती है। आज दी है, कल वापिस ले ले!

इसलिए कितना ही बड़ा नेता हो, अनुयायी का भी अनुयायी होता है; उसके पीछे उसे चलना पड़ता है। उसे देखना पड़ता है कि अनुयायी किस तरफ जा रहा है; दौड़ के उसके आगे हो जाता है। देखना पड़ता है, अनुयायी किस तरफ जा रहा है; कहाँ है रुख हवा का? बस इतनी कुशलता करता है कि दौड़ के उसके आगे हो जाता है। और पूरे वक्त, इसीलिए, नेता रोज अपने वक्तव्य को बदलता रहता है। उसको बदलना पड़ता है। वो अनुयायी को ख्याल में रखना है। उससे मिला हुआ अहंकार है। पद है, प्रतिष्ठा है, सब मिली हुई है, सब उधार है। और जो उधार है,

वह आप नहीं हैं। यह सब नहीं मिला था, तब भी आप थे। मौत इस सबको छीन लेगी, तब भी आप होंगे।

आपने एक झूठा केन्द्र निर्मित कर लिया है। और इस केन्द्र से अगर आप अपने को एक समझ बैठे हैं, तो फिर आप असली केन्द्र को खोजेंगे क्यों। आप तो मान के ही चल रहे हैं 'यही है असली केन्द्र'। क्या है आपकी तस्वीर अपनी आँखों में? दूसरों के हाथों से बनायी हुई तस्वीर है। दूसरों ने लकीरें खींचीं हैं कैनवस पर। किसी ने रंग भर दिया है, किसी ने आँख बना दी है, किसी ने पैर बना दिये हैं, वही आप हैं। यह तस्वीर कागजी है। वर्षा का एक झोंका इसके रंगों को उड़ा देता है। लेकिन, जीवन की अनिवार्यता में से निकल आती है यह बात।

मनसविद् कहते हैं कि बच्चे को पहले बोध होता है दूसरे का, खुद का नहीं होता। स्वाभाविक है। बच्चा जब आँख खोलता है, तो देखता है अपनी माँ को; खुद को तो कैसे देखेगा! दूसरा दिखाई पड़ता है--'तू', 'खुद' नहीं दिखायी पड़ता। फिर धीरे-धीरे उसकी पहचान बढ़ती है; पिता दिखायी पड़ता है--भाई, बहन, परिवार दिखायी पड़ता है--धीरे-धीरे उसे 'तू' का अनुभव होता है, दूसरे का। और इस 'तू' के विपरीत ही वह अपने 'मैं' को अनुभव करना शुरू करता है।

'मैं' का अनुभव पहला नहीं है, यह बड़े मजे की बात है। मैं पैदा होता हूँ, लेकिन मुझे मेरा अनुभव पहले नहीं होता, मुझे दूसरों का अनुभव पहले होता है। स्वभावतः, जब दूसरों का अनुभव मुझे पहला होता है, तो जिस 'मैं' को मैं निर्मित करूँगा, वह इन दूसरों के मत पर आधारित होगा।

इसलिए मनसविद् कहते हैं कि अगर माँ का प्रेम मिला हो बेटे को, पिता का प्रेम मिला हो, घर का सम्मान मिला हो, तो उस बेटे की अकड़ दूसरे ढंग की होती है। माँ का प्रेम न मिला हो, घर में कोई सम्मान न मिला हो, तो उस बेटे में एक दीनता पैदा हो जाती है। क्योंकि जिनसे 'मैं' का पहला बोध मिला, अगर उन्होंने खुशी जाहिर न की हो, और आनंद ज़ाहिर न किया हो, तो वह 'मैं' सदा के लिए गरीब, दीन-दुखी हो जाता है। भोजन ही नहीं मिला उसे।

इसलिए जो बच्चा माँ के बिना पलता है, उसमें एक कमी सदा के लिए रह जाती है, जिसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं, पूरा किया ही नहीं जा सकता। क्योंकि उसके पहले 'मैं' का बोध ही पंगु हो जाता है। जिससे मिलनी थी यह समझ कि 'मैं कौन हूँ', जिस 'तू' से पहली झलक मिलनी थी 'मैं' की, उसने कोई झलक ही न दी। उसने कोई गौरव, सम्मान, आदर, प्रेम, कुछ भी न दिया; कोई गरिमा न दी।

माँ अगर नाच न उठी हो बच्चे के जन्म से, अगर माँ आह्लादित न हो उठी हो, अगर उसका रोआँ-रोआँ प्रसन्न न हो उठा हो, तो इस बच्चे का 'मैं' जो है,

वह सदा के लिए लंगड़ा-लूला रह जायेगा। बड़ी तकलीफ होगी। उसे बैसाखियाँ लगानी पड़ेंगी। बड़ी कठिनाई आयेगी।

दूसरों से मिलता है हमें 'मैं' का पहला अनुभव, और दूसरों से ही मिलता चला जाता है। धीरे-धीरे, सर्टिफिकेट, मत, लोगों के विचार, समाज में प्रतिष्ठा, मान, उसको हम इकट्ठा कर लेते हैं। और इसी केन्द्र पर हम लटके रह जाते हैं। केन्द्र इसके भीतर छिपा है हमारा।

'तू' पहले नहीं हो सकता, 'मैं' पहले हूँ--चाहे उसका पता हमें बाद में चलता हो। बच्चा पैदा होता है तो अपने 'मैं' को, अपनी आत्मा को ले के पैदा होता है। लेकिन, वह केन्द्र छिपा रह जाता है, और एक नया केन्द्र निर्मित हो जाता है। फिर इस केन्द्र को हम पकड़ते हैं। पकड़ते इसलिए हैं कि हम दूसरा कोई केन्द्र जानते भी नहीं। और इसे छोड़ दें तो अधर में लटक जायें। और इसका ख्याल न करें तो बिखर जायें। डर लगता है कि कहीं सब अस्त-व्यस्त न हो जाये, अराजक न हो जाये। इसलिए इसे ज़ोर से पकड़े रहते हैं। वह जो तोता रस्सी को पकड़े है, इसी डर से कि अगर छोड़ दूँ तो गिर पड़ूँ, हड्डी-पसली चकनाचूर हो जाये।

हम भी इस 'मैं' को पकड़े रहते हैं, क्योंकि और कुछ पकड़ने को दिखायी भी नहीं पड़ता। इसी के सहारे चलते हैं। और ज़ोर से पकड़े रहते हैं कि कहीं छूट न जाये। फिर इससे दुख मिलता है; क्योंकि यह वास्तविक केन्द्र नहीं है।

यह हमारी हालत ऐसी है कि हम एक खजाना लेकर पैदा हुए हों, और फिर एक झूठे गड्ढे को जो खज़ाना नहीं है, हमने खज़ाना समझ रखा हो, फिर उसी को खोदते चले जाते हों और उसमें से कभी कोई सम्पत्ति न मिलती हो।

जो हमारा केन्द्र है वह तो सम्राट है, जो हमारी आत्मा है, वह तो आनंद है, वह तो एक खज़ाना है, लेकिन यह जो 'मैं' है, यह बिलकुल उधार गड्ढा है। इसमें हम कितने ही खोदें, कोई खज़ाना हमें कभी मिलनेवाला नहीं। इसको खोद-खोद के हम अपने स्वभाव तक कभी पहुँच नहीं सकते। इसलिए सूत्र कहता है: 'अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य ही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।'

तो क्या करें? ...क्या करें!

गुर्जियेफ एक बहुत अद्भुत फकीर हुआ। उसकी दादी मरण-शैय्या पर पड़ी थी। और गुर्जियेफ ने अपनी दादी से पूछा कि 'तेरे जीवन के अनुभव और निष्कर्षों से, अगर कोई बात, मुझे देने योग्य हो और मेरी कोई पात्रता हो तो मुझे दे दे।'

बड़ी अजीब बात उसकी बूढ़ी दादी ने दी। उसकी बूढ़ दादी ने कहा: 'एक बात का अगर तू ख्याल रख सके जीवनभर, कि जैसा दूसरे करते हों वैसा कभी मत करना; ...कोई भी काम, जैसा दूसरे करते हों वैसा कभी मत करना; सदा कोशिश

करना कुछ अन्यथा करने की।' गुर्जियेफ ने तो इसके उपर बाद में एक पूरा-का-पूरा फलसफा, एक पूरा दर्शन खड़ा किया। और उसने एक नियम बनाया: 'दि ला ऑफ अदरवाइज़; हमेशा और ढंग से करना'।

गुर्जियेफ ने इसकी चेष्ठा की, और एक अनूठा आदमी पैदा हुआ। क्योंकि, 'जैसा दूसरे करते हों वैसा मत करना', बड़े परिणाम हुए इसके। पहला परिणाम तो यह हुआ कि जैसा दूसरे करते हैं अगर आप वैसा ही करें, तो ही आपके अहंकार को पुष्टि मिलती है। तो आपके अहंकार को पुष्टि देनेवाला कोई भी नहीं मिलेगा, लोग आप पर हँसेंगे।

गुर्जियेफ ने कहा है कि 'मेरी दादी ने मुझसे कहा कि मैं मरने के करीब हूँ, मुझे पता भी नहीं चलेगा कि तूने मेरी बात मानी कि नहीं मानी! तो मरने के पहले मुझे तू उदाहरण एक करके दिखा दे।' पास ही पड़ा था एक सेव, उसकी बूढ़ी दादी ने उसे दिया और कहा, 'इसे खाकर बता, लेकिन याद रख, जैसा दूसरा करते हैं, वैसा मत करना।'

बड़ी मुश्किल में पड़ गया होगा वह बच्चा: 'क्या करें?' लेकिन बच्चे इन्व्हेन्टिव होते हैं, काफी आविष्कारक होते हैं। अगर माँ-बाप उनकी आविष्कार की बिलकुल हत्या न कर दें तो इस दुनिया में बहुत आविष्कारक लोग हों। लेकिन आविष्कार खतरा मालूम पड़ता है, क्योंकि नया कुछ उपद्रव लाता है।

गुर्जियेफ ने पहले कान से लगाकर उस सेव को सुना, आँख के पास लाकर देखा, चूमा, हाथ से स्पर्श किया आँख बंद करके, और सेव को लेकर नाचा—उछला, कूदा और दौड़ा—फिर उस सेव को खाया! उसकी दादी ने कहा, 'मैं आश्वस्त हूँ!' फिर गुर्जियेफ ने कहा, 'यह मेरी जिंदगी का नियम हो गया कि कुछ भी काम करो, दूसरे-जैसा न करना; कुछ-न-कुछ अपने-जैसा करना।' लोग उस पर हँसते थे। लोग कहते, 'पागल है।' लोग कहते, 'यह किस तरह का आदमी है! यह क्या कर रहा है? सेव को कान से सुन रहा है!'

गुर्जियेफ ने कहा कि 'मुझे पता भी नहीं था, लेकिन इसका एक परिणाम हुआ कि मुझे दूसरों की चिंता न रही; दूसरे क्या कहते हैं, दूसरों का क्या मन्तव्य है, दूसरे मेरे संबंध में क्या धारणा बनाते हैं, यह बात ही छूट गयी; मैं अकेला ही हो गया; मैं निपट अकेला हो गया इस पूरी पृथ्वी पर।' और गुर्जियेफ ने लिखा है: 'इस कारण मुझे वह मुसीबत कभी नहीं झेलनी पड़ी जो सभी को झेलनी पड़ती है। एक झूठा केन्द्र मेरा निर्मित ही नहीं हुआ। और मुझे अहंकार मिटाने के लिए कभी कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ी। वह बना ही नहीं।'

...क्या करें?

दूसरों का ख्याल छोड़ दें। सुबह मैं देखता हूँ आप ध्यान कर रहे हैं। करते भी हैं, ख्याल भी बना रहता है कि कोई देख तो नहीं रहा! ...कोई क्या कहेगा!

एक मित्र आज ही आये थे, वे कहते थे: 'आप जो भी बतायें, अकेले में कर लूँगा। यहाँ इतने लोगों के सामने!'

अकेले में कोई लाभ न होगा। कोई लाभ न होगा, क्योंकि ध्यान के लाभ तो बहुआयामी हैं। इतने लोगों के सामने आपके पागल होने की हिम्मत आपके अहंकार को बिखरा जाती है। इतने लोगों के सामने आपका बच्चे-जैसा व्यवहार आपको अचानक आपके अहंकार से हटा के केन्द्र पर फेंक देता है। अकेले में यह बात न होगी। अकेले में तो अपने बाथरूम में सभी गुनगुना लेते हैं! और अपने बाथरूम के आइने में सभी मुँह बिचका लेते हैं! बच्चे ही नहीं, बूढ़े भी! वह तो आइने कहते नहीं कथाएँ! मगर उसका कोई परिणाम नहीं है। उससे कोई हल नहीं है। उससे कोई भी हल नहीं है।

दूसरे की चिंता छोड़ दें; दूसरे के मत का विचार छोड़ दें; और दूसरे का ध्यान मुझे मिले, इसको धीरे-धीरे क्षीण करते जायें। यह भोजन है अहंकार का: 'दूसरे का ध्यान मुझे मिले'। दूसरे का ध्यान भोजन है; उससे अहंकार परिपुष्ट होता है। इसलिए जितने लोग आपको ज्यादा ध्यान दें, उतना रस मालूम पड़े; उतना लगे कि मैं कुछ हूँ। अगर कोई ध्यान न दे, आप एक घर में हों, और आपको देखे भी नहीं,...

गुर्जियेफ प्रयोग कर रहा था अपने शिष्यों को लेकर। उसने तीस शिष्यों को एक भवन में रखा हुआ था, और उनसे कहा था 'तुम इस तरह रहना यहाँ कि बाकी उन्तीस यहाँ नहीं हैं। न तो बोलना, न किसी तरह का इशारा करना, न किसी तरह की मुद्रा बनाना जिससे कि कोई संवाद हो सके, अगर तुम किसी के पास से गुजरो तो यही ध्यान रख के गुजरना कि यहाँ कोई भी नहीं है, अकेला हूँ; जानकर, अनजाने में कोई भी ऐसी बात मत करना जिससे तुम्हारे द्वारा पता चले कि दूसरा मौजूद है।' गुर्जियेफ ने कहा कि 'अगर तुम्हारा पैर किसी के पैर पर पड़ जाये, तो माफी मत माँगना, क्योंकि वहाँ कोई है नहीं। अगर अंगारा भी तुम्हारे हाथ से किसी के ऊपर छूट जाये, तो तुम यह मत कहना भूल हो गयी। आँख से भी मत बताना, भूल हो गयी; वहाँ कोई है ही नहीं।

इन तीस लोगों को तीन महीने तक गुर्जियेफ ने कहा कि तुम ऐसे रहो। सताइस लोग भाग गये, तीन लोग बचे, लेकिन वे तीन लोग दूसरे आदमी हो गये।

क्या, इसका उपयोग क्या है? इसका उपयोग क्या है, इसे थोड़ा समझें। यह सवाल नहीं है महत्त्वपूर्ण, यह तो बहुत आसान है कि हम दूसरों की तरफ ध्यान न

दें और उसको लात लग जाये तो हम माफी न माँगे! यह तो बहुत आसान है। इसमें क्या अड़चन है? यह तो हम चाहते ही हैं! लेकिन क्या, अर्थ क्या है?

ध्यान रखना, इसमें अर्थ गहरा है और छिपा है। गुर्जियेफ ने कहा कि तुम ध्यान ही मत देना कि कोई दूसरा है, लेकिन तब एक बात समझ लेना कि दूसरे भी ध्यान नहीं देंगे कि तुम हो। वही है भूल। तुम ध्यान न दोगे दूसरों को, तुम एक हो; दूसरे तुम्हें ध्यान न देंगे, वे उन्तीस हैं। उन्तीस लोगों का ध्यान तुम्हें तीन महीने तक नहीं मिलेगा बिलकुल।

पारस्परिक है लेन-देन। मैं आपको ध्यान देता हूँ, आप मुझे ध्यान दे देते हैं! लेन-देन है। मैं आपके अहंकार को भर देता हूँ, आप मेरे अहंकार को भर देते हैं! लेकिन दोनों तरफ आवागमन बंद हो जायेगा। वे सताइस लोग जो भाग गये, उनका कारण क्या था? उनमें से अनेक लोगों ने कहा कि 'हमें ऐसा लगने लगा कि हम सफोकेट हो रहे हैं, हम मर जायेंगे; हमारी गर्दन घुट रही है।'

उनकी गर्दन नहीं घुट रही थी, उनके अहंकार की गर्दन घुट रही थी। उन्हें लग रहा था कि तीन महीना! और कोई भोजन न मिलेगा अहंकार को; लौटेंगे बाहर तो खाली हो जायेंगे। वे जो तीन रुक गये हिम्मत करके, वे तीन महीने बाद दूसरे आदमी हो के लौटे। उनमें क्या फर्क पड़ गया था?

ऑसपेन्सकी उन तीन आदमियों में एक था जो रुक गया, उसने पीछे कहा कि 'अद्भुत था यह आदमी गुर्जियेफ, क्योंकि तीन महीने में, हमें ख्याल ही न था कि हमारे अहंकार को मिटाने का उपाय किया जा रहा है, हम तो समझे थे कि यह प्रयोग हमारी शान्ति, हमारे मौन के लिए करवाया जा रहा है! हमें बताया भी नहीं गया था कि तुम्हारा अहंकार मर जायेगा। तीन महीने के बाद हम ऐसे हो गये, जैसे हों ही न। होनाभर रह गया। कहीं कोई मैं का स्वर नहीं उठता था।

जिस दिन भीतर कोई 'मैं' का स्वर नहीं उठता, उस दिन आप अपने वास्तविक 'मैं' पर खड़े हो जाते हैं। उस वास्तविक 'मैं' का नाम है 'आत्मा'। और तब स्वभावतः चन्द्रमा-जैसा निर्मल हो जाता है व्यक्तित्व; सदा आनन्दमय और स्वयंप्रकाश।

वहाँ प्रकाश है ही, वहाँ आनन्द है ही, बस जरा-सा मैं से एक छलाँग लगानी है उस आत्मा पर। वहाँ निर्मलता है ही; वहाँ की निर्मलता कभी खंडित नहीं हुई।

दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र। वह भी बहुत अद्भुत और मौलिक। शब्द कभी-कभी छिपा लेते हैं और दिखायी नहीं पड़ता। और शब्द परिचित होते हैं इसलिए शब्दों के भीतर उतरना मुश्किल हो जाता है। ये शब्द सब आपने सुने होंगे, इनमें कोई

अपरिचित नहीं है। लेकिन इनका संयोजन बिलकुल अपरिचित है।

"क्रिया का नाश होने से चिंता का नाश होता है, और चिंता का नाश होने से वासना का नाश होता है। वासनानाश मोक्ष है, और यही जीवनमुक्ति है।"

'क्रिया का नाश होने से चिंता का नाश होता है।'...चिंता को तो हम सभी नष्ट करना चाहते हैं। कौन है आदमी जो चिंता से मुक्त न हो जाना चाहता हो? लेकिन, कर्त्ता से हम मुक्त नहीं होना चाहते। चिंता से मुक्त होना चाहते हैं, कर्त्ता से मुक्त नहीं होना चाहते। और कर्ता की छाया है चिंता। जो आदमी सोचता हो 'मैं कर रहा हूँ यह', वह चिंता से नहीं बच सकता, उस पे चिंता बढ़ती चली जायेगी। और जितना ही वह आदमी सोचेगा 'मैं कर रहा हूँ' उतनी ही चिंता बढ़ती चली जायेगी।

पूरब के लोगों ने बड़ी तरकीबें खोजी थीं, उसमें एक तरकीब यह थी कि 'मैं नहीं कर रहा हूँ, परमात्मा कर रहा है'। यह एक ध्यान की व्यवस्था थी। ये व्यवस्था थी कि 'उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता'। ऐसा है नहीं कुछ। एक-एक पत्ते के लिए आज्ञा देनी पड़े उसको, तो अभी तक परमात्मा पागल हो जाता! कि एक-एक पत्ते को कहना पड़े 'हिलो, बंद हो जाओ!'

नहीं, कोई परमात्मा एक-एक पत्ते को हिलाने-रोकने के लिए नहीं बैठा हुआ है। लेकिन इसका उससे कोई संबंध भी नहीं है। 'उसकी आज्ञा के बिना पत्ता नहीं हिलता', यह तो ध्यान की एक व्यवस्था थी, एक उपाय था। क्योंकि जो आदमी ऐसा मान लेता है, 'उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता', वह धीरे-धीरे 'मैं करता हूँ, यह भाव छोड़ने लगता है। करता वह है, मैं कुछ भी नहीं हूँ, उपकरण हूँ। वह हिलाता है तो हिलता हूँ, वह चलाता है तो चलता हूँ, वह उठाता है तो उठता हूँ।

जब लोग ऐसा सोचते थे कि उसके द्वारा सब हो रहा है और हम केवल कठ-पुतलियाँ हैं, तो एक बड़ी घटना घटी थी इस दुनिया में: पूरब के मुल्क एकदम चितामुक्त हो गये थे। पूरब ने जितना निश्चित समय जाना है, जमीन पर और कहीं नहीं जाना गया। और अभी पश्चिम जितना चिंता से भरा हुआ समय जान रहा है, उतना चिंता से भरा समय भी कभी नहीं जाना गया। पर उसका कारण वही है: क्योंकि पश्चिम में ईश्वर संदिग्ध हो गया, भाग्य की धारणा व्यर्थ हो गयी।

मैं नहीं कहता कि भाग्य की धारणा सही है, लेकिन भाग्य की जो उपाय-व्यवस्था थी कि 'भाग्य सब कर रहा है' तो फिर हम कर्ता नहीं रह जाते, वह समाप्त हो गयी। पश्चिम में न कोई ईश्वर बचा, न कोई भाग्य बचा, न कोई नियति बची --सारा जुम्मा आदमी पर पड़ गया: मैं कर रहा हूँ; जो भी कर रहा हूँ, मैं कर रहा हूँ। क्योंकि इसको हटाने के लिए कोई जगह न रही।

ईश्वर हो या न हो, इससे अन्तर नहीं पड़ता, लेकिन अगर आप अपने कर्तृत्व को ईश्वर पर छोड़ सकें--न हो, तो भी--तो भी आप पर तो परिणाम शुरू हो जाता है: कि आप निश्चित हो जाते हैं।

पश्चिम में चिंता घनी हो गयी है। अमरीका के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि चार आदमियों में तीन आदमी मानसिक रूप से रुग्ण हैं।...चार आदमियों में तीन आदमी! यह चौथा आदमी भी कितनी देर तक इन तीन के बीच बचेगा! ये तीन सब उपाय कर रहे हैं उसको भी डुबा देने का। बड़ी संख्या हो गयी, चार में से तीन आदमी अगर मानसिक रूप से अस्त-व्यस्त और रुग्ण हो गये हैं। क्या कारण होगा? पूरब ने इतने पागल कभी पैदा नहीं किये! पश्चिम ने इतने पागल पैदा किये!

पश्चिम में पागलपन बढ़ता जाता है, और धीरे-धीरे स्वीकृत होता जाता है। फ्रायड ने तो अन्त में यह स्वीकार कर लिया जीवनभर के अनुसंधान के बाद कि आदमी को सुधारने का वस्तुत: कोई उपाय नहीं है; आदमी थोड़ा-न-बहुत पागल रहेगा ही। असमर्थता स्वीकार कर ली। और फ्रायड स्वीकार करे असमर्थता, तो यह बड़ी कीमत की है; क्योंकि यह आदमी पचास साल जिंदगी के आदमी के मन के अनुसंधान में ही लगाया है; गहरी-से-गहरी खोज की है। उसका कहना है, कोई उपाय नहीं है कि आदमी बिलकुल स्वस्थ किया जा सके।

पर फ्रायड को पता नहीं कि स्वस्थ आदमी ज़मीन पर रहे; स्वस्थ समाज भी रहे; पर उन समाजों की धारणाएँ दूसरी थीं। उसमें बड़ी-से-बड़ी गहरी धारणा थी यह कि 'कर्ता मैं नहीं हूँ', इसका उन्होंने उपाय कर लिया था। कर्ता परमात्मा है, भाग्य है, विधि है, नियति है--कोई और है, मैं हूँ केवल एक उपकरण मात्र, एक पत्ते की तरह--हिलाता है हिलता हूँ, नहीं हिलाता नहीं हिलता हूँ; जिताता है जीत जाता हूँ, हराता है हार जाता हूँ; मेरा कुछ भी नहीं है।

इसके दोहरे परिणाम हुए। एक परिणाम तो यह हुआ कि जब मैं कर्ता नहीं हूँ तो चिंता के पैदा होने का कोई कारण नहीं उठता। हार भी स्वीकृत हो जाती है, जीत भी स्वीकृत हो जाती है। तो जीत भी मेरी नहीं है, तो जीत से भी अहंकार निर्मित नहीं होता। और हार भी मेरी नहीं है, तो रात की नींद भी नष्ट नहीं होती; चिंता भी नहीं पकड़ती; मन में व्यथा भी नहीं आती। और भी बड़े मज़े की बात है: कोई दूसरा आदमी जीत जाये तो ईर्ष्या भी नहीं पकड़ती। क्योंकि वह आदमी जीत गया है, इससे कुछ बड़ा नहीं हो गया है; परमात्मा की मर्ज़ी। उस आदमी का बड़प्पन नहीं है कुछ कि जीत गया है और हम हार गये तो हम कुछ छोटे हैं! परमात्मा की मर्ज़ी।

एक बड़ी शान्त मानसिक अवस्था पैदा हो सकती है अगर कर्ता का भाव छूट

जाये। ज़रूरी नहीं है कि आप परमात्मा को मानें तो ही छूटे। बुद्ध ने बिना परमात्मा को माने छोड़ दिया, थोड़ा कठिन है। महावीर ने बिना परमात्मा को माने छोड़ दिया, थोड़ा कठिन है। अगर बिना परमात्मा को माने छोड़ना हो तो फिर आपको साक्षी-भाव को गहरा करना पड़ेगा। सिर्फ देखनेवाले रह जायें; जो भी हो रहा है, देखने वाले रह जायें। हार हो, तो देखें कि मैं देख रहा हूँ हार हो गयी, और जीत हो तो देखें कि देख रहा हूँ कि जीत हो गयी। न तो मैं हारता हूँ और न मैं जीतता हूँ, मैं केवल देखता हूँ। सुबह आती है तो देख लेता हूँ सुबह आ गयी, सांझ होती है तो देख लेता हूँ साँझ हो गयी। रात का अंधेरा घिरता है तो मान लेता हूँ कि अंधेरा घिर गया; सूरज निकलता है, प्रकाश हो जाता है तो जान लेता हूँ कि प्रकाश हो गया।

मैं अपनी ही जगह देखनेवाला बना रहता हूँ--चाहे रात हो और चाहे दिन, चाहे सुख हो चाहे दुख, चाहे हार चाहे जीत। तब फिर साक्षी में कोई ठहर जाये तो कर्ता विलीन हो जाता है; क्रिया आपकी नहीं रह जाती। क्रिया के केन्द्र आप नहीं रह जाते; आप दृष्टि, दर्शन, ज्ञान के केन्द्र हो जाते हैं। क्रिया आसपास प्रकृति में होती रहती है।

महावीर कहते हैं: पेट को भूख लगती है--मैं देखता हूँ; पैर में काँटा चुभता है, पीड़ा होती है पैर को--मैं देखता हूँ; शरीर रुग्ण होता है, बीमारी आती हैं--मैं देखता हूँ। मरते वक्त भी महावीर देखते रहेंगे कि शरीर मर रहा है। आप नहीं देख पायेंगे कि शरीर मर रहा है; आपको लगेगा 'मैं मर रहा हूँ'। जीवनभर का अभ्यास, जब सब क्रियाएँ आपने की, तो मौत भी आपको ही करनी पड़ेगी। जब सभी कुछ आपने किया, तो फिर मृत्यु आप किस पर छोड़ेंगे। जिसने जीवन को छोड़ दिया, वह मृत्यु को भी छोड़ देता है। और जो जीवन को देखता रहा कि मैं साक्षी हूँ, वह मृत्यु को भी देख लेता है कि मैं साक्षी हूँ।

क्रिया का नाश हो जाये, अर्थात् कर्ता खो जाये, तो चिंता का नाश हो जाता है। इससे भी गहरी बात दूसरी है:

"और चिंता का नाश होने से वासना का नाश होता है।"

यह सूत्र, लगता है कि जैसे कुछ भूल हो गयी। निरंतर शास्त्रों में कहा है: वासना का नाश हो तो चिंता का नाश होता है। और यही आपने सुना भी होगा कि अगर वासना न रहे तो चिंता नहीं रह जाती। ये सूत्र बिलकुल उलटी बात कह रहा है। ये सूत्र कहता है: चिंता का नाश हो जाए तो वासना का नाश होता है। क्रिया का नाश हो तो चिंता का नाश होता है, और चिंता का नाश हो तो वासना का नाश होता है।...क्यों?

कभी आपने खयाल किया कि जब आप ज्यादा चिंतित होते हैं तो ज्यादा वासनाग्रस्त होते हैं? जब मन में ज्यादा परेशानी होती है, तो कामवासना ज्यादा पकड़ती है; क्योंकि मन की परेशानी भी कामवासना के साथ बाहर निकल जाती है। हलका हो जाता है। जब चित्त क्रोध में होता है तब भी कामवासना ज्यादा पकड़ती है। चित्त प्रफुल्लित हो, आनंदित हो, कामवासना कम पकड़ेगी। अगर चित्त बिलकुल आनन्द में रहे, कामवासना पकड़ेगी भी नहीं। इसके कारण हैं। जब चित्त में कोई भी चीज तनाव की एक सीमा के बाहर पहुँच जाती है, तो जो काम-केन्द्र है, वह सेफ्टी वाल्व की तरह काम करता है। वह है ही सेफ्टी वाल्व। जब आपकी चिंता बहुत हो जाती है, उसको सहना मुश्किल हो जाता है, और इतनी शक्ति आपमें दौड़ने लगती है कि उतनी शक्ति आपको बेचैन करने लगती है, तो शरीर उस शक्ति को बाहर फेंकने का उपाय खोज लेता है।

काम-केन्द्र सेफ्टी वाल्व है। तो जहाँ भी शक्ति का काम करना हो वहाँ सेफ्टी वाल्व लगाने पड़ते हैं। प्रकृति ने भी लगाया हुआ है।

अगर आप स्टोव गर्म कर रहे हैं तो उसमें भी इंतज़ाम करना पड़ता है: कि अगर आप ज्यादा हवा भर दें तो कहीं सेफ्टी वाल्व होना चाहिए जो ज्यादा हवा को निकाल दे। घर में बिजली आप लगाते हैं तो फ्यूज़ लगाने पड़ते हैं। तो कहीं ऐसा हो कि आपके हाथ में बिजली पकड़ जाये, तो फिर आप मरेंगे। तो फ्यूज़ पूरे वक्त ज्यादा शक्ति को प्रवाहित नहीं होने देगा। जैसे ही ज़्यादा शक्ति खींचने की स्थिति बनेगी, फ्यूज़ टूट जायेगा और शक्ति निष्कासित हो जायेगी; आप बच जायेंगे।

शरीर में भी सेफ्टी वाल्व है; वह बायोलॉजिकल है। सेक्स सेन्टर, काम-केन्द्र, सेफ्टी वाल्व है। जब भी आपके भीतर ज़्यादा शक्ति भर जाती है, और बेचैनी बढ़ जाती है, और चिंता पकड़ लेती है, और भीतर द्वंद्व चलने लगता है, तब ज़रूरत है––या तो आप साक्षी हो जायें, तो यह सब उपद्रव शांत हो जाये; और या फिर यह सारा उपद्रव––दूसरा उपाय है कि आपकी शक्ति शरीर के बाहर चली जाये, आप कमज़ोर हो जाये; तो उस कमज़ोरी में यह उपद्रव शान्त हो जाये। क्योंकि उपद्रव के लिए शक्ति चाहिए।

इसलिए अक्सर यह होता है कि कमज़ोर आदमी भले आदमी होते हैं। उसका मतलब यह नहीं है कि वे भले होते हैं, उसका कुल मतलब इतना होता कि बुरा करने के लिए जितनी शक्ति चाहिए वह उनके पास नहीं है।

कभी खयाल किया है आपने कि मोटे आदमी सदा प्रसन्न मालूम होते हैं! और आमतौर से मिलनसार होते हैं! और आमतौर से झगड़ेलू नहीं होते! ...क्यों?

अगर आप पूछें फिज़ियोलॉजिस्ट से, शरीर-शास्त्री से, तो वह कहता है: मोटा आदमी लड़ नहीं सकता; लड़े तो पिटेगा; तो मिलनसार हो जाता है! क्योंकि वह झंझट, ...वह लड़ने का काम हो ही नहीं सकता उनसे! करेंगे तो उसमें वे पिटेंगे! इसलिए वे मुस्कराते रहते हैं! मुस्कराहट का मतलब यह है कि कोई झगड़ा नहीं करना है किसी से! बस, सब ठीक है; झगड़े में नहीं उतरना है!

मोटा आदमी भाग नहीं सकता! और झगड़ा हो तो दो ही उपाय हैं: या तो लड़ो, या भागो; वह दोनों नहीं कर सकता! मोटा आदमी झगड़ेलू नहीं रह जाता, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि झगड़ा समाप्त हो जाता है। आदमी की सारी व्यवस्थाएँ हैं भीतर; उनके प्रति होश से भरना उपयोगी है।

तो जब भी आप चिन्ता से भरते हैं––दुख से, पीड़ा से––तो आपके चित्त में वासना का उदय होगा। या तो साक्षी बन जाइये, अगर साक्षी बन जायेंगे तो जो शक्ति आपकी चिन्ता में उलझ रही है, वह शक्ति चिन्ता से मुक्त हो जायेगी, और उसी शक्ति के सहारे आप ऊपर भी यात्रा पर निकल जायेंगे। अगर आप साक्षी नहीं हो सकते तो जो शक्ति आपको बेचैन किये दे रही है, जिसने तूफान, झंझावात पैदा कर दिया है, वह फिर सेफ्टी वाल्व से, वासना के केन्द्र से बाहर निष्कासित हो जायेगी, आप कमज़ोर हो जायेंगे; आपको लगेगा 'हल्के हो गये'; लगेगा 'रिलीफ, विश्राम मिला।'

फ्रायड ने तो सेक्स को, कामवासना को, नैसर्गिक ट्रैंकुलाइज़र कहा है, कि वह विश्राम देनेवाली दवा है। पुरुष दिनभर का थका-माँदा, जमाने भर के उपद्रव, चिन्ताओं से घिरा हुआ लौटता है, अगर उसे कामवासना से शक्ति को बहाने का मौका मिल जाये, तो रात शान्ति से सो जाता है।

इसी वजह से स्त्रियाँ 'काम' में इतना रस नहीं लेतीं, क्योंकि उनको बहुत जल्दी समझ में आना शुरू हो जाता है कि पुरुष के लिए वे केवल सेफ्टी वाल्व का काम कर रही हैं; उनको तत्काल यह पता चल जाता है कि प्रेम-वगैरह कुछ भी इसमें है नहीं, मामला इन्स्ट्रुमेन्टल है। उनको समझ में आ जाता है कि इस पुरुष के लिए धीरे-धीरे, धीरे-धीरे वे केवल एक उपकरण बन गयी हैं, जिसके माध्यम से वह अपनी शक्ति को फेंक देता है और सो जाता है।

और अक्सर यह होता है कि पुरुष संभोग के बाद करवट लेकर सो जाता है और स्त्री रोती रहती है। उसके कारण हैं: क्योंकि स्त्री का इससे ज्यादा और गहन अपमान नहीं हो सकता कि उसका उपयोग वस्तु की तरह किया जाये।

मेरे पास न-मालूम कितनी स्त्रियाँ आ के कहती हैं कि उन्हें कामवासना में ज़रा भी रस नहीं है! उसका कारण यह नहीं है कि उन्हें रस नहीं है, उसका कुल

कारण यह है कि पुरुष ने उनका उपयोग केवल एक वस्तु की तरह किया है; इससे रस विरस हो गया है; अन्यथा ऐसा नहीं है कि रस नहीं है। असलियत उल्टी है: स्त्रियाँ ज्यादा कामातुर हैं पुरुषों से; उनके पास ज्यादा ऊर्जा है काम की; लेकिन दिखायी नहीं पड़तीं वे कामातुर, बल्कि बिलकुल ही रसहीन मालूम पड़ती हैं। पुरुष को भी वे ऐसा मान के चलती है कि 'ठीक है! निपटारा हो जाता है! झंझट मिटी!' बाकी कोई रस स्त्रियाँ लेती नहीं मालूम पडतीं। उसका कारण यह नहीं कि उनके भीतर कोई वासना नहीं है, उसका कुल कारण इतना है कि वासना में उन्हें लगता है कि केवल वस्तु की तरह उनका उपयोग किया जा रहा है; व्यक्तित्व उनका वस्तु-जैसा समझा जा रहा है। इससे पीड़ा होती है। पर इसके दूसरे परिणाम होते हैः

पुरुष तो कामवासना से निकाल लेता है अपनी ऊर्जा को, स्त्रियाँ क्या करें? इसलिए स्त्रियाँ झगड़ेल, उपद्रवी, कर्कशा हो जाती हैं। वे दूसरे रास्तों से चौबीस घंटे निकालती हैं; क्योंकि उनके लिए सेपटी वाल्व बंद हो गया; उनके लिए तो यह सिर्फ एक बात रह गयी कि 'ठीक है, पुरुष का उपाय है!' लेकिन फिर स्त्रियाँ कर्कशा हो जाती हैं।

यह बड़ी उल्टी बात हैः स्त्रियों को होना चाहिए ज्यादा मधुर, पर यह होता नहीं; होना चाहिए ज्यादा सौम्य, लेकिन यह होता नहीं; होना चाहिए संगीत-जैसा, लेकिन यह होता नहीं। क्या बात है? कहीं कुछ नैसर्गिक भूलचूक व्यवस्था में हो रही है। और वह यह हो रही है कि जो निकास का सहज मार्ग उनके लिए हो सकता था, वह अवरुद्ध हो गया; उसके प्रति उन्होंने रस-त्याग कर दिया। और साक्षी बनना तो मुश्किल है! इसलिए अब वे सारी शक्तियाँ घूमती हैं और अलग-अलग मार्गों से निकलती हैं। हाथ से बर्तन छूट जायेगा स्त्री के! चीनी का होना चाहिए, तब छूटेगा! टूट जायेगा! उसके टूटने से निकास हो रहा है। इसलिए आप बिलकुल चार्ट बना सकते हैं कि किन दिनों में आपके घर बर्तन ज्यादा टूटते हैं! और आप अनिवार्य रूप से यह पायेंगे कि जब भी स्त्री की ऊर्जा निष्कासित नहीं हो पाती, तब वे टूटेंगे। तब पच्चीस उपाय से, स्त्री अपने क्रोध से, अपने तनाव से, अपनी शक्ति को बाहर फेंकना चाहेगी।

जब चिंता होती है चित्त पर भारी, तो चित्त वासना की तरफ दौड़ता है। इसलिये यह सूत्र कहता है, चिंता के नाश होने से वासना का नाश होता है।

यह सूत्र बहुत अनूठा है; और यह बहुत प्राचीन है; और मनसविद् तो अब इसका पता लगा पा रहे हैं। अगर आप निश्चित हो जाये तो वासना क्षीण हो जायेगी। अगर आप बिलकुल निश्चिन्त हो जायें तो वासना की तरफ चित्त दौड़ेगा ही नहीं। क्योंकि वासना केवल एक अनिवार्यता हैः जब आपके भीतर, सीमा के बाहर तूफान

उठ जाता है, उस तूफान को निष्कासित करने का। अगर उतना तूफान उठता ही नहीं, तो वासना क्षीण हो जाती है। लेकिन ऊर्जा क्षीण नहीं हो जाती; वासना क्षीण हो जाती है, ऊर्जा तो इकट्ठी होती चली जाती है।

हर चीज एक सीमा के बाद रूपांतरित होती है। जैसे हम गरम करें पानी को तो सौ डिग्री पर भाप बन जाता है। सौ डिग्री गर्मी जब इकट्ठी होती है तो पानी भाप बन जाता है। जब आपका वीर्य, आपकी ऊर्जा, आपकी शक्ति एक सीमा तक भीतर इकट्ठी हो जाती है, और कोई तूफान नहीं उठता, और उसको फेंकने की व्यर्थ कोई जरूरत नहीं आती, तो अचानक, एक सौ डिग्री का प्वाइंट है, एक बिंदु है, जहाँ, आपकी ऊर्जा जब इकट्ठी हो जाती है, तब अचानक, वही ऊर्जा, जो नीचे बहती थी, ऊपर की तरफ बहने लगती है।

ख्याल किया है आपनेः पानी नीचे की तरफ बहता है, भाप ऊपर की तरफ उठती है! सौ डिग्री पर, नीचे की तरफ बहना जिसका स्वभाव था—पानी—वह अचानक उतप्त होकर भाप बन जाता है; ऊपर की तरफ उठने लगता है; बादलों की तरफ जाने लगता है।

आपके भीतर भी यही घटना घटती हैः एक जगह है, एक बिंदु है, एक इवैपोरेटिंग प्वाइंट है, जहाँ वाष्पीकरण होता है। वहाँ जब ऊर्जा इकट्ठी हो जाती है, अचानक, आप पाते हैं—जो नीचे जाता था, वही व्यक्तित्व, वही ऊपर जाने लगा; जो बाहर की तरफ दौड़ता था, वही भीतर की तरफ दौड़ने लगा; कल तक जो पाप था, वही पुण्य हो गया; और कल तक जिसे समझा था शत्रु, उससे बड़ा कोई मित्र नहीं है—यह अनुभव में आता है।

"वासनानाश यही मोक्ष है।"

जब कोई वासना नहीं है तो आप मुक्त हैं। और जीवन में ही मुक्त हुआ जा सकता है, कोई मरके मुक्त होने की जरूरत नहीं है। और जो जीवन में नहीं हो पाता, वह भरोसा न रखे कि मर के हो जायेगा। क्योंकि मरते आप वही हैं जो आप जीते थे। जैसे जीते थे वैसे ही मरेंगे, मरने से कोई और घटना घटनेवाली नहीं।

जीवन की ही अंतिम परिणति है मृत्यु। जीवनमुक्त, जीवन में ही 'अभी और यहीं' जो मुक्ति को जान लेता है, मोक्ष को जान लेता है, उसकी ही मृत्यु भी मोक्ष बनती है।

"सर्वत्र, सब तरफ, सबको एक ब्रह्मरूप देखना—ऐसी सद्भावना से वासना का नाश होता है।

"ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करना, क्योंकि वही मृत्यु है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं।

"जिस प्रकार शैवाल को पानी से कुछ हटा भी दिया जाये तो भी वह पानी को बिना ढँके नहीं रहता, (बार-बार ढक लेता है।) इसी प्रकार समझदार व्यक्ति भी ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी विमुख हो जाये, तो माया उसे ढँक लेती है।"

इसलिए सतत होश रखने की ज़रूरत है। एक क्षण को भी होश खोने से काम नहीं चलेगा। उस समय तक होश रखने की ज़रूरत है, जब तक कि ज़रा-सा भी शैवाल, ज़रा-सा भी घास-पात भीतर मौजूद रह गया है। जब समस्त घास-पात बीजरूप से दग्ध हो जाये, तब होश रखने की कोई भी ज़रूरत नहीं; क्योंकि तब होश स्वभाव बन जाता है।

छठवाँ प्रवचन

१६ अक्तूबर, १९७२, प्रातः

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः।
समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ॥१६॥
अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निः शेषविलयस्तदा।
समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम्॥१७॥
अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन्।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत्॥१८॥
ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः।
ततः पूर्णं स्ववात्मनं पश्येदेकात्मना स्थितम्॥१९॥
स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयम् शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन्॥२०॥

जिसकी जीवितावस्था में ही कैवल्य (ब्रह्मनिष्ठा) प्राप्त हो गई है, वह देह रहित होने पर भी ब्रह्म रूप ही रहेगा। इसलिए हे निर्दोष! समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन।

जिस समय निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञानरूप गाँठ का पूर्णतः नाश होता है।

आत्मा के ऊपर ही आत्म-भाव को दृढ़ करके अहंकार आदि के ऊपर वाले आत्म-भाव का त्याग करना; घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों से जिस प्रकार उदासीन भाव से रहा जाता है, उसी प्रकार अहंकार आदि की तरफ से भी उदासीन भाव से रहना।

ब्रह्मा से लेकर खम्भ तक की सब उपाधियाँ झूठी हैं, इसलिए एक स्वरूप में रहनेवाले अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना।

स्वयं ही ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं जगत् और स्वयं ही यह सब कुछ है, स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं।
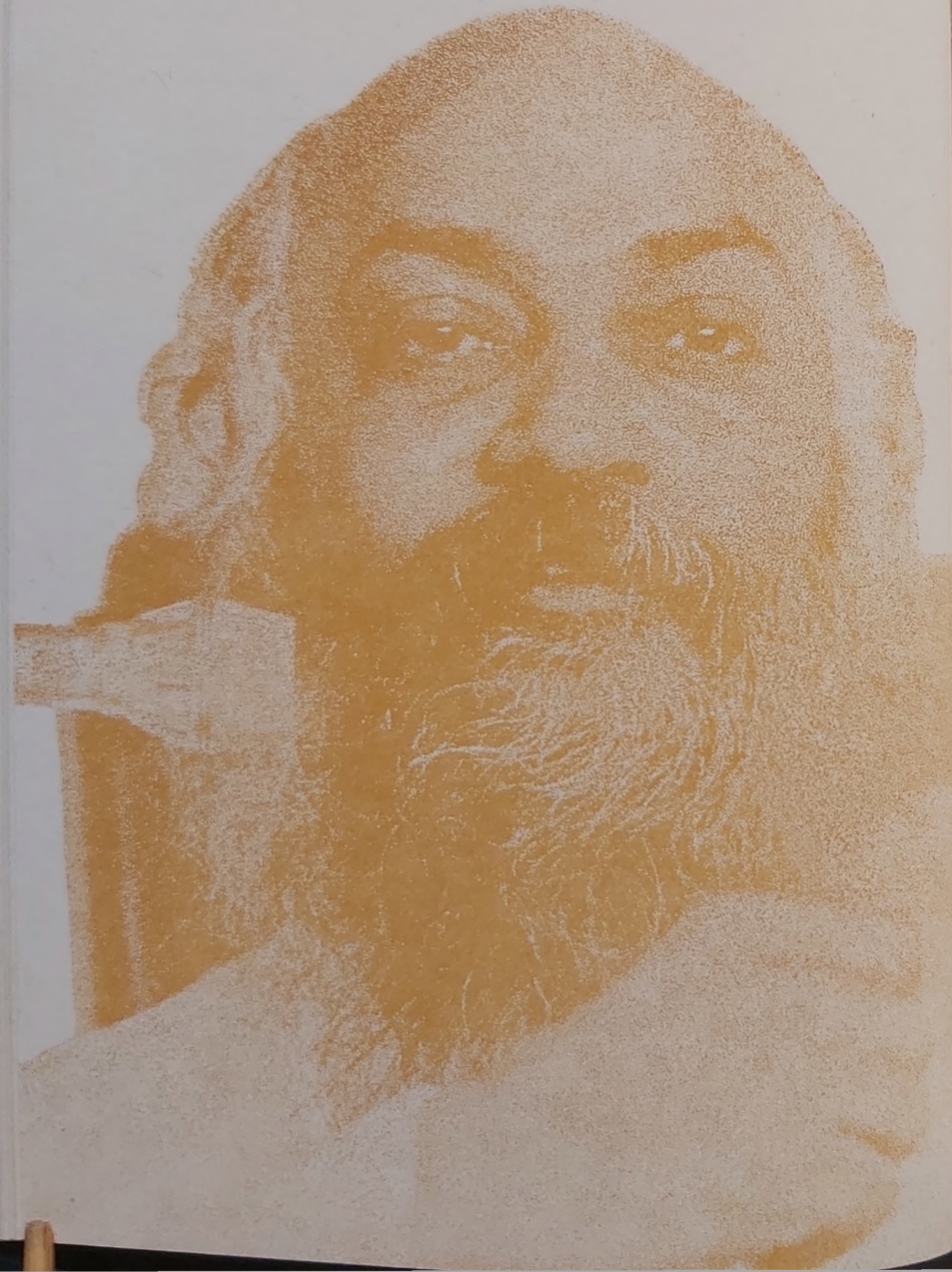
जीवन में जो भी पाने योग्य है, वह जीवन में ही पाया जा सकता है। लेकिन बहुत लोग मृत्यु के पार की प्रतीक्षा करते रहते हैं। बहुत लोग सोचते हैं कि देह में, जीवन में, संसार में रहकर कैसे पाया जा सकता है सत्य को, ब्रह्म को, मुक्ति को! लेकिन जो जीवन में नहीं पाया जा सकता वह कभी भी नहीं पाया जा सकता है। जीवन तो एक अवसर है पाने का, चाहे पत्थर जुटाने में समाप्त कर दें और चाहे परमात्मा को पाने में। जीवन तो बिलकुल तटस्थ अवसर है। जीवन आपसे कहता नहीं, क्या पायें। कंकड़-पत्थर बीनें, व्यर्थ की चीजें संग्रहीत करें, अहंकार को बढ़ाने में, अहंकार को फुलाने में समाप्त कर दें, तो जीवन रोकेगा नहीं कि मत करो ऐसा। और चाहें तो सत्य को, स्वयं को, जीवन की जो आत्यंतिक गहराई है उसको पाने में लगा दें; तो भी जीवन बाधा नहीं डालेगा कि मत करें ऐसा।

जीवन सिर्फ अवसर है तटस्थ, जो भी उपयोग करना चाहें कर लें। लेकिन बहुत लोगों ने अपने को धोखा देने का इंतजाम कर रखा है। वे सोचते हैं, जीवन तो है संसार के लिए। ऐसे विभाजन उन्होंने बना लिये हैं। जीवन तो है भोग के लिए। तो फिर मृत्यु ही बच जाती है योग के लिए। लेकिन मृत्यु अवसर नहीं है; इसे थोड़ा ठीक-से समझ लें। मृत्यु है अवसर की समाप्ति।

मृत्यु का अर्थ क्या होता है? मृत्यु का अर्थ है कि अब कोई अवसर न बचा। जीवन है अवसर, मृत्यु है अवसर की समाप्ति। इसलिए मृत्यु से तो कुछ भी पाया नहीं जा सकता; पाने के लिए अवसर चाहिए।

हमने बाँट रखा है: हम कहते हैं जीवन है भोग के लिए। फिर जब जीवन रिक्त हो जायेगा, तब?...तब योग। हमने ऐसी कहानियाँ गढ़ रखी हैं कि मरते आदमी को कान में--जब कि उसे सुनाई भी नहीं पड़ेगा, क्योंकि जिंदों को सुनायी नहीं पड़ता, तो मुर्दों को कैसे सुनायी पड़ता होगा! ...मरते हुए आदमी के कान में गायत्री पढ़ दो, कि प्रभु का नाम ले दो, कि राम-राम की रटन लगा दो। जो जिंदगीभर न सुन पाया गायत्री, सुनी तो भी सुन नहीं पाया, सुनी तो भी समझ नहीं पाया, वह मरते वक्त, जबकि इन्द्रियाँ जवाब दे रही होंगी--आँखें देखेंगी नहीं, कान सुनेंगे नहीं,

हाथ छुएँगे नहीं--जबकि प्राण लीन हो रहे होंगे बीज में, तब वह गायत्री सुन पायेगा? वह तो नहीं सुन पायेगा। लेकिन, फिर लोग क्यों सुनाये चले जाते हैं? इसमें भी राज है। वह मरता हुआ आदमी कुछ नहीं सुन पाता, लेकिन जो जिंदा सुना रहे हैं, उनको यह आश्वासन बना रहता है कि मरते वक्त कोई हमें भी सुना देगा! और काम हो जायेगा! उन्होंने कहानियाँ गढ़ रखी हैं!

इन बेईमानों ने कहानियाँ गढ़ रखी हैं; वे कहते हैं: एक आदमी मर रहा था, उसके बेटे का नाम नारायण था। उसने जोर से पुकारा--'नारायण'; वह नारायण जो ऊपर हैं, धोखे में आ गये! वह अपने बेटे को अपनी तरकीबें बताने जा रहा था कि ब्लेक मार्केट कैसे करना! दूसरा खाता कैसे रखना! वह यह समझाने के लिए बुला रहा था। वह स्वर्ग पहुँच गया, वैकुंठ! वह खुद भी चौंका कि यहाँ कैसे आ गये! लेकिन नारायण का नाम जो ले लिया था!

ऐसे सस्ते काम नहीं चलेगा। और जो नारायण ऐसे धोखे में आता हो, समझना वह भी धोखे का ही नारायण होगा।

जीवन में धोखे नहीं चलते, अपने मन को समझाने की बात और है। मृत्यु है अवसर की समाप्ति; इस अर्थ को ठीक-से समझ लें। मृत्यु कोई अवसर नहीं है और, जिसमें आप कुछ कर पायेंगे। मृत्यु है सब अवसर का नष्ट हो जाना; आप कुछ भी न कर पायेंगे। करने का कोई उपाय ही मृत्यु में नहीं है। करने का अर्थ है जीवन। इसलिए जो भी करना हो, वह जीवन में ही कर लेने का है।

यह सूत्र कुछ बहुमूल्य शब्दों का प्रयोग करता है।

"जिसको जिवित अवस्था में ही कैवल्य की प्राप्ति हो गयी है, वह देह-रहित होने पर भी ब्रह्मरूप रहेगा।"

जिसने जीवन में ही जान लिया है अपने स्वरूप को—वही केवल, जब देह गिरेगी, तो ब्रह्मरूप रहेगा। क्योंकि जिसने जीवनभर जाना हो कि मैं देह हूँ, मरते वक्त मूर्च्छित हो जायेगा; पूरी मूर्च्छा में आ जायेगा। मृत्यु बहुत कम लोगों की जागते हुए होती है। मृत्यु होती है सोते हुए, मरते हुए--मूर्च्छित, बेहोश। आप होश में नहीं रहते मरते वक्त, नहीं तो आपको पिछली मृत्यु का स्मरण रहता। बेहोशी में जो घटता है, उसका स्मरण नहीं रहता। इसीलिए तो लोगों को पता नहीं कि वे बहुत बार जन्में हैं और बहुत बार मर चुके; क्योंकि जब भी मरे, तब बेहोश थे। और जो बेहोश मरता है, वह बेहोश जन्मता है। क्योंकि मृत्यु और जन्म एक ही चीज की दो घटनाएँ हैं। इधर एक आदमी मरता है, यह एक छोर हुआ; फिर वही आदमी

एक गर्भ में प्रवेश करता है, वह दूसरा छोर हुआ। मृत्यु और जन्म, वह एक ही चीज के, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जो बेहोश मरता है, वह बेहोश जन्मता है। इसलिए आपको यह भी पता नहीं है कि आप पहले भी कभी मरे थे। और आपको यह भी पता नहीं है कि आप जन्मे हैं। यह जन्म की खबर भी दूसरों ने आपको दी है। अगर कोई आपको बतानेवाला न हो कि आप जन्मे हैं, आपको कोई स्मरण नहीं आयेगा कि आप जन्मे हैं। यह बड़े मजे की बात है; आप जन्मे हैं, इत्ता तो पक्का है। पीछे मरे हों, न मरे हों; पीछे मरना हुआ हो या न हुआ हो, लेकिन आप अभी जन्मे हैं इतना तो पक्का है, लेकिन उसकी भी आपको कोई स्मृति नहीं है। यह भी माँ-बाप कहते हैं, और लोग कहते हैं, उनसे आपने सुना है।

आपके खुद के जन्म की खबर भी अफवाह है। उसका भी कोई प्रमाण नहीं है आपके पास। आपकी चेतना में कोई स्मरण नहीं है, क्या होगा कारण इसका? आप जन्मे, बड़ी घटना घटती है जन्म में। इस बड़ी घटना का आपको कोई पता नहीं है।

ध्यान रखना, जिसको अपने जन्म का पता नहीं है, मरते वक्त बहुत मुश्किल होगा उसको पता रखना। जुड़ी हैं दोनों बातें। मृत्यु घटी है बहुत बार, लेकिन आप बेहोश मरे हैं। मृत्यु को छोड़ दें। रोज आप सोते हैं। सोने की घटना तो रोज घटती है। लेकिन आपको पता है कि जब नींद आती है, तब उसके पहले ही आपका होश खो जाता है। आपको नींद से मिलने की कोई खबर है? जब नींद उतरती है तो क्या आप देख पाते हैं कि नींद उतर रही है? जब तक आप देख पाते हैं तब तक समझना आप जागे हुए हैं, नींद उतरी नहीं। और जब नींद उतर जाती है तब आप खो जाते हैं। नींद के उतरते ही आप बेहोश हो जाते हैं।

जब नींद तक में होश नहीं सँभलता तो मौत में कैसे होश सँभलेगा? मौत तो बड़ी प्रगाढ़ निद्रा है, गहनतम निद्रा है; उसमें होश सँभालना मुश्किल है। आप बेहोश मरेंगे। उस बेहोशी में कौन गायत्री पढ़ रहा है, कौन राम-राम जप रहा है, आपको कुछ भी पता नहीं चलेगा। और बेहोशी ज़रूरी है।

सिर्फ वे ही लोग इस बेहोशी से मुक्त होते हैं, जो देह-भाव से मुक्त हो जाते हैं; क्यों? एक सर्जन आपके पेट का ऑपरेशन कर रहा हो तो आपको बेहोश करना पड़ेगा; क्योंकि इतनी पीड़ा होगी। उस पीड़ा को आप सह न पायेंगे। न सह पायेंगे, चीखेंगे, चिल्लायेंगे, ऑपरेशन मुश्किल हो जायेगा। इतनी पीड़ा होगी कि आप विक्षिप्त हो सकते हैं। फिर कभी मस्तिष्क दुबारा ठीक न होगा। इसलिए सर्जन अनेसथेसिया देता है। पहले आपको बेहोश कर देता है, फिर काटपीट कर

देता है। आपका ही शरीर काटता है, लेकिन तब आपको पता नहीं होता। जब पता ही नहीं होता, तो पीड़ा नहीं होती।

समझ लें इस बात को——पता होने से पीड़ा होती है, पीड़ा होने से पीड़ा नहीं होती। पीड़ा तो हो रही है, सर्जन काट रहा है, लेकिन आपको पता नहीं चल रहा है, बस। काट-पीट के अलग कर देगा, आपको पता नहीं चलेगा। होश जब आयेगा, तभी पीड़ा का पता चलेगा। और जब पता चलेगा तभी पीड़ा मालूम होगी कि हो रही है। अगर बेहोशी में आपके कोई अंग-अंग काट डाले, बिलकुल टुकड़े-टुकड़े कर दे, तो भी आपको पता नहीं चलेगा।

सर्जन छोटा-सा ऑप्रेशन करता है, मृत्यु तो बहुत बड़ा ऑप्रेशन है। मृत्यु से बड़ा कोई ऑप्रेशन नहीं है। सर्जन तो एक-आध अंग काटता है, मृत्यु तो आपके पूरे शरीर को आपसे काट के अलग करती है। तो आपको होश में रखा नहीं जा सकता। इसलिए मृत्यु सदा से प्राकृतिक अनेसथेसिया का उपयोग करती है। जैसे ही मृत्यु आती है, आप बिलकुल बेहोश हो जाते हैं। उस बेहोशी में इस जगत् का सबसे बड़ा ऑप्रेशन, सबसे बड़ी सर्जरी, शल्य-चिकित्सा घटित होती है कि आपका शरीर और आपकी आत्मा अलग कर लिये जाते हैं।

लेकिन वह आदमी होश में मर सकता है, प्रकृति उसको छूट देती है होश में मरने की, जो आदमी यह जान लेता है कि मैं देह नहीं हूँ; क्यों? क्योंकि तब देह कटती है, तो भी वह नहीं जानता है कि मैं कटता हूँ। वह दूर खड़ा देखता रहता है। वह दूर खड़ा देखता रहता है, क्योंकि वह मानता है कोई और कट रहा है, मैं नहीं कट रहा हूँ; मैं देख रहा हूँ; मैं सिर्फ साक्षी हूँ।

ऐसी प्रतीति जिसकी गहन हो जाती है, प्रकृति उसको अवसर देती है: कि वह होशपूर्वक मरता है। लेकिन यह घटना बहुत बाद में घटती है, पहले तो होशपूर्वक सोना सीखना पड़ता है। और वह भी देर से घटती है, पहले तो होशपूर्वक जगना सीखना होता है।

होशपूर्वक जो जगता है, धीरे-धीरे होशपूर्वक सोता है। होशपूर्वक जो जीता है, एक दिन होशपूर्वक मरता है। जो होशपूर्वक मरता है, वही जान पाता है कि मैं ब्रह्मरूप हो गया। लेकिन इसे तो पहले अपने ही शरीर में छिपी हुई चेतना के अनुभव में जानना होता है। फिर एक दिन यह घड़ा भी टूटता है और भीतर का आकाश विराट् आकाश में लीन होता है।

जो होशपूर्वक मरता है, वह बड़े अद्भुत अनुभव से गुजरता है। मृत्यु उसके लिए शत्रु नहीं मालूम होती। मृत्यु मालूम होती है मित्र। मृत्यु मालूम होती है एक बड़ा सम्मिलन परमात्मा से, विराट् से। जो होशपूर्वक मरता है, वह होशपूर्वक

जन्मता भी है। जो होशपूर्वक जन्मता है, उसका जीवन दूसरा ही हो जाता है। क्योंकि फिर वह वही नहीं दोहराता जो उसने बार-बार पहले दोहराया है। वह सब मूढ़ता हो जाती है, व्यर्थ हो जाता है। उसका जीवन नया हो जाता है। उसका जीवन नये आयाम में प्रवेश करता है। और साक्षी उसका निरंतर बना रहता है; जो जन्म के वक्त भी साक्षी था, जो मृत्यु के समय भी साक्षी था। फिर उसका पूरा जीवन साक्षी हो जाता है।

तो एक मृत्यु में ही आप होशपूर्वक मर सकते हैं, और एक जन्म आपका होश-पूर्वक हो सकता है, उसके बाद फिर जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। उसके बाद आप शरीरों के जगत् से तिरोहित हो जाते हैं। यह जो तिरोहित होना है, इसके लिए हमने एक बहुत कीमती शब्द भारत में खोज रखा है; यह शब्द है 'कैवल्य'। बड़ा अद्भुत शब्द है। कैवल्य का अर्थ है, मैं अकेला हूँ। मैं ही हूँ, और कुछ भी नहीं है। केवल मैं; केवल चैतन्य; केवल आत्मा। और कुछ भी नहीं, केवल द्रष्टा, केवल साक्षी, और कुछ भी नहीं; और सब खेल है, और सब स्वप्न है, सत्य केवल एक साक्षी चेतना है। जो देख रहा है वही सत्य है, जो दिखायी पड़ रहा है वह सत्य नहीं है––कैवल्य इस अनुभव का नाम है।

इसे हम थोड़ा समझें:

आप बच्चे थे, फिर आप जवान हो गये, फिर आप बूढ़े हो गये। बचपन चला गया, जवानी आ गयी। जवानी चली गयी, बुढ़ापा आ गया। तब तो आप एक बदलाहट हैं। बचपन रुकता नहीं, जवानी रुकती नहीं, बुढ़ापा रुकता नहीं; सब चीजें बदल जाती हैं। पर कोई आपके भीतर ऐसा भी तत्त्व है जो नहीं बदलता?

...दुःखी थे, फिर सुखी हो गये; सुखी थे, फिर दुःखी हो गये; शांत थे, अशांत हो गये; अशांत थे, शांत हो गये; सब बदल जाता है। धनी थे, दरिद्र हो गये; दरिद्र थे, धनी हो गये; सब बदल जाता है। लेकिन, क्या कोई एक तत्त्व आपके भीतर ऐसा भी है जो नहीं बदलता?

अगर ऐसा कोई तत्त्व नहीं है तो आप हैं ही नहीं। आपके होने का क्या मतलब है? फिर आपके बचपन, आपकी जवानी, आपके बुढ़ापे को कौन जोड़ेगा सूत्र की तरह? जैसे माला के मनके पिरोये होते हैं एक धागे में, तो ही माला है। अगर धागा न हो भीतर पिरोनेवाला, मनके-ही-मनके हों, तो माला तो होगी नहीं, बिखर जायेंगे मनके।

आपका बचपन टंगा है एक मनके की तरह; आपकी जवानी टंगी है एक मनके की तरह; आपका बुढ़ापा टंगा है एक मनके की तरह––धागा कहाँ है, जिस पर ये मनके टंगे हैं? और एक कन्टिन्यूटि, एक सातत्य, वह सातत्य कहाँ है? वह

सातत्य ही सत्य है, बाकी तो सब बदल जाता है। भारत की परिभाषा यह है कि जो बदल जाता है उसे हम स्वप्न कहते हैं; इसे ठीक-से समझ लें।

हमारे स्वप्न की अपनी परिभाषा है। जो बदल जाता है उसे हम स्वप्न कहते हैं, और जो कभी नहीं बदलता उसे हम सत्य कहते हैं। तो बचपन तो चला जाता है सपने की तरह, जवानी चली जाती है सपने की तरह; सुख आता है, खो जाता है; दुख आता है, खो जाता है। जैसे सपना मिटता जाता है, ऐसे ही सब मिटता जाता है। इसलिए भारत कहता है यह विराट् सपना है जो बाहर फैला हुआ है।

दो तरह के सपने हैं। एक निजी सपने हैं जो रात आप सोते में देखते हैं, और एक सार्वजनिक सपने हैं जो आप जाग के दिन में देखते हैं। उनमें कोई फर्क नहीं है, क्योंकि दोनों बदल जाते हैं। रात का सपना सुबह झूठ हो जाता है; जिंदगी का सपना भी मौत में झूठ हो जाता है। एक घड़ी आती है, जो देखा था वह व्यर्थ हो जाता है। तब सत्य है कुछ या नहीं? लेकिन स्वप्न के होने के लिए भी सत्य का आधार चाहिए। परिवर्तन के लिए भी कोई आधार चाहिए जो बदलता न हो, नहीं तो परि-वर्तन भी असम्भव है। वह आधार कहाँ है हमारे भीतर? ऋषि का सूत्र कहता है, साक्षी-भाव आधार है।

बचपन को देखा आपने, बचपन बदल गया; लेकिन देखनेवाला जो आपके भीतर है, वह नहीं बदलता। फिर जवानी आयी; जवानी देखी आपने; फिर जवानी भी चली गई, लेकिन जिसने देखी वह नहीं बदलता। उसी ने बचपन देखा, उसी ने जवानी देखी, उसी ने बुढ़ापा देखा, उसी ने जन्म देखा, उसी ने मृत्यु देखी; उसी ने सुख, उसी ने दुख, उसी ने सफलता, उसी ने असफलता; सब बदलता जाता है, सिर्फ एक जो देखता रहता है, सबका अनुभव करता रहता है, वह भर नहीं बदलता।

उस सूत्र को ही हम आत्मा कहते हैं; वही सत्य है। इस एक को, न बदलने-वाले को जान लेना कैवल्य है।

जिस दिन कोई व्यक्ति इन सपनों से अपने को हटाकर, मनकों से हटाकर इस धागे के साथ अपने को जान लेता है कि मैं यह धागा हूँ; यह सतत चैतन्य यह सतत साक्षी-भाव, यही मैं हूँ; बस, यह चैतन्य ही मैं हूँ––ऐसी प्रतीति जब सघन अनुभव बन जाती है; विचार नहीं, अनुभव; शब्द नहीं, प्रतीति––ऐसा जब भासने लगता है, तो उसे हम कहते हैं वह व्यक्ति कैवल्य को उपलब्ध हो गया; उसने उस एक को जान लिया, जो जानने-योग्य है; उसने उस एक को पा लिया, जो पाने-योग्य है। और उस एक को पाकर वह सब पा लेता है, और हम उस एक को खोकर सब खो देते हैं; सपनों को पकड़ते हैं––पकड़ भी नहीं पाते कि सपने खो जाते हैं, मुट्ठी खाली रही जाती। रात देखा कि सम्राट हो गये हैं, सुबह उठकर पाते हैं कि मुट्ठी

खाली है। जिंदगी में देखा--यह हो गये, वह हो गये, मरते वक्त पता चलता है मुट्ठी खाली है। पकड़ा था जिन्हें, मुट्ठी बाँधी थी जिनके ऊपर, वे ऐसे ही खो गये जैसे कोई हवा को मुट्ठी में बाँधे। मुट्ठी बंध जाती है, हवा खो जाती है। सब सपना सिद्ध होता है।

ध्यान रखें, सपने से हमारा मतलब ही इतना है कि जहाँ-जहाँ परिवर्तन है, जहाँ-जहाँ बदलाहट है, वहाँ-वहाँ सत्य नहीं है। जो सदा अपरिवर्तित एकरूप है, वह क्या है? इस जगत् में खोजते रहें, कहीं भी वह एकरूप रहनेवाला सत्य नहीं मिलेगा। अपने में खोजेंगे, तभी द्रष्टा-भाव में मिलेगी वह--वह सूत्रबद्धता, वह सातत्य जो एक है। इसे कहा है कैवल्य। उस एक को जान लेना, देह रहने पर ही, तो फिर, देह के गिरते ही ब्रह्मरूप अनुभव होता है।

"हे निर्दोष! इसलिए समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन।"

कैसे जान पायेंगे हम उस एक को? प्रक्रिया है, 'विकल्पों से शून्य बन'। यह 'विकल्प' शब्द भी समझ-लेने-जैसा है। विकल्प का मतलब है, जिन-जिन चीजों का वैपरीत्य होता है, वे विकल्प हैं। जैसे सुख, तो उसका विपरीत होता है दुख। अगर आप सुख चाहते हैं तो दुख मिलेगा। वह आपको झेलना ही पड़ेगा। वह कीमत है, जो सुख पाने के लिए चुकानी पड़ती है। अगर आप चाहते हैं प्रेम, तो घृणा झेलनी पड़ेगी; वह कीमत है। अगर आप चाहते हैं सफलता, तो असफलता आपके हाथ आयेगी ही; वह सफलता की छाया है, उसी के साथ आ जाती है। विकल्प का अर्थ है, द्वंद्व का जगत्--जहाँ हर चीज दो है, और एक को चाहो तो दूसरे में फँस जाना पड़ता है। जिसने एक को चाहा, वह दूसरे में उलझेगा ही; बचने का कोई उपाय नहीं। बचने का एक ही उपाय है कि दोनों को छोड़ दो, विकल्पशून्य बन जाओ। उसका अर्थ है, जहाँ-जहाँ द्वंद्व है, वहाँ-वहाँ चुनाव मत करो, चुनाव छोड़ दो।

...इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि यह गहरी ले जानेवाली बात है।

जहाँ-जहाँ दो हो सकते हैं; जहाँ-जहाँ। अगर आप शांति चाहते हैं, तो आप अशांति में फँसते रहेंगे। बड़ा कठिन लगेगा यह मामला; क्योंकि सुख-दुख का समझ में आ जाता है; सफलता-असफलता, मान-अपमान का समझ में आ जाता है; शांति और अशांति भी! मामला वही है, द्वंद्व का। इतना ही नहीं, अगर आप मुक्ति चाहते हैं, तो आप बंधन में पड़ते रहेंगे; क्योंकि द्वंद्व तो वही है। विकल्प तो बन जाता है; विपरीत खड़ा हुआ है सामने। तो जो आदमी कहता है कि मुझे मुक्ति चाहिए, वह फँस जायेगा। मुक्ति तो मिलती है उसको, जो द्वंद्व में चुनाव नहीं करता; शांति मिलती है उसको, जो द्वंद्व में चुनाव नहीं करता--जो माँगता नहीं कि मुझे शांति

चाहिए--जो कहता है कि शांति हो कि अशांति, मुझे दोनों में कोई चुनाव नहीं करना है; वह आदमी शांत हो जाता है। प्रेम का फूल खिलता है उसके जीवन में, जो प्रेम को घृणा के विपरीत चुनता नहीं; जो कहता है--न मुझे प्रेम चाहिए, न मुझे घृणा; मैं दोनों के प्रति उदासीन हूँ; दोनों मुझे क्षमा कर दें; मैं दोनों में नहीं पड़ना चाहता। उसके जीवन में प्रेम का फूल खिलता है।

जहाँ-जहाँ द्वंद्व है, जहाँ-जहाँ विकल्प है, जहाँ-जहाँ चुनाव की सुविधा है, वहाँ चुनना मत। पर हम सदा चुनते हैं! और हमें कभी ख्याल नहीं आता कि जो हम चुनते हैं, वही हमारा उलझाव है। जब आप चुनते हैं सुख, तब आपको ख्याल में भी नहीं है कि आपने दुख चुन लिया; दुख आ गया; दुख ने भी आपके द्वार से प्रवेश कर लिया; क्यों?

...प्रक्रिया समझ लें।

मैं चाहता हूँ सुख मिले। कई बातें घट गईं इस चाह में। एक तो यह कि मैं दुखी हूँ। सिर्फ दुखी ही सुख को चाहता है। सुखी सुख को क्यों चाहेगा! हम वही माँगते हैं जो हमारे पास नहीं है। जो हमारे पास है उसे हम कभी नहीं माँगते। इसलिए तो दुःख को कोई भी नहीं माँगता, क्योंकि दुख सबके पास है। सुख को लोग माँगते हैं, क्योंकि उनके पास नहीं है। तो जिस दिन आप कहते हैं सुख चाहिए, उस दिन एक बात तो आपने यह बता दी कि आप दुःखी हैं। दूसरी बात जो भी सुख आप माँग रहे हैं, अगर वह न मिला, तो और घने दुःख में उतर जायेंगे। मिलने की कोई गारंटी नहीं है। और अगर मिला, तो भी दुःख में उतर जायेंगे; क्योंकि मिल के पता चलेगा कि सोचे थे कितने-कितने सपने इस सुख के मिलने से पूरे होंगे, वे कोई पूरे नहीं होते।

सब सुख दूरी में दिखायी पड़ता है, पास आने पर खो जाता है। जब तक हाथ में नहीं होता सुख तब तक सुख, हाथ में आते ही दुख हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि सुख होता है दूरी में। सुख वस्तु में नहीं होता है, सुख होता है दूरी में; सुख होता है आशा में, सुख होता है प्रतीक्षा में। जब आ जाता है, जैसे-जैसे पास आने लगता है, वैसे-वैसे सुख तिरोहित होने लगता है। और जब बिलकुल हाथ में आ जाता है तो दुःख हो जाता है।

दुःख न तो किसी वस्तु में है, न सुख किसी वस्तु में है। दूरी जितनी ज्यादा हो उतना सुख, निकटता जितनी हो उतना दुःख। यह तो बड़ा जटिल जाल है! जिसको हम पास लाते हैं, उससे दुख मिलने लगता है। जितना हम सुख माँगते हैं, एक तो मिलेगा नहीं, क्योंकि माँगने से कुछ मिल नहीं जाता। नहीं मिलेगा तो फ्रस्ट्रेशन, विषाद घेर लेगा। मिल जायेगा, तो विफलता हाथ लगेगी और रिक्तता

घेर लेगी कि व्यर्थ गई मेहनत, कुछ पाया नहीं--दौड़े, धूपे, श्रम उठाया, और जो मिला, वह यह है! जो इतना चमकदार मालूम पड़ता था दूर से, जो ढोल बहुत सुहावने मालूम पड़ते थे, वे पास आ के साधारण ढोल साबित होते हैं।

जो चुनेगा, वह उलझ जायेगा संसार में। संसार है चुनाव, मोक्ष है अचुनाव। चुनना ही मत। सुख आये तो सुख से राजी हो जाना, और दुःख आये तो दुःख से राजी हो जाना, लेकिन भीतर चुनाव मत करना कि मैं यह चाहता हूँ। अपनी माँग इस जगत् के सामने जो नहीं रखता, वह जगत् से मुक्त हो जाता है। इसे थोड़ा ठीक गहरे में जाने दें। इस जगत् से जो कुछ भी नहीं माँगता, यह जगत् उसे फँसा नहीं सकता। इस जगत् से कुछ भी माँगा कि आप फँस गये। जो आप माँगते हैं, वह मिल जाये तो भी आप फँस गये, न मिले तो भी फँस गये। माँगते ही फँस गये, मिलने-न-मिलने से कोई संबंध नहीं है।

मछलियों को पकड़नेवाले लोग, मछुए, काँटे में आटा लगा के पानी में डाल रखते हैं। इनसे सिर्फ वही मछली बचेगी, जो मुँह खोलेगी ही नहीं। जिस मछली ने मुँह खोला, वह फँसी। सभी मछलियाँ आटे के लिए मुँह खोलती हैं। कोई मछली इतनी नासमझ नहीं कि काँटे के लिए मुँह खोलती हो। सभी मछलियाँ आटे के लिए मुँह खोलती हैं। मछुआ भी इसलिए काँटे में आटा लगा के पानी में डाल के बैठा हुआ है। मछली फँसती है आटे के कारण।

सभी लोग सुख चाहते हैं और दुख का काँटा सुख में से निकल आता है। सभी लोग सम्मान चाहते हैं और सम्मान में से ही अपमान का काँटा निकल आता है। और सभी लोग शांति चाहते हैं और शांति ही अशांति बन जाती है। उस मछली का खयाल करें जो इस आटे और इस काँटे में चुनाव ही नहीं करती; जो उदासीन इस आटे के पास से तैरती हुई चली जाती है। उसको पकड़ना असम्भव है। ऐसी मछली की तरह हो जायें इस जगत् में कि जिसका कोई चुनाव नहीं है। जो चुनती ही नहीं, जो माँग नहीं करती। फिर आपके ऊपर कोई बंधन हो नहीं सकता, आप पकड़े नहीं जा सकते।

संन्यस्त होने का अर्थ है, विकल्प में चुनाव छोड़ देना। इसलिए ध्यान रखना, संन्यास संसार के विपरीत विकल्प नहीं है। और जिन लोगों ने संन्यास का अर्थ संसार के विपरीत बना रखा है वे संसार में ही उलझे रहेंगे। लोग हैं ऐसे जो कहते हैं कि संन्यास जो है वह संसार के विपरीत है। हम तो संसार में हैं, हम कैसे संन्यासी हो जायें? हम तो तब संन्यासी होंगे जब हम संसार छोड़ेंगे। उनका संन्यास भी द्वंद्व है। संसार और संन्यास उनके लिए दो पहलू हैं, विरोधी। वे कहते हैं कि अगर हम संसार चुनेंगे तो संन्यास कैसे चुनें? अगर हम संन्यास चुनेंगे तो हम संसार कैसे चुनें।

अगर संन्यास का अर्थ द्वंद्व है, तो संन्यास का अर्थ ही खो गया। संन्यास का अर्थ ही है निर्द्वंद्व हो जाना। हम चुनते ही नहीं। जो हो जाता है उसे स्वीकार कर लेते हैं, जो नहीं होता उसकी हम माँग नहीं करते; ऐसी भाव-दशा संन्यास है। तब आप कहीं भी संन्यासी हो सकते हैं। तब संन्यास भाव-दशा है; तब विकल्प नहीं है।

यह सूत्र कहता है:

"इसलिए हे निर्दोष! समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन।"

समाधि आती ही तब है, जब कोई विकल्पों से शून्य होता है।

"जिस समय निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञानरूप गाँठ का पूर्ण नाश हो जाता है।"

दो तरह की समाधियाँ कही हैं: एक समाधि है 'सविकल्प समाधि'। वह नाम-मात्र को समाधि है। सविकल्प समाधि का अर्थ है कि किसी व्यक्ति ने शांत होना चुन लिया। इसे समझ लें। अक्सर लोग पहले तो यही चुनते हैं। संसार से बहुत पीड़ित हो जाते हैं तो अशांत हो जाते हैं, बेचैन हो जाते हैं, तो सोचते हैं: ध्यान से शांति मिल जाये। अशांति के विपरीत शांति को चुनते हैं। तो ध्यान से शांति मिलनी शुरू होती है। लेकिन उस शांति के भी गहरे में अशांति का पहलू छिपा रहता है। वह विकल्प मौजूद रहेगा। क्योंकि आपने शांति को चुना ही अशांति के विपरीत है। जिसके विपरीत आपने चुना है, उससे आप छूट नहीं सकते; वह मौजूद रहेगा। इतना हो सकता है कि जो आपने चुना है वह पहलू ऊपर आ जाये और जो आपने नहीं चुना है वह नीचे रहे। बाकी वह मिट नहीं सकता है।

चुनाव कभी भी द्वंद्व के बाहर नहीं ले जा सकता, द्वंद्व रहेगा। जो आप चुनते हैं, वह चुनाव के कारण ही, विपरीत मौजूद बना रहता है। तो आप शांत भी हो सकते हैं, लेकिन शांत होना आपका ऊपर-ऊपर होगा। शांत होना ऊपर-ऊपर होगा, भीतर अशांति छिपी रहेगी। और आप सदा डरे रहेंगे कि अशांति कहीं फूट न आये। बीज अशांति का मौजूद रहेगा और अंकुर का डर रहेगा।

इसीलिए तो लोग संसार को छोड़ के भागते हैं, क्योंकि संसार में उन्हें डर लगता है कि भीतर तो छिपी है अशांति, कोई भी उसे जरा उकसा दे तो अभी फूट पड़ेगी।

जंगल की तरफ भागता हुआ आदमी आपसे नहीं भाग रहा है, अपने भीतर छिपी हुई अशांति से भाग रहा है। आपसे तो इसलिए भाग रहा है कि आपसे डर लगता है कि आप कहीं भीतर की पर्त को उघाड़ न दें। जंगल की तरफ भागता हुआ

पति पत्नी से नहीं भाग रहा है, वह जो ब्रह्मचर्य उसने ऊपर-ऊपर निर्मित कर लिया है, उसके भीतर कामवासना अभी छिपी है। क्योंकि जिसने ब्रह्मचर्य को समझा कामवासना के विपरीत, वह कामवासना के बीज से मुक्त नहीं हो सकता। जिसने चुना, वह विपरीत से बंधा रहेगा।

चुनाव का मतलब ही है कि हम किसी के खिलाफ चुनें। जिसके खिलाफ हम चुने हैं वह हमारा पीछा करेगा। और जो हमने आयोजन कर लिया है ऊपर-ऊपर, उसके गहरे में, जिसके विपरीत हमने चुना है वह मौजूद रहेगा, क्योंकि वह हमारा ही हिस्सा है।

असल में हमने जिंदगी को दो हिस्सों में बाँट दिया है। एक को हमने चुन लिया और दूसरे को हमने चुना नहीं, और वे दोनों संयुक्त हैं। जिसको हमने नहीं चुना वह जायेगा कहाँ, वह हमारे साथ रहेगा। फिर डर लगेगा। लोगों का साथ हो, परिवार हो, दुकान हो, बाज़ार हो, तो वह जो भीतर छिपा है, कोई भी जरा-सा इशारा कर दे तो बाहर निकल आता है।

...तो भाग जाओ; ऐसी जगह भाग जाओ, जहाँ कोई भीतर के छुपे का दर्शन न करवा पाये। लेकिन तो भी वह मिटेगा नहीं। हज़ारों वर्ष कोई हिमालय पर रहे, जिस दिन लौटेगा वापिस बाज़ार में, पायेगा हज़ार वर्ष बेकार चले गये। वह जो भीतर छिपा है, बाज़ार फिर उसे उकसा देगा; वह फिर बाहर आ जायेगा।

सविकल्प समाधि का अर्थ है कि आपने चुन के अपने को शांत किया है।

निर्विकल्प समाधि का अर्थ है कि आपने चुनाव छोड़ दिया है। निर्विकल्प समाधि ही समाधि है; मैं दो हिस्से नहीं करता। सविकल्प समाधि तो समाधि का धोखा है। लेकिन आदमी पहले सविकल्प समाधि की तरफ आता है; संसार से पीड़ित हो के संन्यास को चुनता है। स्वाभाविक है, संसार से पीड़ित होकर संन्यास को चुनता है। यह दूसरी बात तो तब घटेगी जब संन्यास से भी पीड़ित हो जायेगा, और तब देखेगा कि संसार भी एक संसार है और संन्यास भी एक संसार है। और जब अनुभव करेगा कि संसार और संन्यास, विपरीत की तरह, एक ही स्वर के दो हिस्से हैं, उस दिन वास्तविक संन्यास घटित होगा। उस दिन वह चुनेगा ही नहीं। उस दिन वह चुनाव छोड़ देगा। उस दिन वह समझेगा कि चुनाव में ही संसार है। इसलिए अब मैं चुनता नहीं। अब जो हो जाता है, उसे स्वीकार कर लेता हूँ; जो नहीं होता, उसकी अपेक्षा नहीं करता हूँ। अब मैं राजी हूँ; अस्तित्व जैसा रखे, वैसा ही राजी हूँ। अब मेरा अपना कोई स्वर नहीं है अस्तित्व के विपरीत। अब दुख आये, तो मैं मानता हूँ यही है; यही होना चाहिए जो हो रहा है। सुख आये, तो मैं मानता

हूँ, यही है; जो होना चाहिए वही हो रहा है। अब मैं अपने को अलग रख के नहीं कहता कि ऐसा होना चाहिए। अब मेरी कोई अपेक्षा, कोई माँग, कोई दावा नहीं, मैंने दावा छोड़ दिया।

जिस दिन कोई दावा छोड़ देता है, उस दिन निर्विकल्प समाधि घटित होती है; उस दिन फिर आपको इस जगत् में कोई बंधन नहीं रह जाता। अगर यह सारा जगत् भी जंजीरें बन जाये, और आपके अंग-अंग पर सारा जगत् कस जाए, आक्टोपस की तरह, तो भी आपको कोई बंधन नहीं होता, क्योंकि आप उसको भी स्वीकार कर लेते हैं: कि ठीक है, यही है।

जब कोई मेरे हाथ में जंजीर डाल दे, तो ध्यान रखना, जंजीर डालनेवाले की तरफ से जंजीर नहीं हो सकती, मैं उसे जंजीर मानता हूँ, तभी जंजीर हो सकती है। मेरी मान्यता में निर्भर करेगा सब कुछ। और मैं हाथ बढ़ा देता हूँ और कह देता हूँ कि जंजीर डाल दो।

बड़ा मजा हुआ। रामकृष्ण के जीवन में बड़ी प्यारी घटना है। रामकृष्ण बचपन से ही ईश्वर की तरफ दौड़े हुए चित्त के व्यक्ति थे। मंदिर के सामने से निकलते थे तो फिर उनका घर पहुँचना मुश्किल हो जाता; वहीं नाचने लगते; वहीं लेट जाते, सीढ़ियों पर पड़े रहते; कोई राम का नाम ले दे, तो भाव में आ जाते। तो घर के लोग जानते थे कि यह लड़का संसार में नहीं जायेगा। कोई आशा नहीं थी। लेकिन, फिर भी माँ-बाप का फर्ज था, तो जब उम्र हुई तो उन्होंने पूछा कि 'राम' ——उनका नाम था गजाधर——'शादी करोगे?' सोचा था, रामकृष्ण इनकार कर देंगे। रामकृष्ण बहुत प्रफुल्लित हो गये; उन्होंने कहा, 'शादी कैसी होती है? जरूर करेंगे!' घर के लोगों को भी सदमा हुआ, कि सोचा था, कि यह संन्यासी वृत्ति का है, शादी नहीं करेगा; यह क्या हुआ! फिर लड़की की तलाश हुई। फिर लड़की खोजी गई। लड़की बहुत छोटी थी। कोई आठ-दस साल का अंतर था दोनों की उम्र में। रामकृष्ण लड़की को देखने गये। उनके साथ ही परिवार के और लोग गये। रामकृष्ण की माँ ने एक तीन रुपये रामकृष्ण के खीसे में रख दिये कि कोई जरूरत पड़े,... खर्च इत्यादि। पास ही गाँव था ऐसे। रामकृष्ण सज-धज के——जैसा सजा-धजा दिया, ——पहुँच गये। लड़की बहुत प्यारी थी। रामकृष्ण ने वो तीनों रुपये उसके पैर में रख के उसके पैर छू लिये! तो सब मुश्किल में पड़ गये! और सबने कहा कि 'पागल यह तेरी पत्नी होनेवाली है! और तूने पैर छू लिए और यह तीन रुपये किसलिए चढ़ा दिये?' तो रामकृष्ण ने कहा, 'मेरी माँ-जैसी प्यारी लगती है।' क्योंकि रामकृष्ण एक ही प्रेम जानते थे; वह माँ-जैसा प्रेम।...'बहुत प्यारी लगती है; माँ-जैसी! इसको मैं माँ ही कहूँगा, पत्नी भी हो तो हर्ज क्या!'

फिर शादी भी हो गयी, लेकिन रामकृष्ण शारदा को माँ ही कहते रहे; उसके पैर ही छूते रहे। और जब काली की पूजा का दिन आता, तो वे काली की पूजा न करके शारदा को बिठा लेते सिंहासन पर और उसकी पूजा कर लेते; वह कहते कि जब जिंदा माँ है, तो फिर मूर्ति की क्या जरूरत है?

पत्नी बंधन न रही। उसे बंधन की तरह देखा ही नहीं। हाथ बढ़ा दिया, जंजीर ले ली।

आपकी भाव-दशा में निर्भर करता है।

दुःख दुःख है, क्योंकि आप दुःख को नहीं चाहते और सुख को चाहते हैं;—इसलिए दुःख है। दुःख इसलिए है कि उसके विपरीत को आप चाहते हैं: नहीं तो क्या दुख है? विपरीत की माँग में छिपा है दुःख। अशांति क्या है? क्योंकि आप शांति को चाहते है, इसलिए अशांति है।

हमारे चुनाव में हमारा संसार है।

यह सूत्र कहता है: जो चुनावरहित हो जाता, जो निर्विकल्प हो जाता, उसे आत्मा का दर्शन होता है; क्योंकि जो बाहर चुनाव नहीं करता––न चुनता है सुख को, न दुख को; न प्रेम को, न घृणा को; न संसार को, न मोक्ष को; न पदार्थ को, न परमात्मा को––जो बाहर चुनता ही नहीं, जिसके सब चुनाव क्षीण हो जाते हैं, वह तत्काल भीतर पहुँच जाता है; क्योंकि चुनाव में ही चेतना अटकती है बाहर।

जिसे हम चुनते हैं, उसमें हम अटक जाते हैं। जब कोई चुनता ही नहीं तो अटकाव नष्ट हो गया; उसका संबंध किनारे से छूट जाता है; उसका संबंध भीतर की मझदार से जुड़ जाता है; वह भीतर की धारा में लीन हो जाता है।

आत्मा का दर्शन होता है उसे, जो निर्विकल्प भाव को उपलब्ध होता है। और तब हृदय की अज्ञानरूपी गाँठ पूर्णतः नष्ट हो जाती है।

"आत्मा के ऊपर ही आत्म-भाव को दृढ़ करके अहंकार आदि के ऊपरवाले आत्मा-भाव का त्याग करना; घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों से जिस प्रकार उदासीन भाव से रहा जाता है, उसी प्रकार अहंकार आदि की तरफ से भी उदासीन भाव से रहना।"

यह 'उदासीन' शब्द भी समझ लें।

उदासीन का मतलब उदास रहना नहीं है; उदासीन का मतलब है, चुनाव-रहित रहना; उदासीन का मतलब है––कोई मतलब नहीं, ऐसे रहना; कोई प्रयोजन नहीं, ऐसे रहना। उदासीन शब्द से खतरा हो गया है। उदासीन साधुओं का

संप्रदाय है! वे थोप के उदास बने रहते हैं; क्योंकि वे समझते हैं उदास होने में उदासीनता है।

उदास से कोई भी संबंध नहीं है उदासीनता का; शब्द-भर का संबंध है, भाव का कोई संबंध नहीं है। उदासीन का मतलब है कि हमारा कोई चुनाव ही नहीं है; क्या हो रहा है, होने दो। उदासी नहीं, उदासीनता––इन्डिफरेन्स; उपेक्षा। ठीक है, जो हो जाये ठीक है। जैसे घर में कोई रहता है, उदाहरण लिया है इस सूत्र में, कि घर में वस्त्र हैं, घड़ा है, सामान है, बर्तन हैं; आप निकलते चले जाते हैं। घड़ा पड़ा है, पड़ा है; कोई उस पर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं पड़ती। कपड़े टंगे हैं घर में टंगे हैं; आप उनके बीच से गुजर जाते हैं। ऐसे ही अपने भीतर अहंकार टंगा है, दुख टंगे हैं, सुख टंगे हैं, पीड़ाएँ पड़ी हैं, चिंताएँ पड़ी हैं, सुख की स्मृतियाँ हैं और दुःख के संस्मरण हैं; वे सब पड़े हैं। ये सामान है भीतर का––घड़ा, वस्त्र इत्यादि। इनके बीच से ऐसे गुजर जाना कि सब ठीक है; जो है ठीक है। इस पर कोई ध्यान न देना; इसमें कुछ चुनाव न करना; इसमें किसी से आकर्षित और किसी से विकर्षित न होना––यह अर्थ है उदासीनता का।

उदासीन आदमी अति प्रफुल्लित होता है, उदास नहीं। लेकिन ध्यान रखना प्रफुल्लित का मतलब, प्रफुल्लित का मतलब यह होता है कि अब कोई भी चीज उसे परेशान नहीं करती, इसलिए भीतर का फूल खिलना शुरू हो जाता है; अब कोई चीज उसको हैरान नहीं करती, इसलिए भीतर वह आनन्द में रहता है।

उदासी थोप ली अगर आपने––जबरदस्ती अपने ऊपर––तो आप प्रफुल्लित न हो पायेंगे। उदासीन होना है। इसे जरा देखना प्रयोग करके। रास्ते से गुजर रहे हैं, प्रयोग करके देखना कि पाँच मिनट बिलकुल उदासीन हो के गुजरूँ, रास्ते से। तब कौन-सा मकान सुन्दर है, कौन-सा नहीं है––बराबर है। तब कौन-सा आदमी पास से गुजरा; वह अमीर था कि गरीब था, प्रतिष्ठित था कि अप्रतिष्ठित था, नेता था कि चोर था––कोई भी था––कोई प्रयोजन नहीं है। तब कोई सुन्दर स्त्री गुजरी, कोई सुन्दर पुरुष गुजरा, कोई सुन्दर कपड़े दिखायी पड़े––कोई प्रयोजन नहीं है। पाँच मिनट रास्ते से ऐसे गुजराना, जैसे रास्ता खाली है और जंगल से गुजर रहे हैं, वहाँ कुछ है ही नहीं। इसकी कोशिश करके देखना––सिर्फ तटस्थ––तत्काल आप पायेंगे कि रास्ता व्यर्थ हो गया। उसकी सार्थकता आपके भीतर लगाव में थी।

विद्यासागर ने एक संस्मरण लिखा है। लिखा है कि एक दिन साँझ घूमने गया था और एक मुसलमान सज्जन भी सामने चले जा रहे थे। वे भी रोज टहलते थे। अचानक एक नौकर भागा हुआ आया––और विद्यासागर बिलकुल पीछे ही

थे--उस नौकर ने आ के कहा, 'मीर साहब'--उन मुसलमान मित्र से--'आपके घर में आग लग गयी है; जल्दी चलें।' मीर साहब ने कहा कि 'चलता हूँ।' लेकिन वह वैसे चलते रहे; वही छड़ी, वही पैर की चाल; कोई फर्क न पड़ा। विद्यासागर की चाल तक में फर्क पड़ गया यह सुन के कि मीर साहब के घर में आग लग गयी है! उनकी साँस जोर से चलने लगी, और उनके पैर तेजी से चलने लगे! लेकिन देखा कि मीर साहब उसी चाल से चल रहे हैं! वह नौकर घबड़ाया, उसने कहा, 'आपने सुना नहीं? घर में आग लग गयी है!' मीर साहब ने कहा, 'सुन लिया।'... वैसे ही चलते रहे! तो विद्यासागर ने आगे बढ़ के कहा कि 'आप क्या कर रहे हैं! नौकर क्या कह रहा है, समझे आप? घर में आग लग गई है!' मीर साहब ने कहा, 'वह तो ठीक है; लेकिन अब मैं कर भी क्या सकता हूँ, घर में आग लग गई है तो। मैं अपनी चाल और क्यों खराब करूँ! और एक मौका मिला है मुझे, घर में आग लग के भी अगर मैं वैसा ही चल सकता हूँ, जैसा तब चलता था जब घर में आग नहीं लगी थी, तो उदासीनता का एक मजा आ जाये। लगी है घर में आग, ठीक है। मैं वैसे ही चल रहा हूँ, जैसे तब चल रहा था जब घर में आग नहीं लगी थी। इस चाल में जो जरा-सा भी मैं फर्क करूँ, तो वह फर्क मेरी चेतना में फर्क हो जाता है।...ठीक है।

वे वैसे ही चलते रहे!

विद्यासागर ने लिखा है कि मैं और उनका नौकर भाग के पहुँचे, कि इनको अपनी चाल सँभालने दो। हम बेचैन हो गये; घर बुझाया; आग बुझाने में लगे; रात-भर नींद न आयी। पर विद्यासागर ने लिखा है कि उस दिन जो देखा मैंने रूप मीर का, मैं समझ गया कि रात वह शांति से सोये होंगे।

क्या फर्क पड़ा होगा? जिस आदमी की चाल में फर्क नहीं पड़ा, उस आदमी की नींद में क्या खाक फर्क पड़नेवाला है!

उदासीनता का अर्थ है, एक तटस्थ वृत्ति; जो हो रहा है ठीक है; स्वीकार है; एक तथाता; उसमें कहीं कोई चुनाव नहीं है। घर में आग लग गई, इससे बेचैनी नहीं होती है। समझ लें। घर में आग नहीं लगनी चाहिए थी, यह हमारी जो अपेक्षा है, उससे बेचैनी होती है। मेरा घर नहीं जलना चाहिए था, यह छिपी अपेक्षा है। पता भी न हो, अचेतन में छिपी है: मेरा घर नहीं जलना चाहिए था। तो घर जल गया; तो वह भीतर की अपेक्षा टूटी; उससे चाल डगमगा जाती है; उससे चेतना डगमगा जाती है। लेकिन जिसकी कोई अपेक्षा नहीं, कुछ भी हो जाये, जो

भी हो जाये, उसके विपरीत कोई भाव और आग्रह नहीं है, इसलिए चेतना नहीं डगमगाती। वह चेतना का अकम्प होना ही उदासीनता है।

"ब्रह्मा से लेकर खम्भ तक, (पत्थर से ले के परमात्मा तक) सब उपाधियाँ झूठी हैं, इसलिए एक स्वरूप में रहनेवाले पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना।"

सब पद झूठे हैं, सब उपाधियाँ झूठी हैं, सब प्रतिष्ठाएँ झूठी हैं, सब बनावटी हैं; चाहे सड़क के किनारे पड़ा हुआ पत्थर हो, और चाहे आकाश में हमारा बिठाया हुआ परमात्मा हो, सब व्यर्थ है। एक उसका ही ध्यान रखना, जो झूठा नहीं है; एक उस साक्षी-भाव में ही लीन रहना। तो पत्थर भी अगर आप हो जाओ, तो भी उसी साक्षी-भाव में लीन रहना; और ब्रह्मा भी अगर बना दिये जाओ, तो भी उसी साक्षी-भाव में लीन रहना। तो फिर पत्थर और ब्रह्मा होने में कोई चुनाव नहीं लगेगा; क्योंकि वह साक्षी-भाव एक ही है। गरीब हैं, तो साक्षी-भाव में लीन रहना; अमीर हो जायें तो साक्षी-भाव में लीन रहना। तो फिर गरीबी-अमीरी कोई फर्क नहीं लायेगी; क्योंकि वह भीतर एक ही धारा साक्षी-भाव की बहती रहेगी।

सब उपाधियाँ व्यर्थ हैं। जो बाहर से उपलब्ध होता है, वह सब व्यर्थ है। और भीतर से जो उपलब्ध होता है, वही सार्थक है। लेकिन भीतर से सिवाय साक्षी-चैतन्य के और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। हर हाल में, हर स्थिति में, इस भीतर की आत्मा का ही दर्शन करते रहना।

"स्वयं ही ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं जगत् और स्वयं ही यह सब कुछ है, स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं है।"

वही, कैवल्य का भाव। जो इस चैतन्य को अनुभव करता है, जो इस साक्षी को जान लेता है, उसके लिए फिर दूसरा मिट जाता है। फिर 'दि अदर', वह दूसरा नहीं है; फिर मैं ही हूँ; फिर मेरा ही फैलाव है। क्योंकि जिस दिन मैं अपनी चेतना को जानता हूँ, उसी दिन मैं यह भी जान लेता हूँ कि आपकी चेतना मुझसे भिन्न नहीं है। जब तक मैं अपने शरीर को जानता हूँ, तब तक आप मुझसे भिन्न हैं, क्योंकि मेरा शरीर अलग है, आपका शरीर अलग है।

ऐसा समझें कि एक दिया जल रहा है; मिट्टी का दिया है। एक और दिया जल रहा है; चाँदी का दिया है। और एक और दिया जल रहा है, जो सोने का दिया है। ये तीनों दिये अगर अपने मिट्टी, चाँदी, सोने की देह पर ध्यान करें, तो तीनों अलग-अलग हैं, और तीनों समझेंगे कि तू मिट्टी का दिया, क्या मुझसे होड़

कर रहा है; मैं चाँदी का दिया! और सोने का दिया कहेगा कि क्या बातचीत लगा रखी है, मैं सोने का दिया हूँ! लेकिन ये तीनों दियों में से एक भी दिया अगर ज्योति का अनुभव कर ले कि मैं ज्योति हूँ; वह जो दिये में ज्योति जल रही है। ज्योति का अनुभव होते ही क्या यह ज्योति का अनुभव करनेवाला दिया मिट्टी के दिये से यह कह सकेगा कि तू मुझसे अलग है? क्योंकि अब वह इसकी भी ज्योति ही देख पायेगा। अब वह देह व्यर्थ हो गई जो चाँदी, सोने, मिट्टी की है। अब तो वह ज्योति ही सार्थक रह गयी, जो न चाँदी है, न सोना है, न मिट्टी है--सिर्फ ज्योति है। यह दिया, इन तीनों में से एक भी दिया यह अनुभव कर ले कि मैं ज्योति हूँ, उसके लिए सारे जगत् के दिये उसके साथ एक हो गये। अब जहाँ भी ज्योति है, वहीं मैं हूँ।

हम जब तक शरीर को देखते हैं, तब तक हम अलग-अलग हैं; और जब हम भीतर के साक्षी को देख लेते हैं, जो हमारी शाश्वत ज्योति है, तब हम एक और अभिन्न हो जाते हैं। फिर वह जो पक्षी उड़ रहा है वृक्ष के पास, उसके भीतर जो छिपा साक्षी है, वह भी मैं हूँ; और वह जो ब्रह्मा है, जो जगत् को बनाता है, और जगत् का नियन्ता है, उसके भीतर जो साक्षी छिपा है, वह भी मैं हूँ। फिर जो रास्ते पर भीख माँग रहा है, वह भी मैं ही हूँ; और वह जो सिंहासन पर विराजमान सम्राट है, वह भी मैं ही हूँ।

एक बार भीतर की ज्योति का अनुभव शुरू हो जाये, तो आकृतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं; तो देह, पदार्थ, अर्थहीन हो जाता है; फिर ज्योति ही सार्थक हो जाती है।

और एक बड़े मजे की बात है: कि चाहे दिया मिट्टी का हो, चाहे सोने का, ज्योति में कोई फर्क नहीं पड़ता। क्या मिट्टी के दिये की ज्योति मिट्टी की हो जाती है? क्या सोने के दिये की ज्योति सोने की हो जाती है? कोई भेद नहीं पड़ता: ज्योति-ज्योति ही रहती है; ज्योति एक-सी ही रहती है। ज्योति के होने में कोई भी अंतर नहीं आता, देह के कारण। किसी की ज्योति में कोई अन्तर नहीं आया है। अज्ञानों-से-अज्ञानी के भीतर भी वही ज्योति जल रही है जो बुद्ध के भीतर जलती है। पर बुद्ध को इसका पता है और अज्ञानी को इसका पता नहीं है। और पता होने में क्या फर्क है? बुद्ध ने दिये के ऊपरी रूप की फिकर छोड़ दी और भीतरी ज्योति का पता लगा लिया, और अज्ञानी अभी ऊपरी रूप--मिट्टी, सोने, चाँदी की देह से घिरा है और ज्योति की खोज नहीं कर पाया, लेकिन ज्योति मौजूद है।

मैं ही हूँ सब में फैला हुआ, ऐसी प्रतीति का नाम अध्यात्म है।

दो-तीन जरूरी सूचनाएँ हैं। पहले दिन मैंने आपसे कहा: प्रसन्न रहें, प्रफुल्लित रहें, आनन्दित रहें, हँसते रहें; जितना हँस सकें--अकारण भी--तो हँसते रहें। लेकिन एक बात मैंने जान के छोड़ दी थी। मैंने यह सूचना आपको नहीं दी कि जब मैं यहाँ बोल रहा हूँ तब आप अकारण न हँसें। लेकिन वह मैंने जान के छोड़ दी थी। मैं पता लगाना चाहता था कि दो-चार बुद्धिमान जरूर आये होंगे! वे, मैं जब बोल रहा हूँ तब भी हँसेंगे। और उनकी हँसी के कारण वे खुद भी समझने से वंचित रह जायेंगे जो मैं कह रहा हूँ और दूसरों को भी बाधा देंगे। और मेरा अनुमान गलत नहीं निकला! वे दो-चार बुद्धिमान मौजूद हैं। उनमें एक-दो तो पंजाब से हैं। मैं सुनता था कि पंजाब में कुछ बुद्धि लोगों के पास ज्यादा होती है, मगर मैंने इस पर कभी भरोसा नहीं किया था। अब भी भरोसा नहीं करता, हालांकि वे दो पंजाबी मित्र पूरी कोशिश कर रहे हैं भरोसा दिलवाने की! वह तो ठीक है, लेकिन यह मैंने कभी नहीं सोचा था कि उनके सत्संग में दो-चार गुजराती भी ऐसा करेंगे! गुजरातियों से ज्यादा बुद्धि की आशा नहीं थी, मगर वे पंजाबियों से होड़ ले रहे हैं!

मूढ़ता में भी होड़ शुरू हो जाती है! और ध्यान रखें, अति पर चला जाना सदा आसान है, मध्य में रुकने का सवाल है। या तो शक्ल-सूरत मुर्दे की तरह बना के बैठे रहेंगे और या फिर मूढ़ की तरह प्रफुल्लता प्रगट करने लगेंगे; वह भी प्रफुल्लता नहीं है।

जब मैं बोल रहा हूँ, तब अगर आप जोर से अकारण आवाज करते हैं, तो आपको पता नहीं आप क्या कर रहे हैं! आप सिर्फ लोगों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं; आप बता रहे हैं कि मैं भी यहाँ हूँ। वह कोई समझदारी नहीं है। और उससे कोई आपके ध्यान में लाभ होने का नहीं है। जब मैं बोल रहा हूँ तब तो शांत, मन की सारी वृत्तियों को अलग करके चुप हो जाना चाहिए, ताकि मैं जो कह रहा हूँ वह भीतर प्रवेश कर सके। अगर मैं कुछ बोल रहा हूँ और आप जोर से अकारण हँस देते हैं, तो जो भीतर जा रहा था वह आपकी हँसी के धक्के में बाहर चला जायेगा। वह आपने बाहर फेंक दिया। तो थोड़ा सोच के चलें। सोच के नहीं चलेंगे, तो गहरे कभी नहीं उतर पायेंगे।

दूसरी बात। कल मैंने सूचना करवायी है कि सुबह के ध्यान में ही वस्त्र उतारना चाहें तो उतारें;--उपयोगी है। लेकिन दोपहर के कीर्तन या रात के ध्यान में बिलकुल उपयोगी नहीं है। मेरे लिए न तो वस्त्रों का मूल्य है और न नग्नता का --इसे थोड़ा ख्याल में ले लें। कई बार भ्रांति होती है; कई बार ऐसा लगता है कि शायद मैं यह कह रहा हूँ कि आप नग्न हो गये तो मोक्ष मिल गया! इतना

आसान नहीं है; नहीं तो सभी पशु-पक्षी अब तक मोक्ष में होते। और अगर आपके वस्त्रों के कारण ही मोक्ष रुका है, तो दुनियाभर को नग्न करके मोक्ष में पहुँचा देने में बहुत अड़चन नहीं है!

इतना आसान और इतना सस्ता नहीं है।

जब मैं कहता हूँ कि किसी ऐसे क्षण में, जब आपको लगे कि वस्त्र बाधा डाल रहे हैं--शरीर की गतिविधि में, अभिव्यक्ति में--तब वस्त्रों को अलग कर दें; नग्नता सहयोगी होगी। लेकिन कुछ नासमझ ऐसे भी होंगे--हैं ही; कुछ नासमझ वस्त्रों को पकड़े रहते हैं, कुछ नासमझ नग्नता को पकड़ लेते हैं! वे समझते हैं कि नग्न खड़े हो गये, अब कुछ करने का है ही नहीं। तो मैं देखता हूँ एक-दो जन को, वे ध्यान-व्यान भी नहीं करते, वे सिर्फ नग्न खड़े हो जाते हैं;--पर्याप्त है।

सिर्फ नग्न खड़े हो जाने से कुछ भी न होगा। और नग्नता पर मेरा कोई जोर नहीं है। दोनों जोर एक-से हैं: कुछ लोग सोचते हैं कि वस्त्र अगर हटा दिये, तो जिंदगी गयी हाथ से; उनके मन में भी वस्त्रों का बड़ा मूल्य है। और कुछ लोग सोचते हैं वस्त्र हटा दिये तो सब कुछ मिल गया; उनके मन में भी वस्त्रों का बहुत मूल्य है।

ये दोनों एक-से हैं। कपड़ों से ढके हुए लोग और नग्न साधु एक-से हैं, उनकी बुद्धि एक-सी है। उसमें कोई बहुत अन्तर नहीं है। दोनों की मान्यता यह है कि वस्त्र बड़े कीमती हैं।

इसलिए नहीं कहता हूँ कि आप वस्त्र हटा दें कि नग्न होने से मोक्ष मिल जायेगा। नग्न तो आप हैं ही; वस्त्रों के भीतर हैं। इससे क्या फर्क पड़नेवाला है: वस्त्रों के बाहर हो जायेंगे या वस्त्रों के भीतर हैं! जब मैं कहता हूँ कि वस्त्रों को हटाने की उपयोगिता आपको प्रतीत हो भीतर, शरीर की ऊर्जा जग जाये, स्वाँस के तीव्र प्रहार से बायोएनर्जी, जैविक ऊर्जा जगने लगे, और आपको लगे कि वस्त्र बाधा डाल रहे हैं, तो ही अलग करें; नहीं तो कोई मतलब नहीं है। और दोपहर के कीर्तन में बिलकुल भी अलग करने की ज़रूरत नहीं है; न रात्रि के ध्यान में अलग करने की ज़रूरत है। और अगर कोई ज़िद करेगा दोपहर के कीर्तन में या रात, कैम्पस से उसे हम अलग करेंगे।

सुबह के ध्यान में आप पूरी तरह, क्योंकि उसकी वैज्ञानिक अर्थवत्ता है। जब गहरी श्वाँस ली जाती है और शरीर की ऊर्जा जोर से जगने लगती है, तो वस्त्र बाधा डालते हैं। तो हटा दें। और फिर दूसरा जो चरण है, जिसमें मैं आपको कहता हूँ कि जो भी आपके मन में आ जाए उसे रोकें मत, सब तरह का सप्रेशन छोड़ दें, उसमें अगर आपके मन में आ जाये 'वस्त्र को हटाना है', तो हटा दें; लेकिन कीर्तन में कोई ज़रूरत नहीं है; रात के ध्यान में भी कोई ज़रूरत नहीं है।

नग्नता कोई सिद्धान्त मत बना लें; नग्नता एक उपाय है।

तीसरी बात। कुछ विदेशी संन्यासी-संन्यासिनें कुएँ पर नग्न स्नान करते होंगे, तो कुछ भारतीय मित्र भीड़ लगा के वहाँ देखने खड़े हो जाते हैं। ऐसी नासमझी न करें। नहाना हो तो नग्न हो के आप भी नहा लें। लेकिन कोई दूसरा नग्न हो के नहा रहा है, उसे देखने आप जाते हैं, तो आप अपने मन की न-मालूम कितनी दबी हुई रुग्ण वृत्तियों की खबर देते हैं।

दो तरह के पागल हैं। एक ऐसे पागल हैं जो दूसरों को नग्न देखना चाहते हैं, और ऐसे भी पागल हैं जो खुद नग्न हो के दूसरों को बताना चाहते हैं। मनोविज्ञान में इन सब पागलों के अलग-अलग रोगों के नाम हैं। पश्चिम में ऐसे बहुत-से लोगों पर मुकदमा चलता है अदालतों में, जो अचानक अपने को नग्न करके किसी को दिखा देते हैं। उनको एक्सीबिशनिस्ट कहते हैं; प्रदर्शनकारी। यहाँ भी ऐसे एकाध दो मित्र ऐसे आ गये हैं, जिनका कुल मजा इतना मालूम पड़ता है कि उनके शरीर का दर्शन दूसरों को हो जाये। और ये अक्सर ऐसे लोग होते हैं जिनका शरीर दर्शन के योग्य होता भी नहीं। दर्शन के योग्य हो तो कोई-न-कोई उनके शरीर का दर्शन करने खुद ही पहुँच जायेगा। जिनका शरीर दर्शन के योग्य नहीं होता, वे भीड़-भड़के में नग्न खड़े हो जाते है, कि कोई देखने तो उनको पहुँचता नहीं,...ऐसे ही कोई देख ले!

इस तरह की बीमारियों का कोई प्रयोजन नहीं है यहाँ। और कुछ लोग होते हैं जो दूसरे को नग्न देखने में लगे रहते हैं! ये भी रुग्ण हैं।...ये भी रुग्ण हैं। किसी से आपका लगाव है, किसी से आपका प्रेम है और इतनी आत्मीय निकटता है, तो वस्त्र अपने-आप गिर जाते हैं और व्यक्ति एक-दूसरे को नग्न,...नग्न अनुभव नहीं करते उस प्रेम में, उस प्रेम में वे निकट अनुभव करते हैं; वस्त्रों की बाधा भी हट जाती है। लेकिन जिससे आपका कोई लगाव नहीं है, उसको जा के नग्न देखना घृणित है, क्षुद्र है, और आपके भीतर छिपे हुए रोग की खबर देता है।

मैं रास्ते में आ रहा था। तो मेरे साथ इंगलैंड की एक संन्यासिनी है, विवेक, वह थी। बीच में एक जगह गाड़ी खड़ी हुई नाके पर, तो चार-पाँच गधे गाड़ी के पास आ के खड़े हो गये! तो मैंने विवेक को पूछा कि इंग्लैंड में तेरे, इतने ही बड़े गधे होते हैं कि इनसे भी बड़े गधे होते हैं? तो उसने कहा, 'स्लाइटली बिगर'; थोड़े बड़े होते हैं! मैंने उसको कुछ कहा नहीं, क्योंकि मैं तो मजाक ही कर रहा था। लेकिन फिर कल मुझे खबर मिली कि यहाँ कुएँ के आसपास भीड़ लगा के लोग खड़े होते हैं, तो आज मैं उससे कहनेवाला हूँ कि तू गलती में है, भारत का मुकाबला करना मुश्किल है; गधे तो यहीं बड़े होते हैं!

चौथी बात। जब तीस मिनट ध्यान के प्रयोग के बाद मैं कहता हूँ, 'चुप हो जायें, मौन हो जायें', तब भी अगर आप चुप और मौन नहीं हो पाते, तो आप ध्यान नहीं कर रहे हैं, आप हिस्टीरिया में हैं। इस फर्क को थोड़ा समझ लें। जब मैं कहता हूँ 'दस मिनट तीव्र श्वास लें', तो आपको मालिक होना चाहिए। जब मैं कहता हूँ, 'दस मिनट पागल हो जायें', तो आपको मालिक होना चाहिए पागलपन का भी। आप पागल हो रहे हैं, पागलपन आप पर नहीं आ रहा है। आप अपनी निजता से, अपने भीतर जो है उसे उलीचकर बाहर फेंक रहे हैं। और जब मैं कहता हूँ 'आप दस मिनट 'हू' का हुँकार करें, तो आप कर रहे हैं। यह हुँकार आपको न पकड़ ले, नहीं तो आप गुलाम हो गये। और फिर जब मैं कहता हूँ 'स्टॉप कम्पलीटली, रुक जायेंगे बिलकुल', तो जो आदमी नहीं रुकता, वह हिस्टेरिक है। उसका मतलब यह है कि उसके बस में नहीं है मामला, अब...अब वह रुक नहीं पा रहा है; वह चिल्लाये चले जा रहा है, रोये चले जा रहा है। मतलब, रोना ऊपर हावी हो गया। ...यह नहीं चलेगा। वह आदमी रुग्ण है, वह ध्यान नहीं कर रहा है।

ध्यान का मतलब है आपकी मालकियत स्थापित करनी है। और अगर मालकियत स्थापित नहीं होती तो हिस्टीरिया में और ध्यान में फिर कोई फर्क नहीं रह जायेगा। तो जब मैं कहता हूँ 'रुक जायें', तत्क्षण रुक जाना है। उसमें एक क्षण की भी देरी खबर दे रहे है कि आप मालकियत खो दिये और जो आप कर रहे थे वह मालिक हो गया; चिल्ला रहे थे तो चिल्लाने ने आपको पकड़ लिया; अब आप छोड़ नहीं पा रहे। अगर चिल्लाना आपको पकड़ ले और आप न छोड़ पायें, तो फिर आप शांति में प्रवेश न कर सकेंगे।

मालकियत शांति में ले जाती है।

तो दो-चार लोग हैं कि मैं कहता रहता हूँ 'चुप हो जायें', वे चुप ही नहीं होते; वे सोचते हैं कि ध्यान इतना लग गया है कि अब चुप कैसे हों! ध्यान नहीं लगा है। और आज अगर ऐसा किया तो निकाल हम उन्हें बाहर करेंगे। क्योंकि उनके इलाज की ज़रूरत है, उनको ध्यान की ज़रूरत नहीं है। और जब तीस मिनट के बाद आप सोचते हैं कि अब खाँसी आ रही है, फलाँ हो रहा है; इस भूल में मत पड़ें, खाँसी इन्फेक्शियस बीमारी है। एक आदमी खाँस देता है, दस-पाँच मूढ़ उसका अनुगमन करते हैं। उसकी खाँसी भला वास्तविक रही हो, ये दस-पाँच अनुगमन करते हैं। क्योंकि कल रात आपने देखा खाँसी भी रुक गई। वह कैसे रुकी? जब मैंने कहा 'खाँसे भी नहीं', तो वह कैसे रुकी? वह झूठी थी।

खाँसी भी नहीं चलने देंगे। और जरा प्रयोग करके देखें, दस मिनट में प्राण नहीं निकल जायेंगे। आपको पता नहीं है कि मन कितनी तरकीबें करता है! मन

कहता है 'बड़ी खाँसी आ रही है; खाँस लो।' वह उसने विघ्न डाल दिया; आप खाँस लिये। आप सोचे 'क्या करें, खाँसी तो मजबूरी थी'। यह मजबूरी नहीं थी।

आप ख्याल करते हैं कि मैं यहाँ डेढ़ घंटे बोलता हूँ तब आपको एक दफे खाँसी नहीं आती! और जब दस मिनट आपको चुप रहने को कहता हूँ तो एकदम खाँसी आने लगती है! अगर खाँसी ही आनी चाहिये तो उसी अनुपात में चलनी चाहिए—पूरे वक्त। वह नहीं चलती। सिनेमा में बैठे हैं, तीन घंटे खाँसी नहीं आयेगी। क्या हो क्या जाता है? और मंदिर में गये, एकदम खाँसी शुरू! यह मंदिर में कोई खाँसी के कीटाणु बैठे हुए हैं! खाँसी सिनेमागृह में चले, समझ में आ सकता है, क्योंकि वहाँ कीटाणु हैं काफी। मंदिर में चलती है, जहाँ बिलकुल सब स्वच्छ, सफाई है!

कारण मानसिक है; यह खाँसी शारीरिक नहीं है जो आपको आती है। यह मानसिक है; इसको रोकें। बिलकुल रोकें। दस मिनट में क्या होगा, ज्यादा-से-ज्यादा प्राण ही निकल जायेंगे ना! किसी के निकलते कभी सुने नहीं गये कि दस मिनट खाँसी रोक ली तो उनके प्राण निकल गये। दस मिनट खाँसने से भला निकल गये हों, खाँसी रोकने से कभी नहीं निकले हैं। कृपा करें, बिलकुल रोक दें; बिलकुल मुर्दा हो जायें। जब मैं कहता हूँ 'स्टाप', 'रुकें', तो रुक जायें, बिलकुल जड़ हो जायें; नहीं तो काम व्यर्थ हो जाता है; वह शक्ति जगती है, उसको भीतर काम करने का मौका नहीं मिल पाता। खाँसी-वाँसी में निकाल के अपने घर वापिस लौट गये। फिर मेरे पास आ के कहते हैं कि कुछ हुआ नहीं। खाँसो, इतना भी क्या कुछ कम हो रहा है! मेरे पास आते हैं कि 'ध्यान नहीं हुआ' और मैं जानता हूँ कि वे खाँस रहे थे पूरे वक्त। अब ध्यान भी क्या करे!

थोड़ा मालकियत स्थापित करें। जब मैं कहता हूँ 'चुप', तो यहाँ ऐसा सन्नाटा हो जाना चाहिए कि यहाँ कोई भी नहीं है; मिट गये हैं। तो ही परिणाम होगा।

जब मैं अंग्रेजी में बोलना शुरू करता हूँ, तो आप उठ नहीं सकते हैं, बैठ जायें वहीं। थोड़ी समझ तो बरतें! जब मैं हिंदी में बोल रहा हूँ तो जो हिंदी नहीं समझ सकते, वे शांति से बैठे हुए हैं। और जब मैं अंग्रेजी में बोलता हूँ तो जो अंग्रेजी नहीं समझते, वे फौरन उठे और चले! इससे बड़ा अधैर्य और मूढ़ता पता चलती है। यहाँ विदेशी मित्र भी हैं पचास। वे भी बैठे सुन रहे हैं। उनके चेहरों की तरफ देखें। जब मैं हिंदी में बोल रहा हूँ तब जरा उनके चेहरों की तरफ देखें; आपके चेहरे से भी ज्यादा समझते हुए उनके चेहरे मालूम पड़ते हैं; क्यों? समझ वे बिलकुल नहीं रहे हैं। लेकिन इतना भी, इतना धैर्य कि हम नहीं समझ पा रहे हैं, तो भी कोई काम

की बात कही जा रही है; तो मौन से उसे सुन तो लें। समझ न पायेंगे, लेकिन यह घंटेभर का मौन तो उपयोगी हो जायेगा। समझ न पायेंगे तो भी घंटेभर का यह धैर्य भी तो ध्यान है। लेकिन अगर मैं अंग्रेज़ी में बोलना शुरू करता हूँ कि बस आप उठे। उसका मतलब है कि न धैर्य है, न थोड़ा शांत बैठने की प्रतीक्षा है, न दूसरों के बाबत, कि दूसरों को बाधा पड़ेगी इसकी कोई चिंता है।

थोड़ा सोचें!

मेरे एक परिचित कवि स्वीडन गये हुए थे; उर्दू के कवि हैं। वे मुझे कह रहे थे कि मैं उर्दू में कविता पढ़ता, कोई समझ न पाता, लेकिन हज़ारों लोग शांत बैठे रहते। वे मुझसे बोले कि 'मैं तो हैरान हुआ, मैं तो समझ रहा था कि कोई सुनने नहीं आयेगा; अगर कोई सुनने भी आया तो लोग चले जायेंगे वापिस।' तो उन्होंने पूछा लोगों से कि 'आपकी समझ में तो नहीं आता, फिर आप चुप क्यों बैठे रहते हैं?' तो उन्होंने कहा कि 'समझ में तो हमें नहीं आता, लेकिन जब आप इतने भाव से गाते हैं, तब आपकी आँखें, आपका हाथ, आपकी मुद्रा, वह हमारी समझ में आती है, कि जरूर कोई काम की और गहरी बात कही जा रही है। तो इतने शिष्ट तो हम हैं कि आपके इस भाव में, अवस्था में हम बाधा न डालें।'

तो यह नहीं चलेगा।

रात मैं देखता हूँ कि कुछ बाहर के लोग, मालूम पड़ता है, आ जाते हैं। जैसे ही मैं अंग्रेज़ी में बोलना शुरू करता हूँ, वे चल पड़ते हैं! आज रात कोई भी चल नहीं सकेगा। आपके पास से कोई उठे, उसे फौरन बिठा दें। और अगर वह चलता है तो कल रात से मैं प्रवेश नहीं करने दूँगा; मैं हिंदी में बोलने के पहले कह दूँगा कि जो अंग्रेज़ी में उठनेवाले हैं, वे पहले उठ जायें।

जीवन को एक अनुशासन, एक व्यवस्था देने की ज़रूरत है, नहीं तो कुछ नहीं हो पायेगा।

सातवाँ प्रवचन

१६ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
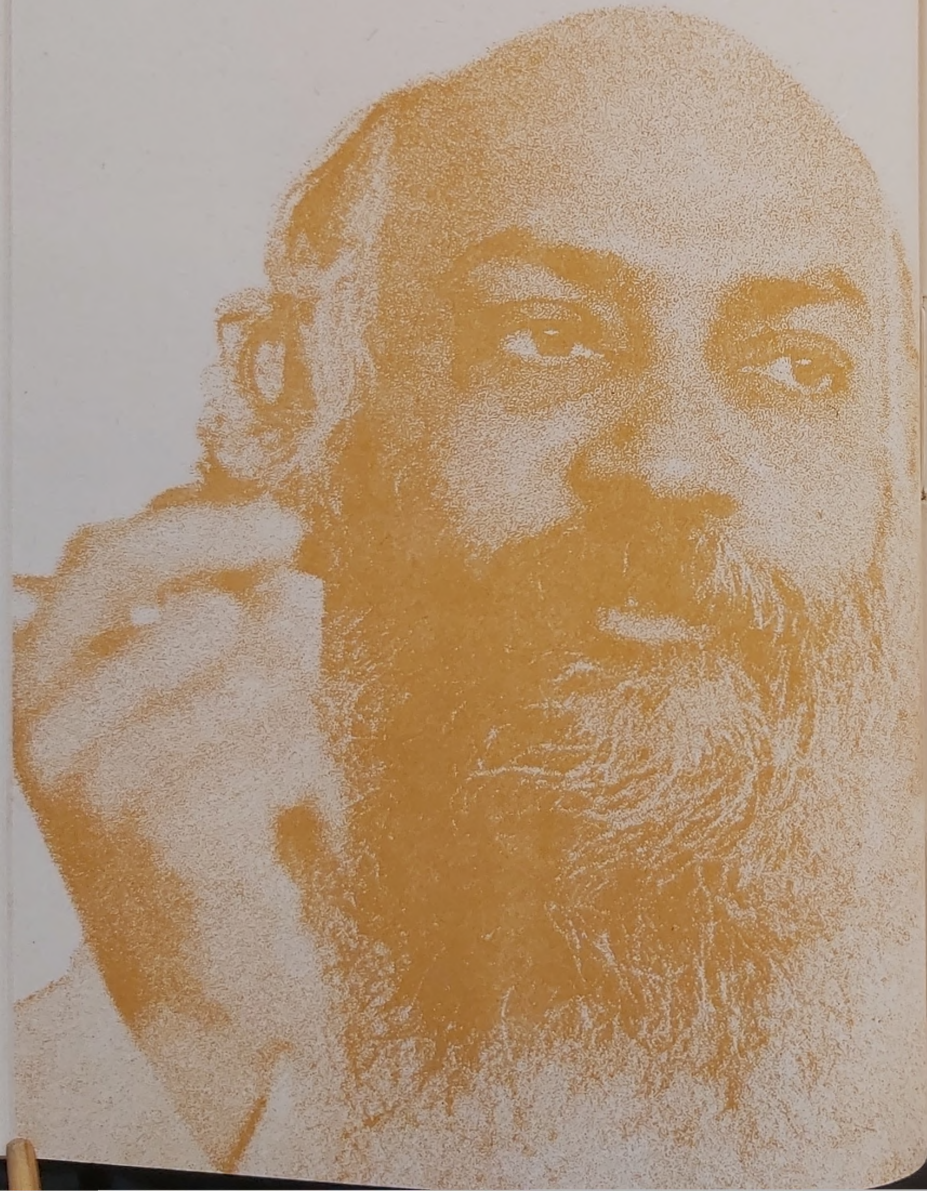
स्वात्मन्यारोपितशेषाभासवस्तुनिरासितः।
स्त्रयमेव परब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम्।।२१।।
असत्कल्पो विकल्पो यं विश्वमित्येकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकरे निर्विशेषेभिदा कुतः।।२२।।
द्रष्टृ दर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये।
कल्यार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि।।२३।।
तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम्।
अद्वितीये परे तत्वे निर्विशेषेभिदा कुतः।।२४।।
एकात्मके परे तत्वे भेदकर्ता कथं वमेत्।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः।।२५।।

अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रिया शून्य परब्रह्म बन सकता है।

एक आत्मारूप वस्तु में यह जगत्‌रूप जो विकल्प (भेद) जान पड़ता है, वह लगभग झूठा है, क्योंकि निर्विकार, निराकार और अवयवरहित वस्तु में भेद कहाँ से आ सकता है।

चिदात्मा द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य आदि भावों से रहित है, निर्दोष है, तथा प्रलयकाल के समुद्र की तरह परिपूर्ण है।

जिस प्रकार प्रकाश में अन्धकार विलीन हो जाता है, वैसे ही अद्वितीय परम तत्व में भ्रान्ति कारण विलय हो जाता है। वह अवयव रहित है, इससे उसमें भेद कहाँ से हो सकता है।

यह परम तत्व एकस्वरूप ही है, उसमें भेद कैसे रह सकता है? सुषुप्ति अवस्था केवल सुखरूप है। उसमें भेद किसने देखा है?।

बड़े महत्त्वपूर्ण सवाल को इस सूत्र में उठाया गया है। निरंतर आदमी के मन में यह सवाल उठता रहा है--सदियों से, सनातन से--कि जिस संसार में हम उलझे हैं, जिस संसार में हम दुःख और संताप से घिर गये हैं, उससे मुक्ति कैसे हो? और यह संसार, जिसमें हम घिर गये हैं, वस्तुतः क्या है? यह अंधकार जिसमें हम डूब गये और खो गये हैं, इसका स्वरूप क्या है? क्योंकि बिना इसके स्वरूप को जाने, इससे छूटने का कोई उपाय नहीं हो सकता।

जिससे छूटना हो, उसे ठीक-से जान ही लेना पड़ेगा। अज्ञान में ही बंधन निर्मित होते हैं। तो अगर खोलना हो बंधनों को, तो ज्ञान से ही उनकी गाँठ खुल सकती है।

ऐसा हुआ एक दिन कि बुद्ध सुबह-सुबह अपने भिक्षुओं के बीच आये। तो हाथ में ले रखा था एक रूमाल रेशम का। चकित हुए भिक्षु! क्योंकि कभी वे कुछ भी लेकर हाथ में भिक्षुओं के बीच बोलने नहीं आते थे। फिर बैठ गये सामने और उस रूमाल पर उन्होंने एक गाँठ बाँधी; दूसरी गाँठ बाँधी, पाँच गाँठें बाँधी, और फिर पूछा भिक्षुओं से कि यह रूमाल मैं लेकर आया था, तब इसमें कोई गाँठ न थी, अब इसमें पाँच गाँठें हैं; पूछता हूँ तुमसेः यह रूमाल बदल गया, या वही है?

निश्चित ही कठिनाई हुई होगी। क्योंकि यह कहना भी गलत है कि रूमाल बदल गया। क्योंकि रूमाल बिलकुल वही है। गाँठ लगने से रूमाल के स्वभाव में रत्तीभर भी अंतर नहीं पड़ा। जितना था, जैसा था, वैसा ही है रूमाल अब भी। लेकिन यह कहना भी उचित नहीं है कि रूमाल बिलकुल नहीं बदला; क्योंकि तब रूमाल खुला था, अब गाँठों से घिरा है। इतनी बदलाहट ज़रूर हो गयी है।

तो एक भिक्षु ने खड़े होकर कहाः बड़ा कठिन सवाल पूछते हैं! रूमाल लगभग बदल गया है!

इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि यह शब्द जल्दी ही इस सूत्र में आयेगा, और तब समझना ज़रूरी हो जायेगाः लगभग बदल गया है! बदला भी नहीं है, और बदल भी गया है। बदला नहीं है, अगर हम इसके स्वरूप को देखें; और बदल गया है,

अगर हम इसके शरीर को देखें। नहीं बदला है, अगर इसकी आत्मा हम समझें; बदल गया है, अगर इसकी देह को हम देखें। नहीं बदला है भीतर से, लेकिन बाहर से गाँठ लग गई है और बदलाहट हो गयी है।

आकार बदल गया है, आकृति बदल गयी है! नहीं बदला है, अगर इसके परम स्वभाव को हम समझें; लेकिन बदल गया है, अगर इसके व्यवहार को हम देखें। क्योंकि जो रूमाल खुला था, वह काम में आ सकता था; जिस रूमाल में पाँच गाँठें लग गईं, वह काम में भी नहीं आ सकता। वह रूमाल भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूमाल तो किसी उपयोगिता का नाम था।

ध्यान रहे, हम जब किसी चीज को कोई शब्द देते हैं तो वह उपयोगिता का नाम होता है। मजबूरी है, कठिनाई होगी भाषा में, इसलिए जब उपयोगिता नहीं होती है, तब भी हम वही नाम देते हैं।

जैसे समझेंः पंखा आप करते हैं गर्मी में, तो आप कहते हैंः पंखा। लेकिन जब पंखा रखा हो, तब उसको पंखा नहीं कहना चाहिए। पंखा का मतलब हुआ जिससे हवा की जा रही है; जो पंख का काम कर रहा है। लेकिन जब रखा है तब तो हवा नहीं की जा रही है। तो उसे पंखा नहीं कहना चाहिए।

पैर वो हैं जिनसे आप चलते हैं। लेकिन जब आप नहीं चलते हैं, तब उन्हें पैर कहना नहीं चाहिए। फंक्शनल, उनका क्रिया का नाम होना चाहिए। लेकिन कठिन हो जायेगी भाषा। चलते पैर के लिए अलग नाम, बैठते पैर के लिए अलग नाम, तो बहुत मुश्किल होगा। इसलिए काम चलाते हैं।

तो पंखे के दो अर्थ होते हैंः एक पंखा वह है जिससे हवा की जाती है, या जिससे हवा की जा सकती है; दोनों अर्थों में हम प्रयोग करते हैं। जिससे हवा हो सकती है, जिसमें संभावना छिपी है।

रूमाल का कोई उपयोग है, उसमें कुछ बाँधा जा सकता है। लेकिन जो रूमाल खुद ही बंधा हो, उसमें अब कुछ नहीं बाँधा जा सकता।

तो बुद्ध ने कहा एक और सवाल मुझे पूछना है, और वह यहः कि मैं इस रूमाल को खोलना चाहता हूँ, तो क्या करूँ?

और ऐसा कह के बुद्ध ने रूमाल के दोनों छोर पकड़ के जोर से खींचना शुरू कर दिया। गाँठें और छोटी हो गयीं; और बारीक हो के कस गयीं।

एक भिक्षु ने चिल्लाकर कहाः क्षमा करें! जो आप कर रहे हैं, उससे तो रूमाल और बंध जाएगा, और खोलना कठिन हो जायेगा!

तो बुद्ध ने कहाः एक बात जाहिर हो गयी कि कुछ भी करने से रूमाल नहीं

खुल जायेगा। मैं कुछ कर रहा हूँ। लेकिन तुम कहते हो कि इस करने से रूमाल और बंधता जा रहा है, तो क्या करने से रूमाल खुलेगा?

तब एक भिक्षु ने कहा: पहले जानना होगा कि गठान कैसे बंधी है? क्योंकि जब तक गाँठ के स्वरूप को न समझा जा सके, तब तक उसे खोला नहीं जा सकता। तो पहले देखना होगा कि गाँठ बंधी कैसे है? जो बंधने का ढंग है, उसके विपरीत ही खुलने का ढंग होता है। और जब तक हमें पता न हो कि बंधने का ढंग क्या है, तब तक ना-कुछ करना बेहतर है, बजाय कुछ करने के--क्योंकि करने से जाल और उलझ सकता है; गाँठ और मुश्किल हो सकती है; सुलझाना और कठिन हो सकता है।

हमारी चेतना पर भी गाँठें हैं। और स्थिति यही है: कि हम बिलकुल बदले नहीं हैं, और बदल गये हैं। हमारा स्वभाव ठीक वैसा ही है जैसा परम ब्रह्म का, लेकिन हम पर कुछ गाँठें हैं। और वे गाँठें जब तक न खुल जाएँ, तब तक हम उस परम स्वभाव का अनुभव नहीं कर सकते जो ग्रन्थिरहित है।

महावीर के लिए एक नाम दिया है जैनों ने, बड़ा प्रीतिकर है; वह नाम है: निर्ग्रंथ। बुद्ध तो जब भी महावीर के लिए कुछ कहते हैं, तो हमेशा निगंठ नातपुत्त:, नाथ परिवार में पैदा हुआ वह लड़का, जो निर्ग्रंथ हो गया; नाथ जाति में पैदा हुआ पुत्र, जो निर्ग्रंथ हो गया; जिसकी गाँठें कट गईं; जिसकी गाँठें खुल गईं।

यह 'निर्ग्रंथ' शब्द बड़ा कीमती है। ब्रह्म है निर्ग्रंथ, ग्रन्थियों से रहित; और हम हैं सग्रंथ, ग्रंथियों के सहित। इतना ही अंतर है।

पर गाँठ कैसे लगी है, और क्या है, इसके स्वरूप को समझ लेना जरूरी है। इसके स्वरूप के संबंध में ही यह सूत्र है। सूत्र को हम समझें, इसमें कुछ बड़ी कीमती बातें हैं।

"अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रिया शून्य पर-ब्रह्म बन जाता है।"

गाँठ जब रूमाल पे लगती है तो बाहर से कहीं से आती नहीं। कभी आपने गाँठ अकेली देखी है, बिना रूमाल के? कभी आपने गाँठ अकेली देखी है, बिना रस्सी के? शुद्ध गाँठ आपने कभी देखी? जब भी होगी किसी चीज पर होगी, अकेली गाँठ कहीं भी नहीं हो सकती। इससे एक बात जाहिर होती है कि गाँठ बाहर से नहीं आ सकती। हो ही नहीं सकती अकेली तो बाहर से आयेगी कैसे!

गाँठ बाहर से नहीं आती। और रूमाल में भी, जब बंधा नहीं था तो गाँठ

नहीं थी। इसलिए बड़ा मजेदार सवाल है! गाँठ बाहर से आ नहीं सकती, क्योंकि किसी ने कभी कोई शुद्ध गाँठ नहीं देखी है। होती भी नहीं। किसी चीज पर होती है, अकेली कभी नहीं होती। और रूमाल अभी खाली था, उस पर कोई गाँठ नहीं थी।

तो गाँठ आयी कहाँ से? क्या रूमाल के भीतर से आयी? रूमाल में कोई गाँठ न थी--अभी, क्षणभर पहले, तो उसके भीतर से कैसे आ सकती है? बाहर से आयी नहीं, क्योंकि बाहर कभी गाँठ पायी नहीं जाती। न बाहर से आयी है, न भीतर से आयी है, रूमाल ने अपने पर आरोपित की है; रूमाल ने निर्मित की है। निर्मित का अर्थ यह है कि रूमाल के स्वभाव में नहीं थी, रूमाल ने अर्जित की है।

संसार जो है, हमारा अर्जन है, अचीवमेंट है; हमने बड़ी चेष्टा करके निर्मित किया है। हमने बड़े उपाय किये हैं, तब निर्मित किया है। गाँठ होती नहीं कहीं अस्तित्व में, रूमाल ने बड़ी चेष्टा करके अपने ऊपर आरोपित की है।

इस चेतना में जो कुछ भी दिखायी पड़ता है, वह आरोपण है। आपको जो भी भीतर अनुभव में आता है, वह सब आरोपण है।

जैसा हम पीछे बात कर रहे थे: कि दर्पण के सामने चीजें आती हैं, दर्पण में दिखायी पड़ती हैं। अगर दर्पण एक भूल करने लगे जो हमने की है, तो दर्पण भी इसी मुसीबत में पड़ जायेगा जिसमें हम पड़ गये हैं। लेकिन दर्पण वह भूल नहीं करता। हालांकि दर्पण-जैसी चीजें हैं जो ऐसी भूल करती हैं। जैसे फोटो प्लेट, या फोटो की फिल्म।

कैमरे के भीतर जो फिल्म छिपी है, उसमें और दर्पण में थोड़ा-सा फर्क है, बाकी एक-जैसे हैं दोनों। दर्पण में भी प्रतिबिंब बनता है, कैमरे की फिल्म में भी प्रतिबिंब बनता है; लेकिन दर्पण प्रतिबिंब को पकड़ता नहीं और फिल्म प्रतिबिंब को पकड़ लेती है। इसलिए फिल्म पर जो भी प्रतिबिंब बना, वह पकड़ जाता है और उसके पकड़ने के साथ ही फिल्म बेकार हो जाती है। अब दूसरा प्रतिबिंब नहीं पकड़ा जा सकता; जगह भर गयी।

आईना कभी भरता नहीं: कितने ही प्रतिबिंब बनते हैं, आईना खाली बना रहता है। प्रतिबिंब आते हैं, चले जाते हैं; दर्पण छोड़ता चला जाता है।

दर्पण का त्याग सतत है। वह छोड़ता चला जाता है। भोग पकड़ता नहीं। आपका चेहरा दिखायी पड़ता है, दर्पण छोड़ देता है। आप हटे कि भूल गया, जैसे आप कभी सामने आये ही न हों।

मनुष्य की जो चेतना है, वह दर्पण की भाँति है; और मनुष्य का जो मन है, वह फिल्म की भाँति है। मनुष्य की जो आंतरिक चेतना है वह दर्पण की भाँति

है, उस पर कुछ भी बनता नहीं। लेकिन मनुष्य के पास एक यंत्र और है मन का। मन बिलकुल फोटो प्लेट की तरह है; उस पर जो भी बन जाता है, वह पकड़ जाता है।

सच तो यह है कि मन अगर न पकड़े, तो मन की उपयोगिता ही नष्ट हो जाये। इसलिए हम कहते हैं, अच्छी स्मृति कीमती चीज है। शिक्षा, समाज, सब अच्छी स्मृति पर टिका है। वह अच्छी स्मृति किसकी है? वह मन की है जो पकड़ता है।

मन बिलकुल ही एक यंत्र है, फोटो प्लेट की तरह। वह फिल्म की तरह पकड़ता जाता है। जो भी उसके सामने आता है, पकड़ लेता है। जो काम का नहीं है, वह भी पकड़ लेता है। जो बेकाम का है, वह भी पकड़ लेता है। जो व्यर्थ कचरा है, वह भी पकड़ लेता है। जिसकी कोई ज़रूरत नहीं, वह भी पकड़ लेता है।

फिल्म चुनाव नहीं कर सकती। आपने कैमरे में एक्सपोज़ किया, तो वह चुनाव नहीं कर सकती कि क्या लें और क्या छोड़ दें? जो भी सामने पड़ता है, वह पकड़ जाता है; जो भी सामने आ जाता है, वह पकड़ जाता है।

तो मन आपका पकड़ता चला जाता है। आपको पता नहीं कि दिनभर में आप मन में कितना जाल इकट्ठा कर लेते हैं! और अब तो मनसविद् कहते हैं कि जो आप जानते हैं, उतना ही मन नहीं पकड़ता; जो आप नहीं जानते हैं, वो भी पकड़ता है। जैसे अब यहाँ बैठे हैं। मैं बोल रहा हूँ, आप मुझे सुन रहे हैं। आपको ख्याल में भी नहीं कि एक पक्षी आवाज करके उड़ गया! आपको याद भी नहीं कि सड़क पर एक हॉर्न बजा! आपको याद भी नहीं, लेकिन वह भी मन पकड़ रहा है। अगर आपसे कोई पूछे कि सुनते वक्त एक पक्षी उड़ा था, आप कहेंगे मुझे कुछ भी पता नहीं। लेकिन आपको बेहोश किया जाये, सम्मोहित किया जाये, और फिर पूछा जाये, आप कहेंगे हाँ, मुझे पता है: पक्षी भी उड़ा था, सड़क पर हॉर्न भी बजा था।

इसको मनस्विद कहते हैं 'सब्लिमिनल मेमोरी'। मन के पीछे छिपा हुआ अर्ध चेतन मन है, वह पूरे समय पकड़ रहा है; जो आप नहीं जानते, वह भी। आप रात सो रहे हैं, तब भी आपका जो अर्धचेतन मन है, वह पकड़ रहा है। वह पकड़ता चला जा रहा है। नींद में भी बाहर जो घटनाएँ घट रही हैं, वह भी पकड़ता जा रहा है।

आप चकित होंगे जानकर कि नवीनतम वैज्ञानिक खोजें यह कहती हैं कि बच्चा माँ के गर्भ में भी स्मृति निर्मित करता रहता है। बाहर जो घटित हो रहा है, वह पकड़ता जाता है। योग तो बहुत पुराने दिनों से यह मानता है कि माँ पर जो घटनाएँ घटती हैं, उसके आसपास, बच्चा उन्हें पकड़ लेता है, और निर्मित होता है। लेकिन पश्चिम का विज्ञान अब इस बात को मानने के करीब आ रहा है।

और जैसे-जैसे समझ बढ़ती है, बड़ी मुश्किल होती जाती है। अब मनोविज्ञान कहता है कि चार साल की उम्र में बच्चा अपना पचास प्रतिशत ज्ञान पकड़ लेता है।

पचास प्रतिशत! अस्सी वर्ष का हो के जब वह मरेगा, तब तक जितना ज्ञान इकट्ठा करेगा, उसमें से पचास प्रतिशत उसने चार साल की उम्र में पकड़ लिया, बाकी पचास प्रतिशत बाद में पकड़ेगा। तो असली जिंदगी का आधा हिस्सा, आधी उम्र, चार साल में पूरी हो गयी।

ज्ञान के हिसाब से आप चार साल में आधी उम्र समाप्त कर चुके; आधे बूढ़े हो गये। लेकिन योग कहता है कि जिस दिन हम, गर्भ के भीतर बच्चा जो पकड़ता है, उसको भी समझ लेंगे, उस दिन शायद हालत और भी भिन्न हो जाये।

शायद बड़ा प्रतिशत बच्चा गर्भ में ही पकड़ लेता है। लेकिन बच्चे को भी कोई याद नहीं है; सब्लिमिनल है; उसके चित्त में है। इस पर अभी, पश्चिम की सरकारों में कई सरकारों के सामने सवाल है; क्योंकि यह सब्लिमिनल जो ज्ञान है, अर्धचेतन में पकड़ी गयी जो जानकारियाँ हैं, इनका शोषण किया जा सकता है: खतरनाक शोषण किया जा सकता है।

आप फिल्म देखते हैं। तो अभी आपको फिल्म में जो प्रचार करना पड़ता है: कि फलाँ सिगरेट पियें; कि फलाँ साबुन वापरें; कि यह करे, वो करें—यह आपको दिखाना पड़ता है सामने। उस दिखाने से थोड़ी-सी बाधा होती है; क्योंकि आप समझते हैं यह विज्ञापन है। इसलिए आप उतने प्रभावित नहीं होते, जितने प्रभावित हो सकते थे। आप समझते हैं यह साबुन जो बतायी जा रही है: कि एक सुन्दरी साबुन को हाथ में ले के कह रही है कि मेरे सौंदर्य का निखार इसी साबुन की कृपा से है! वो आप जानते हैं कि यह मामला कोई ज्यादा दूरगामी नहीं है। फिर भी बार-बार दोहराने से पकड़ता है।

लेकिन अब 'सब्लिमिनल एडवर्टाइजमेंट' की खोज हो गई है। अब फिल्म के परदे पर आपको दिखायी ही नहीं पड़ेगा कि लक्स टॉयलेट साबुन का उपयोग करें; दिखायी ही नहीं पड़ेगा। फिल्म चलती रहेगी और फिल्म के बीच में इतनी तेजी से, सैकिंड के हज़ारवें हिस्से में, लक्स टॉयलेट का विज्ञापन निकल जायेगा। आपकी आँखें देख ही नहीं पायेंगी, इतनी तेजी से निकल जायेगा। लेकिन आपका मन पकड़ लेगा।

यह खतरनाक है। अनेक मुल्कों की सरकारें विचार रही हैं कि इस पर पाबन्दी लगायी जानी चाहिए, क्योंकि यह तो बहुत खतरनाक है। आपको पता ही नहीं है। आप पढ़ भी नहीं पाये। आपको समझ में भी नहीं आया कि बीच में कोई बात घट गयी है। आप तो फिल्म देख रहे थे। दो फिल्मों के बीच में, दो चित्रों के बीच में, बहुत झटके से एक विज्ञापन निकल गया।

बहुत जाँच-पड़ताल से पता चला है कि हज़ार में एक आदमी को अंदाजा

लगेगा कि कुछ गड़बड़ हुई; ...हजार में! कुछ बीच में हुआ। लेकिन वह भी पक्का पकड़ नहीं पायेगा। नौ सौ निन्यानबे को तो पता ही नहीं चलेगा। वे अपनी कुर्सी पर बैठे रहेंगे। लेकिन वह अर्ध चेतन मन पकड़ लेगा। यह खतरनाक है।

इसका मतलब है कि एक आदमी इलेक्शन में खड़ा हो और 'मुझे ही वोट दीजिये' यह बीच में चलता रहे, और आप उसको वोट दे आयेंगे! और आपको कभी ख्याल में भी नहीं आयेगा कि आप वोट क्यों दे आये! यह खतरनाक है। इसका तो कोई भी दुरुपयोग हो सकता है। तानाशाही सरकारें इसका बड़ा उपयोग कर सकती हैं। क्योंकि आप, आप बिलकुल ही शिकार हो सकते हैं।

लेकिन मन पूरे वक्त पकड़ ही रहा है। सब पकड़ रहा है। लाखों सूचनाएँ प्रतिक्षण पकड़ी जा रही हैं। वो सब इकट्ठी हो रही हैं। मन फोटोग्रॉफिक प्लेट की तरह है--या टेपरिकॉर्ड के टेप की तरह है। वो सब चीजें इकट्ठी करता जाता है।

और एक आदमी के मन में कोई सात करोड़ सेल हैं, और एक-एक सेल करोड़ों सूचनाएँ इकट्ठी कर सकता है। इस पृथ्वी पर जितने पुस्तकालय हैं, अगर जिंदगी लम्बी मिले, तो एक आदमी सबको कंठस्थ कर सकता है। जिंदगी लम्बी का सवाल है, मन की दिक्कत नहीं है। मन के पास फिल्म काफी लम्बी है, लेकिन जिंदगी छोटी पड़ जाती है। अगर एक आदमी को लाख-दो-लाख साल की उम्र मिले, तो इसी एक छोटी-सी खोपड़ी के भीतर दुनिया के सारे पुस्तकालय समाहित किये जा सकते हैं।

तो मन तो इकट्ठा करता है; संग्राहक है। मन से बड़ा परिग्रह करनेवाला कोई भी नहीं है। सब तिजोरियाँ छोटी हैं; और सब धनी दरिद्र हैं। मन जितना संग्रह कर सकता है, उसका कोई मुकाबला नहीं है।

इस मन के पीछे छिपी चेतना है। वह चेतना दर्पण की तरह निर्मल है। वह कुछ भी नहीं पकड़ती। जो भी सामने आता है, देख लेती है; हट जाता है, समाप्त हो जाता है: दर्पण फिर निर्मल का निर्मल--चाहे उसमें चाँद झलके, और चाहे एक काँटा दिखाई पड़े; चाहे एक फूल, चाहे सुन्दर चेहरा; चाहे एक कुरूप घटना--जो भी सामने आता है, वह जब आता है सामने, उतने क्षण ही चेतना के सामने होता है; हटते ही खो जाता है।

मन यंत्र है। आप नहीं हैं मन, आप चैतन्य हैं। लेकिन हम सबने अपने को मन मान रखा है। उस दर्पण का हमें कोई भी पता नहीं जो सदा निर्मल और निर्दोष है।

यह सूत्र कहता है:

"अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रिया शून्य ब्रह्म व्यक्ति बन जाता है।"

कुछ करना नहीं है। 'आप ब्रह्म हैं'--यह वेदान्त की घोषणा है। आपको ब्रह्म बनना नहीं है; आप ब्रह्म हैं ही। सत्य को पाने कहीं जाना नहीं है, वह आपके पास सदा से उपलब्ध है। फिर गड़बड़ क्या हो गयी है? वह जो भीतर चैतन्य है, और उसके बाहर जो मन है, उस मन में जो कुछ भी इकट्ठा हो जाता है, वह इकट्ठा हुआ भी चैतन्य में झलकता रहता है।

इसे हम ऐसा समझ लें: कि चाँद निकलता है और झील पर झलकता है। फिर चाँद डूब जाता है, और झील से भी डूब जाता है; क्योंकि झील में केवल तब तक दिखायी पड़ता है, जब तक हो; जब नहीं होता तो खो जाता है।

हम एक नकली चाँद आकाश में लटका दें। वह वहाँ से हटे ना। तो झील में सदा उसका प्रतिबिंब बनता रहेगा। कभी मिटेगा नहीं। क्योंकि ऊपर से जब तक चाँद न हटे, झील से प्रतिबिंब नहीं मिटेगा।

इसे थोड़ा समझ लें; बारीक है; और पूरे मनुष्य के भीतरी यंत्र की समझ जरूरी है।

अगर ऐसा अनंत काल तक होता रहे, तो झील को भी यह शक हो सकता है कि मुझमें जो प्रतिबिंब बन रहा है, वह चाँद का नहीं मेरा है; क्योंकि कभी मिटता नहीं। सुबह सूरज निकलता है, रात चाँद निकलता है। रोज मिट जाता है, झील खाली हो जाती है; बीच में खाली जगह मिल जाती है; झील को स्मरण आ जाता है कि चाँद आया और गया, सूरज आया और गया; मैं सिर्फ दर्पण हूँ, झील हूँ।

आपके भीतर जो चैतन्य है, उसके ऊपर मन और मन के बाहर जगत्। जगत् में सब चीजें बदल रही हैं--प्रतिपल बदल रही हैं; मन में कोई चीज बदलती नहीं है, मन फोटोग्रेफिक है, स्टेटिक है।

तो जो भी जगत् से मन में चित्र बन जाता है, वह मन में चित्र अटका रह जाता है, सदा के लिए। वह अटका हुआ चित्र भीतर चेतना में भी अटकता हुआ मालूम पड़ता है; सदा बना रहता है। इससे भ्रांति होती है कि चेतना और मन एक ही है। दोनों के साथ तादात्म्य मालूम पड़ता है, क्योंकि फासला नहीं दिखायी पड़ता है। जो मन में दिखायी पड़ता है, वही चेतना में दिखायी पड़ता है। दोनों के बीच कहीं कोई सीमा नहीं मालूम पड़ती। इसलिए यह भ्रांति होती है। जगत् आत्मा में आरोपित मालूम पड़ता है; लगता है कि आत्मा में प्रवेश कर गया।

आत्मा में कोई चीज प्रवेश नहीं करती है, मन में सब चीजें प्रवेश करती हैं। तो जब तक हम मन को हटाने की कला न सीखे लें--कि संसार और आत्मा आमने-सामने आ जायें, बीच में मन का दलाल न हो, बीच में यह मन का जगत् न हो, यह मन का विस्तार न हो--तब तक हमें यह पता नहीं चलेगा कि सब-कुछ आरोपित था और मैं ब्रह्म था, जगत् नहीं था; मैं चैतन्य था, शरीर नहीं था--लेकिन मालूम होता था कि मैं शरीर हूँ, क्योंकि मन में चित्र बना हुआ था कि मैं शरीर हूँ। वही चित्र आत्मा में झलकता था। न था लोभ, न था क्रोध, न था काम, लेकिन मन में सब था और मन के सारे चित्र भीतर झलकते थे। और इतने दिनों से झलकते थे, और इतने अनंत काल से झलकते थे कि स्वाभाविक है यह भ्रांति हो जानी कि वह झलक नहीं है, प्रतिबिंब नहीं है, मेरा स्वभाव है।

ध्यान रहे, शरीर तो आपका हर जन्म में मिट जाता है, लेकिन मन?... मन नहीं मिटता; मन आपका एक जन्म से दूसरे जन्म में चला जाता है। जब आप मरते हैं तो शरीर छूटता है, मन नहीं छूटता। मन तो तब छूटता है, जब आप मुक्त होते हैं।

मृत्यु की भी सामर्थ्य मन को अंत करने की नहीं है। मृत्यु भी केवल शरीर को मिटा पाती है, मन को नहीं मिटा पाती। मन तो मृत्यु के भी पार चला जाता है। सिर्फ समाधि की सामर्थ्य है मन को भी मिटा देने की। इसलिए जो जानते हैं, उन्होंने समाधि को महामृत्यु कहा है; क्योंकि मृत्यु में तो मरता है केवल शरीर, समाधि में मर जाते हैं दोनों--शरीर और मन--और शेष रह जाता है केवल वही, जो मर ही नहीं सकता; जो अमृत है, जिसकी कोई मृत्यु नहीं हो सकती।

तो मन तो अनंत-अनंत काल तक निर्मित होता हुआ, इकट्ठा होता हुआ, बढ़ता चला जाता है--और हर बार, हमेशा, शरीर हो तो, शरीर छूट जाये तो, मन आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। वह मन की छाया आत्मा पर बनती रहती है। और धीरे-धीरे आत्मा को भी ऐसा लगना शुरू हो जाता है कि जो मन में है, वही मैं हूँ।

यही है हमारा संसार; यही है हमारी गाँठ। इस गाँठ को खोलने का एक ही उपाय है कि हम थोड़ी देर के लिए बिना मन के हो जायें। मन को हटा के रख दें, और एक बार जगत् को आमने-सामने देख लें। बीच में किसी दलाल को न लें; बीच में किसी मध्यस्थ को न लें। एक झलक भी हमें मिल जाये मन के बिना जगत् की, तो हमें यह स्मरण स्पष्ट हो जायेगा कि भीतर कुछ भी कभी गया नहीं; भीतर का दर्पण सदा साफ है, निर्मल है, उस पे कोई बिंब पकड़ा नहीं है; सारे बिंब आये

और गये हैं, जन्मों-जन्मों की कथाएँ बीती हैं, लेकिन वहाँ कोई भी रेखा, जरा-सी खरोंच वहाँ छूटी नहीं है।

वह जो निर्मल स्वभाव का अनुभव है, वही परम ब्रह्म है। ब्रह्म जब मन के साथ बंधता है, तो संसार हो जाता है। ब्रह्म जब मन से टूटता है, तो परम ब्रह्म हो जाता है। और जब आत्मा बंधती है मन के साथ, तो शरीर अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि मन की वासनाओं की तृप्ति बिना शरीर के नहीं हो सकती। मन तो वासनाएँ उठाता है, शरीर के बिना तृप्ति नहीं हो सकती।

इसलिए आपने निरंतर सुना होगा; और अब तो वैज्ञानिक सत्य बनता जाता है। आपने सुना होगाः कोई प्रेत किसी आदमी के शरीर में प्रवेश कर गया। कोई कहता होगा अंधविश्वास है, कोई कहता होगा बीमारी है, कोई कुछ कहता होगा, लेकिन आपने यह कभी शायद ही सोचा होगा कि प्रेत अगर होते हैं, तो आदमियों के शरीर में प्रवेश क्यों कर जाते हैं?

शायद आप सोचते होंगेः दुश्मन होगा, इसलिए सताने आ गया! शायद आप सोचते होंगे कि कोई बदला, कोई कर्म फल, कोई पुराना चुकतारा होगा!

नहीं, यह सब कुछ नहीं है।

प्रेत कहते हैं हम उस चेतना को, जिसका शरीर तो छूट गया, मन नहीं छूटा है। और मन शरीर की माँग करता है, क्योंकि मन की जितनी भी वासनाएँ हैं वे सभी शरीर के द्वारा ही तृप्त हो सकती हैं। मन छूना चाहता है किसी प्रिय शरीर को, लेकिन प्रेत छू नहीं सकता, क्योंकि उसके पास हाथ नहीं हैं। मन स्वाद लेना चाहता है किसी स्वादिष्ट वस्तु का,...

वो मन है प्रेत के पास जो स्वाद लेना चाहता है, लेकिन उसके पास जीभ नहीं है। इसलिए प्रेत की जो तकलीफ है वो यही है कि मन है उसके पास और उपकराण बिलकुल नहीं है, जिनसे वह अपनी वासना के लिए तलाश कर सके। कोई भी साधन उसके पास नही है, और वासना पूरी-की-पूरी उसके पास है--और साधन सब खो गये हैं।

प्रेतात्मा का इतना ही अर्थ है कि जिसको अभी शरीर नहीं मिला। और दो तरह की आत्माओं को शरीर मुश्किल से मिलते हैं। सामान्य आदमी को शरीर आसानी से मिल जाते हैं; इधर मरे, उधर जन्मे--कोई फर्क नहीं होता है। कभी-कभी तो मिनट, दो-मिनट, पाँच-मिनट का फर्क मुश्किल से होता है। इधर मरे कि उधर जन्मे। लेकिन दो छोरवाली आत्माओं को--बहुत बुरी आत्माओं को या बहुत भली आत्माओं को जन्म आसानी से नहीं मिलते; क्योंकि उनके योग्य गर्भ चाहिए। हिटलर मर जाये, तो माँ-बाप खोजना आसान नहीं होगा, क्योंकि हिटलर को जन्म

देने के लिए उतनी ही दुष्ट प्रकृति के माँ-बाप चाहिएँ। तो वर्षों, कभी-कभी सदियों, प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कोई भली चेतना मर जाये तो यही कठिनाई फिर खड़ी हो जाती है।

जो भली चेतनाएँ बिना शरीर के भटकती हैं, उनको हमने 'देव' कहा है; और जो बुरी चेतनाएँ बिना शरीर के भटकती हैं, उनको हमने 'प्रेत' कहा है।

जब भी कभी कोई आदमी इतना कमज़ोर होता है कि उसकी आत्मा अपने शरीर में सिकुड़ जाती है, तब कोई प्रेत उसमें प्रवेश कर जाता है--न तो किसी दुष्टता के कारण, न उसको सताने के कारण--बल्कि, उसके शरीर के द्वारा अपनी वासना को तृप्त करने के लिए।

अगर आप कमजोर हैं, संकल्पहीन हैं, तो कोई प्रेत धक्का देकर आपके भीतर प्रवेश कर सकता है। उसको जन्म नहीं मिल रहा है, और वासना उसके पास पूरी है। वो किसी स्त्री को आपके हाथ से छू लेगा। वो किसी भोजन को आपकी जीभ से चख लेगा। वो किसी रूप को आपकी आँख से देख लेगा। वह किसी संगीत को आपके कान से सुन लेगा। इसके लिए प्रेत प्रवेश करता है, किसी को सताने का कोई सवाल नहीं है।

आप सताये जाते हैं, वह गौण है, वह बाइप्रॉडक्ट है; वो प्रयोजन नहीं है किसी प्रेत का आपको सताने का।

लेकिन, निश्चित ही, जब कोई दो आत्माएँ एक शरीर में घुस जायें, तो पीड़ा और परेशानी होगी। वो परेशानी वैसी ही है, जैसे कोई मेहमान घर में आता है और फिर टिक जाता है, और जाने का नाम ही नहीं लेता! बस, वो वैसी ही परेशानी है। और फिर वो मेहमान फैलाव करता जाये, और घर का मालिक सिकुड़ता जाये एक कोने में, और धीरे-धीरे ऐसा लगने लगे, कि यही तय न रहे कि कौन मेहमान है और कौन घर का मालिक? ... और मेहमान! ... अकड़ बढ़ती जाये उसकी, क्योंकि मालिक उसकी सेवा करे मेहमान समझ के: 'अतिथि देवता है'! ...उसकी सेवा करे! धीरे-धीरे मेहमान को भ्रम होने लगे कि मैं मालिक हूँ। और एक दिन वह अपने मेजबान को कह दे कि क्षमा करो, अब जाओ भी! बहुत दिन हो गये! ठीक वैसी ही स्थिति पीड़ा की पैदा हो जाती है।

मन शरीर की माँग करता है--तत्काल--मरते ही। इसलिए दूसरा जन्म हो जाता है।

आत्मा मन से जुड़ी है, मन से शरीर जुड़ा है।

दो तरह की साधनाएँ हैं। एक तो साधना है कि शरीर को मन से तोड़ो; जिसे अक्सर हम तपश्चर्या कहते हैं। वह साधना है: शरीर को मन से तोड़ो। वह

तपश्चर्या है। लम्बी यात्रा है; और बहुत कठिन; और परिणाम संदिग्ध हैं। दूसरी साधना है: मन को चेतना से तोड़ो। जिसको हम वेदान्त कहते हैं; ज्ञान कहते हैं।

अगर नाम ठीक देने हों तो नाम ऐसे दे सकते हैं: शरीर से मन को तोड़ो--इसका नाम योग; और मन को आत्मा से तोड़ो--इसका नाम सांख्य। बस, ये दो निष्ठाएँ हैं।

सांख्य का अर्थ है: मात्र ज्ञान पर्याप्त है, और कुछ करना नहीं है; और योग का अर्थ है: बहुत कुछ करना पड़ेगा, तभी कुछ हो सकेगा।

यह सूत्र सांख्य का है। यह सूत्र ज्ञान का है। यह कहता है: अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, ऐसा जान लेने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत, परम ब्रह्म व्यक्ति बन जाता है।

कुछ और करना नहीं है।

"एक आत्मा एक वस्तु में यह जगत्रूप जो विकल्प (भेद) जान पड़ता है, वह लगभग झूठा है।"

...इसलिए मैं कह रहा था: उस भिक्षु ने बुद्ध को कहा कि लगभग रूमाल बदल गया है। यह सूत्र कहता है कि यह जो सारा जगत् दिखाई पड़ता है भेद का, यह लगभग झूठा है।

"क्योंकि निर्विकार, निराकार और अवयव रहित वस्तु में भेद कहाँ, कैसे हो सकते हैं।"

"लगभग झूठा"--यह बड़ी कीमती, दार्शनिक धारणा है। और थोड़ा समझ लेना ज़रूरी है, क्योंकि 'लगभग झूठे' का मतलब क्या होगा? कोई चीज झूठी हो सकती है, समझ में आती है। 'लगभग झूठी' का क्या मतलब होता है? कोई चीज सच है, सत्य है, समझ में आती है। कोई कहे 'लगभग सच', क्या मतलब होगा? वो लगभग तो सब गड़बड़ कर देता है! जैसे आप किसी से कहें कि मुझे आपसे लगभग प्रेम है। सब गड़बड़ कर देता है! प्रेम हो तो कह दो कि 'है', न हो तो कह दो 'नहीं है', लगभग प्रेम क्या है? इसको प्रेम कहें, अप्रेम कहें? कहें कि 'फलाँ आदमी लगभग साधु है'—क्या मतलब होगा?

यह शब्द कीमती है, और भारतीय-चिंतना में बड़ा मूल्यवान है। और एक नई कैटेगरी, एक चिंतन का नया तल भारत ने निर्मित किया है। सारे जगत् के चिंतन में दो विचार-कोटियाँ हैं: सत्य की और असत्य की; भारतीय-चिंतना में तीन विचार-कोटियाँ हैं: सत्य की, असत्य की, और लगभग की--बीच की--तीसरी।

इस 'लगभग झूठ' को, या 'लगभग सत्य' को, हमने कहा है 'माया', हमने कहा है 'मिथ्या'। तो हमने तीन शब्द निर्मित किये हैं: सत्य, असत्य, मिथ्या। मिथ्या क्या है? आमतौर से लोग समझते हैं कि मिथ्या का अर्थ असत्य है। नहीं, मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं होता। मिथ्या का अर्थ होता है सत्य और असत्य के बीच में।...सत्य और असत्य के बीच में?...अर्थ हुआ: कि जो असत्य है, लेकिन सत्य-जैसा भासता है।

एक रस्सी पड़ी है और आपको साँप मालूम पड़ रही है। और अंधेरे में आपके छक्के छूट गये; आप भाग खड़े हुए! पसीना छूट रहा है! छाती की धड़कन बढ़ गयी है! तो किसी ने कहा कि नाहक परेशान हो रहे हैं, यह लालटेन ले लें और चले जायें; साँप-वगैरह नहीं है, रस्सी पड़ी है। देखा प्रकाश में रस्सी है। तो जो साँप दिखायी पड़ा था, उसे क्या कहियेगा? सत्य तो वो नहीं था। असत्य भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसने काम तो सत्य-जैसा किया था। भाग खड़े हुए थे आप वैसे ही जैसे सच्चे साँप से भागते। पसीना आ गया था। और पसीना बिलकुल सच था। और झूठे साँप से आया था। और छाती की धड़कन बढ़ गयी थी। और डर लगा था कि कोई हृदय का दौरा तो नहीं पड़ जायेगा! पड़ भी सकता था, और आप मर भी सकते थे। वही कठिनाई यह है: कि जो साँप था ही नहीं, उससे असली दौरा कैसा पड़ गया? लेकिन जो साँप है ही नहीं उससे असली हृदय का दौरा पड़ सकता है। इसका मतलब कि भारतीय चिंतन उस साँप को बिलकुल असत्य कहने को तैयार नहीं है।

सत्य तो है ही नहीं, क्योंकि खोज पर पता चलता है कि वहाँ रस्सी पड़ी है। और असत्य भी नहीं है, क्योंकि परिणाम सत्य-जैसे हो जाते हैं। इसे भारत कहता है 'लगभग असत्य', या लगभग सत्य—मिथ्या, माया। यह तीसरी, बीच की कैटेगरी है। अंग्रेजी में इसके लिए अनुवाद करना मुश्किल है। दूसरी भाषाओं में इसके लिए शब्द खोजना मुश्किल हो जाता है। और जो भी अनुवाद होते हैं, वे असत्य का अर्थ रखते हैं, मिथ्या का नहीं। मिथ्या बिलकुल शुद्ध भारतीय शब्द है।

मिथ्या का अर्थ ख्याल में ले लें: जो नहीं है, लेकिन है-जैसा मालूम पड़ता है। और ऐसी चीजें हैं, जो नहीं हैं और है-जैसी मालूम पड़ती हैं। इसलिए भारत कहता है उनके लिए एक अलग कैटेगरी, एक अलग कोटि निर्मित करना जरूरी है।

यह जो मिथ्या जगत् है, यह जगत् जो है, इसको अनेक बार आपने सुना होगा कि वेदान्त कहता है, मिथ्या है; उपनिषद् कहते हैं, मिथ्या है। शंकर निरंतर, सुबह से साँझ तक, कहते रहते हैं, मिथ्या है। तो हम सोचते हैं कि ये लोग कहते ह यह जगत् झूठ है। नहीं कहते, झूठ नहीं कह रहे हैं वो, वो यह कह रहे हैं कि

जैसे रस्सी में साँप दीख जाये। जो यह जगत् है वह दिखायी नहीं पड़ रहा है, और जो दिखायी पड़ रहा है वह यह है नहीं। यह एक देखने का भ्रम है, एक दृष्टिदोष है। यह आपकी दृष्टि की भूल है।

यह वैसा ही है, जैसा आप आँख को दबा के और चाँद को देखें और दो चाँद दिखायी पड़ें। वह दूसरा चाँद कहाँ है? लेकिन आप बड़ी कठिनाई में पड़ेंगे! अगर आँख दबायी हालत में आपसे पूछा जाये कि दो में से कौन-सा सच है और कौन-सा झूठा, तो आप बता न पायेंगे कि कौन-सा सच है कौन-सा झूठा है। दोनों सच मालूम पड़ते हैं, हालांकि दोनों सच नहीं हैं। आँख छोड़ दें दबाना और एक चाँद रह जाता है, दूसरा खो जाता है। वह दूसरा क्या था? दिखायी तो पड़ता था, अगर किसी आदमी की आँख परमानेन्टलि दबा दी जाये, स्थायी रूप से, तो उसको सदा ही दो चाँद दिखायी पड़ते रहेंगे।

हमारी जो दृष्टि है, वह मन के अनुभवों, मन के चित्रों, मन के संग्रह से दबी हुई है पूरे समय। तो जो भी हम देखते हैं, मन हमें दिखाता है।

थोड़ा ऐसा समझ लें कि आप किसी ऐसे देश के निवासी हैं जहाँ साँप होता ही नहीं। आपने कभी साँप नहीं देखा, साँप का कोई चित्र नहीं देखा, साँप का कोई नाम नहीं जानते; क्या आप रस्सी में साँप देख सकते हैं?

यह सम्भव नहीं है। कैसे देखियेगा? साँप का कोई अनुभव ही न हो तो रस्सी पड़ी रहे, तो आपको कैसे साँप दिखायी पड़ सकता है उसमें!

साँप दिखायी पड़ता है, क्योंकि मन के पास साँप का संस्कार है, चित्र है; मन ने साँप देखा है। चित्र में देखा है, असलियत में देखा है, मदारी के पास देखा है—कहीं साँप देखा है। वह चित्र मन में है। वह आपकी आँख में पीछे छिपा है।

रस्सी पड़ी है सामने, अचानक अंधेरे में रस्सी कई चीजें पैदा कर देती है। अन्धेरा भय पैदा कर देता है। भय के साथ ही साँप को देखकर जो भय पैदा हुआ था: कि कहीं काट न ले! वह संयुक्त हो जाता है। फिर साँप में जिस तरह की लहरें थी, ठीक वैसी लहरें रस्सी में मालूम पड़ती हैं।

भय, साँप का भय, रस्सी की लहरों की समानता, आपके भीतर का, मन का साँप रस्सी पर आरोपित हो जाता है। आप भाग खड़े होते हैं। रस्सी को पता ही नहीं कि क्या हो गया! आप किसको देख के भाग गये हैं? क्यों भाग गये हैं।

ऐसा हुआ मेरे साथ, बहुत वर्ष पहले। रात तीन बजे उठकर एक रास्ते पर घूमता था। सुनसान रात होती। रास्ता बासों के झुरमुट से दबा था। थोड़ा-सा हिस्सा खुला था, बाकी हिस्सा दबा था। तो एक कोने से मैं सीधा दौड़ता हुआ जाता था

और दूसरे कोने से उलटा दौड़ता हुआ वापिस लौटता था; पीठ की तरफ। मैं कोई घंटेभर में वहाँ व्यायाम कर लेता था; तीन से चार। एक दिन बड़ी मुश्किल हो गयी! मैं उलटा लौट रहा था। तो जब तक मैं झुरमुट के नीचे छाया में था, कोई सज्जन--कोई दूधवाला, अपने खाली डब्बे लिए दूध लेने कहीं जाता होगा, वह उधर से आ रहा होगा। फिर अचानक, जैसे ही मैं झुरमुट की छाया के बाहर आया, चाँद की रात थी, उस आदमी ने अचानक मुझे देखा होगा! क्षणभर पहले तक मैं दिखाई नहीं पड़ रहा था! तो अचानक और उलटा आता हुआ! उलटे तो भूत-प्रेत आते हैं! उसने दोनों डब्बे छोड़ के पटका और वह भागा! उसके भागने से मुझे लगा कि पता नहीं इसे क्या हो गया! मुझे क्या पता कि मुझसे भयभीत हो गया है! मैं उसके पीछे भागा! तब तो उसने प्राण छोड़ दिये! मैं जितनी तेजी से उसकी तरफ गया कि इसको क्या हो गया, मामला क्या है! मैं उससे कहा कि रुको, बात क्या है? इतनी तेज दौड़ मैंने नहीं देखी! फिर मुझे कुछ ख्याल आया कि न-मालूम, मैं ही अकेला यहाँ हूँ, मुझे देख के डर गया हो! पास की एक होटल का आदमी भी जाग गया इस शोरगुल को सुन के, डब्बों के गिरने के। तो उसको मैंने जा के कहा कि पता नहीं क्या हुआ! तो उसने कहा कि पता की ही पूछ रहे हैं आप! मुझे पता है कि आप यहाँ उलटे चलते हैं। तो मैं डर जाता हूँ! वह नया आदमी होगा! मैंने कहा, ये डब्बे रख लो, शायद सुबह आये। वह अब तक नहीं लौटा! जब भी मैं उस होटल के पास से फिर भी गुजरा हूँ कभी, मैंने पूछा वह आदमी आया?

वो आदमी आया ही नहीं! अब कोई उपाय नहीं है उस आदमी को बताने का कि जो उसने देखा वह लगभग झूठ है! कोई प्रेत था नहीं वहाँ! उसने देख लिया! लेकिन उसके लिए वह बिलकुल सच था, नहीं तो इतनी देर तक भागा नहीं रहता।

हमारे भीतर मन है, उस पर कोई अनुभव आरोपित हो गया होगा।

हम जो देख रहे हैं, वह वही नहीं है जो है, हम वह देख रहे हैं जो हमारी आँख हमें दिखा रही है। तो हमारी आँख आरोपण कर रही है प्रतिपल, और हम न-मालूम क्या-क्या देख रहे हैं जो वहाँ नहीं है जगत् में!

यह पूरा जगत् हमारी ही आँखों का फैलाव है। हम जो देखते हैं, वह हमारा ही डाला हुआ है। पहले हम डालते हैं और फिर हम देख लेते हैं। पहले रस्सी में साँप डाल देते हैं, फिर देख लेते हैं, फिर भाग खड़े होते हैं!

यह सारा जगत् ऐसा है। हम ही सौन्दर्य डाल देते हैं किसी में, फिर मोहित हो जाते हैं, फिर पागल हो के घूमने लगते हैं!

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि यह सारा जगत्, जो आदमी का देखा हुआ है, लगभग झूठा है। लगभग कह के बड़ी मीठी बात कही है। वो यह कहा है कि बिलकुल झूठा भी नहीं है, नहीं तो इतने लोग कैसे परेशान होते! इसमें कुछ तो सच्चाई है। रस्सी है, इतना सच है; साँप नहीं है, इतना झूठ है। रस्सी साँप से कुछ मेल खाती है, यह सच है; लेकिन फिर भी रस्सी रस्सी है और साँप नहीं हो जाती है, यह भी सच है। और इन दोनों के बीच में जो जगत् बन गया है भय का, रस्सी में साँप को देख लेने का, वह मिथ्या है, वह माया है।

जब तक यह मन बिलकुल न हटा दिया जाये, और जब तक हम सीधा न देख सकें, तब तक हम जगत् के सत्य को न देख पायेंगे। जगत् का सत्य देखते ही जगत् विलीन हो जाता है और ब्रह्म ही शेष रह जाता है। अभी ब्रह्म बंटा हुआ दिखाई पड़ता है। कहीं ब्रह्म पत्थर है और कहीं ब्रह्म वृक्ष है; कहीं ब्रह्म आदमी है और कही ब्रह्म स्त्री है; अभी ब्रह्म बंटा हुआ दिखाई पड़ता है।

अगर आँख के पीछे से सारा प्रोजेक्शन, वह जो आरोपण की व्यवस्था है, वह खो जाये, तो यह सारा जगत् निर्विकार एक ही चेतना हो जाता है, एक ही सागर हो जाता है। इसके भेद गिर जाते हैं।

"चिदात्मा, द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य आदि भावों से रहित है, निर्दोष है, तथा प्रलय काल के समुद्र की तरह परिपूर्ण है।"

वह जो भीतर साक्षी है, मन से मुक्त शून्य हो गया, वह जो चिदात्मा है, वहाँ कोई भेद नहीं है। दर्शन, दृश्य, ये सारे भाव वहाँ खो गये हैं। न वहाँ कोई देखनेवाला है, न कोई दिखाई पड़नेवाली चीज है। वहाँ सब द्वंद्व खो गया है। वहाँ सिर्फ एक चैतन्य का विस्तार है। उस विस्तार के लिए तुलना बड़ी मीठी की है। कहा है: "प्रलय काल के समुद्र की तरह परिपूर्ण है।"

हमारे जो समुद्र हैं, वे कितने ही बड़े हों, सीमित हैं। और कितना ही उनका विस्तार हो, उनका किनारा है। और जिसका किनारा है, वह अधूरा है, क्योंकि कहीं बंधा है। छोटा तालाब छोटी सीमा से बंधा है, बड़ा सागर बड़ी सीमा से बंधा है। लेकिन छोटी सीमा और बड़ी सीमा में फर्क ही क्या है। सीमा, सीमा है। आप कितनी छोटी जगह में कैद हैं, कि कितनी बड़ी जगह में कैद हैं, इससे क्या फर्क पड़ता है। कैद, कैद है।

इसलिए उदाहरण में यह नहीं कहा कि 'सागर-जैसा', कहा कि 'प्रलय काल के सागर-जैसा'।

प्रलय काल एक पौराणिक चिंतना है: कि जब सृष्टि लीन होगी, तो सारी सृष्टि

पानी में डूब जायेगी--सारी सृष्टि। कहीं भी कोई रत्तीभर जगह न बचेगी, जो डूब न गयी हो। तो प्रलय काल में जो सागर की अवस्था होगी, उससे फिर कोई किनारा नहीं होगा; क्योंकि किनारों का मतलब ही है कि ज़मीन अभी कुछ बाहर निकली हुई है; किनारे का मतलब ही है कि ज़मीन अभी सागर के बाहर निकली है। और जो जमीन बाहर निकली है वह सीमा बन जायेगी।

तो प्रलय काल के सागर की भाँति है वो साक्षी चेतना, उसका फिर कोई किनारा नहीं है। फिर वो परिपूर्ण है। फिर कहीं उसकी कोई सीमा नहीं है। फिर वो असीम है। लेकिन भेद गिरें तभी; जब तक भेद हैं, तब तक सीमा है।

"और जिस प्रकार प्रकाश में अंधकार खो जाता है, विलीन हो जाता है..."

यह बड़ी अद्भुत बात कही है।

"...ऐसे ही अद्वितीय परमतत्व में भ्रांति का कारण विलय हो जाता है। वह अवयव रहित है, इससे उसमें भेद कहाँ?"

'जिस प्रकार प्रकाश में अंधकार लीन हो जाता है।'

बड़ी अनूठी सूझ है।

अंधेरा घिरा है आपके घर में, आप दिया जलाते हैं। कभी आपने सोचा कि अंधेरा कहाँ चला जाता है? जब आप दिया जलाते हैं, तो अंधेरा कहाँ चला जाता है? घर के बाहर चला जाता है? तो ऐसा करें कि घर के बाहर पहले दिया जला आयें। पहरे पर लोगों को बिठा दें। फिर घर के अंधेरे कोठे में दिया जलायें। अगर अंधेरा बाहर जायेगा, तो जो बाहर पहरेदार बैठे हैं वे उसे जाता हुआ देखेंगे कि जा रहा है; अंधेरा जा रहा है।

अंधेरा बाहर जाता नहीं; अंधेरा जाता कहाँ है? यह बड़ी मीठी बात उपनिषद् कहता है कि अंधेरा प्रकाश में लीन हो जाता है। बड़ा कठिन पड़ेगा समझना; क्योंकि हम तो अंधेरा और प्रकाश को दुश्मन मानते हैं। लीन तो होंगे कैसे? और हम तो मानते हैं कि अंधेरा और प्रकाश, ये शत्रु हैं। इनमें संघर्ष है, द्वंद्व है। और हम तो अंधेरे को छोड़ के प्रकाश को पकड़ना चाहते हैं।

तो हमें यह मानना बड़ा कठिन होगा कि अंधेरा प्रकाश में लीन हो जाता है। हमें तो डर लगेगा कि अगर अंधेरा प्रकाश में लीन हो गया, तो सारा प्रकाश अंधेरा हो जायेगा। जैसे सफेद कपड़े पर काली स्याही लीन हो जाये, तो क्या होगा मतलब? मतलब यह नहीं होगा कि काली स्याही सफेद कपड़े में लीन हो गयी है, मतलब यह होगा कि सफेद कपड़ा काली स्याही में लीन हो जायेगा।

देखें करके! काली स्याही को सफेद कपड़े में लीन करके देखें, तब आपको

पता चलेगा: कि सफेद कपड़ा ही खो गया, काली स्याही नहीं खोयी।

अंधेरा प्रकाश में लीन हो जाता है! तो बड़ी बातें निकलती हैं इससे। एक कि प्रकाश और अंधकार में कोई शत्रुता नहीं है। अर्थ? ...अर्थ हुआ कि संसार और मोक्ष में कोई शत्रुता नहीं है। और संसार मोक्ष में लीन हो जाता है। अर्थ हुआ कि मिथ्या में और सत्य में कोई विरोध नहीं है, मिथ्या सत्य में लीन हो जाता है।

अंधकार प्रकाश में लीन हो जाता है, इसका यह अर्थ हुआ कि अंधकार जैसे प्रतीक्षा ही कर रहा है कि प्रकाश हो और लीन हो जाये। आपने कभी अंधेरे को ठिठकते देखा है कि आपने दिया जला दिया, और अंधेरा सोच रहा है कि लीन हों, कि न हों? कि विचार करें थोड़ा; कि फिर कल सोच के आयेंगे; कि संन्यास लेना है, कि नहीं लेना है? कि अंधेरा लीन हो कि न हो? सोचेंगे, विचार करेंगे। नहीं, वह सोचता नहीं। ऐसा लगता है, जैसे तैयार ही खड़ा था। बस प्रतीक्षा थी कि तुम हो जाओ और मैं लीन हो जाऊँ। इतनी भी देरी नहीं लगती। क्षणभर की भी देरी नहीं लगती। प्रकाश का होना और अंधेरे का लीन हो जाना युगपत हो जाता है; एक साथ हो जाता है।

इसके अध्यात्म में क्या अर्थ होंगे?

इसका अर्थ होगा कि जैसे ही भीतर प्रकाश जगता है, मन, माया, अपनी सारी स्थिति को ले के एकदम से उस प्रकाश में लीन हो जाता है। बचती नहीं; खोजे से नहीं मिलती कहीं; यह भी समझ में नहीं आता कि कल तक कैसे थी!

जब आपको रस्सी में रस्सी दिख जायेगी, तब आपको बड़ी कठिनाई होगी कि साँप एक क्षण पहले तक कैसे था और अब कहाँ चला गया! था; आपको भी शक होने लगेगा: कि मुझे कोई भ्रम तो नहीं हो गया है कि मैं सोचता हूँ कि था। क्योंकि हो कैसे सकता है!

जो जाग जाते हैं, उन्हें बड़ी कठिनाई होती है यह सोच के भी कि जगत् है, और हो सकता है।

आज ही सुबह मैं किसी से बात कर रहा था। एक संन्यासिनी आयी हुई थी, और वह कह रही थी कि कब छुटकारा होगा इससे--दुःख से, चिंता से? कभी-कभी लगता है हो गया, और फिर वापिस इसी दुःख में खड़े हो जाते हैं!

तो मैंने उससे कहा कि मेरी भी कठिनाई है! मेरी समझ में यह आना धीरे-धीरे मुश्किल होता चला गया है कि दुःख हो कैसे जाता है! इसका निर्माण कैसे हो जाता है! ऐसा नहीं कि मैं कभी दुःखी नहीं था! था, लेकिन अब मुझे वैसी ही तक-लीफ होने लगी है, जैसे कभी दूर, बहुत अतीत में रस्सी में साँप देखा हो और अब

खयाल करें और मुश्किल हो जाए समझना कि रस्सी थी, साँप दिखायी कैसे पड़ गया था!

और अगर अभी भी किसी को दिखायी पड़ रहा है, तो बड़ी मुश्किल हो जाती है! वह मुश्किल यह है: कि आपके लिए जो बड़ा सवाल मालूम पड़ता है, वह बिलकुल सवाल नहीं मालूम पड़ता! और ऐसा लगता है कि कहाँ की व्यर्थ की बात उठाये लिये चले आ रहे हो! और यह कहना भी दुष्टता मालूम पड़ती है कि व्यर्थ की बात कह रहे हो; क्योंकि वह आदमी दुःख पा रहा है; वह भाग रहा है; उसे साँप दिखायी पड़ रहा है।

भागते आदमी से, छाती कंपते आदमी से कहो कि क्यों भाग रहे हो, फिजूल की बातें कर रहे हो, रस्सी है साँप नहीं, तो वह और नाराज हो जाये!

ध्यान रहे, बुद्ध और महावीर, कृष्ण, क्राइस्ट, आपको जो बातें समझाते हैं, उनकी तकलीफ का आपको अन्दाज नहीं है; क्योंकि जो बीमारी बिलकुल नहीं है, उसका वे इलाज बताते हैं! है ही नहीं बीमारी, मगर बीमार कंपा जा रहा है! बीमार कह रहा है, प्राण निकले जा रहे हैं!

तो मेडिकल साइंस में एक नाम है: प्लेस-बो। ऐसी दवाई को, जो लगभग दवाई है, 'प्लेस-बो' कहते हैं। प्लेस-बो का मतलब वो दवाई है नहीं। वह ऐसी बीमारी में काम करती है जो बीमारी होती नहीं। लगभग बीमारी में, लगभग दवाई! वह काम करती है। वह काम करती है, शक्कर की गोली है।

होम्योपैथि करीब-करीब प्लेस-बो है; कोई दवाई-ववाई है नहीं। मगर बीमारी कहाँ है, इसलिए काम करती है। कोई अड़चन नहीं, दवाई की ज़रूरत भी कहाँ है!

असली बीमारी हो तो असली दवाई की जरूरत है। सौ में नब्बे बीमारियाँ नकली हैं। आम बीमारियाँ भी। और नकली बीमारी में असली दवाई देना खतरनाक है, क्योंकि उससे दवाई के दुष्परिणाम होंगे। लेकिन यह जो अध्यात्म की बीमारी है, यह जो दुःख और संताप की बीमारी है, यह जो संसार की बीमारी है, यह तो शत-प्रतिशत झूठी है। मगर शत-प्रतिशत झूठी कहना ठीक नहीं है। बुद्ध कहें, शंकर कहें, शत-प्रतिशत झूठी है, अपनी तरफ से ठीक कहते हैं। लेकिन ये जो अरब-अरब जन उस बीमारी से ग्रस्त हैं, इन पर दया करके उनको कहना पड़ता है: 'लगभग'। राजी करना पड़ता है, आपको धीरे-धीरे फुसलाना पड़ता है: कि यह दवाई ले के देखो, वह दवाई ले के देखो; यह मंत्र पढ़ो, यह जप करो: ऐसा करो, वैसा करो। शायद, दवाई लेते-लेते बीमारी भूल जाये। या दवाई लेते-लेते इतने परेशान हो जायें दवाई से, कि कहें: दवाई भी फेंक दें और बीमारी भी फेंक दें। या ऐसा हो जाये दवाई

लेते-लेते कि कहें बहुत हो गये जन्म-जन्म दवाई लेते, अब नहीं लेते, अब बीमारी को स्वीकार करते हैं।

कुछ भी ऐसा हो जाये, तो आप पायेंगे कि बीमारी थी नहीं; जिससे लड़ रहे थे, वो शत्रु था नहीं; लगभग था; सिर्फ मालूम पड़ता था; सिर्फ प्रतीत होता था कि है।

इसलिए सभी धर्मों ने झूठे उपाय विकसित किये हैं। और बुद्ध, महावीर और कृष्ण और क्राइस्ट से बड़ी झूठ बोलनेवाले आदमी खोजना मुश्किल है! उसका कारण यह नहीं है कि वे लोग झूठ बोलनेवाले लोग हैं, उनसे ज्यादा सच्चे आदमी कभी नहीं हुए, लेकिन आपकी सारी बीमारियाँ झूठी हैं। और इन्हीं झूठे बीमारों के बीच चिकित्सा करने का जिनको काम पड़ता है, वे जानते हैं कि उन्हें क्या करना है।

जो बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र निर्मित किये हैं इन ज्ञानियों ने, वे सब झूठ हैं। झूठ का मतलब, लगभग झूठ हैं। वो सिर्फ आपकी बीमारी को काटने के लिए उपाय हैं। जैसे, आप भाग खड़े हुए हैं रस्सी को देख के और साँप मानते हैं। और मैं लाख आपसे कहूँ कि साँप नहीं रस्सी है, पर मैं कह रहा हूँ। आप कहेंगे, आपकी बात का भरोसा कैसे करें? क्या पता आपको अनुभव हो भी, न भी हो—या हो भी तो किसी और रस्सी का हो, किसी और साँप का हो। इसका ही हो, क्या पता?

तो, समझाने की बजाय उचित है कि मैं आपको एक तावीज बाँध दूँ: कि रस्सी नहीं है, साँप ही है। मगर लो यह तावीज, इस तावीज के मुकाबले दुनिया का कोई साँप नहीं टिकता। तो यह ज्यादा कारगर होगा—बजाय समझाने के: कि नहीं रस्सी है—साँप नहीं है रस्सी है; यह तावीज बाँधो।

वहाँ साँप है नहीं; यहाँ भी कोई तावीज नहीं है! लेकिन यह तावीज दम देगा आपको; ताकत आ जायेगी: कि असली तावीज है! बिलकुल असली तावीज है। और अगर यह चमत्कार भी आपको दिखा दिया जाये कि अंधेरे में एक रस्सी डाल के, घर में तावीज बाँध के आपको अंदर भेज दिया जाये, तो वहाँ जा के आपको दूर से साँप दिखाई पड़े, पास जा के रस्सी दिखायी पड़े—मामला हल हो गया: '...तावीज काम करता है!'

फिर आप दुनिया में चले जायें, फिर यह भी हालत हो सकती है कि असली साँप के पास भी पहुँच जाये तो रस्सी दिखायी पड़े! ...वो तावीज!

आदमी का मन भास पैदा कर रहा है। वे भास आरोपित हैं। ये सारे भास भी उस परम सत्य में लीन हो जाते हैं। जैसे ही साक्षी का अनुभव होता है, सारा

संसार, जो भी फैलाव था, वो सिमट जाता है। और साक्षी में लीन हो जाता है—सीमारहित, तटरहित सागर में।

"यह परम तत्व एक स्वरूप ही है, उसमें कोई भेद नहीं हो सकता है? सुषुप्ति अवस्था केवल सुखरूप है, उसमें भेद कब किसने देखा?"

यह आखिरी बात इस सूत्र में समझ लें: 'सुषुप्ति अवस्था'। जिन्होंने खोज की है अंतस-तलों की, उन्होंने मनुष्य की तीन अवस्थाएँ—उस के चित की—स्वीकार की हैं। एक जिसे हम 'जाग्रत' कहते हैं; सुबह उठकर जो अवस्था होती है। एक जिसे हम 'स्वप्न' कहते हैं; साँझ सोकर जो चित्रों और प्रतिबिंबों की कतार लग जाती है: स्वप्न। और एक रात कभी क्षणभर ऐसी अवस्था आती है, जब स्वप्न भी नहीं होते और जागृति भी नहीं होती; तब सिर्फ गहरी निद्रा रह जाती है: 'सुषुप्ति'।

सुषुप्ति का अर्थ है: स्वप्न भी जहाँ नहीं, इतनी प्रगाढ़ निद्रा।

उपनिषद् मानते हैं—नहीं, कहना चाहिए जानते हैं: कि सुषुप्ति में कोई भेद नहीं रह जाता। रहेगा भी नहीं, क्योंकि भेद जिस मन से उठते थे,...

जब आप जागते हैं, तब भेद रहते हैं। आप का मकान है। पड़ोसी का मकान आपका नहीं है। आप गरीब हैं, पड़ोसी अमीर है। आप काले हैं, पड़ोसी गोरा है। हज़ार भेद, सब तरह के भेद बने रहते हैं। ये भेद मन निर्मित करता है।

सपने में आपने एक मजेदार बात देखी होगी: सपने में भेद रहते हैं, लेकिन भेद की रेखा खो जाती है।

इसे थोड़ा समझ लें: जाग्रत् में भेद रहते हैं, भेद की सीमा रहती है। मित्र है, शत्रु है: मित्र, मित्र है; शत्रु, शत्रु है। जाग्रत् में अ अ और ब ब रहता है। नींद में सपना जब चलता है तब भी भेद रहते हैं, लेकिन भेदों की बीच की सीमा खो जाती है; ठोस नहीं रहते, तरल हो जाते हैं। देखते हैं कि मित्र चला आ रहा है, और अचानक शत्रु हो जाता है! लेकिन आपको शक भी पैदा नहीं होता; भीतर सपने में यह भी नहीं लगता कि यह कैसे हो सकता है! मित्र दिखायी पड़ रहा था आता हुआ, फिर पास आया तो शत्रु हो गया! तो यह संदेह भी नहीं उठता सपने में कि यह कैसे हुआ! आदमी से बातें कर रहे थे, पाते हैं घोड़ा हो गया! फिर भी शक नहीं होता सपने में: आदमी अचानक घोड़ा कैसे हो गया?

भेद-रेखा नहीं रह जाती। भेद रहते हैं: घोड़ा, घोड़ा; आदमी, आदमी—लेकिन भेद-रेखा नहीं रह जाती; तरल हो जाता है। मन डँवाडोल है जैसे। चीजें गडमड हो गयी।

जागते में मन सदा है; चीजें अलग-अलग साफ-सुथरी हैं; लॉजिकल, तार्किक

भेद है; सपने में मन डँवाडोल हो गया—जैसे कि पानी में चाँद का प्रतिबिंब बन रहा हो, और फिर किसी ने पानी को हिला दिया, तो चाँद हजार टुकड़े हो के फैल गया; चाँदनी रह गयी, चाँद नहीं रहा; टुकड़े-ही-टुकड़े फैल गये। ऐसा मन सपने में डँवाडोल हो जाता है। डँवाडोल होकर, कंपित होकर, सब भेद-रखाएँ खो जाती है। चीजें एक-दूसरे में गडमड हो जाती हैं। कुछ पता ही नहीं चलता कि क्या क्या है? अ क्या है, ब क्या है? कब अ ब हो जाता; कोई तर्क नहीं मानता।

सपना तर्क मानता ही नहीं; बिलकुल बेबूझ चलता है। कोई भी चीज किसी में घुस जाती है! लेकिन आप यह नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों हो रहा है? सपने में कोई नियम नहीं होते। जागने के नियम सपने में काम नहीं करते।

फिर तीसरी अवस्था है 'सुषुप्ति'। वहाँ स्वप्न भी नहीं रह जाता।

ध्यान रहे, जहाँ सपने समाप्त होते हैं, वहाँ मन भी समाप्त हो जाता है। जहाँ विचार नहीं रहे, वहाँ मन भी नहीं रह सकता।

जागने में मन होता है ठोस, सपने में मन होता है तरल, सुषुप्ति में मन हो जाता है वाष्पिभूत; ये तीन अवस्थाएँ सभी चीजों की विज्ञान मानता है। लेकिन मन की भी ये तीन अवस्थाएँ भारत में स्वीकार की हैं। विज्ञान कहता है पदार्थ की तीन अवस्थाएँ हैं: सॉलिड है, लिक्विड है, गैसीय है। पानी को बर्फ बना लो, ठोस हो जाता है; भाप बना दो, वाष्प हो जाता है। तीन अवस्थाएँ हैं पानी की—भाप, पानी, बर्फ।

जगत् की सब चीजों की तीन अवस्थाएँ हैं। लेकिन भारत कहता है मन भी एक चीज है, एक पदार्थ है; उसकी भी तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् ठोस अवस्था है, स्वप्न तरल, सुषुप्ति वाष्पिभूत; मन वाष्प हो गया, मन रहा ही नहीं। जब गहरी नींद होती है तो कोई बोध नहीं रह जाता। कोई बोध बचेगा नहीं, क्योंकि बोध करनेवाला नहीं बचा। जगत् एक हो जाता है।

सुषुप्ति में आप वहीं पहुँच जाते हैं, जहाँ समाधि में पहुँचते हैं ज्ञानी। फर्क इतना होता है कि ज्ञानी होश से भरे रहते हैं, आप बेहोश रहते हैं; इतना ही फर्क होता है। सुषुप्ति और समाधि बिलकुल बराबर है। ज़रा-सा भेद, लेकिन भेद बड़ा है। ज्ञानी जागा हुआ पहुँचता है, होश से भरा हुआ पहुँचता है सुषुप्ति में, तब समाधि हो जाती है। सुषुप्ति धन होश, बराबर समाधि।

आप भी पहुँचते है रोज। सुबह उठकर आप कहते हैं कि बड़ी सुखद निद्रा आयी! आपको पता है, किस निद्रा की बात कर रहे हैं? अगर रातभर सपने चलते रहते हैं, तो आप कभी नहीं कहते कि सुखद निद्रा आयी; कहते हैं कि रात बेचैनी में गयी, सपने-ही-सपने चलते रहे, सो पाये ही नहीं। जितनी देर को सपने बंद होते हैं, उतनी देर को सुखद निद्रा आती है। लेकिन जब आती है तब आपको पता नहीं चलता कि

सुखद आ रही है। क्योंकि उतना पता भी आपको नहीं चल सकता नींद में, बेहोशी में। सुबह जागकर पता चलता है बड़ी सुखद थी। सिर्फ इतना ही पता चलता है सुखद थी। एक हल्की छाया छूट गयी है जैसे; एक ध्वनि रह गयी है गूंजती हुई, सुख की।

पर यह बड़े मजे की बात है कि आज तक किसी ने यह अनुभव नहीं किया सुबह उठ के, कि रात बड़ी सुखद निद्रा आयी। कभी अनुभव किया है? कि कोई सपने आये हों, तो वह निद्रा थी नहीं। सुषुप्ति आई ही नहीं। आज तक मनुष्य जाति के इतिहास में एक आदमी ने सुबह उठकर यह नहीं कहा है कि रात नींद बड़ी गहरी थी, बड़ा दुःख पाया। कहा ही नहीं है। यह हुआ ही नहीं है। कहेगा भी कोई कैसे। सुखद निद्रा सुखरूप है। वहाँ दुःख होता ही नहीं। इसलिए उस सुख को हम सुख कहते ही नहीं, आनन्द कहते हैं। क्योंकि सुख के तो विपरीत दुःख होता है, आनन्द के विपरीत कुछ नहीं होता है। इसलिए सुषुप्ति आनन्द है। एक ही भाव रह जाता है आनन्द का, कोई भेद नहीं रह जाता है।

तो जैसी सुषुप्ति एक रूप है, ऐसे ही वह साक्षी का अनुभव भी एक रूप है। फिर आनन्द ही रह जाता है। और जैसे प्रलय का सागर भरा हो सीमारहित, तट-हीन, कोई किनारा नहीं। ऐसा सुख, ऐसा आनन्द और कोई भेद नहीं है।

आठवाँ प्रवचन

१७ अक्तूबर, १९७२, प्रातः
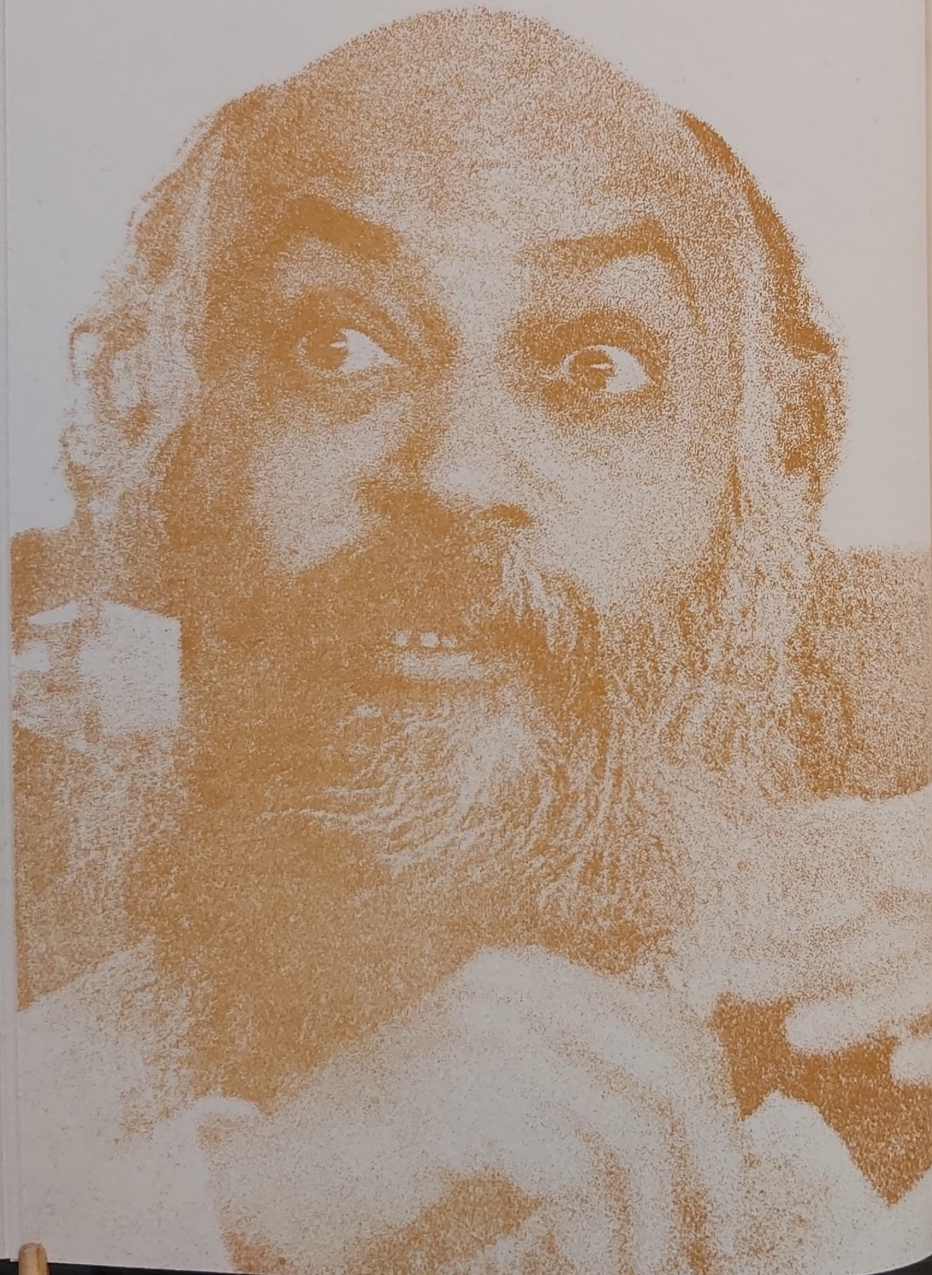
चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि।।२६।।
अखण्डानन्दमात्मनं विज्ञाय स्वस्वरूपतः।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि।।२७।।
वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्।।२८।।
यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम्।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः।।२९।।

इस विकल्प (भेद) का मूल चित्त है, अगर चित्त न हो तो कोई भेद है ही नहीं, इसलिए प्रत्यग् स्वरूप परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र कर दे।

अखण्ड आनन्दरूप आत्मा को स्वस्वरूप जानकर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनन्द रस का तू स्वाद ले।

वैराग्य का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल उपरति है और आत्मानन्द के अनुभव से जो शान्ति होती है, वही उस उपरति का फल है।

ऊपर बतलाई हुई वस्तुओं में से उत्तरोत्तर जो न हो तो उससे पहले की वस्तु निष्फल है। विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनन्द है वह स्वयं ही अनुपम है।

"**अ**गर चित्त न हो तो कोई भेद नहीं है, इसलिए परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र कर दे।"

'चित्त' और 'एकाग्रता', दो बातों के सम्बन्ध में गहरे से समझ लेना जरूरी है। चित्त जीवन की अनिवार्यता है। चित्त का अर्थ है 'विचारों का प्रवाह'। पूरे समय आपके भीतर चित्त बह रहा है।

चित्त कोई वस्तु नहीं है; पहली बात ख्याल ले लें। चित्त है प्रवाह, वस्तु नहीं। और फर्क कीमती है। एक पत्थर पड़ा है, वह एक वस्तु है; एक झरना बह रहा है, वह एक प्रवाह है। जो चीज पड़ी है, वह थिर है; जो बह रही है, वह प्रतिपल बदल रही है।

चित्त वस्तु नहीं है, चित्त प्रवाह है। इसलिए चित्त प्रतिपल बदल रहा है। एक क्षण भी वही नहीं है, जो क्षणभर पहले था। जैसे नदी बदलती जा रही है।

हेराकलतु ने कहा है: "एक ही नदी में दुबारा नहीं उतरा जा सकता।" क्योंकि जब आप दुबारा उतरने जायेंगे तो जिस पानी में पहली बार उतरे थे, वह न-मालूम कहाँ जा चुका। ऐसे ही एक ही चित्त को भी दुबारा नहीं पाया जा सकता; जो बह गया, वह बह गया। और पूरे समय भीतर धारा बह रही है। इस बहती धारा के पीछे खड़े होकर हम देख रहे हैं जगत् को।

तो चित्त की छाया हर चीज पर पड़ती है। और बदलता हुआ चित्त, खंड-खंड हजार टुकड़ों में टूटा हुआ चित्त, सारे जगत् को भी तोड़ देता है।

पहली बात, चित्त एक प्रवाह है, बदलता हुआ। इसलिए चित्त के द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता जो कभी बदलता नहीं है। जिसके द्वारा हम जान रहे हैं, अगर वह बदलता हुआ हो, तो हम उसे नहीं जान सकते जो कभी बदलता नहीं है। बदलती हुई चीज के माध्यम से हम जो भी जानेंगे वह भी बदलता हुआ ही दिखायी पड़ेगा। जैसे आपकी आँख पर एक चश्मा है, और उस चश्में का रंग बदल रहा हो—लाल से हरा हो जाये, हरे से पीला हो जाये, पीले से सफेद हो जाये; आपके चश्में

का रंग बदल रहा हो, तो उसके साथ ही बाहर का जो जगत् है, उसका रंग बदलता चला जायेगा; क्योंकि जिस माध्यम से आप देख रहे हैं, वह आरोपित हो रहा है।

मन आपका बदल रहा है, प्रतिपल। इसी कारण मन से हम केवल उसी को जान सकते हैं, जो बदल रहा है; मन से उसे नहीं जान सकते, जो कभी नहीं बदलता है। और इस जीवन का जो परम गुह्य सत्य है, वह अपरिवर्तनीय है; वह शाश्वत है, वह कभी बदलता नहीं। इसलिए चित्त उसे जानने का मार्ग नहीं है।

जगत् की जो पदार्थ सत्ता है, वह बदलती है; वह मन की तरफ ही बदलती है। इसलिए मन से जगत् के पदार्थ को जाना जा सकता है, लेकिन जगत् में छिपे परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। जैसे विज्ञान मन का उपयोग करता है, चित्त का उपयोग करता है—खोज के लिए; विज्ञान मन के ही माध्यम से जगत् की खोज करता है। और इसलिए विज्ञान कभी भी नहीं कह पायेगा कि 'ईश्वर है'; विज्ञान सदा ही कहेगा, 'पदार्थ है'। परमात्मा की कोई प्रतीति विज्ञान में उपलब्ध नहीं होगी। नहीं इसलिए नहीं कि परमात्मा नहीं है, बल्कि इसलिए कि विज्ञान जिस माध्यम का उपयोग कर रहा है वह माध्यम केवल परिवर्तनशील को ही जान पाता है; वह माध्यम अपरिवर्तनीय को नहीं जान पायेगा।

ऐसा समझें कि संगीत चल रहा हो, और आप आँख से सुनने की कोशिश करें, तो आप कभी भी न सुन पायेंगे; संगीत का पता ही नहीं चलेगा। आँख देख सकती है, इसलिए आँख से रूप का पता चल सकता है। आँख सुन नहीं सकती, इसलिए ध्वनि का कोई पता नहीं चल सकता। कान सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। लेकिन कान से अगर कोई देखने को कोशिश करे, तो वह कहेगा 'जगत् में कोई रूप है ही नहीं'। कान को तो ध्वनि ही पकड़ में आती है। माध्यम जो पकड़ सकता है, उसी को जान सकता है।

चित्त है परिवर्तन। चित्त का स्वभाव है परिवर्तन; प्रवाह। इसलिए परिवर्तन से तो चित्त का ताल-मेल बैठ जाता है, लेकिन अपरिवर्तनीय को चित्त नहीं जान पाता। इसलिए जो लोग मन से ही परमात्मा की खोज पर निकलते हैं, वे आज नहीं कल, नास्तिक हो जायेंगे। अगर वे नास्तिक नहीं होते हैं, तो उसका मतलब केवल इतना ही है, कि कमजोर हैं और मन जो उन्हें कह रहा है, उसको पूरे मानने की उनकी हिम्मत नहीं है। लेकिन मन से चलनेवाला आदमी आस्तिक हो ही नहीं सकता। उसकी आस्तिकता वैसी ही झूठी है, जैसे बहरा आदमी कहे कि मैंने आँख से संगीत सुना है, या अंधा आदमी कहे कि मैंने कान से रूप देखा

है, प्रकाश का अनुभव किया है। मन से चलनेवाले आदमी की आस्तिकता ऐसी ही झूठी होगी।

इसलिए दुनिया में इतने आस्तिक हैं, लेकिन सच्चा आस्तिक खोजना मुश्किल है। आप भी अगर आस्था लाते हैं तो मन से ही लाते हैं, सोच-विचार करके लाते हैं। सोच-विचार से कोई कभी आस्तिक नहीं होता; और हो, तो झूठा आस्तिक होता है।

सोच-विचार से, अगर ईमानदार रहना है, तो नास्तिकता ही आयेगी--इसे थोड़ा ठीक-से समझ लें; क्योंकि माध्यम ही अपरिवर्तनीय को पकड़नेवाला नहीं है; अपने को धोखा दें तो बात अलग। अपनी अस्तिकता पर सोचें! मानते हैं ईश्वर को आप, लेकिन वह भी सोचा-विचारा है; तर्क, अनुमान, विचार, शास्त्र, परम्परा, सिद्धान्त, इनसे ही निकाला हुआ है। वह ईश्वर वास्तविक नहीं है, और वह ईश्वर केवल आपकी बेईमानी की खबर देता है, क्योंकि मन से तो ईश्वर निकल ही नहीं सकता है।

दुनिया में आस्तिक कहे जानेवाले लोग निन्यानबे प्रतिशत छिपे हुए नास्तिक हैं; उनकी आस्तिकता में कोई बल नहीं है; निर्वीय है; नपुंसक है। जरा-सी चोट और उनकी आस्तिकता टूट जायेगी! उसकी भीतर कोई जड़ नहीं है। आस्तिक तो तभी होता है कोई, जब मन को हटाकर जगत् को देखता है। तो फिर जगत् दिखायी नहीं पड़ता, क्योंकि मन के हटते ही जो परिवर्तनशील है फिर वह दिखायी नहीं पड़ सकता। मन के हटते ही, चेतना जब देखती है जगत् को, तो चेतना का सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जो परिवर्तनशील नहीं है।

चेतना शाश्वत है; अपरिवर्तनशील है। तो चेतना का संगीत उसी से सधता है जो शाश्वत है। मन के हटाते ही जो दिखायी पड़ता है, वह परमात्मा है; मन के लाते ही जो दिखायी पड़ता है, वह संसार है। ऐसी परिभाषा करें कि मन के बिना जिन्होंने जाना है अस्तित्व को, उन्होंने कहा 'परमात्मा है और कुछ भी नहीं है'; मन से जिन्होंने जाना है अस्तित्व को, उन्होंने कहा 'परमात्माभर नहीं है और सब-कुछ है'।

तो मन से आप कभी जान न पायेंगे। जगत् को जान पायेंगे; जगत् को मन से ही जान पायेंगे, सत्य को नहीं। और मन से जो चीजें भी जानी जाती हैं, वे प्रति पल बदलती रहेंगी। इसलिए विज्ञान थिर नहीं हो पाता। और विज्ञान कभी स्थिर नहीं हो पायेगा—विज्ञान कभी भी यह नहीं कह सकेगा कि यह सत्य शाश्वत है। विज्ञान इतना ही कह सकेगा 'टेन्टेटिव—अस्थायी रूप से—अभी जितना हम जानते

हैं उसमें यह सत्य है; कल जो हम जानेंगे, उससे क्या होगा परिणाम, नहीं कहा जा सकता'।

इसलिए विज्ञान रोज बदल रहा है; कल जो था सब, वह आज झूठ हो जाता है। आज तो कठिनाई यह हो गयी, कि स्कूल, कॉलिज में जो विज्ञान पढ़ाया जा रहा है, वह तभी पढ़ाया जाता है जब वह करीब-करीब झूठ हो चुका होता है; क्योंकि बीस साल लग जाते हैं—कोई चीज खोजी जाये, तो उसको स्कूल तक लाने में कम-से-कम बीस साल लग जाते हैं। इस बीस साल में वह झूठ हो चुकी होती है। आज बड़ी किताब नहीं लिखी जा सकती, विज्ञान की; क्योंकि अगर कोई हज़ार पृष्ठ की कोई किताब लिखे, तो जब तक वह लिखता है, तब तक बहुत-सी बातें गलत हो चुकी होती हैं। इसलिए विज्ञान धीरे-धीरे छोटी किताबों पर आता जा रहा है। छोटी किताबें भी अब नहीं लिख रहा है कोई विज्ञान—छोटे लेख; क्योंकि वे तत्क्षण लिखे जा सकते हैं, और डर नहीं है कि उनके छपने के पहले वे गलत हो जायें।

विज्ञान बदलेगा ही, क्योंकि मन से खोजी गयी कोई भी चीज शाश्वत नहीं हो सकती। इसलिए पश्चिम में बहुत कठिनाई होती है विचारकों को कि महावीर ने कुछ कहा ढाई हज़ार साल पहले, उपनिषद् के ऋषियों ने कुछ कहा पाँच हज़ार साल पहले, अब तक वह सत्य कैसे है! पाँच हज़ार साल! यहाँ तो पाँच साल पहले जो बात कही गयी, वह भी झूठी हो जाती है, धूमिल हो जाती है। तो पाँच हज़ार साल पहले जो कहा, वह कब का झूठ हो चुका होगा!

उनका कहना संगत मालूम पड़ता है, क्योंकि पाँच साल पहले की बात भी संदिग्ध जब हो जाती हो, तो पाँच हज़ार साल पहले की बात का संदिग्ध होना स्वाभाविक है।

लेकिन नहीं, उपनिषद् ने जो कहा है वह अब भी वैसा ही सत्य है, और वह कल भी वैसा ही सच रहेगा। तो इसके दो मतलब हो सकते हैं: एक मतलब तो यह है कि भारत की बुद्धि कुंठित हो गयी है, वह विकसित नहीं होती; वह पाँच हज़ार साल पहले ठहर गयी है; जो खोज लिया था उसी को पकड़कर बैठी है; उससे आगे नहीं गये; नहीं तो कभी का गलत हो जाता।

आज तो भारत में भी जो सोच-विचार करते हैं, और सोच-विचार कम ही लोग करते हैं, और जो करते हैं वे भी करीब-करीब उधार करते हैं, वे भी करीब-करीब पश्चिम की छाया होती है। तो पश्चिम में, चाहे भारत में, जो आज विज्ञान के सोचने का ढंग है, हिसाब से ऐसा ही लगेगा कि यह भारत की जो बातें हज़ारों साल पुरानी हैं, यह कब की झूठ हो चुकी होंगी। लेकिन चूँकि भारत ने चिंतन करना बन्द कर दिया है, इसलिए इनको बदल नहीं पाया है, वहीं रुका हुआ है।

जो मन से सोचता है, उसका यह कहना ठीक भी है। लेकिन ये सत्य कभी मन से पाये नहीं गये, यह अड़चन है। ये पाँच हजार साल पहले या पचास हजार साल पहले पाये गये, या पाँच हजार साल बाद, या पचास हजार साल बाद पाये जायें, ये मन से नहीं पाये गये हैं। और जो मन से नहीं पाया जाता, वह बदलता नहीं है; उसके बदलने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि मन को छोड़ते ही हम उस जगत् में प्रवेश करते हैं, जो शाश्वत है, सनातन है; जहाँ कभी कुछ बदलता नहीं है; जहाँ सब अपरिवर्तित है; जहाँ समय ठहर गया है; जहाँ समय में कोई गति नहीं है; जहाँ समय जम गया है। ये सत्य सदा ही सत्य रहेंगे। अगर ये मन के बाहर पाये गये हैं, तो दुनिया का कोई परिवर्तन इनमें परिवर्तन न ला सकेगा। अगर यह भी मन के भीतर ही पाये गये हैं, तो दुनिया का परिवर्तन इनमें परिवर्तन लाता रहेगा।

भारत की मौलिक खोज यही है कि अस्तित्व को मन के बिना भी जाना जा सकता है। धर्म और विज्ञान का यह फर्क है: विज्ञान कहता है, जो भी जाना जा सकता है, मन से जाना जा सकता है; धर्म कहता है, मन से जो भी जाना जाता है, वह कामचलाऊ है; लगभग सत्य है। मन के पार जो जाना जाता है, वही सत्य है। और मन के पार ही वास्तविक जानना सम्भव होता है।

तो इस चित्त को कैसे मिटा दें? इस चित्त को कैसे शून्य कर दें, शान्त कर दें? यह सूत्र कहता है, इसे एकाग्र कर दें तो यह शून्य हो जायेगा, शान्त हो जायेगा।

यह दूसरी बात समझने की है: चित्त का स्वभाव ही है एकाग्र न होना; यह चित्त का स्वभाव है कि एकाग्र न होना। आप एक क्षण भी चित्त को एकाग्र करें, वह एकाग्र नहीं होगा, उसमें भी वह प्रवाह खोज लेगा।

अगर मैं आपसे कहूँ कि 'राम पर चित्त को एकाग्र कर दें', तो जब आप राम पर चित्त एकाग्र करेंगे तो पूरी रामलीला भीतर आने लगेगी! सीता आ जायेगी पीछे से, हनुमान झाँकने लगेगा; सब उपद्रव खड़ा हो जायेगा! राम पर चित्त एकाग्र करेंगे तो दशरथ आ जायेंगे और रावण आ जायेगा और सब आ जायेंगे! जरा कोशिश करें; राम को छाँट लें अलग——न दशरथ, न रावण, न सीता, न हनुमान, न लक्ष्मण——कोई भी नहीं; पूरी रामलीला काट दें——सिर्फ राम, तो चित्त मुश्किल में पड़ जायेगा! तो फिर एक उपाय है कि राम में कई टुकड़े कर लें; पैर से शुरू करें; राम के पैर देखें, फिर उनका शरीर देखें, फिर उनका चेहरा देखें, फिर उनकी आँखें देखें, तो चित्त को सुविधा मिल जायेगी, क्योंकि फिर प्रवाह शुरू हो गया। राम की आँख ही चुन लें, तो अगर दो आंखें भी हों तो चित्त एक से दूसरी पर जाता रहेगा। तो एक ही आँख बचा लें, काने राम को चुन लें। तो एक ही आँख पर चित्त को लगाएँगे तो आँख के सम्बन्ध में चिंतन शुरू हो जायेगा।

चित्त का स्वभाव है प्रवाह। इसलिए आप कुछ भी करें, चित्त उसमें से प्रवाह निकाल लेगा; तत्काल प्रवाह निकाल लेगा, और चिंतन करने लगेगा। ध्यान और चिंतन का यही फर्क है। ध्यान का अर्थ है 'चिन्तन का ठहर जाना, प्रवाह का रुक जाना'; एकाग्रता का अर्थ है, 'एक ही रह जाये, उसके सम्बन्ध में कोई चिन्तन न रहे'।

तो क्या होगा? यह मन के स्वभाव के प्रतिकूल है; असम्भव है मन के लिए। अगर आप आग्रह करेंगे और चेष्टा करेंगे असम्भव की, तो एक ही उपाय है: पहले तो मन बहुत संघर्ष करेगा और वह सब तरह से आपको समझायेगा, बुझायेगा और तरकीब निकालेगा चिन्तन की;——वह कहेगा 'कोई हर्जा नहीं, 'राम' पर ही चिन्तन करो; बड़ा अच्छा है, बड़ी धार्मिक बात है; राम पर चिन्तन करें'! वह कहेगा कि कोई हर्ज नहीं, अगर राम पर चिन्तन भी नहीं करना तो 'राम-राम', 'राम-राम' ——ऐसा जप करें।

पर 'राम-राम', 'राम-राम'...प्रवाह शुरू हो गया! एक राम,...दूसरा राम आया कि प्रवाह शुरू हो गया, मन को गति मिल गयी, अब वह चलने लगा!

तो मन पहले तो कोशिश करेगा प्रवाह को खोजने की, क्योंकि वह उसका स्वभाव है। अगर आप माने ही नहीं और सजग रहे, और आपने कहा कि प्रवाह तो हम पैदा होने ही न देंगे, हम तो एक बिन्दु पर ही ठहर जायेंगे, उससे हिलेंगे नहीं यहाँ-वहाँ——अगर आपने ज़िद जारी रखी, तो दूसरा उपाय यह है कि मन गिर जायेगा; क्योंकि एकाग्र तो मन हो ही नहीं सकता।

यह आपको अजीब लगेगी बात जानकर: मन एकाग्र तो हो ही नहीं सकता। इसीलिए एकाग्र करने के लिए कहा जाता है, कि एकाग्र अगर आप हो गये, तो मन समाप्त हो जायेगा। मन के लिए असम्भव है एकाग्र होना। जब आप एकाग्र होते हैं, तो मन होता ही नहीं; जब तक मन होता है, तब तक एकाग्र नहीं होते।

एकाग्र का मतलब है ठहर जाना; रुक जाना, प्रवाह का बन्द हो जाना, समय का समाप्त हो जाना, सब गति का खो जाना, एकाग्र का अर्थ है।

तो अगर आप एकाग्र करने की चेष्टा करते गये, करते गये, करते गये, न माने मन की और सजग रहे कि मन कोई तरकीब तो नहीं खोज रहा है जिससे प्रवाह पैदा हो जाये, तो एक दिन वह घड़ी आ जाती है कि एकाग्र करने की चेष्टा से——मन एकाग्र नहीं होता——एकाग्र करने की चेष्टा से मन नाश हो जाता है; मन शांत हो जाता है; मन विलीन हो जाता है। जब आप मानते ही नहीं और एकाग्र करने के ही प्रयास में ही लगे रहते हैं, तो मन बैठ जाता है।

मन का न हो जाना, एकाग्र होना है। इसलिए जब अभी हम कहते हैं कि

मन को एकाग्र करो, तो हम बड़ी गलत बात कहते हैं। इसलिए मैंने कहा कि बुद्ध और महावीर लगभग झूठी बातें कहते हैं। कहनी पड़ती हैं। जब हम कहते हैं 'मन को एकाग्र करो', तो हम बड़ी गड़बड़ बात कह रहे हैं, क्योंकि मन एकाग्र हो ही नहीं सकता। और हो गया, तो मन नहीं रह जाता।

एकाग्रता और मन विपरीत घटनाएँ हैं। विपरीत की चेष्टा करने से मन मर जाता है। पर बड़ी कठिन बात है! कठिन इसलिए है कि एकाग्रता को समझ लेना जरूरी है: प्रवाह पैदा न हो पाये। 'चिन्तन' प्रवाह है, 'ध्यान' प्रवाह का रुक जाना है। नदी बह रही है; नदी को जमा दिया बर्फ की तरह; सब प्रवाह ठहर गया; अब कोई गति नहीं है। ऐसा ही मन ठहर जाए; सारा प्रवाह रुक जाए; जम जाए बर्फ की तरह; तो उसी क्षण मन नहीं है; मन खो गया। और जो बचता है, वही चैतन्य है।...जो बचता है, वही चैतन्य है।

यह सूत्र कहता है: "विकल्प का, भेद का मूल है चित्त, मन! चित्त न हो, कोई भेद नहीं। प्रत्यग् स्वरूप परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र कर दे।"

परमात्मा का तो हमें ठीक-ठीक कोई पता नहीं है; पर पता होने की कोई जरूरत भी नहीं है। परमात्मा है या नहीं, यह बड़ा सवाल नहीं है; चित्त को एकाग्र करना बड़ा सवाल है। किसी भी चीज पर कर दें; कल्पित चीज पर भी करें तो भी काम हो जायेगा। इसलिए यह सवाल नहीं है कि कोई वास्तविक चीज पर ही करेंगे तो ही हल होगा। इसलिए सूत्र यह नहीं कहता कि पहले परमात्मा को खोजो फिर चित्त को एकाग्र करो। यह कहता है, अगर तुम्हें लगता है कि परमात्मा काल्पनिक है, तो भी कोई चिन्ता नहीं है। काल्पनिक बिन्दु पर भी अगर चित्त एकाग्र हो जाये, तो मन खो जायेगा। और मन के खोते ही उसका दर्शन शुरू हो जाएगा जो वास्तविक है। इसलिए मान के चलने में हर्ज नहीं है।

परमात्मा ध्यान की एक हाइपोथिसिस है। परमात्मा आस्था नहीं है खोजियों के लिए, परमात्मा भी ध्यान को एकाग्र करने का एक कल्पित बिन्दु है। और जब मैं कहता हूँ कल्पित बिन्दु तो आप यह मत समझना कि मैं यह कह रहा हूँ कि परमात्मा है नहीं। आपके लिए नहीं हैं अभी। आप तो एक कल्पित बिन्दु पर ध्यान एकाग्र करते हैं। वह बिन्दु कोई भी हो सकता है। उसका कोई भी रूप हो; उसका नाम 'राम' हो कि 'कृष्ण' हो कि 'अल्लाह' हो--कुछ भी हो, चलेगा। उससे कोई भेद नहीं पड़ता। महत्व यह नहीं है कि आप किस पर एकाग्र कर रहे हैं। महत्व यह है कि आप एकाग्र कर रहे हैं। इसलिए सारे दुनिया के धर्म काम में आ जाते हैं। उनके सिद्धांतों में कोई भी मतभेद हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता--खोजी के लिए।

वे सारे भेद पंडित के लिए, व्यर्थ बकवास जिन्हें करनी है, उनके लिए भेद हैं; खोजी के लिए कोई भेद नहीं पड़ता: 'अल्लाह' कि 'राम' कि 'याहवे'--कोई भी नाम हो।

विज्ञान, धर्म का जो विज्ञान है, धर्म की जो प्रक्रिया है, उसका मूल्य आप किस चीज पर एकाग्र कर रहे हैं उससे है ही नहीं; वह असंगत है। महत्त्व यही है कि आप एकाग्र कर रहे हैं; अ, ब, स, द--कुछ भी हो, आप एकाग्र कर रहे हैं। एकाग्र करने की प्रक्रिया में ही मनोनाश हो जाता है। और मनोनाश होकर जो जाना जाता है, उसका नाम न तो 'अल्लाह' है, उसका नाम न 'राम' है, उसका नाम न 'कृष्ण' है। उसका कोई नाम नहीं है। सब नाम कल्पित हैं। उपयोगी हैं; ताबीज हैं; काम करते हैं। और जब समझ आ जाती है तो उन्हें फेंका जा सकता है, उन्हें हटाया जा सकता है। फिर उनकी कोई ज़रूरत नहीं है।

यह बड़ी क्रान्तिकारी बात है। आम धार्मिक आदमी को समझ में भी नहीं आता कि उसके 'राम', उसके 'कृष्ण', उसकी 'मूर्तियाँ', उसके 'मंदिर', सब काल्पनिक हैं। काल्पनिक का अर्थ 'झूठे नहीं' है, काल्पनिक का अर्थ 'हाइपोथेटिकल' है। उनका उपयोग किया जा सकता है। वहाँ से यात्रा शुरू की जा सकती है। यात्रा के अन्त पर तो पता चलता है कि उनके बिना भी यात्रा हो सकती थी। और यात्रा के अन्त पर यह भी पता चलता है कि ये किन्हीं दूसरे नामों से भी हो सकती थी। लेकिन यात्रा के शुरू में यह पता नहीं चल सकता। इसकी कोई ज़रूरत भी नहीं है। हिन्दू, हिन्दू की तरह चल पड़े; मुसलमान, मुसलमान की तरह चल पड़े; ईसाई, ईसाई की तरह चल पड़े; मंजिल पर जाकर पत ाचलेगा कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सब उपयोगिताएँ थी, उनका कोई वास्तविक, परम सत्य के साथ सम्बन्ध न था।

उनका सम्बन्ध था हमारे अज्ञान के साथ, ज्ञान के साथ नहीं। उनका सम्बन्ध था, जहाँ हम खड़े थे संसार में, वहाँ से यात्रा शुरू करने के लिए; उनका सम्बन्ध उस मंजिल के साथ नहीं था, जहाँ हम पहुँचे। इसलिए पहुँचकर न कोई हिन्दू रह जाता है, न कोई ईसाई रह जाता है, न कोई मुसलमान रह जाता है; पहुँचकर केवल धार्मिक रह जाता है आदमी।

इसलिए ध्यान रखें, जब तक आप ईसाई हैं, हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, तब तक समझना, अभी धार्मिक नहीं हैं। यह तो धर्म की तरफ यात्रा है।

गुर्जियेफ बहुत कीमती बात कहा है। गुर्जियेफ से जब भी कोई आकर पूछता था कि 'मार्ग क्या है, सत्य तक पहुँचने का मार्ग क्या है', तो गुर्जियेफ कहता था, 'बड़ी बातें मत करो, हम तो मार्ग तक पहुँचने का मार्ग बताते हैं सिर्फ, फिर आगे तुम जानना। अभी तो तुम मार्ग तक ही पहुँच जाओ, यही काफी है। मार्ग क्या है, यह मत

पूछो; मार्ग तक पहुँचने की पगडंड़ी क्या है? पहले तुम मार्ग पर पहुँच जाओ, अभी तो इसकी फिक्र करो।'

ध्यान रहे! हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सब पगडंडियाँ हैं, मार्ग पर पहुँचने की। कोई भी मार्ग नहीं हैं वो; मार्ग तो है धर्म। हिन्दू है पगडंडी, मुसलमान है पगडंडी, ईसाई है पगडंडी; मार्ग है धर्म। सब पगडंडियों से आप धर्म के मार्ग पर पहुँच जायें, फिर पगडंडी खो जाती है।

एकाग्र होना है मूल्यवान, क्योंकि एकाग्र होने की चेष्टा मन के प्रतिकूल है। पर बड़ा ध्यान रखना जरूरी है, क्योंकि एकाग्र होने की दो कठिनाइयाँ हैं: एक, कि आप चिन्तन पैदा कर लेंगे। चिंतन पैदा हुआ, व्यर्थ हो गयी बात। दूसरी कठिनाई है कि अगर चिन्तन पैदा न कर पाये, तो आप तत्काल सो जायेंगे।

आपने ख्याल किया हो; किसी रात अगर मन में ज्यादा चिंतन चलता रहे, तो नींद नहीं आती। मन में कोई विचार चल रहा है, कोई चिन्ता है, कोई धारा बह रही है, तो नींद नहीं आती, क्योंकि नींद में बाधा पड़ती है। जिस रात मन में कोई चिन्तन नहीं, कोई विचार नहीं, मन खाली-खाली है--नींद गहरी आती है और जल्दी आ जाती है! पड़े बिस्तर पर कि आ गई!

इसलिए मजदूर है, किसान है, गहरी नींद सोता है। गहरी नींद सोने का कारण यह है कि चिन्ता और चिंतन और विचार और मानसिक ऊहापोह, उसके काम से इनका कोई ज्यादा सम्बन्ध नहीं है; इनकी उसे कोई जरूरत नहीं पड़ती है। गड्ढा खोद रहा है, खेत में काम कर रहा है--ये बंधे हुए काम हैं; इनके लिए चिन्तन की कोई ज़रूरत नहीं है; इसमें चिन्तन की धारा ज्यादा नहीं चलती। साँझ आता है, थका-माँदा बिस्तर पर गिरता है, चिन्तन होता नहीं, नींद गहरी लग जाती है।

जो काम चिन्तन का ही करते हैं लोग, उनकी खास बीमारी अनिद्रा हो जाती है; जो सोच-विचार में ही चौबीस घंटे लगे रहते हैं; रात सोच-विचार चलता ही चला जाता है, नींद नहीं आ पाती।

...यह मैं इसलिए कह रहा हूँ, ताकि इससे विपरीत बात आपकी समझ में आ जाये।

मन के साथ प्रयोग करने में एकाग्रता का दूसरा खतरा यह है कि पहले तो मन कोशिश करेगा कि चिन्तन पैदा हो जाये, क्योंकि मन को उसमें सुविधा है, मन का स्वभाव है। अगर यह नहीं हुआ, और आपने जिद बाँधी, तो दूसरी घटना यह घटेगी कि अगर चिन्तन बन्द हुआ, तो बजाय ध्यान में जाने के आप निद्रा में चले जायेंगे। क्योंकि जैसे ही चिन्तन बन्द होता है, सदा कि आदत है कि जब भी चिन्तन

बन्द होता है, नींद पकड़ लेती है।

इसलिए अनेक लोग ध्यान के नाम पर सोये रहते हैं; नींद लेते रहते हैं। मंदिरों में बैठे हैं, झपकी खा रहे हैं! उनका कसूर नहीं है। उन्हें पता नहीं कि बात क्या हो रही है। वे कोशिश कर रहे हैं, एकाग्र होने की। एकाग्र होने की कोशिश से दो दुर्घटनाएँ घट सकती हैं: या तो चिन्तन शुरू हो, और अगर चिन्तन शुरू न हो तो झपकी आ जाये।

तो चिन्तन से बचना है, और झपकी से बचना है। ये दो खाइयाँ हैं और इनके बीच में ध्यान है।

ज़ेन फकीर तो अपने आश्रमों में संन्यासियों को डंडा लेकर घूमाते रहते हैं। जब कोई ध्यान करता है तो एक संन्यासी डंडा लेकर घूमता रहता है। वह जैसे ही देखता है कि झपकी खायी, सिर पर एक डंडा पड़ता है!

जल्दी, हम भी इन्तज़ाम करेंगे! और ऐसा नहीं है कि उसका उपयोग नहीं है, उसका बड़ा उपयोग है। क्योंकि झपकी एकदम-से टूट जाती है। चिन्तन चल रहा था, चिन्तन टूट गया, झपकी आ गयी। एक खाई से बचे, दूसरी खाई में गिर गये। और झपकी तभी आती है जब चिन्तन की धारा टूट जाए। और फिर गुरु आया और उसने एक डंडा सिर पर मारा। चिन्तन की धारा बन्द हो गयी थी, झपकी आ गयी थी, उसने डंडा मारा, झपकी की धारा एक क्षण को टूट गयी। उस एक क्षण में ध्यान की झलक मिल जाती है। और एक क्षण भी झलक मिल जाये, तो सहारा मिल जाता है। तो फिर लगने लगता है कि जहाँ जा रहे हैं, वह कोई अंधेरे का रास्ता नहीं है, मामला साफ है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत साधक होते हैं और गुरु ख्याल भी नहीं रख पाता: कौन झपकी खा रहा, कौन क्या कर रहा है। तो ज़ेन में व्यवस्था है कि जब भी किसी साधक को ऐसा लगता है कि झपकी आ रही, तो वह दोनों हाथ अपनी छाती के पास कर लेता है, इससे गुरु देख लेता है कि ठीक, उसके भीतर झपकी का डर पैदा हो रहा है। यह निमंत्रण है कि मुझे डंडा मारो। भीतर झपकी पकड़ गयी है, नींद की हल्की लहर आनी शुरू हो गयी है, तरंगें आने लगी हैं और डर है कि अब मैं नींद में खो जाऊँगा।

चिन्तन पैदा न हो और झपकी न लगे, बस तो फिर ध्यान लग जायेगा। ध्यान का अर्थ हुआ: 'चिन्तन और झपकी का अभाव; चिन्तन और नींद का अभाव'। तो ध्यान लग जायेगा।

कोई भी हो बिन्दु एकाग्रता का, ये दो बातें ख्याल में रहें।

"अखंड आनंदरूप आत्मा को स्वस्वरूप जानकर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनन्द रस का तू स्वाद ले।"

दूसरी बात भी बहुत कीमती है। हम स्वाद लेते हैं। अपने में कभी नहीं लेते, सदा दूसरे में लेते हैं। यह बड़ी मजेदार बात है: हम स्वाद लेते हैं, हम रस भी लेते हैं, हम कभी-कभी सुख भी पाते हैं, लेकिन सदा दूसरे में। कभी आपने अपना स्वाद लिया? नहीं लिया होगा। अपनी तरफ तो हम ध्यान ही नहीं देते!

यह सूत्र कहता है कि साधक को धीरे-धीरे दूसरे में स्वाद लेना छोड़कर अपने में स्वाद लेना चाहिए। खाली बैठे हैं, तब आप कभी आनन्दित नहीं होते। सोचते हैं मित्र आ जाएँ तो थोड़ा मजा हो; संगी-साथी मिल जाएँ तो थोड़ी खुशी हो। अकेले में उदासी पकड़ने लगती है। अकेले में आप खुश नहीं दिखायी पड़ते। अकेले में ऊब हो जाती है; अपने से ऊब हो जाती है।

कोई अपने को पसंद करता ही नहीं! और बड़ा मजा यह है कि सब यह चाहते हैं कि दूसरे हमें पसंद करें! और आप खुद अपने को पसंद नहीं करते! खुद से ऊब जाते हैं और चाहते हैं कि दूसरे बड़े प्रसन्न हों जब आपका दर्शन हो। यह कैसे होगा? यह असम्भव है। सोचते हैं कि दूसरों को आप बड़ा आनन्द दे। अपने को नहीं दे पाते, दूसरों को कैसे देंगे! और जो नहीं है पास अपने, उसे देने का कोई उपाय ही नहीं है।

यह सूत्र कहता है: अपने स्वभाव में रस, स्वाद, आनन्द का अनुभव करें। अकेले बैठे हैं, आनन्दित हों। इस अवस्था को फकीरों ने मस्ती कहा है। मस्ती का मतलब यह है कि कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता और मस्त हो रहे हैं; प्रसन्न हो रहे हैं। कोई रस की धार जैसे भीतर अपने ही चल रही है; अपना ही आनन्द ले रहे हैं; अपने से ही ले रहे हैं; दूसरे का कोई माध्यम नहीं है।

मस्ती की अलग साधना पद्धतियाँ हैं। सूफियों ने बहुत उपयोग किया है मस्ती की साधना का। मस्तों के अलग मार्ग हैं। उनका सूत्र यही है; उनका आधार-सूत्र यही है कि दूसरे से अपने सुख को मत जोड़ो। जो आदमी दूसरे से अपने सुख को जोड़ता है, उसका दुःख भी दूसरे से जुड़ जाता है।

दूसरे से सुख जोड़ो ही मत, सुख जोड़ो अपने से। खाली वृक्ष के नीचे बैठे हैं, प्रसन्न हो रहे हैं! बड़ा मुश्किल लगेगा! कैसे प्रसन्न हों, जब कोई प्रसन्नता का कारण ही नहीं है! क्योंकि हम सदा कारण से प्रसन्न होते हैं...कि मित्र चला आ रहा है; बहुत दिन बाद दिखायी पड़ा, प्रसन्न हो गये।

हम सदा कारण से प्रसन्न होते हैं।

अकारण प्रसन्नता का नाम मस्ती है। कोई कारण नहीं है; कोई विज़िबिल, कोई दिखायी पड़नेवाली वजह नहीं है। भीतर ही स्वाद ले रहे हैं। पागलों को कभी-कभी ऐसा होता है। इसलिए मस्तों में और पागलों में फर्क करना तक मुश्किल हो जाता है। जिनको हमने मस्त कहा है, उनमें से कई लोग, ठीक उन-जैसे लोग, पश्चिम में पागलखानों में पड़े हैं। क्योंकि उनके पास कोई विभाजन करने का उपाय नहीं है। उनके पास कोई उपाय नहीं है कि वे कैसे विभाजन करें। आदमी पागल मालूम पड़ता है! क्योंकि उन्होंने इस बात को स्वस्थ होने की परिभाषा बना लिया है कि सुख कारण से होता है तो आपका मस्तिष्क ठीक है, और अकारण सुख हो रहा है तो आपका दिमाग खराब है; क्योंकि अकारण सुख हो कैसे सकता है! लेकिन मस्तों की परम्परा कहती है कि अकारण ही सुख हो सकता है, कारण से तो कभी सुख हुआ ही नहीं। यह बड़ी मुश्किल बात है! मस्तों की परम्परा कहती है कि कारण से तो कभी सुख हुआ ही नहीं, सिर्फ वहम होता है। कारण से सदा दुख हुआ है।

इसे समझ लें, इसका पूरा मनस-शास्त्र है।

जब आप कारण में सुख खोजते हैं--किसी और में, किसी वस्तु में, किसी घटना में, किसी व्यक्ति में--तो अंतिम परिणाम सिवाय दुःख के और कुछ नहीं होता; दुःख-ही-दुःख होता चला जाता है। पत्नी पति में सुख खोज रही है, माँ बेटे में सुख खोज रही है, बाप बेटे में, बेटी में सुख खोज रहा है; सम्बन्धियों में, धन में, पद में, प्रतिष्ठा में--कहीं और; अपने को छोड़कर हम सब सुख खोज रहे हैं--कहीं और, और मजा यह है कि जिनमें हम सुख खोज रहे हैं, वे खुद कहीं और सुख खोज रहे हैं! हम एक खदान खोद रहे हैं जिस को हम सोचते हैं: 'हीरे की खदान है', और वह खदान खुद हीरों की तलाश में गयी है! और वह खदान जहाँ जाकर तलाश कर रही है, वे खुद कहीं और तलाश में गये हैं।

हम उन बेरंग चिट्ठियों की तरह हैं जिन पर कोई पता ही नहीं है; खोज रहे हैं! किसकी तरफ जा रहे हैं, उसका कोई पता नहीं है! और जिसके घर जा रहे हैं, पहले पूछा भी नहीं है कि वह खुद भी तो कहीं गये हुए नहीं हैं!

हर आदमी कहीं और है, इसलिए किसी से भी मिलना नहीं हो पाता। जिसके घर जाओ, वह वहाँ नहीं है। जिसका हाथ हाथ में लो, वह वहाँ नहीं है। जिसको हृदय से लगाओ, वह वहाँ नहीं है, वह कहीं और गया हुआ है।

सब कहीं और गये हुए हैं, इसलिए किसी का किसी से मिलना हो ही नहीं पाता; होगा भी नहीं। और जो कारण में खोज रहा है, वह आज नहीं कल,

गहरे-से-गहरे दुःख में पड़ता जायेगा, क्योंकि हर बार आशा बंधेगी कि यह कारण सुख देगा, और जब मिल जायेगा, आशा टूट जायेगी।

मस्ती का शास्त्र कहता है कि दूसरे से तो दुख मिलता है, सुख कभी मिलता नहीं; सुख मिलता है सदा अपने से। और जब कभी आपको दूसरे से भी मिलता हुआ लगता है, तो मस्ती की परम्परा कहती है कि उसका कारण दूसरा नहीं होता, आप ही होते हैं!

इसे भी थोड़ा समझ लें।

लगता है किसी से आपका प्रेम है। उसकी उपस्थिति सुखद मालूम पड़ती है। यह उसकी उपस्थिति के कारण आपको सुख मिल रहा है कि आपकी यह धारणा आपको सुख दे रही है कि मेरा प्रेम है और उपस्थिति से मुझे सुख मिलता है? क्योंकि अगर उस व्यक्ति की उपस्थिति से सुख मिलता हो, तो उस व्यक्ति की उपस्थिति से सभी को सुख मिलना चाहिए। लेकिन यह नहीं होता। उसी व्यक्ति की उपस्थिति से किसी को दुःख मिलता है भारी। अगर पानी से प्यास बुझती है तो सभी की प्यास बुझनी चाहिए। अगर आप कहें कि इस पानी से हमारी प्यास बुझती है और किसी की नहीं बुझती, तो इसमें मामला आपका ही है, पानी का नहीं हो सकता।

ऑब्जेक्टिव ट्रुथ और सब्जेक्टिव ट्रुथ, विषयगत सत्य और आत्मगत सत्यों में फर्क करना सीखना चाहिए। अगर पानी पानी है तो मेरी प्यास भी बुझाएगा, आपकी भी बुझाएगा, किसी की भी बुझाएगा; प्यास बुझाएगा, आदमियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसकी भी प्यास होगी, बुझ जायेगी।

किसी का सौन्दर्य मुझे सुख देता है, किसी और को नहीं देता। अगर सौन्दर्य है तो जिनको भी सौंदर्य की तलाश है, प्यास है, उन सबको सुख मिलना चाहिये। यह नहीं होता। उसी सौन्दर्य से किसी को काँटे छिदते हैं और ऐसा लगता है कि 'भाग खड़े हों, दूर हट जायें', उसी सौन्दर्य से आपको सुख मिलता है! किसी को दुख मिलता है; किसी को पता ही नहीं चलता कि सौन्दर्य है भी; किसी को सिर्फ हंसी आती है कि दिमाग खराब है, कहाँ सौन्दर्य देख रहे हो; वहाँ कुछ भी नहीं है।... मतलब क्या हुआ इसका?

...मतलब यह हुआ कि जो सौन्दर्य आपको दिखायी पड़ रहा है वह आपका ही दिया हुआ है; वहाँ कुछ है नहीं, आप ही कारण हैं। और इसलिए यह भी हो जाता है कि जिसके सौन्दर्य से सुबह सुख मिला, दोपहर दुःख मिलने लगता है! और साँझ फिर सुख मिलने लगता है! और आज सुख मिला, कल दुःख मिलने लगता है!

एक मजेदार घटना घटी। एक फिलम अभिनेत्री मेरे पास आयी और उसने मुझे कहा कि 'मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गयी हूँ, इसलिए आपसे सलाह लेने आयी हूँ। मुश्किल यह है कि मैंने किया था प्रेम विवाह, लेकिन वर्ष, दो वर्ष में ही लगा कि भूल हो गयी और कलह के सिवाय कुछ हाथ न लगा। फिर भी खींचा; दस साल खींचा; लेकिन कलह और नर्क गहरा होता चला गया और फिर खींचने का भी कोई उपाय न रहा, कोई अर्थ न रहा।'

हैरानी उसे हुई, क्योंकि पति ने बड़े आग्रह से यह प्रेम किया था, और बड़े आग्रह से यह विवाह किया था। और फिर पति का मन उचाट हो गया! फिर दस साल बाद तलाक हुआ। तो तलाक हुए भी दस साल हो गये। एक बच्ची थी, वह बड़ी हुई। अभी उसका विवाह हुआ। तो उस विवाह में पति-पत्नी का फिर से मिलना हो गया, क्योंकि दोनों मौजूद हुए विवाह में। और वह अभिनेत्री मेरे पास आयी थी कि 'मेरा पति फिर दुबारा मेरे प्रेम में पड़ गया है और वह कहता है कि हम फिर से विवाह कर लें! अब मैं क्या करूँ?'

...कठिनाई है! साफ है, कोई किसी के प्रेम में नहीं पड़ता। दूसरे तो परदे होते हैं, हम अपनी ही छाया देखकर उनके प्रेम में पड़ते चले जाते हैं। जब हमें लगता है कि दूसरे से सुख मिल रहा है, तब भी, हमारा ही आभास होता है। जितना हम गहरे जायेंगे उतना हम पायेंगे कि सुख की सारी घटना अपना ही फैलाव है। और चूँकि हम दूसरे में सुख मानते हैं और दूसरे से सुख होता ही नहीं, इसलिए दुःख भोगना पड़ता है।

जो आदमी यह खोज लेता है कि सुख का स्रोत मेरे भीतर है, कहीं उसे खोजने नहीं जाता, वह अपने को ही सुख में डूबा हुआ अनुभव करने लगता है। नाचता है किसी और कारण से नहीं, सिर्फ अपने होने के कारण; सिर्फ अपना होना ही काफी प्रसन्नता है; अपना होना मात्र ही काफी आनन्द है; कोई और कारण खोजने की जरूरत नहीं है। श्वाँस चल रही है, यह भी परम आनन्द है; हृदय धड़क रहा है, यह भी परम आनन्द है।

इसका थोड़ा प्रयोग करें: एक वृक्ष के नीचे एकान्त में बैठ जायें और पहली दफे अपने प्रेम में गिरें; भूलें संसार को, अपने प्रेम में पड़ें।

अध्यात्म की खोज असल में अपने ही प्रेम में पड़ने की खोज है। संसार दूसरे के प्रेम में पड़ने की यात्रा है, अध्यात्म अपने प्रेम में पड़ने की। अध्यात्म बड़ा स्वार्थी है। वह स्वयं की ही खोज है, स्वयं के ही अर्थ की खोज है; स्वयं का ही रस पाना है, स्वाद पाना है। और जब यह स्वाद भीतर आने लगता है, थोड़ी प्रतीक्षा करें, थोड़ी खोज करें, होने का आनन्द लें कि मैं हूँ यह भी क्या अनूठी

घटना है! मैं न होता तो क्या करता? मैं न होता तो कौन-सी शिकायत थी, किससे शिकायत थी? मैं हूँ इस अस्तित्व में, यह होना भी, यह होश, यह इतना बोध कि मैं हूँ, यह आनन्द की झलक की सम्भावना, इसका थोड़ा स्वाद लें। इसके स्वाद को जरा भीतर रोएँ-रोएँ में डूबने दें। इसकी पुलक में बह जायें। नाचने का मन हो नाचने लगें, हँसने का मन हो हँसने लगें, गीत गाने का मन हो गीत गाने लगें, लेकिन यह ध्यान रखें, केन्द्र खुद ही बने रहें। और सुख के स्रोत को भीतर से ही बहने दें, बाहर से नहीं। यह धीरे-धीरे अनुभव में उतर जाता है। और तब जो अवस्था आती है, वह है मस्त की अवस्था। मस्त का मतलब है कि जो अपने में मस्त हो गया।

यह सूत्र, मस्ती का आधार-सूत्र है।

"आनन्द रूप आत्मा को स्वस्वरूप जानकर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनंद रस का तू स्वाद ले।"

"वैराग्य का फल ज्ञान है,...

...यह सूत्र बहुत बहुमूल्य है।

"वैराग्य का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल उपरति है, और आत्मानन्द के अनुभव से जो शांति होती है, वही उपरति का फल है।

"ऊपर बतलायी हुई वस्तुओं में से उत्तरोत्तर जो न हो, तो उससे पहले की वस्तु निष्फल है। (ऐसा जानना।) विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनन्द है वह स्वयं ही अनुपम है।"

एक-एक चरण को समझ लें। और साधक के लिए एक-एक चरण स्मरण रखने-जैसा है। और निरन्तर उसकी परीक्षा करते रहने जैसी है। यह कसौटी है, निकस है।

'वैराग्य का फल ज्ञान है।'

जैसा मैंने कहा, शरीर की व्यर्थता का पता चले। शरीर व्यर्थ है, आँख गड़ा के देखेंगे पता चल जायेगा। संसार सुख नहीं दे पाता, ऐसी प्रतीति गहन और साफ हो जाये। और अड़चन नहीं है, खोजेंगे तो साफ हो ही जायेगी; क्योंकि ऐसा है ही। जैसे हम किसी आँख बंद आदमी को कहें कि तू आँख खोल और देख प्रकाश है। ऐसी ही ये बातें हैं। ऐसा है ही। संसार से कभी कोई सुख नहीं मिलता, शरीर से कभी कोई सुख नहीं मिलता, दूसरे से कभी कोई शान्ति नहीं मिलती--ऐसा है ही; आँख खोलकर खोजने की जरूरत है। डर के मारे कि कहीं सत्य पता न चल जाये, हम आँख बन्द किये हैं जन्मों-जन्मों से। यह हमारा आँख बन्द करना सप्रयोजन है। हमें डर है।

एक मित्र मेरे पास आये; विवाह करना चाहते थे; प्रेम है किसी से। मैं पूछा, 'सच में ही प्रेम है? थोड़ा सोच-विचार कर लो।'

उन्होंने कहा, 'सोच-विचार! प्रेम है, इसमें क्या सोच-विचार करना?'

फिर भी मैंने कहा, 'हर्ज क्या है? पीछे करने से पहले कर लेना ज्यादा अच्छा है। जल्दी भी क्या है, एक पन्द्रह दिन रुको।'

वे कुछ बेचैन और घबड़ाये मालूम पड़े!

मैंने कहा, 'अगर प्रेम है ही तो पन्द्रह दिन तो टिकेगा ही, इतनी घबड़ाहट क्या है?'

पन्द्रह दिन वे रुके।

...और मैंने कहा, 'पन्द्रहवें दिन तुम आना। और पन्द्रह दिन तुम सोचो, प्रेम है?...सच में!

पन्द्रह दिन बाद आकर उन्होंने कहा कि 'आपने मुझे बहुत कन्फ्यूज़ कर दिया है। मेरा मन बड़ा भ्रम में पड़ गया है। पन्द्रह दिन पहले मैं बिलकुल आश्वस्त था, चीजें साफ थीं। और यह क्या मामला आपने लगा दिया! मैं आया था आशीर्वाद लेने, कि मुझे आशीर्वाद दें, कि मेरा यह प्रेम-विवाह सफल हो जाये...।'

मैंने कहा, 'वह आशीर्वाद माँगने आये थे इसी डर से तो मैंने पहले कहा सोच लो, क्योंकि आशीर्वाद माँगने जाता ही तब कोई है, जब अपने पर भरोसा नहीं होता। इसलिए तुम आशीर्वाद न माँगते तो मैं कोई तुमसे कहनेवाला नहीं था। तुम भीतर आश्वस्त नहीं हो कि सुख मिलेगा, इसलिए आशीर्वाद माँगते हो कि किसी और पर जुम्मा जाये, अपना जुम्मा हटे। तो तुम मुझे फँसा रहे थे; प्रेम तुम कर रहे थे, फँसा मुझे रहे थे। अब तुम और सोच लो। अगर उलझन पड़ गयी है, तो पन्द्रह दिन और सही।'

उन्होंने कहा, 'अब नहीं रुक सकता, क्योंकि अगर पन्द्रह दिन रुका तो विवाह के पहले तलाक हो जायेगा।'

हम डरे हुए हैं। हम आँख खोलकर देखते भी नहीं चारों तरफ कि मामला क्या है? क्योंकि भय हमें है कि जो भी हम देख रहे हैं वह वहाँ है नहीं। हम अपने घावों को छिपाये हैं। जरा उघाड़कर देखा तो पता चल जायेगा: घाव है। घाव छिपा लिया है, ऊपर सोने का कंगन बाँध लिया है। कंगन दिखायी पड़ता है, घाव दिखायी नहीं पड़ता। कंगन को देखकर सोचते हैं कि सब ठीक है। लेकिन कंगन से कहीं घाव मिटे? वह घाव तो भीतर बढ़ता ही जाता है; वह नासूर बनता चला जाता है।

हमारी सारी जिन्दगी आत्मप्रवंचना है, जहाँ कुछ भी नहीं है। हमें भी लगता

है कि कुछ भी नहीं है, लेकिन यह भी डर लगता है कि इसी के सहारे जी रहे हैं, अगर आँख खोलकर देखा और दिखायी पड़ा कि यह भी नहीं है, तो जियेंगे कैसे?

पश्चिम में यह मुसीबत खड़ी हुई है। इसे थोड़ा ख्याल में लें:...

पश्चिम में यह मुसीबत खड़ी हुई है। पश्चिम ने पिछले तीन सौ सालों में, चीजें जैसी हैं उनको वैसा देखने की कोशिश की।...जैसी हैं वैसी देखने की कोशिश की! अब पश्चिम बड़ी मुश्किल में पड़ गया है। मुश्किल यह हो गयी है कि देखने की कोशिश कई मायनों में दूर तक सफल हो गयी है, और चीजें साफ हो गयी हैं कि वहाँ उनमें कुछ भी नहीं है। अब क्या करें? तो पश्चिम में एक ही भाव है कि सब रिक्त हो गया और सब फिजूल हो गया, कोई सार्थकता नहीं मालूम पड़ती; अब करें क्या?

इन तीन सौ साल में पश्चिम ने गहन चिन्तन किया है जीवन के सम्बन्धों पर और परिणाम यह हुआ कि सब सम्बन्ध संदिग्ध हो गये हैं। आज पश्चिम में कोई प्रेमी हिम्मत करके यह नहीं कह सकता अपनी प्रेयसी से कि मेरा प्रेम शाश्वत है। असम्भव हो गया है कहना। क्योंकि इधर प्रेम की जितनी खोज-बीन हुई, पता चला कि प्रेम से ज्यादा क्षणभंगुर और कुछ भी नहीं है। वे बातें कवियों की थीं और अन्धों की थीं, जो कहते थे 'प्रेम शाश्वत है'।

आँख बन्द चाहिए तो ही आप कह सकते हैं 'प्रेम शाश्वत है'। दिखता है, होता नहीं। जब आप प्रेम में होते हैं किसी के तो ऐसा ही लगता है कि 'यह प्रेम अब सदा-सदा चलेगा, दुनिया की अब कोई ताकत इसे तोड़ नहीं सकती'। आप बड़ी गलती में हैं! बड़ी ताकतों की कोई ज़रूरत नहीं है; किसी ताकत को तोड़ने की ज़रूरत नहीं है, आप ही तोड़ लेंगे, आप ही काफी हैं।

प्रेम बहुत क्षणभंगुर है। सुबह जब फूल खिलता है तो कौन मान सकता है कि घड़ीभर बाद मुरझा जायेगा। उसका खिलापन धोखा दे जाता है और लगता है सदा खिला रहेगा। वह कभी नहीं खिला रहता। जो खिला है, वह मुरझाता है। जब प्रेम खिलता है तो वह भी फूल है, वह भी मुरझायेगा।

पश्चिम ने जान लिया है ठीक-से, समझ लिया है ठीक-से; बड़ी मुश्किल में पड़ गया है: प्रेम करना मुश्किल हो गया है; क्योंकि प्रेम करने के लिए वह भ्रम जरूरी था कि शाश्वत है। उस भ्रम के बिना प्रेम नहीं हो सकता। अगर वह भ्रम टूट जाये, तो प्रेम छूट जाता है।

इसलिए पश्चिम में सेक्स रह गया है, प्रेम की कोई सम्भावना नहीं मालूम पड़ती; सिर्फ कामवासना रह गयी है।

लेकिन कामवासना के आधार पर जीवन को गहराई देना मुश्किल है। और

कामवासना के आधार पर परिवार का निर्माण करना मुश्किल है। और अगर काम-वासना ही सत्य है, तो कामवासना के ही कारण परिवार का इतना उपद्रव, इतना दायित्व लेना व्यर्थ है।

इसलिए पति-पत्नी पश्चिम में खोते जा रहे हैं, ब्वाय फ्रेंड, गर्ल फ्रेंड बढ़ते जा रहे हैं। पति-पत्नी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है; ब्वाय फ्रेंड। उसका मतलब यह है कि अभी दोस्ती चलती है, कल बदल जाये तो कोई कानून उपद्रव नहीं है। मगर तब रिक्तता मालूम होती है। प्रेम उखड़ गया और अगर ध्यान न दिया जा सके तो बड़ी अड़चन हो जायेगी। शक्ति मुक्त हो गयी है और उसके लिए कोई दूसरी यात्रा का पथ नहीं है। इसलिए आँख बन्द किये रहते हैं कि जहाँ चल रहे हैं स्वर्ग है। नर्क में भी आँख जब खुलती है तब नर्क दिखायी पड़ता है। आपको भी रोज मौके आते हैं नर्क देखने के, नहीं तो जीवन प्रत्येक को वैराग्य उत्पन्न कर दे, ऐसा है।

जीवन ऐसा है कि वैराग्य उत्पन्न होगा ही, कोई वैराग्य उत्पन्न करने के लिए आपको अथक चेष्टा नहीं करनी है। वैराग्य उत्पन्न न हो, इसके लिए आप अथक चेष्टा कर रहे हैं। सोचें, अपनी जिन्दगी पर एक सिंहावलोकन करें, लौटकर अपनी जिन्दगी देखें और ख्याल करें: सारी जिन्दगी वैराग्य की तरफ ले जा रही है। जिन्दगी का संदेश वैराग्य है, इंगित वैराग्य है। सब तरफ से जिन्दगी दुख देती है, फिर भी वैराग्य पैदा नहीं होता! ...फिर भी वैराग्य पैदा नहीं होता! सब तरह से जिन्दगी असफल करती है, तोड़ती है, सब तरह से जिन्दगी खंड-खंड कर देती है, अंग-भंग कर देती है, फिर भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता; चमत्कार है! नहीं तो जिन्दगी का सहज स्वर वैराग्य का है।

राग में है जन्म जीवन का, वैराग्य में है परिणति। राग से हम पैदा होते हैं लेकिन अगर राग में ही मर जायें, तो उसका मतलब है कि जीवन का संदेश हमें सुनायी नहीं पड़ा।

वैराग्य जीवन का स्वर है। खोजें, अपने को धोखा न दें, तो सब सहयोगी हैं; मित्र भी, शत्रु भी; अपने भी, पराये भी—सब सहयोगी हैं आपको वैराग्य की तरफ ले जाने के लिए।

और वैराग्य का फल ज्ञान है।

और जिस दिन आप विराग में खड़े हो जाते हैं, और इस जगत् के प्रति कोई वासना नहीं रह जाती, और इस जगत् से कोई माँग नहीं रह जाती, और इस जगत् की व्यर्थतता स्पष्ट सामने हो जाती है, इसका फल ज्ञान है। तब आप प्रज्ञान से भरते हैं। तब पहली दफे प्रज्ञा का उदय होता है। तब आपके भीतर दिया जलता है।

वैराग्य की स्थिति में ज्ञान का दिया जलता है। और अगर ज्ञान का दिया न

जले तो समझना कि वैराग्य झूठा है। यह सूत्र का दूसरा हिस्सा है, कि अगर दूसरी बात घटित न हो तो पहली झूठी है, असफल गयी, यह समझ लेना। हमारे मुल्क में वैरागी कम नहीं हैं, लेकिन ज्ञानी खोजना मुश्किल है। वैरागी तो हर मठ-मन्दिर में बैठे हुए हैं।

मैं न-मालूम कितने साधु-संन्यासियों को मिलता रहा हूँ। वर्षों से भाग गये हैं, लेकिन कहते हैं 'अभी कुछ हुआ नहीं'; 'ज्ञान नहीं हुआ'! मगर वे भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि उनका वैराग मिथ्या है, इसलिए ज्ञान नहीं हुआ। वे मानते हैं कि वैराग्य तो हमारा पूरा है, ज्ञान नहीं हुआ। अगर ज्ञान नहीं हुआ है तो पहला चरण मिथ्या गया है; तुम्हारा वैराग्य झूठा है। तुम्हारा वैराग्य पका हुआ राग नहीं है। तुम्हारा वैराग्य पके हुए राग से नहीं निकला है; तुम कच्चे भाग खड़े हुए हो। तुम बिना आँख खोले भाग खड़े हुए हो; इसको ख्याल रखें।

एक आदमी है, नर्क में चल रहा है आँख बन्द करके, भीतर सपने संजोए है, उसमें स्वर्ग देख रहा है। आँख खोलता नहीं, क्योंकि डर है कि नर्क दिखायी न पड़ जाए। सुनता है खबरें—ऋषियों की, मुनियों की, कि संसार नर्क है। भीतर खुद को भी लगता है कि होगा, क्योंकि आँख खोलने में डर लगता है। या कभी-कभी अचानक आँख खुल जाती है किसी दुर्घटना में तो नर्क दिखायी पड़ता है। ऋषि-मुनि सच मालूम पड़ते हैं। आँख खोलता नहीं लेकिन। फिर घबराहट बढ़ती जाती है और ऋषि-मुनियों का स्वर भीतर छिपता चला जाता है। और यह आवाज भीतर से लगने लगती है कि सब गड़बड़ है। तो भाग खड़ा होता है। लेकिन आँख बन्द किये ही भाग खड़ा होता है। तो वैराग्य ले लेता है। लेकिन आँख खोलकर राग को देखता नहीं। आँख बन्द किये ही राग में था, आँख बन्द किये ही वैराग्य में चला जाता है। तो फिर ज्ञान का फल नहीं आया। क्योंकि इस आदमी की अवस्था में फर्क नहीं आया। आँख बन्द ही है। कल राग में चलता था अन्धे की तरह, अब वैराग्य में चल रहा है अन्धे की तरह।

राग में आँख खुलने से जो वैराग्य होता है, वह पका हुआ वैराग्य है; प्रौढ़। उस प्रौढ़ता में ही ज्ञान का दिया जलता है।

'ज्ञान का फल है उपरति।'

और जब ज्ञान का दिया जलता है तो उसका क्या फल है? ज्ञान का फल है 'विश्राम', 'उपरति'। चित्त, चैतन्य, शरीर, अस्तित्व, सब उपरति को उपलब्ध हो जाते हैं। कहीं कोई श्रम नहीं रह जाता। कहीं कोई तनाव नहीं रह जाता। कोई स्ट्रेन,

कोई रेखा मात्र भी तनाव की भीतर नहीं रह जाती। उपरति हो जाती है। विश्राम हो जाता है।

अगर ज्ञान से विश्राम न हो, तो समझना कि ज्ञान झूठा है। एक-एक कदम पीछे का झूठा होगा। अगर ज्ञानी भी तनाव से भरा हुआ मालूम पड़े; अगर ज्ञानी का व्यक्तित्व भी विश्राम को उपलब्ध हुआ न हो, रिलैक्स्ड न हो; अगर ज्ञानी को अभी अनुशासन रखना पड़ता हो अपने ऊपर, तो समझना कि ज्ञान शास्त्रों से मिला होगा, अनुभव से नहीं मिला; ज्ञान सुनकर पा लिया होगा, जानकर नहीं पाया; तो ज्ञान बुद्धि में होगा, अभी व्यक्तित्व में नहीं आया; तो ज्ञान सिर पर बोझ है, ज्ञान पंख नहीं बना...कि उससे आकाश में उड़ा जा सके।

ज्ञान का फल है 'विश्राम'...कि भीतर कोई भी श्रम न रह जाये। कोई इफर्ट, किसी तरह की चेष्टा—किसी भी तरह की चेष्टा न रह जाये। निश्चेष्ट हो जाये। जो होता है, ठीक है। तथाता आ जाये। उपरति हो जाये। जो है ठीक है। कुछ पाने की चेष्टा न हो। कुछ खोने का डर न हो। कुछ गलत न हो जाये, इसका भय न पकड़े। कुछ भूल न हो जाये, इसकी बेचैनी न बनी रहे। कहीं चूक न जाऊँ, कहीं गिर न जाऊँ, कहीं भटक न जाऊँ, इसका कोई तनाव न हो—इसका नाम है उपरति।

उपरति बड़ी गहन बात है।

विरागी मिल जायेंगे लाखों, ज्ञान की कोई झलक न मिलेगी। ज्ञानी भी मिल जायेंगे हजारों, लेकिन उपरति की कोई झलक न मिलेगी। पंडितों की क्या कमी है? जानकारों की क्या कमी है?

लेकिन बड़ी मजे की बात है कि जानकार से कभी-कभी अज्ञानी और गैर-जानकार ज्यादा विश्राम को उपलब्ध मालूम होते हैं। पंडित की खोपड़ी की जाँच करवायें, और एक अज्ञानी की खोपड़ी की, तो एक अज्ञानी की खोपड़ी विश्राम में मिलेगी और पंडित की खोपड़ी बड़े ऊहापोह में होगी। यह तो उलटा मामला मालूम पड़ता है। इससे तो अज्ञान भी बेहतर था, क्योंकि कम-से-कम अज्ञान अपना तो था। यह ज्ञान उधार है, इसलिए बोझ है। जो अपना है, वह हलका करता है; और जो उधार है, वह बोझिल कर जाता है। जो अपना है, वह हमेशा खिलावट देता है; जो पराया है, वह दबा देता है।

ज्ञान का फल उपरति, उपरति का फल शांति। और जो विश्राम को उपलब्ध है, वही धीरे-धीरे विश्राम में डूबते, डूबते, डूबते उस केन्द्र को पा लेता है, जिसे शांति कहा है।

एक आदमी तैर रहा है। जो तैर रहा है, वह पानी की सतह पर रहेगा। तैरना चेष्टा है; श्रम। एक आदमी ने हाथ-पैर छोड़ दिये; तैर नहीं रहा, पड़ा है:

जहाँ ले जाये नदी। न ले जाये, तो भी ठीक; ले जाये, तो भी ठीक। वह उपरति को उपलब्ध हुआ। जो आदमी पड़ा है, वह धीरे-धीरे नदी में डूबने लगेगा। डूबता जायेगा। आखिरी गहराई, जब सतह आ जायेगी, तब टिकेगा। उस सतह का नाम शांति है।

'वैराग्य से ज्ञान।'...अगर वैराग्य सही है, ज्ञान होगा ही। अगर ज्ञान सही है, उपरति होगी ही। अगर उपरति सही है, शांति अनिवार्य है। और अगर आपके विश्राम से शांति न आती हो, तो जानना कि विश्राम भी आरोपित है।

पश्चिम में बहुत किताबें लिखी जाती हैं। उनके नाम ऐसे होते हैं: 'यू मस्ट रिलेक्स'। अब यह किताब का नाम ही बेहूदा है। 'मस्ट', शब्द में ही तनाव आ गया। तुम्हें विश्राम करना ही चाहिए। अब यह 'करना ही चाहिए', यही तो उपद्रव हो जायेगा, यही विश्राम न करने देगा। और उन किताबों को पढ़कर लोग पड़े हैं बिस्तरों पर! सब आसन साध रहे हैं; कह रहे हैं 'विश्राम करना ही चाहिए'! विश्राम कर रहे हैं!

वे थोप भी सकते हैं अपने ऊपर विश्राम, बिलकुल मुरदे की तरह अकड़कर पड़ भी सकते हैं, लेकिन भीतर वह तनाव जारी रहेगा, क्योंकि विश्राम को भी संभालना पड़ेगा। विश्राम को भी निर्मित करेंगे आप, तो उसमें भी तो श्रम लगेगा। और ध्यान रखिये, विश्राम अगर आपको संभालना पड़े, तो उसके बाद आप थके हुए वापिस निकलेंगे, क्योंकि वह जो चेष्टा है, वही तो थकाती है। आप संभाले हैं अपने को कि विश्राम कर रहे हैं? जरा भी चेष्टा नहीं करनी। 'जरा भी चेष्टा नहीं करनी', यह चेष्टा है। 'विश्राम को संभाल कर रखना है, कहीं विश्राम खो न जाए', यह श्रम है।

तो ऐसे विश्राम से शांति उपलब्ध नहीं होगी। विश्राम एक अस्तित्वगत घटना है। विश्राम का अर्थ है कि आपकी चेतना को कुछ पाने योग्य न रहा, आपकी चेतना की कोई माँग न रही, कुछ होने की दौड़ न रही। शांत होने को भी कोई दौड़ नहीं है। विश्राम आये, इसका भी कोई आग्रह नहीं है। आ जाये, राजी; न आये, उतने ही राजी।

मुसलमान फकीरों को कभी आपने रास्तों पर कहते हुए सुना होगा: जो दे, उसका भला; जो न दे, उसका भला। ऐसे तो भिखारी भी उसको दोहराते हैं, लेकिन वह वचन सूफियों का है। भिखारी बिलकुल झूठा दोहराता है। जब वह कहता है: 'जो दे, उसका भला', तब उसकी आँख की चमक और होती है; जब वह कहता है, 'जो न दे, उसका भला', तब उसकी आँख में कोई चमक नहीं होती! उसको देकर देखें, और न देकर देखें, फर्क पता चल जायेगा।

एक सूफी फकीर हुआ बायज़ीद। उसने तो इस वाक्य में थोड़ा और फर्क कर

दिया था। वह कहता था: जो दे, उसका भला; जो न दे, उसका और भी ज्यादा भला। किसी ने उससे पूछा कि 'बायज़ीद, 'जो दे, उसका भला; जो न दे, उसका भला', यह तो हमने सुना था, यह तुमने इसमें और क्या जोड़ दिया कि 'जो दे, उसका भला; जो न दे, उसका और भी भला?'

तो बायजीद ने कहा कि 'जो देता है, उसमें तो प्रसन्नता होती ही है, लेकिन जब कोई नहीं देता, तब और प्रसन्नता होती है; तब तो धन्यवाद का भाव बहुत बढ़ जाता है। जब कोई देता है, तो ठीक है, प्रसन्नता होती ही है, लेकिन जब कोई नहीं देता और तब भी भीतर प्रसन्नता होती है, तब तो उसके पैर पकड़ने का मन होता है: कि अगर यह देता तो इतनी प्रसन्नता से वंचित रह जाते; न देकर जब जो प्रसन्नता हो जाती है। इसलिए कहते हैं कि 'जो न दे तो उसका और भी भला'। उसकी बड़ी कृपा है। उसने भी एक मौका दिया। कोई न दे, तब भी सुख की धारा में कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

विश्राम का अर्थ अस्तित्वगत है, चेष्टागत नहीं। इसलिए एक-एक सीढ़ी सभी विश्राम चाहते हैं। लेकिन 'वैराग्य', वह पहली सीढ़ी है; उपरति। उपनिषद् ने रख दी शर्त, सब कठिन कर दिया। विश्राम कौन नहीं चाहता? सभी तलाश में हैं कि विश्राम कैसे मिले। सभी खोज रहे हैं शान्ति कैसे मिले। लेकिन विज्ञान पूरा आपको करना पड़ेगा। फूल चाहते हैं बीज बोते नहीं। बीज बो दें, पानी नहीं डालते। पानी डाल दें, कोई बाढ़ नहीं लगाते कि वृक्ष को जानवर न चर जाएँ। एक-एक चरण से चलना पड़े।

वैराग्य का अर्थ...हटा लिया मन...दौड़ से। दौड़ से हटते ही मन, जो ऊर्जा भाग-दौड़ में नष्ट हो रही थी, वही ऊर्जा बच जाती है और ज्योति बन जाती है।

'ज्ञान का फल उपरति।'

जो जान लेता है, उसके लिए तनाव का कोई भी कारण नहीं। जो जान लेता है, उसके लिए बेचैन होने का कोई भी कारण नहीं। इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है कि जिसके लिए बेचैन हुआ जाए।

ज्ञान का फल उपरति, उपरति का फल शांति।

"ऊपर बतलाई हुई वस्तुओं में उत्तरोत्तर जो न हो, तो जानना कि पहले की वस्तु निष्फल है। विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनंद है वह स्वयं ही अनुपम है।"

नौवाँ प्रवचन

१७ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
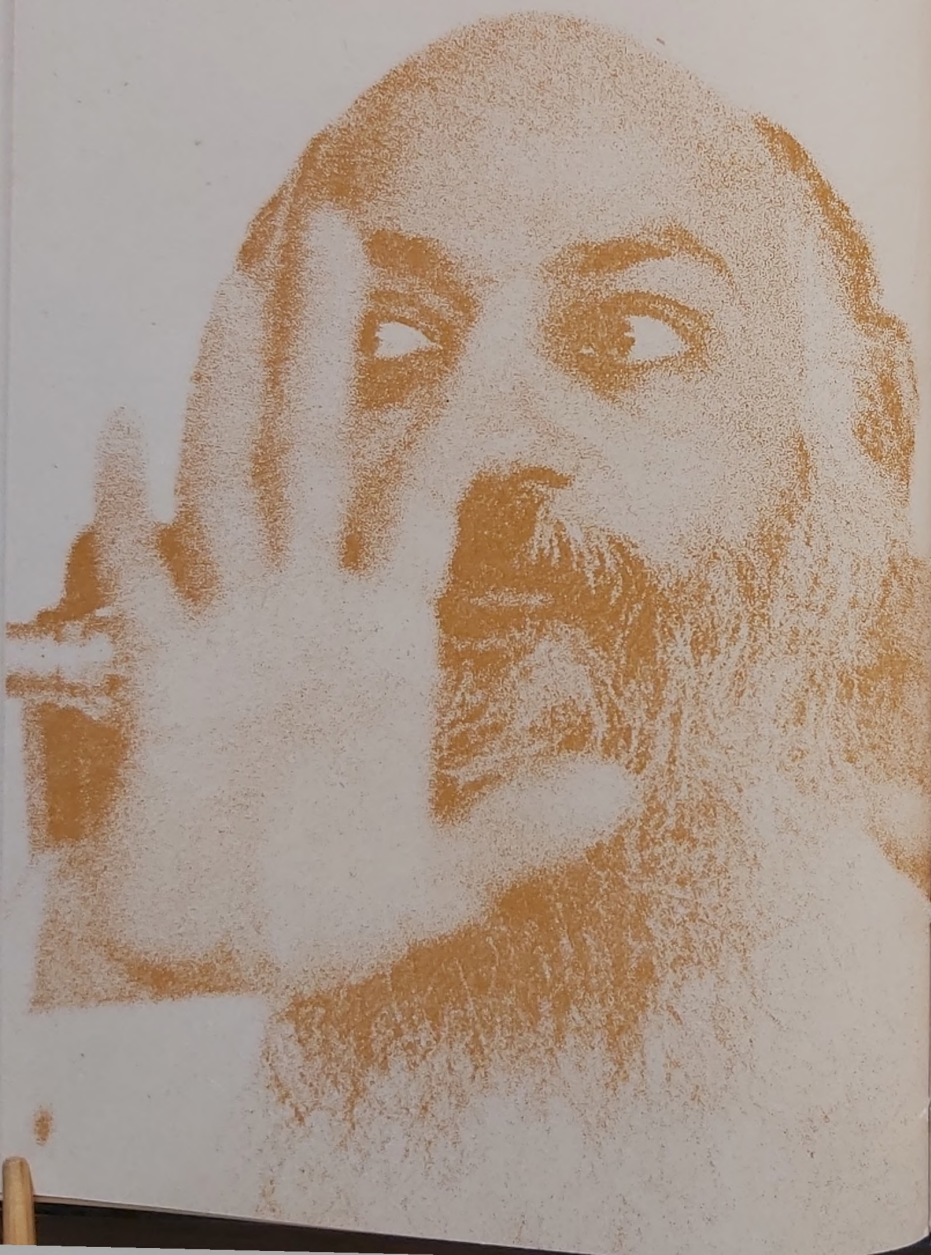
मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः।।३०।।
आलम्बतनया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वपदाभिधः।।३१।।
मायाऽविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः।
अखण्ड सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते।।३२।।

मायारूप उपाधिवाला, जगत् का उत्पत्ति स्थान, सर्वज्ञता आदि लक्षणों से युक्त, परोक्षपन से मिश्र और सत्य आदि स्वरूपवाला जो परमात्मा है, वही तत् शब्द से प्रसिद्ध है।

और जो मैं ऐसे अनुभव तथा शब्द का आश्रय जान पड़ता है, जिसका ज्ञान अन्तःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) त्वम् शब्द से पुकारा जाता है।

इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या——ऐसी दो उपाधि हैं, इनको त्याग करने से अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म ही जान पड़ता है।

ईश्वर को पुकारा गया है बहुत नामों से। अनेक-अनेक सम्बन्ध मनुष्य ने ईश्वर के साथ स्थापित किये हैं। कहीं ईश्वर को पिता, कहीं माता, कहीं प्रेमी, कहीं प्रेयसी भी, कहीं मित्र, कहीं कुछ—और ऐसे बहुत-बहुत सम्बन्ध आदमी ने परम सत्य के साथ स्थापित करने की कोशिश की है। लेकिन उपनिषद् अकेले हैं इस पूरी पृथ्वी पर, जिन्होंने परमात्मा को सिर्फ कहा है: 'दैट'; 'वह'; 'तत्', कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया।

इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए।

यह बड़ी गहरी अन्तर्दृष्टि है। परमात्मा को हम प्रेम से 'पिता', 'माता' पुकार सकते हैं, लेकिन उस पुकारने में समझ कम और नासमझी ज्यादा है। परमात्मा से हम कोई भी सम्बन्ध स्थापित करें, वह नासमझी का है—क्यों; क्योंकि सम्बन्ध में एक अनिवार्य बात है कि दो की मौजूदगी होनी ही चाहिए; सम्बन्ध बनता ही दो से है। मैं हूँ, मेरे पिता हैं, तो दोनों का होना ज़रूरी है; मैं हूँ या मेरी माँ है, तो दोनों का होना ज़रूरी है। परमात्मा के साथ ऐसा कोई भी सम्बन्ध सही नहीं है, ऐसा कोई भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है, जिसमें हम दो रहकर सम्बन्धित हो पायें। उसके साथ तो खोकर ही सम्बन्धित हुआ जा सकता है; अलग रहकर सम्बन्धित नहीं हुआ जा सकता।

इस जगत् के सारे सम्बन्ध अलग रहकर ही सम्बन्ध होते हैं। परमात्मा के साथ जो सम्बन्ध है, वह लीन होकर, खोकर, एक होकर स्थापित होता है; यह बड़ी उलझन की बात है। सम्बन्ध के लिए दो का होना ज़रूरी है। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि परमात्मा से कोई सम्बन्ध कभी स्थापित नहीं हो सकता। अगर सम्बन्ध के लिए दो का होना ज़रूरी है, तो परमात्मा से फिर कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा से तो मिलन ही तब होता है जब दो मिट जाते हैं और एक रह जाता है।

कबीर ने कहा है: खोजने निकला था, बहुत खोज की और तुझे नहीं पाया। खोजते-खोजते खुद खो गया, तब तू मिला। वह जो खोजने निकला था, वह जब तक

था, तब तक तुझसे कोई मिलना न हुआ; और जब खोजते-खोजते तू तो न मिला, लेकिन खोजनेवाला खो गया, तब तुझसे मिलना हुआ।

इसका तो मतलब यह हुआ कि मनुष्य का परमात्मा से मिलना कभी भी नहीं होता है। क्योंकि जब तक मनुष्य रहता है, परमात्मा नहीं होता; और जब परमात्मा होता है तो मनुष्य नहीं होता। दोनों का मिलना कभी नहीं होता।

इसलिए इस जगत् के जितने सम्बन्ध हैं, उनमें से कोई भी सम्बन्ध हम परमात्मा पर लागू करके भूल करते हैं।

पिता से मिला जा सकता है बिना मिटे; मिटना कोई शर्त नहीं है। माता से मिला जा सकता है बिना मिटे, मिटना कोई शर्त नहीं है। लेकिन परमात्मा से मिलने की बुनियादी शर्त है 'मिट जाना'। सम्बन्ध होता है दो के बीच, और परमात्मा से सम्बन्ध होता है तब, जब दो नहीं होते। इसलिए यह सम्बन्ध बिलकुल उलटा है।

उपनिषदों ने 'परमात्मा' नहीं कहा, 'पिता' नहीं कहा, 'माता' नहीं कहा, कोई मानवीय सम्बन्ध स्थापित नहीं किये। सब मानवीय सम्बन्ध स्थापित करना, समाजशास्त्री कहते हैं एन्ट्रोपोसेन्ट्रिक हैं, मानव-केन्द्रित हैं; आदमी अपने को ही थोपता चला जाता है, हर चीज में। इस एन्ट्रोपोसेन्ट्रिक, यह मानव केन्द्रित जो दृष्टि है, इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए, क्योंकि आधुनिक मनस्शास्त्र, समाजशास्त्र इस शब्द से बहुत प्रभावित हैं और इसका बड़ा मूल्य स्वीकार करते हैं।

आदमी जो कुछ भी देखता है, उसमें आदमी को आरोपित कर लेता है। चाँद पर बादल घिरे हों तो हम कहते है 'चाँद का मुखड़ा घूंघट में छिपा है'। न वहाँ कोई मुखड़ा है और न वहाँ कोई घूंघट है। पर आदमी, स्वभावतः, अपने अनुभव को आरोपित कर लेता है; हर चीज को! चन्द्रमा पर ग्रहण लगा हो, तो हम कहते है 'राहु-केतु ने ग्रस लिया, दुश्मन चन्द्र के पीछे पड़े हैं'।

आदमी, आदमी की ही भाषा में सोच सकता है। इसलिए हम अपने चारों तरफ जो भी देखते हैं, उसमें हम अपने को आरोपित करते चले जाते हैं। पृथ्वी को हम माता कहते हैं; आरोपण है। आकाश को हम पिता कहते हैं; आरोपण है। और हम खोजने जायेंगे तो आदमी ने जो-जो सम्बन्ध निर्धारित किये हैं अपने जगत् से, उन सब में अपने ही सम्बन्धों को स्थापित कर दिया है।

फ्रायड कहता है कि ईश्वर की जो बात है, वह असल में पिता का सब्स्टिट्यूट है, परिपूरक है।

बच्चा पैदा होता है: असहाय होता है, कमजोर होता है, असुरक्षित होता है; पिता वरदहस्त बन जाता है, बचाता है, बड़ा करता है; उसकी छाया में बड़ा होता है। छोटा बच्चा अपने पिता को परम शक्ति मानता है; उससे बड़ा कोई दुनिया

में नहीं। इसलिए छोटे बच्चे अक्सर विवाद करते रहते हैं कि किसका पिता बड़ा है। हर बच्चा दावा करता है 'मेरा पिता बड़ा है'। और हर बच्चे को लगता है कि उसके पिता से बड़ा और क्या बड़ा हो सकता है! आखिरी, अल्टिमेट जो आखिरी बात हो सकती है शक्ति की, वह पिता के हाथ में है।

बचपन में बच्चा सहारा लेकर बड़ा होता है पिता का। भरोसा, आस्था, आदर, सब उसका पिता के प्रति होता है। अगर पिता उसका हाथ पकड़कर आग में भी चला जाये, तो वह मजे से हँसता हुआ चला जायेगा; क्योंकि जहाँ पिता जा रहा है, वहाँ जाने में कोई अड़चन नहीं है। अभी न कोई संदेह जगा है, न अभी कोई अनास्था पैदा हुई है; अभी पिता परम श्रद्धा का पात्र है। लेकिन जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होगा, यह श्रद्धा टूटने लगेगी; पिता की कमजोरियाँ दिखायी पड़नी शुरू हो जायेंगी। सबसे पहली कमज़ोरी तो यह दिखायी पड़ेगी कि जैसे ही बच्चा थोड़ा बड़ा होगा, समझेगा, तो पायेगा कि सौ में नब्बे मौके पर माता ज्यादा ताकतवर है, पिता कमजोर है। सौ में नब्बे, निन्यानबे मौके पर पायेगा कि पिता की सब अकड़-धकड़, शान-शौकत, वह सब बाहर-बाहर है घर के, घर के भीतर वह दब के आता है, डरा हुआ आता है। उसकी श्रद्धा में पहली अड़चन हो जायेगी। फिर जैसे-जैसे बड़ा होगा, समझ बढ़ेगी, देखेगा कि पिता का भी बॉस है, जिसके सामने पिता बिलकुल खड़ा हुआ कंपता है।

तो बचपन में जो श्रद्धा पोषी थी पिता के प्रति, वह पिता से हट जायेगी, खाली हो जायेगी। वह खाली श्रद्धा ही, आदमी––फ्रायड के हिसाब से––परमात्मा पर थोपता है––कल्पित पिता पर, ताकि मन खाली न रह जाये। इसलिए आदमी परमात्मा को पिता कहते हैं कि वह परम पिता है; महान शक्तिशाली है।

ख्याल रखें, बच्चे जो-जो गुण पिता में बताते हैं, वही गुण धार्मिक लोग परमात्मा में बताते हैं। और जैसे बच्चे लड़ते हैं कि हमारा पिता बड़ा, वैसे ही हिन्दू, मुसलमान, ईसाई लड़ते हैं कि हमारा पिता बड़ा! 'किसका ईश्वर बड़ा...?' वे सब बचकानी बातें हैं। मगर ईश्वर की धारणा पर पिता का आरोपण ही बचकाना है; वह बच्चे की ही बुद्धि से पैदा हुआ है।

तो फ्रायड ने तो कहा कि जब तक बच्चों को उनके पिता के पास बड़ा किया जाता है, तब तक परमात्मा से छुटकारा बहुत मुश्किल है। वह पिता का ही रूप है। इसमें थोड़ी सचाई मालूम पड़ती है, क्योंकि जिन समाजों में मातृ-सत्ताक व्यवस्था है, मेट्रिआकल सोसाइटी जहाँ है, जहाँ माँ प्रधान है और पिता गौण है, वहाँ कोई परमात्मा को पिता नहीं कहता, वहाँ परमात्मा को माता कहा जाता है। इससे बात जाहिर होती है कि फर्क क्या है। जैसे काली के पूजक हैं, वे माँ के रूप में देखते हैं

परमात्मा को, पिता के रूप में नहीं। ये काली के पूजक मातृ-सत्ताक समाज से आते हैं, जहाँ माँ प्रधान है, जहाँ पिता गौण है। अभी भी समाज है जमीन पर, जहाँ माँ प्रधान है और पिता गौण है। उन सभी समाजों में ईश्वर की धारणा माँ की है, पिता की नहीं है।

इससे फ्रायड की बात को थोड़ा सहारा मिलता है; कि बचपन में कोई धारणा निर्मित होती है, और बचपन बहुत कीमती क्षण हैं, क्योंकि बचपन में जो भी बन जाता है ढाँचा, पैटर्न चित्त का, उसमें जब भी कमी होती है तो बेचैनी मालूम पड़ती है। उस कमी को पूरा करना ज़रूरी हो जाता है। और आदमी जिंदगीभर अपने बचपन में बनाये हुए ढाँचे को पूरा करने की कोशिश करता रहता है।

इससे एक और मजेदार बात आपको ख्याल में लेनी चाहिए: जिन समाजों में परिवार उखड़ गया है—जैसे आज अमरीका में परिवार उखड़ा हो गया है, जड़ें टूट गयी हैं; न बच्चों को पिता की फिक्र है, न माँ की; न माँ और बाप को बहुत फिक्र है बच्चों की––बीच का सम्बन्ध शिथिल हो गया है; उन समाजों में ईश्वर की धारणा भी शिथिल हो जाती है।

जहाँ परिवार डगमगायेगा, वहाँ परमाामा भी डगमगा जाता है। वहाँ नास्तिकता फैल जाती है। जिन समाजों में पिता का बल बहुत प्रगाढ़ है और पिता की आज्ञा सर्वोपरि है और अनुशासन सुनिश्चित है, उन समाजों में नास्तिकता पैदा नहीं होती। और फ्रायड इससे जो निष्कर्ष निकालता है, वे अद्भुत हैं, लेकिन आधे सच हैं। उसकी इस बात में सचाई है कि परमात्मा में पिता देखना, यह मनुष्य के मानसिक अभाव को भरने की चेष्टा है। लेकिन फ्रायड कहता है 'बस परमात्मा इतना ही है', यहाँ भूल हो जाती है।

आदमी पृथ्वी को माता कहे, यह आदमी की बात है, लेकिन पृथ्वी को माता कहने से पृथ्वी 'नहीं' नहीं हो जाती। आदमी परमात्मा को पिता कहे, माता कहे, जो कहना चाहे, कहे, यह उसके परिवार, उसके बचपन, उसके मनस का विस्तार हो सकता है, लेकिन जिस पर यह विस्तार होता है वह परमात्मा गलत नहीं हो जाता। उसको हम क्या नाम देते हैं, वह हम पर निर्भर है, लेकिन उसका होना हम पर निर्भर नहीं है।

उपनिषद् को अगर फ्रायड जानता होता तो बड़ी मुश्किल में पड़ता, क्योंकि उपनिषद् कोई सम्बन्ध ही निर्मित नहीं करता। फ्रायड ने अगर उपनिषद् पढ़े होते तो आधुनिक मनोविज्ञान की कथा दूसरी होती, क्योंकि फ्रायड ईमानदार आदमी था। और अगर उसे यह पता भी चल जाता कि कोई एक ऐसी परम्परा भी है विचार की, चिन्तना की, अनुभव की, जो किसी तरह का सम्बन्ध ईश्वर से निर्धा-

रित नहीं करती, बिलकुल इम्पर्सनल शब्द का उपयोग करती है 'तत्'; ईश्वर यानी 'वह', 'दैट'—इससे ज्यादा इम्पर्सनल सम्बोधन, निर्व्येक्तिक सम्बोधन दूसरा नहीं हो सकता—तो फ्रायड को तब बड़ी मुश्किल होती कि ये कौन लोग हैं जिन्होंने 'वह' कहा ईश्वर को। 'वह' का मतलबः कोई नाम नहीं दिया, सिर्फ इशारा किया।

'वह' कोई नाम नहीं है, सिर्फ इशारा है, सिर्फ अँगुली-निर्देश है।

निश्चित ही, बचपन के किसी अभाव से यह बात पैदा नहीं हो सकती, 'वह'। माँ का ख्याल आ सकता है, पिता का ख्याल आ सकता है, लेकिन 'वह', इसका बचपन के मनोविज्ञान से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है इसका कोई भी सम्बन्ध मनोविज्ञान से नहीं है। इसका सम्बन्ध तो मन के पार जो गये हैं, उनके अनुभव से है; मनुष्य के पार जो गये हैं, उनके अनुभव से है।

यह 'मनुष्य' और 'मन' शब्द को भी समझ लेना चाहिए। हमने इस मुल्क में मनुष्य कहा है आदमी को। सिर्फ इसलिए कहा है कि जो मन से घिरा है, जो मन में ही जी रहा है, मन ही जिसका ओरिएन्टेशन है, मन से ही जो रस पाता है, इसलिए हमने उसे मनुष्य कहा है।

अंगरेजी का 'मैन' भी मन का ही रूपान्तरण है, और संस्कृत के ही शब्द की यात्रा है।

मन ही मनुष्य है। जहाँ मन का अतिक्रमण है, वहाँ मनुष्यता का भी अतिक्रमण हो जाता है। यह उन लोगों का वक्तव्य है जो मनुष्य के पार गये, मन के पार गये, और उन्होंने इशारा किया 'वह'। पर इसमें कई बातें सोच-लेने-जैसी हैं:

पिता की पूजा हो सकती है, 'वह' की पूजा कैसे करियेगा! पिता का मंदिर बन सकता है, माँ का मंदिर हो सकता है, 'वह' का मंदिर कैसे बनाइयेगा! या बना सकते हैं? 'वह', इसका कैसे मंदिर बने? पुरुष, स्त्री, माता, पिता, इनकी मूर्तियाँ बन सकती हैं, 'वह' की क्या मूर्ति बनाइयेगा?

उपनिषद् से बड़े मूर्तिभंजक शास्त्र दूसरे नहीं हैं, हालांकि एक शब्द नहीं कहा है उन्होंने कि मूर्ति की पूजा मत करना। यह भी थोड़ा समझ-लेने-जैसा है। मुसलमान मूर्ति को तोड़ने में लगे रहे हैं, सिर्फ इसीलिए कि मुहम्मद ने कहा 'उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती'। मुहम्मद की वाणी ठीक उपनिषद् की बात है: कि उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती। लेकिन जिसकी मूर्ति बन नहीं सकती, उसकी मूर्ति तोड़ी जा सकती है यह मुसलमान मानते हैं। जिसकी बन ही नहीं सकती उसकी तोड़ी क्या खाक जा सकती है! तो एक तरह के पागल बनाने में लगे हैं, दूसरी तरह के पागल मिटाने में लगे हैं।

यह बड़े मजे की बात है, कि मूर्तिभंजक भी मूर्तिपूजक ही होता है। वह जो

मूर्ति को तोड़ने जाता है, वह भी मूर्ति को मानता तो है ही; कम-से-कम तोड़ने-योग्य मेहनत तो उठाता ही है। इतना तो भरोसा उसका भी है। फर्क क्या है: एक पूजा के फूल रखने जाता है, एक जाकर हथोड़े से सिर तोड़ आता है?

छैनियों और हथौड़ों से ही मूर्तियाँ बनती हैं, और छैनी-हथौड़ों से ही तोड़ी जाती हैं। दोनों की आस्था में बहुत फर्क नहीं है। दोनों मानते हैं कि मूर्ति में कोई महत्त्व है। पूजा करनेवाला मानता है कि महत्त्व है, तोड़नेवाला भी मानता है कि महत्त्व है। कभी-कभी तो तोड़नेवाला ज्यादा महत्त्व मानता है, क्योंकि पूजा करनेवाला जीवन को संकट में नहीं डालता मूर्ति के लिए, तोड़नेवाला जीवन को संकट में डालता है; जान लगा देता है अपनी—उसको तोड़ने में, कुरान कहता है कि जिसकी कोई मूर्ति ही नहीं हो सकती। तो किसकी मूर्ति तोड़ते हो?

उपनिषद् न तो मूर्तिपूजक हैं और न मूर्तिभंजक। उपनिषद् की दृष्टि रूप, आकार, मूर्ति के बिलकुल पार चली गयी हैं। कहाः 'वह'; 'दैट'; 'तत्'। इसकी क्या मूर्ति बन सकती है? इसकी कोई मूर्ति नहीं बन सकती। 'वह' रूप नहीं है। 'वह' का कोई रूप है, आकार है? 'वह' कोई रूप नहीं है, 'वह' निराकार है। शब्द भी निराकार है 'वह'। उसका अगर बनाना भी चाहें कोई रूप तो बनेगा नहीं। है क्या यह 'वह', 'तत्'? इशारा है, जैसे किसी ने अंगुली की ओर कहाः 'दैट'—'वह'।

विडगिन्सटीन एक बहुत अद्भुत आधुनिक चिंतक हुआ है। इस सदी में जो बड़े-से-बड़े तर्क के जन्मदाता हुए हैं, उनमें से विडगिन्सटीन है। विडगिन्सटीन ने अपनी बहुमूल्य, इस सदी में लिखी गयी दो-चार-पाँच किताबों में एक मूल्यवान किताब, 'टैक्टेट्स लॉजिक्स' में लिखा है, कि कुछ बातें ऐसी हैं जो कही नहीं जा सकती, सिर्फ उनकी तरफ इशारा किया जा सकता है। 'देअर आर थिंग्ज़ विच कैन नॉट बी सेड, बट स्टिल दे कैन बी शोड।' कहा तो नहीं जा सकता है उनके बाबत कुछ, लेकिन इशारा किया जा सकता है।

उपनिषद् इशारा करते हैं परमात्मा की तरफ, कहते कुछ भीं नहीं हैं। सिर्फ इशारा है 'वह'। इस इशारे में कई बातें निहित हैं, वह ख्याल में ले लें। एक तो यह बात निहित है कि उससे कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। इसलिए उपनिषद् नहीं कहते 'तू'। उपनिषद् नहीं कहते 'तू'; 'तू' से सम्बन्ध बन जाता है 'मैं' का।

जहाँ 'तू' है, वहाँ 'मैं' भी होगा। 'तू' बिना 'मैं' के नहीं हो सकता। जब भी मैं किसी से कहता हूँ: 'तुम', 'तू'; तब 'मैं' आ गया; तब 'मैं' मौजूद हो गया। 'मेरे' ही सम्बन्ध में कोई 'तू' होता है, और किसी 'तू' के सम्बन्ध में 'मैं' होता हूँ। 'मैं' और 'तू' गठजोड़ा है दोनों का; एकसाथ होते हैं। 'वह' अकेला है। उसके साथ

किसी दूसरे के होने की कोई भी ज़रूरत नहीं है। 'वह' से कोई ध्वनि नहीं निकलती कि कोई और भी है।

जब भी हम कहते हैं 'तू', तो जिससे भी हम कहते हैं, वह हमारे ही तल पर आ जाता है। हम और वह साथ-साथ खड़े हो जाते हैं। जब हम कहते हैं 'वह', तो हमारे तल से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं जुड़ता। वह कहाँ है? नीचे है, ऊपर है, साथ है, कुछ पता नहीं चलता। उपनिषदों ने बहुत सोचकर 'तत्' कहा है ब्रह्म को।

इस सूत्र को हम समझें।

"मायारूप उपाधिवाला, जगत् का उत्पत्ति स्थान, सर्वज्ञता आदि लक्षणों से युक्त, परोक्षपन से मिश्र सत्य आदि स्वरूपवाला जो परमात्मा है, वही तत् शब्द से प्रसिद्ध है।

"और जो मैं ऐसे अनुभव तथा शब्द का आश्रय जान पड़ता है, जिसका ज्ञान अन्तःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) त्वम् शब्द से पुकारा जाता है।"

त्वम्; दाऊ; तू।

जब भी हम किसी को कहते हैं 'तू', 'त्वम्', 'दाऊ', वैसे ही हमने स्वीकार कर लिया सीमा को। दूसरा हमें पूरा-पूरा दिखायी पड़ रहा है। उसका आकार है, शरीर है। आप किसी अशरीरी अस्तित्व को तू नहीं कह सकते। आकाश की तरफ आँख उठाकर तू कहिये तो पता चलेगा। कोई अर्थ नहीं होता। आकाश से कैसे तू कहियेगा? कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इतना विस्तार है, कोई सीमा नहीं दिखायी पड़ती, तू का सम्बन्ध नहीं जुड़ता। तू का संबंध वहीं जुड़ता है, जहाँ आकार हो। परमात्मा तो आकाश से भी विस्तीर्ण है। आकाश भी जहाँ एक घटना है।

इस परमात्मा के साथ त्वम् का कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता है, तू का कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता है। इसलिए भी नहीं जुड़ता है कि परमात्मा के सामने खड़े होकर मैं की कोई याद नहीं बच सकती कि 'मैं हूँ'। जिसे अभी भी ख्याल है कि 'मैं हूँ', वह परमात्मा को देख ही नहीं पायेगा। मैं ही तो परदा है; मैं ही तो बाधा है।

जब तक 'मैं' है, तब तक मैं 'तू' को ही देखूँगा सब जगह। तब तक निराकार से मेरा सम्बन्ध नहीं होगा, आकार से ही मेरा सम्बन्ध होगा।

ध्यान रहे, इसे एक सूत्र--एक गहरा सूत्र समझ लें कि 'जो मैं हूँ', 'जैसा मैं हूँ', 'जहाँ मैं हूँ', उसी तरह के संबंध मेरे निर्मित हो सकते हैं। अगर मैं मानता हूँ 'मैं शरीर हूँ', तो मेरे सम्बन्ध केवल उनसे ही हो सकते हैं जो शरीर हैं। अगर मैं मानता हूँ कि 'मैं मन हूँ', तो मेरे सम्बन्ध उनसे होंगे जो मानते हैं कि वे मन हैं। अगर मैं मानता हूँ कि 'मैं चेतना हूँ', तो मेरे सम्बन्ध उनसे हो सकेंगे जो मानते हैं कि वे चैतन्य हैं।

अगर मैं परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ, तो मुझे परमात्मा की तरह ही शून्य और निराकार हो जाना पड़ेगा जहाँ 'मैं' की कोई ध्वनि भी न उठती हो, क्योंकि 'मैं' आकार देता है। वहाँ सब शून्य होगा तो ही 'मैं' शून्य से जुड़ पाऊंगा। निराकार भीतर मैं हो जाऊँ, तो ही बाहर के निराकार से जुड़ पाऊँगा।

जिससे जुड़ना हो, वैसे ही हो जाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। जिसको खोजना हो, वैसे ही बन जाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

दो शब्दः 'तत्' और 'त्वम्'। जीव को हम कहते हैं 'त्वम्'; उस चेतना को जो शरीर में घिरी है, सीमित है। और उस चेतना को हम कहते हैं 'तत्', जो सब सीमाओं के पार विस्तीर्ण है, असीम है। बूंद को हम कहते हैं 'त्वम्' और सागर को हम कहते हैं 'तत्'। अणु को हम कहते हैं 'त्वम्' और विराट् को हम कहते हैं 'तत्'। जो क्षुद्र है, उसे हम कहते हैं 'त्वम्'; और जो विराट् है, उसे हम कहते हैं 'तत्'।

यह 'तत्' पर, 'वह' पर, 'दैट' पर, क्यों इतना आग्रह उपनिषदों का है? आपसे कोई अपेक्षा उपनिषद् की नहीं है कि आप परमात्मा की पूजा में, प्रार्थना में आप लग जायें। नहीं, उपनिषद् की अपेक्षा आपसे कोई परमात्मा की भक्ति करने के लिए नहीं है। उपनिषद् की अपेक्षा तो आपसे है कि आप परमात्मा हो जायें।

इस फर्क को थोड़ा ठीक-से समझ लें।

उपनिषद् की महत्त्वाकांक्षा अंतिम है, चरम है; इससे बड़ी कोई महत्त्वाकांक्षा जगत् में कभी पैदा नहीं हुई। आप परमात्मा की पूजा करें, प्रार्थना करें, भक्ति करें, उपनिषद् इससे राजी नहीं है। उपनिषद् कहता है, जब तक परमात्मा ही न हो जाएँ, तब तक परम सत्य हाथ नहीं लगता है। उपनिषद् मानता है कि परमात्मा हुए बिना नियति पूरी नहीं होती है। 'वह' का मतलब है कि हम कोई पूजा का, कोई भक्ति का सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ने नहीं जा रहे हैं; 'वह' से सम्बन्ध जोड़ा भी नहीं जा सकता है; हम सब सम्बन्ध छोड़ने जा रहे हैं। हम अन्त में अपने को भी छोड़ देंगे, ताकि सम्बन्धित होनेवाला ही न रहे और सम्बन्ध भी न हो सकें। और अन्ततः हम वही हो जायेंगे जिसको हमने 'वह' कहकर पुकारा है।

इसलिए बात कठिन भी हो जाती है, क्योंकि धर्म से हमारी धारणा आमतौर से होती है भक्ति की, धारणा आमतौर से होती है पूजा-प्रार्थना की, स्तुति की। उपनिषद् की धर्म से धारणा पूजा, स्तुति, प्रार्थना की बिलकुल नहीं है। उपनिषद् की धारणा है प्रत्येक व्यक्ति में छिपे हुए 'वह', 'तत्'--उसको उघाड़ने, उद्घाटित करने की।

उपनिषद् धर्म का विज्ञान है। जैसे विज्ञान पदार्थ के भीतर छिपे हुए सत्य को खोजता है; जैसे विज्ञान पदार्थ को तोड़ता है, अणु-अणु को तोड़ता है और उसके

भीतर छिपी हुई ऊर्जा का पता लगाता है, नियम की खोज करता है--किस नियम के आधार पर पदार्थ चल रहा है, उसका अन्वेषण करता है--वैसे ही उपनिषद् चेतना के अणु-अणु में प्रवेश करते हैं और चैतन्य का क्या नियम है, और चैतन्य कैसे जगत् में गतिमान है, कैसे स्थिर है, कैसे छिपा है, कैसे प्रगट है, इसकी खोज करते हैं।

विज्ञान की भाषा है उपनिषद् की भाषा। अगर एक वैज्ञानिक हाइड्रोजन खोज लेता है, या एक वैज्ञानिक एटॉमिक एनर्जी खोज लेता है, तो वह ऐसा नहीं कहता है कि एटॉमिक एनर्जी मेरी माँ है कि मेरा पिता है; कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ता। वह एक नियम है जो उसने खोज लिया है। उससे कोई सम्बन्ध बनाने की बात नहीं है। उससे कोई राग की भाषा निर्मित नहीं करता। और विज्ञान राग की भाषा निर्मित करे तो विज्ञान न रह जाए। राग, सम्बन्ध, अवैज्ञानिक हैं; विकृत करेगा सत्य को। इसलिए दूर, तटस्थ खड़े रहकर विज्ञान के सत्य को देखना होगा वैज्ञानिक को; कोई निकट जाकर अपना आत्मीय सम्बन्ध निर्मित नहीं करता है।

उपनिषद् भी विज्ञान की भाषा बोलते हैं। कहते हैं 'वह', कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ते। अपने को अलग रख लेते हैं, दूर हटा लेते हैं। जब उपनिषद् कहता है 'वह', तो हमें पता भी नहीं चलता 'कौन कह रहा है'। जब कोई कहता है 'पिता, परम-पिता है परमात्मा', तो हमें पता चलता है 'कौन कह रहा है'। कोई, जिसकी पिता की वासना पूरी नहीं हुई; कोई जिसका पुत्रपन अधूरा रह गया; कोई, जिसे माँ-बाप का प्यार न मिला हो; कोई, जिसे ज्यादा प्यार मिल गया हो और अपच हो गया हो; लेकिन, कोई जिसके सम्बन्ध में पिता और जिसके सम्बन्ध में कहीं-न-कहीं कोई अड़चन हो गयी है; वही पुकार रहा है। लेकिन जब कोई कहता है 'वह', तो बोलनेवाले का कोई पता नहीं चलता कि कौन पुकार रहा है। उसके बाबत कोई खबर नहीं मिलती।

इशारा बड़ा निर्व्यैक्तिक है--और इसलिए बहुमूल्य है। और जैसे ही हम कहते हैं 'वह', झगड़ा समाप्त हो जाता है।

यह बड़े मजे की बात है: अगर ईश्वर को हम 'तत्' कहें, तो हिन्दु, मुसलमान लड़ें कैसे? ईसाई के 'तत्' में और हिन्दू के 'तत्' में क्या फर्क होगा? ईसाई कहे परमात्मा को 'वह', हिन्दू कहे परमात्मा को 'वह', मुसलमान कहे परमात्मा को 'वह', तो तीनों में कोई भी झगड़ा नहीं हो सकता। चाहे 'वह' के लिए कोई भी शब्द उपयोग किया जाये; 'तत्' कहे कोई, 'दैट' कहे कोई, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, झगड़ा नहीं हो सकता। लेकिन जब मुसलमान कहता है 'उसे' कुछ, हिन्दू कहता है कुछ, ईसाई कहते हैं कुछ; जब पिता कहते हैं वे, तो पिता के साथ ही उन सबकी धारणाएँ बदल जाती हैं।

यह बहुत सोचने-जैसी बात है: फ्रायड ने कहा है कि जब भी कोई परमात्मा को पिता कहता है, तो थोड़ा विचार करे भीतर, वह अपने परमात्मा की धारणा में अपने पिता की तस्वीर को पायेगा। पायेगा ही। जब आप कहेंगे 'माँ', तो आपकी माँ उपस्थित हो जायेगी। आपकी माँ की धारणा क्या है? तो थोड़ा बहुत परिष्कार करके, शुद्ध करके, साफ-सुथरा करके, रंग-रोगन करके, अपनी माँ की धारणा को आप परमात्मा बना लेंगे।

दिदरो ने, एक फ्रेंच विचारक ने बहुत गहरी मजाक की है। उसने कहा है कि अगर घोड़े अपना परमात्मा बनायें, तो उनकी शकल घोड़ों की ही होगी; ...परमात्मा की शकल! कोई घोड़ा आदमी की शकल का परमात्मा नहीं बना सकता, यह पक्का है। यह हम जानते हैं। नीग्रो परमात्मा को बनाता है, तो उसके बाल घुंघराले होते हैं; होनेवाले हैं। उसके ओंठ नीग्रो के ओंठ होंगे। उसकी शकल काली शकल होगी; नीग्रो की शकल होगी। चीनी परमात्मा की शकल बनाते हैं, तो गाल की हड्डियाँ निकली हुई होंगी ही, क्योंकि परमात्मा, और चीनी न हो, यह भी हो सकता है!

हमारी ही धारणा तो हम आरोपित करेंगे। अंगरेज कभी कल्पना कर सकते हैं काले परमात्मा की! कोई उपाय नहीं है। हिन्दुओं ने जो परमात्मा की कल्पना की है, वह आप देखते हैं! कृष्ण हैं, राम हैं, सब श्याम-वर्ण हैं! श्याम-वर्ण हिन्दुओं के मन में खूब सौंदर्य का प्रतीक रहा है; रहेगा। नाक-नक्शा आप देखते हैं! वह जो हिन्दू-चित्त की धारणा है सौन्दर्य की, वही राम और कृष्ण पर रहेगी। होगी ही। आपने--राम, कृष्ण, क्राईस्ट, मुहम्मद--कभी ख्याल किया है कि इनके कान बहुत बड़े-बड़े नहीं हैं, छोटे हैं। लेकिन आपने बुद्ध, महावीर, इनकी मूर्तियाँ देखी हैं, कान कन्धे को छूते हैं! क्योंकि जैनों और बौद्धों की धारणा है कि जो तीर्थंकर होता है, उसका कान कन्धे को छूता है। इसका कुल कारण इतना ही मालूम होता है कि उनका जो पहला तीर्थंकर है--जैनों का--उसके कान लम्बे रहे होंगे, कन्धों को छुए होंगे। और फिर यह धारणा बन गयी। और यह मानने का कारण नहीं है कि चौबीस तीर्थंकरों के ही कानों ने कंधे को छुआ होगा। लेकिन एक दफा धारणा बन जाये तो फिर मूर्तियाँ धारणा के अनुसार बनती हैं, व्यक्तियों के अनुसार नहीं बनतीं। इसलिए अगर आप जैनियों की चौबीस मूर्तियाँ देखें तो आप बता नहीं सकते कि कौन-सी मूर्ति महावीर की, कौन-सी पार्श्व की, कौन-सी नेमी की है। कोई नहीं बता सकता, जब तक कि नीचे का आप प्रतीक न देखें कि चिह्न किसका बना है। मूर्तियाँ सब एक-जैसी हैं।

एक धारणा तय हो जाती है, फिर उस धारणा के अनुसार हम चलते और जीते हैं। हमारे सब परमात्मा हमारी धारणाओं से निर्मित हो जाते हैं, लेकिन 'वह'

की कोई धारणा नहीं हो सकती। इसलिए जिस दिन दुनिया में कभी सार्वभौम धर्म का उदय होगा, उस दिन उपनिषद् पहली दफा ठीक-से समझे जायेंगे; उस दिन हम समझेंगे कि उपनिषदों ने पहली दफा वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग किया है और आदमी का वह जो एन्ट्रोपोसेन्ट्रिक, मनुष्य-केन्द्रित जो भाषा का जाल है, उसको बिलकुल छोड़ दिया है, उसको हटा दिया है।

"इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या--ऐसी दो उपाधि हैं, इनको त्याग करने से अखंड सच्चिदानन्द परब्रह्म का अनुभव होता है।"

यह थोड़ा कठिन सूत्र है।

'परमात्मा को माया की उपाधि है और जीव को अविद्या की।'

उपाधि कहें, बीमारी कहें।

'परमात्मा को माया की उपाधि है।'...

यह, इस प्रत्यय में प्रवेश करना पड़ेगा। थोड़ा जटिल है और सूक्ष्म है। और मनुष्य के मन में अनेक-अनेक ऊहापोह हुए हैं। थोड़ा ऊहापोह समझ लें, फिर इसमें उतर जायें।

एक कठिनाई सदा से रही है चिन्तनशील आदमी के सामने कि अगर हम परमात्मा को मानें तो जगत् को मानना बहुत मुश्किल हो जाता है, और अगर हम परमात्मा को मानें तो जगत् की व्याख्या कठिन हो जाती है। अब, जैसे; अगर परमात्मा ने जगत् बनाया है तो इतनी बीमारी, इतना दुःख, इतनी पीड़ा, इतना पाप! अगर परमात्मा ने ही जगत् बनाया तो आदमी को ऐसे अज्ञान में डालने की जरूरत क्या है? जिम्मेवार आदमी नहीं रह जाता, जिम्मेवार परमात्मा हो जाता है।

अभी एक ईसाई पादरी मुझे मिलने आये थे। मैंने उनसे पूछा कि 'किस काम में लगे हैं?' वे बोले कि 'हम पाप से लड़ने में लगे हैं।' मैंने कहा, 'पाप! यह पाप आया कहाँ से!' उन्होंने कहा, 'यह शैतान ने पैदा किया है।'

अभी तक वह बिलकुल आश्वस्त थे। आमतौर से कोई ज्यादा इन बातों में पूछताछ नहीं करता, क्योंकि ज्यादा पूछताछ करने में अड़चन आती है। मैंने उनसे पूछा, 'और शैतान को किसने बनाया?'

तब वे जरा झिझके, क्योंकि अब कठिन बात आ गयी। वे डरे कि अगर कहें कि ईश्वर ने बनाया, तो मामला बड़ा खराब हो जाता है। क्योंकि ईश्वर शैतान को बनाता है, शैतान पाप को बनाता है, यह पूरा गोरखधंधा क्या है? और ईश्वर को इतनी भी बुद्धि नहीं है कि शैतान को न बनाये! और जब ईश्वर तक चूक

गया शैतान को बनाने में, तो हम और आप चूक जायें पाप करने में, तो इसमें अड़चन क्या है? और फिर पाप को शैतान बनाता है और शैतान को ईश्वर बनाता है और हम पाप करते हैं, तो जिम्मेवार कौन है? हम तो विक्टिम हैं, हम तो शिकार हो गये मुफ्त! हमारा इसमें कोई सम्बन्ध ही नहीं है। परमात्मा हमको बनाता है, परमात्मा शैतान को बनाता है, शैतान पाप को बनाता है, हम पाप करते हैं, इस पूरे वर्तुल में हमारी जिम्मेवारी कहाँ है? न हम परमात्मा को बनाते, न हम शैतान को बनाते, न हम पाप को बनाते, हम इन तीनों के नाहक उपद्रव को झेल रहे हैं!

वे थोड़े बेचैन हो गये। कोई उत्तर नहीं है ईसाइयत के पास। किसी के पास उत्तर खोजना मुश्किल है; क्योंकि यह बड़ी अड़चन की बात है। या कुछ लोगों ने, जैसे कि पारसी मानते हैं, जरथुस्त की मान्यता है कि ये दो तत्त्व हैं: 'परमात्मा' और 'शैतान', ये दो तत्त्व हैं। किसी ने किसी को बनाया नहीं, दोनों शाश्वत हैं। तब और खतरा खड़ा हो जाता है! क्योंकि अगर दोनों शाश्वत हैं तो कोई भी कभी जीत नहीं सकता और कोई कभी हार नहीं सकता; शैतान और परमात्मा लड़ते रहेंगे। आप कौन हैं? आप क्षेत्र हैं, जहाँ वे लड़ रहे हैं; ...कुरुक्षेत्र! और कोई जीत नहीं सकता, कोई हार नहीं सकता, क्योंकि दोनों शाश्वत हैं। उनकी भी कठिनाई है कि अगर शाश्वत न मानें और यह कहें कि शैतान हार सकता है, तो सवाल उठता है कि अभी तक हारा क्यों नहीं! इतना जमाना हो गया, अभी तक हारा नहीं, आगे क्या पक्का भरोसा है? हालत तो उलटी दिखती है कि शैतान रोज जीत रहा है; हारना तो बहुत दूर है, हालत तो यह दिखती है कि शैतान रोज जीत रहा है!

आप जानकर हैरान होंगे कि अमरीका में अभी उन्नीस सौ सत्तर में एक चर्च रजिस्टर करवाया गया है; केलिफोर्निया में एक नया चर्च रजिस्टर करवाया गया है: "द फर्स्ट चर्च ऑफ डेविल"; शैतान का पहला मंदिर! और उनके अनुयायी हैं, उनका आर्च प्रीस्ट है, और उन्होंने अपनी बाईबिल छापी है, और उन्होंने कहा है कि अब हम यह घोषणा कर देते हैं कि 'पर्याप्त है इतना समय अनुभव करने के लिए कि परमात्मा हार रहा है और शैतान जीत रहा है।'

बात तो ठीक कहते हैं; अगर दुनिया को देखें तो उनकी बात एकदम गलत नहीं मालूम पड़ती। दुनिया को अगर देखें, तो शैतान का अनुयायी जीत जाता है, ईश्वर का अनुयायी मात खा जाता है; शैतान के अनुयायी पदों पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं, ईश्वर का अनुयायी इधर-उधर भटकता रहता है! कोशिश करके देखें।

...इसलिए ईश्वर के अनुयायी भी ट्रिक समझ गये हैं; नाम ईश्वर का लेते हैं, काम शैतान से करवाते हैं! वे समझ गये हैं कि जीतता कौन है; अखिरी हिसाब

में शैतान जीतता है। लेकिन, मन में डर भी बना रहता है कि कहीं भूल-चूक,... कभी परमात्मा जीत जाये,... तो राम-राम भी जपते रहो! दोनों नाव पर सवार रहते हैं; ...सभी समझदार लोग। जब जरूरत होती हैं, शैतान से काम लेते हैं, और जब कोई जरूरत नहीं होती, फुर्सत का समय होता है, तो माला फेर लेते हैं! इससे एक समझौता बना रहता है, और एक बैलेंस। और फिर अखीर में क्या पता, कौन जीतेगा!

जगत् अगर कोई खबर देता है तो शैतान के जीतने की देता है; परमात्मा की जीत तो कहीं दिखाई नहीं पड़ती। शुभ बढ़ता हुआ मालूम नहीं पड़ता, अशुभ कमता हुआ मालूम नहीं पड़ता। प्रकाश बढ़ता हुआ मालूम नहीं पड़ता, अंधकार कम होता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

तो शाश्वत मानें तो अड़चन है। अगर ऐसा मानें कि शाश्वत नहीं है, शैतान अन्ततः हारेगा--बीच में कितना ही जीते, आखिर में तो हारेगा ही--लेकिन इसका भरोसा क्या है? इसकी गारंटी क्या है? और जो बीच में जीतता है, वह आखिर में क्यों हारेगा? जो सदा जीतता है, वह आखिर में अचानक हार जायेगा, इसमें कोई तुक और संगति नहीं मालूम पड़ती।

यह प्रश्न सारी मनुष्य-जाति के साथ है। अलग-अलग धर्मों ने अलग-अलग उपाय किये हैं इस द्वन्द्व को सुलझाने के, लेकिन सुलझाव कोई होता नहीं। इस सब में उपनिषद् की धारणा कम-से-कम गलत मालूम पड़ती है; कम-से-कम गलत, एकदम सही नहीं। लेकिन और सब धारणाओं के बीच अगर तौला जाए तो उपनिषद् की बात सबसे ज्यादा ठीक मालूम पड़ती है; बिलकुल ठीक नहीं, सबसे ज्यादा ठीक --तौल में, रिलेटिव, सापेक्ष।

उपनिषद् कहते हैं कि संसार और परमात्मा में विरोध नहीं है; कोई शैतान नहीं है; और परमात्मा के विपरीत कोई शक्ति नहीं है। फिर यह संसार कैसे है? तो उपनिषद् कहते हैं कि परमात्मा अपने किसी विरोधी को पैदा करके संसार पैदा नहीं कर रहा है; परमात्मा के होने में ही, परमात्मा की आभा में ही--जिसको वे माया कहते हैं; परमात्मा की छाया में ही--जिसको वे माया कहते हैं; संसार है। जैसे कोई आदमी खड़ा हो और उसकी छाया बने। छाया का कोई अस्तित्व तो नहीं होता: तलवार से काटें तो कट नहीं सकती, आग से जलायें तो जल नहीं सकती, पानी में डुबाना चाहें, डूब नहीं सकती, फिर भी छाया होती है। अस्तित्व नहीं होता, फिर भी छाया तो होती है। आपके पीछे चलती है। दौड़ें तो आपके पीछे दौड़ती है, रुकें तो रुक जाती है।

उपनिषद् कहते हैं, जब भी कोई चीज अस्तित्ववान होती है, तो उसकी छाया भी होती है; शैडो। यह जरा समझ लें। और इस पर विज्ञान और मनोविज्ञान की

आधुनिकतम खोजें भी इसका साथ देती हैं कि इस बात में सच्चाई है। कोई भी चीज बिना छाया के नहीं होती। जो भी चीज होती है, उसकी छाया होती है। अगर ब्रह्म है, तो उसकी छाया होगी। और उस छाया को वे कहते हैं माया।

ब्रह्म की छाया संसार है।

जुंग ने, एक बड़े मनोवैज्ञानिक ने इस सत्य पर किसी दूसरे आयाम से काफी खोज की और उसने पाया कि हर आदमी का एक छाया अस्तित्व भी है: 'ए शैडो परसनैलिटि'। आपको भी थोड़ा समझ लेना चाहिए; आपके पास भी छाया अस्तित्व है।

आप भले आदमी हैं: क्रोध नहीं करते; शान्त हैं, धैर्यवान हैं, लेकिन अचानक एक दिन कोई एक छोटी-सी बात--बात भी इतनी बड़ी नहीं है कि क्रोध किया जाये, और आप आदमी ऐसे नहीं है कि क्रोध करते हों; बड़ी बातों पर क्रोध नहीं करते--और किसी दिन एक छोटी-सी बात पर ऐसा क्रोध उबल आता है कि आपके भी समझ के बाहर हो जाता है कि क्या हो रहा है, कौन कर रहा है!

इसलिए लोग कहते हैं बाद में, कि मेरे बावजूद हो गया; इन्सपाइट ऑफ मी। मैं कोई करना नहीं चाहता था,... हो गया!

क्यों, कैसे हो गया? आप नहीं करना चाहते थे तो फिर कैसे हो गया?

कई बार आप कोई बात नहीं कहना चाहते और मुँह से निकल जाती है! आप कहना ही नहीं चाहते थे और मुँह से निकल गयी! आप पीछे पछताते हैं कि मैंने सोचा नहीं था कि कहूँगा; तय ही कर लिया था कि नहीं कहने का है, फिर भी निकल गयी!

जुंग कहता है कि आपका एक छाया व्यक्तित्व है, जिसमें जो-जो आप इनकार कर देते हैं अपने भीतर, वह इकट्ठा होता जाता है। कभी-कभी कोई मौका पाकर, कोई कमजोर क्षण पाकर, कोई संधि पाकर, छाया व्यक्तित्व अपने को प्रकट कर देता है।

इस छाया व्यक्तित्व के कारण एक बड़ी बीमारी तक मनोविज्ञान में अध्ययन की जाती है। बड़ी बीमारी है, सारी दुनिया में फैली हुई है। उसे स्पिलिट परसैनलिटि,...आदमी दो टुकड़ों में टूट जाता है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि आदमी में दो व्यक्तित्व हो जाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि एक आदमी के भीतर दो आदमी हैं; कहता कुछ है, करता कुछ है, कोई तालमेल नहीं दिखायी पड़ता; सुबह कुछ है, साँझ कुछ है। कोई पक्का भरोसा नहीं किया जा सकता उसकी बात का, उसके होने का। वह खुद भी डरता है कि मैं क्या कर रहा हूँ, क्या कह रहा हूँ; ताल-मेल नहीं बैठता, जैसे भीतर दो आदमी हैं। कभी बड़ा शान्त, कभी बड़ा अशान्त; कभी मौन, कभी बड़ा मुखर; दो हिस्से हो गये हैं।

ऐसा भी हो जाता है: हजारों पागलखानों में हजारों पागल बन्द हैं, उनकी बीमारी यह है कि उनका एक व्यक्तित्व अचानक खो गया और वो दूसरे व्यक्ति हो गये। कल तक वे राम थे, और अचानक कोई घटना घटी, ऐक्सिडेन्ट हो गया, कार से गिर पड़े, सिर में चोट आ गयी——और रहीम हो गये! अब वे याद हीं नहीं करते कि राम थे कभी; अपने पिता को नहीं पहचानते; माँ को, पत्नी को नहीं पहचानते; अब वे अपने को रहीम बताते हैं। और वे सारा हिसाब ही दूसरा बताते हैं कि उनका कोई सम्बन्ध ही अब इस घर से नहीं है; पहचान भी नहीं है!

...क्या हो गया...?

...इस ऐक्सिडेन्ट में उनका जो प्रमुख व्यक्तित्व था वह आघात खा गया और उनका जो छाया व्यक्तित्व था वह सक्रिय हो गया। इसलिए वह दूसरा नाम और सब उन्होंने बदल लिया।

इस छाया व्यक्तित्व को ठीक भी किया जाता है——इलाज से, शॉक से। कभी-कभी वह ठीक हो जाता है तो वे फिर राम हो गये, फिर वे दूसरे आदमी हो गये; उनका सब व्यवहार बदल जाता है।

हर आदमी के भीतर छिपा हुआ यह छाया व्यक्तित्व है। इसको अगर उपनिषद् की भाषा में कहें तो उपनिषद् कहते हैं कि व्यक्ति के साथ बंधी है 'अविद्या'; वह उसका छाया व्यक्तित्व है, और ब्रह्म के साथ बंधी है 'माया'; वह उसका छाया व्यक्तित्व है। ब्रह्म के विपरीत नहीं है यह माया, उसकी छाया ही है; यह इसके होने का अनिवार्य अंग है। यह संसार ब्रह्म का शत्रु नहीं है, ब्रह्म के होने का छाया अंग है। इसे हम विज्ञान की भाषा से समझें तो शायद आसान हो जाये, वैसे बात आसान नहीं है।

अभी उन्नीस सौ साठ में एक आदमी को नोबल प्राइज़ मिली। यह नोबल प्राइज़ सबसे अनूठी है। इस आदमी को नोबल प्राइज़ मिली है 'एन्टिमैटर' की खोज पर। यह शब्द बड़ा अजीब है, 'एन्टिमैटर'। इस आदमी की खोज यह है कि पदार्थ भी है जगत् में और पदार्थ के विपरीत भी एक अपदार्थ——'एन्टिमैटर' है।

हर चीज के विपरीत चीजें हैं। कोई चीज इस जगत् में बिना विपरीत के नहीं होती। जैसे; प्रकाश है, तो अन्धेरा है; जीवन है, तो मृत्यु है; गर्मी है, तो सर्दी है; स्त्री है, तो पुरुष है। सारा जगत् दोहरी व्यवस्था से जीता है। क्या आप सोचते हैं ऐसा कोई जगत् जिसमें पुरुष न हों, स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ हों; असम्भव है। क्या आप सोचते हैं ऐसा कोई जगत् कि पुरुष-ही-पुरुष हो, स्त्रियाँ न हों; असम्भव है। तालमेल इतना गहरा है कि जब बच्चे पैदा होते हैं तो लड़के एक सौ पन्द्रह पैदा होते हैं और लड़कियाँ सौ पैदा होती हैं, लेकिन पन्द्रह साल की उमर तक पन्द्रह लड़के समाप्त हो

जाते हैं; सौ और सौ का अनुपात बराबर हो जाता है।

बायोलॉजिस्ट कहते हैं, चूँकि लड़के लड़कियों से कमजोर हैं, इसलिए प्रकृति को ज्यादा पैदा करने पड़ते हैं, क्योंकि पन्द्रह उमर पाते-पाते शादी की तो समाप्त हो जायेंगे।

यह जानकर आप हैरान होंगे कि बायोलॉजी के हिसाब से स्त्री ताकतवर है पुरुष कमजोर है। पुरुष की जो ताकत है वह मसक्युलर है; बड़ा पत्थर उठा सकते हैं, लेकिन बड़ा दुख नहीं झेल सकते। स्त्री की जो ताकत है, वह सहनशीलता है। इसलिए स्त्रियाँ बड़ी बीमारियाँ झेल लेती हैं। और जरूरी है, क्योंकि सबसे बड़ी बीमारी तो प्रसव है, वह झेल लेती हैं। अगर पुरुष को बच्चे पैदा करने पड़ें——पुरुष कभी की आत्महत्या कर लें! इस जगत् में फिर पुरुष एक खोजने से नहीं मिलेगा! नौ महीने एक बच्चे को ढोना! ...नौ दिन तो कन्धे पर लेकर देखें! ...नौ घंटे सही! ...नौ मिनट सही! कठिन मामला है! और फिर प्रसव की पीड़ा! उतनी पीड़ा झेलने के योग्य प्रकृति स्त्री को बनाती है। मजबूत है, ताकतवर है। उसकी ताकत और ढंग की है। लड़ नहीं सकती, जोर से दौड़ नहीं सकती, इससे यह मत समझना कमज़ोर है। उसका आयाम अलग है शक्ति का। क्षमता उसकी ज्यादा है।

तो पन्द्रह वर्ष की उम्र तक बराबर हो जाते हैं।

सारी दुनिया में यह अनुपात बराबर बना रहता है।

आप जानकर हैरान होंगे कि जब युद्ध होता है, तो लड़के ज्यादा कट जाते हैं! निश्चित ही, लड़के जाते हैं युद्ध के मैदान पर, स्त्रियाँ बढ़ जाती हैं। युद्ध के बाद के दिनों में लड़कों की पैदावार बढ़ जाती है, लड़कियों की कम हो जाती है।

कौन करता होगा यह आयोजन? और यह कैसे होता होगा?

युद्ध हो गया। दूसरा महायुद्ध हुआ, पहला महायुद्ध हुआ, तो बड़ी कठिनाई हुई कि पहले महायुद्ध में जो लाखों लोग मर गये——पुरुष; युद्ध के बाद के दो-तीन साल में लड़कों का अनुपात पैदावार का बढ़ गया और लड़कियों का एकदम कम हो गया, और अनुपात फिर थिर हो गया। तब चिन्तन शुरू हुआ। दूसरे महायुद्ध में फिर वही हुआ। तब ऐसा लगा कि प्रकृति भीतर से विपरीत में संतुलन करती रहती है।

आप ऐसा मत सोचें कि इस जमीन पर कभी प्रकाश-ही-प्रकाश रह जायेगा, अन्धेरा नहीं होगा। यह नहीं हो सकता। अन्धेरा और प्रकाश संतुलित होंगे।

यह 'ऐन्टिमैटर' की खोज इसी आधार पर है कि जगत् विरोध का संतुलन है। तो पदार्थ है। तो पदार्थ के विपरीत क्या है? वह दिखाई नहीं पड़ता हमें। और फिजिसिस्ट को जो धारणा है, वह बड़ी जटिल है। जैसे एक पत्थर रखा हुआ है——इस टेबल पर एक पत्थर रखा हुआ है। तो पत्थर दिखायी पड़ता है। हम पत्थर उठा लें, तो फिर तो कुछ दिखायी नहीं पड़ता। आप ऐसा कल्पना करें कि एक पत्थर रखा

हुआ है यहाँ, और यहाँ एक छेद रखा हुआ है--छेद किया हुआ नहीं, 'पत्थर-के-जैसी' खाली जगह। पत्थर को हम हटा लें, और उतनी अगर जगह खाली रह जाये, जहाँ पत्थर रखा था, वह खाली जगह रखी हुई है पास में। उसका नाम 'ऐन्टि-मैटर' है। अभी तक उसको किसी ने देखा नहीं। नोबल प्राइज़ मिल गयी है। और मिलने का कारण यह है कि उस आदमी को गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जगत् में जब सभी चीजें विपरीत से भरी हैं। तो पदार्थ के होने के लिए भी उसके विपरीत का होना ज़रूरी है, जो उसके पास ही कहीं छुपा हो। वह दिखे, न दिखे, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से उसको स्वीकार करने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।

माया, हम कहें कि ब्रह्म को छाया है। ब्रह्म भी नहीं हो सकता बिना माया के, माया भी नहीं हो सकती बिना ब्रह्म के। और बड़े विराट् पैमाने पर माया है छाया ब्रह्म की। कहें 'ऐन्टि ब्रह्म', तो भी चलेगा। वैसे ही व्यक्ति के छोटे से तल पर अविद्या है। अविद्या व्यक्ति के पैमाने पर माया है। आपके आसपास अविद्या भी है। अब क्या किया जा सकता है, अविद्या है व्यक्ति के पास! अविद्या को कैसे छोड़ें? और अगर यह नियति है, अगर यह विश्व की व्यवस्था है कि विपरीत होगा ही, और अगर ब्रह्म भी अब तक माया को नहीं छोड़ पाया है, अगर परम अस्तित्व भी माया से घिरा है, तो हम छोटे-छोटे क्षुद्र-जन, छोटे-छोटे व्यक्ति, हम कैसे अविद्या को छोड़ पायेंगे! ब्रह्म नहीं छोड़ पाया माया को, हम अविद्या को कैसे छोड़ पायेंगे! और अगर नहीं छोड़ पा सकते, तो सारी धर्म की चेष्टा व्यर्थ हो जाती है।

नहीं, छोड़ सकते हैं, लेकिन प्रक्रिया समझ लें। हम अविद्या को तभी छोड़ सकते हैं, जब हम मिटने को राजी हो जायें। अगर हम मिटने को राजी नहीं हैं, तो अविद्या नहीं मिट सकती, द्वन्द्व जारी रहेगा। या तो दोनों रहेंगे या दोनों मिट जायेंगे। अगर मैं कहूँ कि मैं तो बचना चाहता हूँ और अविद्या को मिटाना चाहता हूँ, तो फिर अविद्या कभी नहीं मिटेगी। वह आपकी छाया है। इसे ऐसा समझें कि जैसे मैं कहूँ कि मैं तो रहना चाहता हूँ, मेरी छाया मिटाना चाहता हूँ। वह कभी नहीं मिटेगी। एक ही रास्ता है कि मैं मिट जाऊँ, तो मेरी छाया मिट जाये। इसलिए अहंकार को मिटाने पर इतना जोर है। मैं मिट जाऊँ तो मेरी छाया मिट जाये। और जब मैं मिट जाता हूँ, मेरी छाया मिट जाती है और ब्रह्म से लीन होकर मैं एक हो जाता हूँ। मैं की तरह नहीं, शून्य की तरह ब्रह्म में लीन हो जाता हूँ।

मेरी अविद्या का क्या होता होगा? जब मैं मिटता हूँ, जब मैं ब्रह्म में लीन हो जाता हूँ, मेरी अविद्या माया में लीन हो जाती है। मैं खो जाता हूँ ब्रह्म में, अविद्या खो जाती है माया में। जब भी मैं निर्मित होता हूँ, मैं निकलता हूँ ब्रह्म से, अविद्या

निकलती है माया से। अविद्या, हम सबको माया का मिला हुआ छोटा-छोटा भाग है; छोटी-छोटी जमीन माया की हमको मिली हुई है।

माया दुख देती है, अविद्या पीड़ा देती है, इसलिए हम छूटना चाहते हैं। ब्रह्म को पीड़ा नहीं देती होगी? ब्रह्म नहीं छूटना चाहता होगा? ब्रह्म से मतलब कोई व्यक्ति नहीं, यह विराट् अस्तित्व। इसको पीड़ा नहीं होती होगी? यह नहीं छूटना चाहता होगा? हमें पीड़ा होती है, हम छूटना चाहते हैं; ब्रह्म नहीं छूटना चाहता होगा? ब्रह्म के तल पर समस्त स्वीकार है। ब्रह्म के तल पर माया का होना स्वीकृत है। उसका कोई इनकार नहीं है।...उसका कोई इनकार नहीं है, इसलिए कोई पीड़ा नहीं है। हमारे तल पर पीड़ा है। अगर हम भी स्वीकार कर लें तो वहाँ भी कोई पीड़ा नहीं है।

मेरे हाथ में चोट लगे, तो पीड़ा चोट से नहीं होती, पीड़ा होती है इस बात से कि चोट नहीं लगनी चाहिए थी। अगर मैं स्वीकार कर लूँ कि चोट लगनी ही चाहिए थी, चोट होनी ही चाहिए थी, चोट होती ही, चोट होना नियति है, फिर कोई पीड़ा नहीं है। पीड़ा है विरोध में; पीड़ा है अस्वीकार में। तो हम स्वीकार नहीं कर पाते हैं, इसलिए पीड़ा है। कोई हममें स्वीकार कर लेता है; जैसे कोई जनक, कोई कृष्ण, उसे स्वीकार कर लेता है, तो यहीं, बिना कुछ किये, अविद्या माया बन जाती है, कृष्ण ब्रह्म हो जाते हैं। कृष्ण स्वीकार कर लेते हैं उसे।

कृष्ण और बुद्ध, कृष्ण और महावीर के रास्ते में यही फर्क है। महावीर अपने को मिटाते हैं ताकि अविद्या मिट जाये। कृष्ण न अपने को मिटाते हैं, न अविद्या को; स्वीकार कर लेते हैं। महावीर अपने को मिटाकर अविद्या मिटाते हैं, कृष्ण स्वीकार करके ब्रह्मरूप हो जाते हैं--तत्क्षण। क्योंकि जब ब्रह्म माया नहीं मिटा रहा है, और स्वीकार कर रहा है, तो कृष्ण भी स्वीकार कर लेते हैं।

इसलिए कृष्ण को हमने पूर्ण अवतार कहा है। कोई अस्वीकार नहीं है वहाँ, इसलिए पूर्णता है। जरा-सा भी अस्वीकार हो, अपूर्णता हो जाती है।

इसलिए हमने राम को कभी पूर्ण अवतार नहीं कहा। कह नहीं सकते; क्योंकि राम के मन में बहुत अस्वीकार हैं; बड़ी मर्यादाएँ, सीमाओं की धारणाएँ हैं। एक धोबी कह देता है कि सीता पर संदेह है, तो राम यह भी नहीं सह पाते।...एक धोबी! कोई, नासमझों की कोई कमी है दुनिया में! कोई भी कुछ कह दे! और कोई राम के वक्त के धोबी बहुत समझदार होते होंगे, ठीक तो है नहीं कुछ! पर एक धोबी भी यह कह दे कि सीता पर संदेह है, और अपनी स्त्री से कह दे कि 'एक रात घर के बाहर रही है, भीतर नहीं घुसने दूँगा, मैं कोई राम नहीं हूँ, क्या समझा है तूने कि इतने दिन रावण के घर सीता रह गयी और वह सज्जन लेकर वापिस लौट आये हैं।'

'मैं कोई राम नहीं हूँ', यह बात पीड़ा कर गयी; राम के मन में काँटा चुभ गया। राम के मन में पूरी स्वीकृति नहीं है। वह यह न देख पाये, यह न सुन पाये कि मेरी नीति पर, मेरे चरित्र पर लांछन हो जाये। सीता को फेंक सके, हटा सके, लांछन को स्वीकार न कर सके। इसलिए हिन्दू मन ने कभी राम को पूर्ण अवतार नहीं कहा। कहा, 'मर्यादा पुरुषोत्तम'; मनुष्यों में इससे बड़ी मर्यादा का आदमी नहीं हुआ।

लेकिन, ध्यान रहे,... 'मनुष्यों में!'...मर्यादा पुरुषोत्तम! लेकिन, बस एक सीमा है। शुद्ध हैं बहुत, पर शुद्ध का इतना आग्रह है कि अशुद्धि का डर है। लेकिन कृष्ण और तरह के आदमी हैं; बदनामी का कोई डर ही नहीं है! जैसे बदनामी का निमंत्रण है! जैसे कितने बदनाम हो सकें उसकी पूरी चेष्टा है!

क्या मामला होगा?

कोई अस्वीकृति नहीं है। जो भी है, ठीक है। इसलिए गजब की घटना घटी कृष्ण के जीवन में। ठीक वैसी घटना घटी, जैसा ब्रह्म और माया की विराट् में घट रही है। एक छोटी भूमि पर जैसे विराट् छोटा होकर उतर आया और आसपास माया की छोटी घटना घटी। पूरी स्वीकृति है।

जहाँ अविद्या स्वीकृत है, वहाँ नष्ट करने की कोई जरूरत नहीं है। जहाँ स्वीकृति नहीं है, वहाँ अविद्या नष्ट करनी पड़ेगी। लेकिन नष्ट करने का एक ही उपाय है, खुद को नष्ट करना। तो ही नष्ट हो पायेगी।

इसलिए महावीर और बुद्ध का रास्ता कठिन है, काटनेवाला है, अहंकार को तोड़नेवाला है, मिटानेवाला है। एक-एक जड़ से तोड़ेंगे, मिटायेंगे, तब छाया मिटेगी; छुटकारा होगा। कृष्ण का स्वीकार का है। कहीं कोई तोड़ना नहीं है। लेकिन आसान वह भी नहीं है। लगता है आसान, शायद गहरे खोजें तो और ज्यादा कठिन भी हो सकता है, क्योंकि मन स्वीकार करने को राजी नहीं होता। मन कहता है: 'यह हो, यह न हो'; 'ऐसा हो, ऐसा न हो'। मन कहता ही चला जाता है: क्या न हो, क्या हो। मन बाँटता ही चला जाता है।

तो दो ही मार्ग हैं जगत् में। एक मार्ग है: दोनों को मिटा दो। और एक मार्ग है: दोनों से राजी हो जाओ। दोनों हालत में छुटकारा हो जाता है।

"इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या--ऐसी दो उपाधि हैं, इनके त्याग करने से अखंड सच्चिदानंद परब्रह्म ही जान पड़ता है।"

इनके त्याग करने से। त्याग के दो मार्ग मैंने आपको कहे। एक मार्ग है: मिट जायें, अविद्या मिट जाये। एक मार्ग है: राजी हो जायें, स्वीकार कर लें; जो है उसके बाहर जाने की आकांक्षा छोड़ दें; जैसा है उसमें रत्तीभर फर्क करने का विचार न करें, तो भी, जो शेष रह जाता है वह सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

दसवाँ प्रवचन

१८ अक्तूबर, १९७२, प्रातः

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत।
युक्ता सभावितत्वा संधानं मननं तु तत्॥३३॥
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य तत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥३४॥
ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समांधिरभिधीयते॥३५॥

इस प्रकार 'तत् त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता रूप अर्थ का अनुसंधान करना, यह श्रवण है। और जो कुछ सुना गया है उसके अर्थ को युक्ति पूर्वक विचार करना, यह मनन है।

इस श्रवण और मनन द्वारा निस्सन्देह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके-एकतान बनना, यह निदिध्यासन है।

फिर ध्याता तथा ध्यान का त्याग करके चित्त केवल एक ध्येय को ही विषय रूप माने और वायुरहित स्थान में रखे हुए दिये के समान निश्चल बन जाए, उसको समाधि कहते हैं।

चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक-एक शब्द अपने-आप में एक-एक जगत् है। वे चार शब्द हैं––श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि। इन चार शब्दों में सत्य की सारी यात्रा समाहित हो जाती है। ये चार चरण जो सम्यक्‌रूपेण, ठीक-ठीक पूरा कर ले, उसे कुछ और करने को शेष नहीं रह जाता। इन चारों शब्दों के आस-पास ही समस्त साधना विकसित हुई है। इसलिए एक-एक शब्द को बारीकी से, गहराई से, सूक्ष्मता से समझ लेना उपयोगी है। पहला शब्द है: 'श्रवण'।

श्रवण का अर्थ मात्र-सुनना ही नहीं है। सुनते हम सभी हैं। कान होना काफी है सुनने के लिए। सुनना एक यांत्रिक घटना है। ध्वनि हुई, कान पर आवाज पड़ी, आपने सुना। श्रवण इतना ही नहीं है। श्रवण का अर्थ है: सिर्फ कान से न सुना गया हो, भीतर जो चैतन्य है उस तक भी गूंज पहुँच जाये।

इसे थोड़ा समझ लें।

आप रास्ते से गुजर रहे हैं; आपके घर में आग लग गयी है, आप भाग रहे हैं। रास्ते पर कोई नमस्कार करता है। कान सुनेंगे, आप नहीं सुनेंगे। दूसरे दिन आप बता भी न सकेंगे कि किसी ने रास्ते पर नमस्कार किया था। घर में आग लगी थी, रास्ते पर कोई गीत गाता हो, कान सुनेंगे, आप नहीं सुनेंगे।

कान का सुनना आपका सुनना नहीं है। जरूरी नहीं है कि कान ने सुना हो तो आपने भी सुना हो। कान सुनने के लिए जरूरी है, काफी नहीं है; आवश्यक है, पर्याप्त नहीं है। कुछ और भी भीतर चाहिए। जब आपके घर में आग लगी होती है, तो नमस्कार किया गया सुनायी नहीं पड़ता; क्यों? कान का यंत्र तो वैसा का ही वैसा है। लेकिन भीतर ध्यान कान के साथ टूट गया। ध्यान, मकान में आग लगी है, वहाँ चला गया। कान सुन रहा है, लेकिन कान ने जो सुना है, उसे चैतन्य तक पहुँचाने के लिए ध्यान का जो सेतु चाहिए, वह नहीं है। वह सेतु हट गया है। वह वहाँ लगा है, जहाँ मकान में आग लगी है। इसलिए कान सुनते हैं, आप नहीं सुन पाते हैं। आप और कान के बीच में जो सम्बन्ध है, वह टूट गया है।

श्रवण का अर्थ है, कान भी वहाँ हो और आप भी वहाँ हों। तो श्रवण घटित

होता है। कठिन बात है। कान के साथ होना साधना की बात है।

श्रवण का अर्थ है कि जब आप सुनते हों तो आपकी सारी चेतना कान हो जाये; सुनना ही रह जाये, बाकी कुछ भी न हो; भीतर कोई विचार न चले। क्योंकि भीतर अगर विचार चलता है, तो आपका ध्यान विचार पर चला जाता है, कान से हट जाता है।

ध्यान बड़ी सूक्ष्म, नाजुक चीज है। जरा-सा विचार भीतर चल रहा हो, तो ध्यान वहाँ चला जाता है। पैर में चींटी काट रही हो, आप मुझे सुन रहे हैं और आपके पैर में चींटी काट रही हो––मकान में आग लगना ज़रूरी नहीं है––पैर में चींटी काट रही हो, तो जितनी देर के लिए आपको पता चलता है कि पैर में चींटी काट रही है, उतनी देर तक श्रवण खो जाता है; सुनना होता है। ध्यान हट गया।

ध्यान की और तकलीफ है कि ध्यान एक साथ दो चीजों पर नहीं हो सकता एक चीज पर एक बार ही होता है। जब दूसरी चीज पर होता है, एक से तत्काल हट जाता है। आप ऐसा कर सकते हैं कि छलाँग लगा सकते हैं। हम छलाँग लगाते रहते हैं: पैर में चींटी ने काटा, ध्यान वहाँ गया; फिर वापस ध्यान लौटा, सुना। खुजली आ गयी, ध्यान वहाँ गया, फिर सुना। तो बीच-बीच में जब ध्यान हट जाता है, तो गैप, अन्तराल पड़ जाते है श्रवण में।

और इसलिए जो आप सुनते हैं, उसमें से बहुत अर्थ नहीं निकल पाता, क्योंकि उसमें बहुत कुछ खो जाता है। और कई बार जो अर्थ आप निकालते हैं, वह आपका ही होता है फिर, क्योंकि उसमें बहुत कुछ खो गया है। फिर जोड़ के आप जो सोच लेते है, वह आपका ही है।

अभी मैं ऑस्पेंस्की की एक शिष्या की किताब देख रहा हूँ। उसने लिखा है कि ऑस्पेंस्की के साथ जब काम शुरू किया––साधना का––तो एक बात से बड़ी दिक्कत होती थी कि ऑस्पेंस्की एक बात पर बहुत ही जोर देता था और मैं समझ ही नहीं पाती थी क्योंकि उसमें ज़ोर देने लायक बात ही नहीं मालूम पड़ती थी! और ऑस्पेंस्की-जैसा आदमी इतनी छोटी बात पर इतना जोर क्यों देता है, यह भी समझ में नहीं आता था! और आदमी इतना अद्भुत् है कि जोर देता है तो मतलब तो होगा ही! और बुद्धि उसे पकड़ती नहीं कि क्या मतलब है! और वह जोर यह था, वह हर बार, दिन में पचास दफे उस पर जोर देता था। जैसा कल ऑस्पेंस्की ने कुछ कहा, तो उसके शिष्यों में से कोई उसे आकर कहेगा कि कल आपने ऐसा कहा था, तो वह कहेगा कि ऐसा मत कहो, इतना ही कहो कि कल आपने जो कहा था उससे मैंने ऐसा समझा था, यह कहो ही मत कि आपने ऐसा कहा था। हर वाक्य के

सामने वह जोर देता था कि यह कहो कि आपने जो कहा था, उससे मैंने ऐसा समझा था, यह मत कहो सीधा कि आपने यह कहा था।

उसकी उस शिष्या ने लिखा है कि हम बड़े परेशान होते थे कि हर वाक्य के सामने यह लगाना कि आपने ऐसा कहा था, ऐसा मैंने समझा था, आप के कहे हुए से मैंने ऐसा समझा था, इसकी क्या जरूरत है? आपने कहा था, बात खतम हो गयी।

धीरे-धीरे उसे समझ में आया कि ये दो बातें अलग हैं।

जो कहा गया है उसे तो वही समझ सकता है जो श्रवण को उपलब्ध हो। जो कहा गया है, अगर आप सिर्फ सुन रहे हैं तो आप वही समझेंगे जो आप समझते हैं, समझ सकते हैं—वह नहीं जो कहा गया है; क्योंकि बीच में बहुत कुछ खो जायेगा। और वह जो खो जायेगा, उसको आप भर देंगे अपने से, क्योंकि खाली जगह भर दी जाती है।

आप सुनते हैं, बीच-बीच में जहाँ-जहाँ ध्यान हट जाता है, वहाँ-वहाँ खाली जगह कौन भरेगा? वह खाली जगह आप भर देंगे। आपका मन, आपकी स्मृति, आपकी जानकारी, आपका ज्ञान, अनुभव, वह उसमें समा जायेगा। फिर जो अन्तिम रूप बनेगा, उसके निर्माता आप ही हैं—जो सुना था, वह नहीं; जिसने कहा था, वह जुम्मेवार नहीं है।

श्रवण का अर्थ है, कान के पास ही चेतना आ जाये, विचार कोई भीतर न चलता हो; कोई चिन्तन न चलता हो; कोई तर्क न चलता हो।

इसका मतलब यह नहीं कि जो कहा जाये उसको आप बिना समझे स्वीकार कर लें। श्रवण में स्वीकार का कोई अर्थ नहीं है। श्रवण का अर्थ है सिर्फ सुन लें, स्वीकार-अस्वीकार बाद की बात है; जल्दी न करें।

हम क्या करते हैं?

सुनते हैं, उसी वक्त स्वीकार-अस्वीकार करते रहते हैं। लोगों के सिर हिलते रहते हैं! कोई हाँ भरता रहता है कि बिलकुल ठीक, कोई कहता है कि नहीं, जँच नहीं रहा! वो उनको भी पता नहीं कि उनका सिर हिल रहा है, मैं देख रहा हूँ कि बिलकुल ठीक।

इसका मतलब यह कि आप, जब मैंने कहा, उसे सुनने के साथ निर्णय भी ले रहे हैं, भीतर। तो जितनी देर आप निर्णय लेंगे उतनी देर श्रवण चूक जायेगा। आपको भी पता नहीं कि आपका सिर हिला! मगर भीतर सहमति हुई, उसकी वजह से सिर हिला। जब मैं कोई बात कहता हूँ जो आपको नहीं जँचती, तो आपका सिर हिलता रहता है कि नहीं, जँच नहीं रही।

वो सिर ही नहीं हिल रहा है, भीतर ध्यान हिल रहा है। उस ध्यान की वजह से सिर हिल रहा है। उतने कंपन में आपका श्रवण खो गया।

जब हम कहते हैं कि श्रवण करते दफे सोचें मत, तो उसका यह मतलब नहीं है कि जो भी कहा जाये उसे आँख बंद करके गटक लें। नहीं, अभी स्वीकार-अस्वीकार का सवाल ही नहीं है, अभी तो यही सुन लेना है कि क्या कहा गया है; ठीक से वही सुन लेना है जो कहा गया है। तब तो आप निर्णय कर सकेंगे पीछे कि स्वीकार करूँ या अस्वीकार करूँ?

तो स्वीकार-अस्वीकार की प्रक्रिया को सुनते समय बीच में ले आना, श्रवण से चूक जाना है। सुनना, यानी सिर्फ सुनना।

अभी हम सुन रहे हैं। अभी हम साथ-साथ सोचते हुए न चलेंगे। मन दो काम नहीं कर सकता। सुनें या सोचें! जो सोचते हैं वे सुन नहीं पाते, जो सुनते हैं उन्हें सोचने के लिए उस समय कोई उपाय नहीं है। मगर जल्दी भी नहीं है कोई, सोचना बाद में हो सकता है। और यही न्यायसंगत भी है कि पहले सुन लिया जाये, फिर सोचा जाये। क्योंकि सोचेंगे किस पर आप? अगर आपने ठीक-से सुना ही नहीं, या जो सुना है उसमें अपना जोड़ दिया है, या जो सुना है उसमें बीच-बीच में अन्तराल रह गये हैं, तो आप सोचेंगे क्या खाक!

जो आप सोचेंगे, उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। सम्यक् सुना न गया हो तो सोचना व्यर्थ हो जाता है। इसलिए पहली सीढ़ी ऋषियों ने कही है 'श्रवण'।

बुद्ध के पास कोई आता तो वे बहुत जोर देते, महावीर के पास कोई आता तो वे पहले कहते कि तुम ठीक-से श्रावक बनो। श्रावक का मतलब है सुननेवाले बनो। अभी भी जैनी वही विभाजन किये जाते हैं: साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका। न कोई श्रावक है, न कोई श्राविका; क्योंकि श्रावक-श्राविका का अर्थ है श्रवण। सुनने की कला जिसे आ गयी हो वो श्रावक है। तो न श्रावक-श्राविका है, न कोई सुनने-वाला है, न कोई सुनने का कोई कारण है।

मन्दिरों में जा के देखें श्रावक-श्राविकाओं को। अक्सर सोये हुए पायेंगे, सुनना तो बहुत दूर की बात है। दिनभर के थके-माँदे वहाँ विश्राम करते हैं, सोते हैं। अगर नहीं भी सोते, तो सुनते नहीं हैं। अपने ऊहापोह में, अपने सोच-विचार में लगे रहते हैं।

आपका मन बिलकुल रुक जाना चाहिए; उसकी धारा रुक जानी चाहिए, तो श्रवण घटित होता है। और श्रवण पहली सीढ़ी है। और जितनी महत्त्वपूर्ण बात हो, उतना ही श्रवण प्रगाढ़ हो, तभी समझी जा सकेगी। इसलिए यह सूत्र कहता है:

"'तत् त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकतारूप अर्थ का अनुसंधान करना, यह श्रवण है।"

महावाक्य है 'तत्त्वमसि'। दो-चार ही महावाक्य हैं जगत् में, लेकिन इससे बड़ा महावाक्य कोई भी नहीं है। तत्त्वमसि का अर्थ है: तू भी वही है; 'दैट आर्ट दाउ'।

वह जिसकी हम कल बात कर रहे थे 'तत्', कह रहे थे परमात्मा का नाम है 'तत्'--'वह'। यह तत्त्वमसि का अर्थ है, वह कोई दूर अलग चीज नहीं है। तू ही है वह, जिसे हमने कहा था 'तत्'--'वह'। उससे ऐसा लगता है कि कहीं दूर, 'वह' कहीं दूर का इशारा है।

तत्त्वमसि का अर्थ है: वह तू ही है। वह दूर नहीं है, बहुत पास है; पास से भी ज्यादा पास है। तेरा होना ही वही है। यह महावाक्य है। महावाक्य का अर्थ होता है कि अगर इस एक वाक्य को भी पकड़ के कोई पूरा अनुसंधान कर ले, तो जीवन की परम स्थिति को उपलब्ध हो जाये। इसलिए इसको महावाक्य कहते हैं। फिर किसी शास्त्र की कोई भी ज़रूरत नहीं है; और किसी वेद और किसी कुरान और बाइबिल की ज़रूरत नहीं है, तत्त्वमसि पर्याप्त वेद है।

इस एक वाक्य का कोई ठीक-से श्रवण कर ले, मनन कर ले, निदिध्यासन कर ले, समाधि कर ले, तो किसी और शास्त्र की कोई ज़रूरत नहीं है।

महावाक्य का अर्थ है: पूंजीभूत--जिसमें सब आ गया हो। जैसे कि केमिस्ट्रि में फार्मूले होते हैं। जैसे कि आइंस्टीन की 'रिलेटिविटि' का फार्मूला है। बस, दो-तीन शब्दों में पूरी बात आ जाये।

यह महावाक्य आध्यात्मिक केमिस्ट्रि का फार्मूला है। इसमें तीन बातें कही हैं: 'तत्'--वह; 'त्वम्'--तू। दोनों एक-सी बातें हैं; 'वह' और 'तू' एक है, बस इतना ही यह सूत्र है। लेकिन सारा वेदान्त, सारा अनुभव ऋषियों का, इन तीन में आ जाता है। यह जो गणित-जैसा सूत्र है: 'वह'--अस्तित्व, परमात्मा और 'तू', वह जो भीतर छिपी चेतना है वो--ये दो नहीं हैं, ये एक है। इतना ही सार है समस्त वेदों का, फिर बाकी सब फैलाव है।

इसलिए इस तरह के वाक्य को उपनिषदों में 'महावाक्य' कहा गया है। इस एक से सारे जीवन की चिंतना, साधना, अनुभूति, सब निकल सकती है।

इस तरह के वाक्य पूर्ण मौन में सुने जाने चाहिएँ। इस तरह के वाक्य ऐसे नहीं सुने जाने चाहिए, जैसे कोई फिल्मी गाने को सुन लेता है। सुनने की क्वालिटि, सुनने की गुणवत्ता और होनी चाहिए, तभी ये वाक्य भीतर प्रवेश करेंगे। रास्ते पर चलते आप बातें सुन लेते हैं, ये वाक्य उस तरह नहीं सुने जा सकते।

इसलिए हज़ारों साल तक भारत में ऋषियों का आग्रह रहा कि जो परम-ज्ञान है, वह लिखा न जाये। उनका आग्रह बड़ा कीमती था। लेकिन उसे पूरा करना असम्भव था। लिखना पड़ा। हजारों साल तक यह आग्रह रहा कि जो परम-ज्ञान है, वो लिखा न जाये। बहुत लोग, विशेषकर भाषाशास्त्री, लिंगविस्ट सोचते हैं कि चूँकि लिपि नहीं थी, लिखने का उपाय नहीं था, इसलिए बहुत दिन तक वेद और उपनिषद् नहीं लिखे गये। वे गलत सोचते हैं, क्योंकि जो तत्त्वमसि-जैसा अनुभव उपलब्ध कर सकते थे, जो इस महावाक्य को अनुभव में ला सकते थे, वे लिखने की कला न खोज लेते, यह असम्भव मालूम पड़ता है। जिनकी प्रतिभा ऐसी ऊँचाई के शिखर छू लेती थी, वे लिखने-जैसी साधारण बात भी न खोज पाते, यह उचित नहीं मालूम पड़ता।

लिखने की कला तो थी, लेकिन वे लिखने को राजी न मिले; क्यों? क्योंकि ऐसे महावाक्य लिख दिये जायें, तो हर कोई, हर किसी हालत में पढ़ लेता। और पढ़ के इस भ्राँति में पड़ जाता है कि समझ गये। इन वाक्यों को सुनने और पढ़ने के लिए जो एक मनोदशा चाहिए, उस मनोदशा के बिना भी पढ़ा जा सकता है। तत्त्वमसि पढ़ने में क्या दिक्कत है! पहली क्लास का बच्चा पढ़ सकता है। और पढ़ के इस भ्रान्ति में भी पड़ जायेगा कि मैं समझ गया कि ठीक है, मैं भी वहीं हूँ।

यह मतलब हो गया इस वाक्य का। बात खतम हो गयी। फिर इसको कंठस्थ कर लेता है। फिर जीवनभर दोहराए चला जाता है। चूक गयी बात। बात ही चूक गयी! वह जो असली बिन्दु था, खो गया।

ये वाक्य किसी विशेष गुण, किसी विशेष अवस्था, चित्त की किसी विशेष परिस्थिति में ही सुनने-योग्य हैं। तभी ये प्राणों में प्रवेश करते हैं। हर कहीं सुन लेने पर खतरा है। खतरे दो हैं: एक तो यह याद हो जायेगा, और लगेगा मैंने जान लिया; और दूसरा खतरा यह है कि इस जानकारी के कारण आप शायद ही कभी उस मन:स्थिति को बनाने की तैयारी करें, जिसमें इसे सुना जाना चाहिए था।

बीज डालने का वक्त होता है, समय होता है, मौसम होता है, घड़ी होती है, मुहूर्त होता है। और यह बीज तो महाबीज है, इन्हें हर कहीं नहीं...

...इसलिए गुरु इन्हें शिष्य के कान में...

थोड़ा समझना, हम सब सुनते हैं कि मंत्र कान में लिया जाता है। पर हम यही समझते हैं कि कान के पास ला के मंत्र फुसफुसा देता होगा।...नासमझी की बात है।

गुरु शिष्य के कान में इन महाबीजों को देता था--उसका मतलब: कि जब शिष्य बिलकुल कान हो जाता था; उसका सारा व्यक्तित्व जब सुनने के लिए तैयार हो जाता था; जब वह कान से नहीं सुनता था--रोआँ-रोआँ सुनता था; जब

उसका पूरा प्राण कान के पीछे इकट्ठा हो जाता था; जब उसकी सारी आत्मा सारी इन्द्रियों से हट के कान में नियोजित हो जाती थी, तब गुरु उसके कान में दे देता था। कहता वह यही था: तत्त्वमसि। शब्द यही थे। इन शब्दों में कोई फर्क नहीं पड़ता था। लेकिन जो शिष्य था सामने, उसकी चैतन्य का गुण, उसकी चैतन्य की क्षमता और कान फूंक देने का मतलब...

...अभी भी न-मालूम कितने नासमझ न-मालूम कितने नासमझों के कान फूंकते हैं! कान में मंत्र दे देते हैं! बिना इसकी फिक्र किये कि कान का मतलब क्या है!

जो कान आपकी खोपड़ी में लगे हैं, उनसे बहुत मतलब नहीं है। कान से मतलब है: आपके व्यक्तित्व का एक ढंग, आपके व्यक्तित्व का एक खुलाव; एक शांति की तरह...एक मौजूदगी; सुनने की एक तैयारी; आतुर प्यास; अभीप्सा; सारे प्राण तैयार हैं सुनने को। तब गुरु कान में इन महावाक्यों को डाल देता था। और कभी-कभी ऐसा होता था कि इस वाक्य का पहुँचना ही घटना हो जाता था।

बहुत लोग हैं जो केवल सुनके ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं, बाकी तीन चरणों की जरूरत भी नहीं पड़ी। यह जानके आपको हैरानी होगी: बाकी तीन चरणों की जरूरत भी नहीं पड़ी; केवल सुनके भी ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं!

लेकिन आसान मामला नहीं है, आप सोचेंगे अगर ऐसा होता हो कि सुनके ही, और ज्ञान को हम उपलब्ध हो जायें, तो फिर काहे दूसरे उपद्रव में पड़ें! क्यों? सुना दें और हम ज्ञान को उपलब्ध हो जायें!

सुनके ज्ञान को वही उपलब्ध हो सकता है, जिसकी समग्रता सुनने में नियोजित हो गयी हो। एक रत्तीभर हिस्सा पीछे न रह गया हो खड़ा। सुननेवाला बचा ही न हो, सुनने की क्रिया ही रह गयी हो। ऐसा ख्याल भी न रहा हो भीतर कि मैं सुननेवाला हूँ। मैं हूँ—यह भी न रहा हो, बस सुनना ही हो गया हूँ; सुनने की प्रक्रिया ही रह गई है। सब मौन हो गया भीतर, शून्य हो गया! उस शून्य में इतनी-सी चोट—'तत्त्वमसि'—प्राणों का विस्फोट कर देती है।...इतनी-सी चोट!

मगर एक बात और इसमें ध्यान-रखने-जैसी है: कि शिष्य की, सीखनेवाले की, साधक की, इतनी तैयारी चाहिए कि वह शून्य हो। लेकिन हर कोई उसके कान में 'तत्त्वमसि' कह दे तो भी काम नहीं चलेगा। कोई भी कह सकता है। आदमी की भी जरूरत नहीं है, टेपरिकॉर्ड पर लिख के रख लिया—टाइप—वो कान में गूंज जायेगा। उससे भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि शब्दों की भी शक्ति होती है। और शक्ति होती है बोलनेवाले पर निर्भर, शब्दों में नहीं होती। कितने गहरे से शब्द आते हैं; और उन शब्दों में कितने प्राण समाविष्ट हैं; और उन शब्दों में

कितना अनुभव का रस भरा है; और उन शब्दों को जो कह रहा है, वह भी कहते समय मिट गया हो—हो ही न कहनेवाला, सिर्फ आत्मा से गूँज उठी हो: 'तत्त्वमसि'— और सुननेवाला भी न हो, सिर्फ आत्मा तक गूँज गयी हो: 'तत्त्वमसि'—वह तू ही है।

इस मिलन के बिन्दु पर बिना कुछ किये भी, काफी करना हो गया। क्रान्ति घटित हो जाती है; विस्फोट हो जाता है; वह जो अज्ञानी था, अचानक ज्ञानी हो जाता है।

ऐसी घटनाएँ हैं इतिहास में, जब कि केवल सुनके बात हो गयी। हमें भरोसा नहीं आता, क्योंकि हम बहुत करते हैं तब भी वो बात नहीं होती; बहुत उपाय करते हैं, तब भी लगता है कि कुछ नहीं हो रहा।

मिलन दो ऐसी चेतनाओं का कि बोलनेवाला मौजूद न हो और वाणी प्रकट हो, और सुननेवाला मौजूद न हो और वाणी प्रकट करे, तो श्रवण से भी यात्रा शुरू हो जाती है।

लेकिन, ऐसा संयोग खोजना कठिन है। ऐसा संयोग मिल भी जाये तो उसका उपयोग करना कठिन है। बहुत बारीक है संयोग। इसलिए शिष्य वर्षों तक गुरु के पास रहता था, इस संयोग की प्रतीक्षा में: कब मौका आ जाये? कब तैयारी हो?

तो वर्षों तक, वर्षों तक चुप रहने की ही साधना चलती थी।

श्वेतकेतु अपने गुरु के पास गया। तो वर्षों तक गुरु ने पूछा ही नहीं, कैसे आये हो? श्वेतकेतु ने कहा कि जब गुरु पूछेगा, तब बता देंगे। वर्षों तक गुरु ने पूछा ही नहीं! बड़ी मीठी कथा है: कि गुरु की जब सुबह से यज्ञ की अग्नि जलती थी, हवन जलता था, वो हवन-कुंड भी अधैर्य से भर गया!

बड़ी मीठी कथा है कि श्वेतकेतु आया...हवनकुंड को भी दया आने लगी श्वेतकेतु पर कि कितने वर्ष हो गये इसे आये और अब तक गुरु ने यह भी नहीं पूछा कि 'कैसे आये हो!' वह ला के लकड़ी काटता, आग जलाता, दूध दोहता, गुरु के पैर दाबता, रात हो जाती, तो वो गुरु के चरणों में सो जाता; सुबह उठके फिर काम में लग जाता! वो जो हवन जलता रहता चौबीस घंटे, उस अग्नि को भी दया आने लगी कि अब यह क्या हो रहा है? कि श्वेतकेतु अपनी तरफ से यह कहता नहीं कि मैं किसलिए आया हूँ? और यह उद्दालक है कि पूछता नहीं कि किसलिए आये हो?

ऐसी प्रतीक्षा, ऐसा धैर्य, इतनी चुप्पी, अपने-आप श्रावक बना देती है। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे गुरु की वाणी तो दूर, गुरु की श्वास भी सुनायी पड़ने लगती है;

उसकी हृदय की धड़कन भी इतनी प्रतीक्षा में, इस मौन में सुनायी पड़ने लगती है। वह कुछ कहे, यह जरूरी न था, उसका हिलना-डुलना भी सुनायी पड़ने लगता है। और जब ठीक क्षण आता है, तो वो कह देता है। जब ठीक क्षण आता, तो कहने की घटना घट जाती; न तो गुरु को चेष्टा करनी पड़ती थी कहने की, और न शिष्य को चेष्टा करनी पड़ती थी कुछ जानने की; ठीक क्षण में घटना घट जाती थी।

श्रवण, बड़ा कीमती चरण है। आपके लिए दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिएँ: एक, सुनते समय सुनना ही हो जायें। सुननेवाला भूल जाये, कान ही रह जायें; फैल जायें कान। आपका सारा शरीर कान हो जाये; सब तरफ से सुनने लगें, और भीतर कोई चिन्तन न रहे। सारा चित्त एकाग्र रूप से सुनने में डूब जाये और भीतर कोई विचार न चलें।

हम सबको डर लगता है कि अगर विचार न करेंगे तो पता नहीं,...न-मालूम कोई गलत बात हमारे भीतर डाल दे! न-मालूम कोई हमारी मान्यताओं को खंडित कर दे! तो हम सुरक्षा में लगे रहते हैं: कि क्या तुम कह रहे हो, जाँच-पड़ताल करके भीतर जाने देंगे; अपने मतलब का होगा तो जाने देंगे, अपने मतलब का नहीं होगा तो नहीं जाने देंगे।

आप जान के हैरान होंगे कि मनस्विद् कहते हैं कि आपसे अगर सौ बातें कही जायें, तो आपका मन पाँच बातों को मुश्किल से भीतर जाने देता है! पंचानबे को बाहर लौटा देता है--घुसने नहीं देता; क्यों? क्योंकि आपकी मान्यताएँ अतीत की निर्भर हैं, तय हैं। कोई मुसलमान है, कोई हिन्दू है, कोई जैन है, कोई ईसाई है--वह भीतर है; वह बैठा है वहाँ, भीतर आपका मन, अतीत में संग्रहीत किया हुआ। वह पूरे वक्त जाँच-पड़ताल रखता है कि अपने से कुछ मेल खाता हो, अपने को कोई मजबूत करता हो, तो उसे भीतर ले लो; अपने से मेल न खाता हो, अपने को मजबूत न करता हो, तो उसे भीतर आने ही मत दो, उसे बाहर ही रोक दो। इस तरह सुन लो कि जैसे सुना ही नहीं; या सुनके भी तत्काल उसका विरोध कर दो, ताकि भीतर प्रवेश न कर सके।

आप जरा अपने मन का ख्याल करना कि क्या आप पूरे वक्त भीतर हाँ और ना कहते रहते हैं? कौन कह रहा है यह हाँ और ना? आप नहीं कह रहे हैं; यह आपका मन है, जो आपने इकट्ठा किया है।

तो मन अपने अनुकूल को चुनता है और प्रतिकूल को छोड़ देता है। तब बड़ी कठिनाई है! इसी मन को मिटाना है; और यह अनुकूल को चुनता है और प्रतिकूल को चुनता नहीं, यह मिटेगा कैसे? यही मन है दुश्मन और यही है आपका नियंता;

इसी को मिटाने चले हैं और इसी के सहारे मिटाने चले हैं; तो कभी न मिटा पायेंगे। जरा-सी एक बात आपको खटक जाये, कि ये बात नहीं जँचती आपकी मान्यताओं में--बस, मन आपका द्वार बन्द कर लेता है, कि सुनो ही मत अब; अनसुना कर दो--या विरोध करते जाओ भीतर।

हम सुरक्षा में लगे हैं अपनी, जैसे कोई संघर्ष चल रहा है। श्रवण नहीं हो पायेगा फिर। फिर एक कलह चल गयी। मगर श्रवण का अर्थ कोई अन्धा स्वीकार नहीं है। श्रवण का स्वीकार से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। श्रवण का सम्बन्ध सिर्फ इस बात को ठीक-से सुन लेने से है कि क्या कहा गया है।

दूसरा चरण है 'मनन'। जो कहा गया है उसे सुनके मनन करना; जो कहा गया है उसकी प्रमाणिकता में सुनके मनन करना। ये मनन की पहली शर्त है। आपने अपने मतलब का चुन लिया, उस पे मनन किया, वो मनन नहीं है, वो धोखा है।

तो मनन की पहली शर्तः सुन लिया--बिना हाँ-ना किये। निन्दा, प्रशंसा, स्वीकार-अस्वीकार--कुछ भी नहीं, कोई मूल्यांकन नहीं, कोई निर्णय नहीं--पक्ष न विपक्ष; मौन, तटस्थ, सुन लिया--क्या कहा है। उसे उतर जाने दिया हृदय के आखिरी कोने तक, ताकि उससे परिचय हो। जिससे परिचय हो, उसी का तो मनन हो सकता है।

यही चिन्तन और मनन का फर्क है: चिन्तन हम उसका करते हैं, जिसका कोई ठीक-से परिचय ही नहीं। चिन्तन है अपरिचित के साथ बुद्धि की प्रक्रिया, व्यायाम; मनन है परिचित के साथ--जिसे आत्मसात किया, डुबा लिया अपने में भीतर--उस पर विचार।

दोनों में बड़ा फर्क है: चिन्तन में कलह है, मनन में सहानुभूति है; चिन्तन में द्वन्द्व है, मनन में विमर्श है।

ये बड़े फर्क हैं।

चिन्तन का मतलब है, आप लड़ रहे हैं किसी चीज से। अगर न जीत पाये, तो मान लेंगे--लेकिन मानने में पीड़ा रहेगी।

इसलिए जब आप किसी से विवाद करते हैं, और उससे तर्क नहीं कर पाते, और आपको मानना पड़ता है, तो आपको पता है, भीतर कैसी पीड़ा होती है? मान लेते हैं, क्योंकि अब तर्क नहीं कर सकते हैं; लेकिन भीतर? भीतर तैयारी रहती है कि आज नहीं कल, उखाड़ के फेंक देंगे यह सब; आज नहीं कल, अस्वीकार कर देंगे।

इसलिए इस दुनिया में किसी भी आदमी को तर्क से रूपान्तरित नहीं किया जा सकता; क्योंकि तर्क का मतलब है, पराजय। अगर उसको तर्क से कोई चीज

सिद्ध भी कर दी, तो वह हारा हुआ अनुभव करेगा——बदला हुआ नहीं; हारा हुआ अनुभव करेगा: कि ठीक है, मैं कुछ जवाब नहीं दे पा रहा हूँ, तर्क नहीं खोज पा रहा हूँ; जिस दिन तर्क खोज लूंगा——देख लूंगा। हारा हुआ अनुभव करेगा।

और ध्यान रहे, हारा हुआ आदमी कभी भी बदला हुआ आदमी नहीं हो सकता। तो आप किसी को चुप कर सकते हैं तर्क से, रूपान्तरित नहीं कर सकते। और बात भी ठीक है, तर्क से रूपान्तरित किसी को होना भी नहीं चाहिए, क्योंकि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं, तो जो हार जाता है, ज़रूरी नहीं है कि वो गलत रहा हो; जो जीत जाता है, ज़रूरी नहीं है कि सही रहा हो। इतना ही जरूरी है कि जो जीत गया है, वो ज्यादा तर्क कर सकता था; जो हार गया है, वो कम तर्क कर सकता था। इससे ज्यादा कुछ भी पक्का नहीं है।

तो स्वाभाविक है कि तर्क से कोई कभी बदलता नहीं; क्रांति कोई घटित नहीं होती। तर्क से आघात लगता है अहंकार को, और अहंकार बदला लेना चाहता है।

तर्क एक संघर्ष है।

चिन्तन में एक संघर्ष है भीतर। जो भी आप चिन्तन करते हैं, उससे आप जूझते हैं, लड़ते हैं; एक भीतरी लड़ाई चलती है। आप अपनी सारी अतीत की स्मृति और सारे अतीत के विचारों को उसके खिलाफ खड़ा कर देते हैं। फिर भी, अगर हार जाते हैं तो मान लेते हैं; लेकिन मानने में एक पीड़ा, एक दंश, एक काँटा चुभता रहता है। वो मानना मजबूरी का है। उस मानने में कोई प्रफुल्लता घटित नहीं होती। उस मानने से आपका फूल खिलता नहीं है, मुरझाता है।

तो चिन्तन, विचारक जो करते रहते हैं सारी दुनिया में,...

...इसलिए विचारकों के चेहरे पर बुद्ध की प्रफुल्लता नहीं दिखायी पड़ेगी।

क्या फर्क है?

महावीर का प्रमुदित व्यक्तित्व दिखायी नहीं पड़ेगा विचारकों में। विचारकों के चेहरे पर चिन्तन की रेखायें दिखायी पड़ेंगी, मनन के फूल नहीं दिखायी पड़ेंगे। विचारक के माथे पर धीरे-धीरे झुर्रियाँ बढ़ती जायेंगी; एक-एक रेखा खिंच जायेगी। उसने जिन्दगीभर जो मेहनत की है! लेकिन, वह जो बुद्ध या किसी महावीर के भीतर घटित होता है, वह जो खिलावट——वो दिखायी नहीं पड़ेगी। विचार बोझ दे जायेगा; कमर झुक जायेगी। विचारक चिन्तित मालूम पड़ने लगेगा।

चिन्तन और चिंता मे कोई गुणात्मक फर्क नहीं है। सब चिन्तन चिन्ता का ही रूप है। बेचैनी है उसमें छिपी हुई; एक तनाव। क्योंकि एक भीतरी संघर्ष है,

कलह है; लड़ाई है एक। इसलिए विचारक बूढ़ा होते-होते, होते-होते, झुक जाता है; बोझ! विचार के ही बोझ से झुक जाता है।

बुद्ध और महावीर के साथ उलटी घटना घटती है: जैसे-जैसे ये बूढ़े होते हैं, भीतर जैसे कुछ युवा होता जाता है; कोई ताजगी!

ये मनन, मनन और चिन्तन का फर्क है।

चिन्तन शुरू होता है तर्क से, मनन शुरू होता है श्रवण से। चिन्तन शुरू होता है संघर्ष से, मनन शुरू होता है श्रवण से। श्रवण: ग्राहकता; कोई संघर्ष नहीं है। तो मनन और चिन्तन का यह फर्क है।

स्वभावतः, चिन्तन चूँकि कलह से शुरू होता है, इसलिए तर्क में उसका आधार है; सहानभूति वहाँ नहीं है। विरोध, शत्रुता वहाँ आधार है; विवाद। मनन शुरू ही होता है श्रवण से, इसलिए सहानुभूति वहाँ आधार है।

सहानुभूति का क्या अर्थ है? ...सहानुभूतिपूर्ण विचारणा? जो हम सोच रहे हैं, जिस संबंध में हम सोच रहे हैं, बड़े सहानुभूति से और बड़े प्रेम से सोच रहे हैं।

क्या फर्क पड़ता होगा क्वालिटि में——चिन्तन की, मनन की?

जब आप किसी चीज को सहानुभूति से सोचते हैं, तो आपकी पूरी आन्तरिक आकांक्षा यह होती है, कि जो मैं सुना हूँ, वह सही हो सकता है। और सही हो, तो मेरे लाभ का हो सकता है। इसलिए आप खोजते हैं पहले वे बिन्दु, जो सही हों।

जब आप चिन्तन करते हैं, तो आप यह मान के चलते हैं कि जो सुना है, वह गलत है। खोजते हैं पहले वे बिन्दु, जो गलत हों।

ऐसा समझें कि कोई आदमी गुलाब के वृक्ष के पास, फूलों की क्यारी के पास खड़ा है। अगर वो चिन्तन कर रहा है तो पहले वो काँटे गिनेगा; अगर वो मनन कर रहा है तो पहले वो फूल गिनेगा। और इससे बुनियादी फर्क पड़ता है: कहाँ से आप शुरू करते हैं?

क्योंकि जो आदमी पहले काँटे गिनेगा, उसका विरोधी रुख जाहिर है। पहले वो काँटे गिनेगा, हज़ारों काँटे निकलेंगे। और काँटे गिनने में, हाथ में काँटे चुभेंगे भी, खून भी निकलेगा। वो काँटों का चुभना और काँटों की संख्या और खून का बह जाना फूलों की खिलाफत के लिए आधार बन जायेगा। और फिर जब लाख काँटे गिन लेगा और एक-आध-दो फूल दिखायी पड़ेंगे, तो मन कहेगा कि ये फूल धोखे के हैं, ये सच नहीं हो सकते। क्योंकि जहाँ इतने काँटे हैं, वहाँ फूल हो कैसे सकते हैं इतने कोमल? मैं कोई धोखा खा रहा हूँ! स्वाभाविक, यह उचित मालूम होगा। इतने काँटे जहाँ हैं, जहाँ लहू बहा देनेवाले काँटे हैं, वहाँ ये कोमल फूल खिल कैसे सकते हैं? तो यह

असम्भव मालूम पड़ता है। और फिर अगर मान भी लेगा कि फूल हैं, तो वो कहेगा, कोई मूल्य नहीं है; लाख काँटों में एक फूल का मूल्य ही क्या है? बल्कि ऐसा लगता है, यह काँटों का षड्यंत्र है, ताकि एक फूल के बहाने लाख काँटे दुनिया में रहें। यह धोखा है। यह फूल जो है, काँटों को छिपाए हुए है। यह उनके षड्यंत्र का भागीदार है।

जो आदमी मनन फूल से शुरू करेगा--पहले फूलों को छुएगा--फूलों की सुवास उसके हाथों में भर जायेगी; फूलों का रंग उसकी आँखों में भर जायेगा; फूलों की कोमलता उसके स्पर्श में आने लगेगी; फूल का सौन्दर्य उसे आच्छादित कर देगा। फिर वह काँटों के पास आयेगा--फूलों को देखने के बाद; फूलों को जानने, जीने के बाद। प्रेम में गिर गया वो। अब वो काँटों के पास आयेगा। इसकी दृष्टि में काँटे और ही तरह के होंगे।

जो आदमी फूलों को समझ के काँटों के पास जायेगा, वह समझेगा कि काँटे फूलों की रक्षा के लिए हैं--फूलों के दुश्मन नहीं हैं; फूलों के विपरीत नहीं हैं। जो रस फूलों में बह रहा है, वही रस काँटों में बह रहा है, और काँटे फूल की रक्षा के लिए हैं। और जिसको फूल दिखायी पड़ रहे हैं--एक फूल भी जिसे दिखायी पड़ गया है ठीक-से--लाख काँटे बेकार हो जायेंगे। क्योंकि एक फूल का होना भी काफी है लाख काँटों को बेकार करने के लिए। और अगर इतने काँटों के बीच फूल खिल सकता है, तो असम्भव चमत्कार है। असम्भव भी हो सकता है। और जब इतने काँटों के बीच फूल खिल सकता है, तो इस आदमी को दिखायी पड़ेगा कि मैं जरा और खोज करूँ, शायद काँटे भी फूल ही सिद्ध हों!

तो मनन सहानुभूति से शुरू होता है; चिंतन विरोध से शुरू होता है। श्रवण की शर्त पूरी हो जाये तो सहानुभूति जग जाती है। सहानुभूति जग जाये तो चिंतन की धारा ही विपरीत हो जाती है, मनन बन जाती है।

मनन का अर्थ ही अंधे हो के स्वीकार कर लेना नहीं है। इसलिए ऋषि ने कहा है: "जो सुना गया है, (श्रवण हुआ है,) उसके अर्थ को युक्तिपूर्वक विचार करना, यह मनन है।"

तो कोई य न सोचे कि मनन का अर्थ अंधे हो के स्वीकार कर लेना है। न तो श्रवण का अर्थ स्वीकार कर लेना है, न मनन का अर्थ स्वीकार कर लेना है; युक्ति का उपयोग करना है। लेकिन युक्ति का उपयोग भी बदल जाता है।

युक्ति अपने-आप में तटस्थ है। जैसे एक तलवार मेरे हाथ में है, तलवार तो तटस्थ है। चाहूँ किसी की जान ले लूँ, चाहूँ किसी की जान बचा लूँ; तलवार तटस्थ है। युक्ति तटस्थ है। अलग-अलग ढाँचे हैं; युक्ति का अर्थ बदल जाता है। अगर

दुश्मनी से, विरोध से, संघर्ष से भरा हुआ चित्त हो, तो तर्क हिंसात्मक हो जाता है। अगर सहानुभूति से, श्रवण से, प्रेम से, सत्य की खोज और अभीप्सा से भरा चित्त हो, तो युक्ति, रक्षा करनेवाली तलवार बन जाती है। युक्ति अपने में बुरी नहीं है।

इसलिए हमने इस देश में दो तरह के तर्क माने हैं: एक को 'तर्क' कहा और एक को 'कुतर्क' कहा। कुतर्क भी तर्क है। और कभी-कभी तो कुतर्क तर्क से भी ज्यादा तर्कपूर्ण मालूम पड़ता है, क्योंकि उसमें धार होती है;--और पैनी धार होती है;--और काटने के लिए, मारने के लिए सक्षम होती है।

तो कुतर्क कभी-कभी बिलकुल ही गहरा तर्क मालूम पड़ता है। फर्क कैसे करेंगे कि क्या कुतर्क है और क्या तर्क है? यही फर्क है कि अगर तर्क शुभ की, सत्य की खोज के लिए है, सहानुभूति से भरा है, फूलों से शुरू करता है फिर काँटों पे जाता है....

कोई बात मैं आपसे कहता हूँ, आप कहाँ से शुरू करते हैं इस पे ख्याल करना। कई दफे मैं हैरान होता हूँ! एक घंटे बोला, पीछे कोई आदमी मेरे पास आता है। घंटेभर में जो मैंने कहा, उसे कुछ ख्याल नहीं आया, कोई एक बात की खिलाफत उसे पकड़ जाती है। वह एक बात को चुन लेता है; वह उसकी खिलाफत करने आ जाता है। वो जो घंटेभर में और कहा, उससे उसका कोई संबंध नहीं रह जाता। बस, इतनी बात! और वह बात भी तोड़ लेता है सारे संदर्भ से; क्योंकि संदर्भ में उसका अर्थ था। अलग तोड़ के वह बिलकुल कोई और अर्थ ले लेती है। पर उसने सुना उसी को। उसकी तैयारी वही रही होगी। वह तैयार ही हो के आया होगा कि कुछ गलत खोज लिया जाये।

अगर आप गलत खोजने को ही सुन रहे हों, तो आप कभी भी मनन न कर पायेंगे।

और ध्यान रहे, कितना ही गलत खोज डालें आप, गलत की खोज आपके भीतरी विकास में कोई तरह का सहारा नहीं बनेगी। आप कितना ही तय कर लें, कहाँ-कहाँ गलत है, आप सारी दुनिया की सारी गलतियाँ जान लें, फिर भी आपकी कोई इनर ग्रोथ, कोई आंतरिक विकास उससे नहीं हो सकता।

तो जो खोज में लगा है और अपने विकास में उत्सुक है, वह इसकी चिन्ता नहीं करता है कि क्या गलत है, वह इसकी चिन्ता करता है कि क्या ठीक है। ठीक से शुरू करता है, और जो ठीक से शुरू करता है, किसी दिन जो उसे गलत दिखायी पड़ता था, शायद वह उस जगह पहुँच जाये कि जहाँ ठीक से शुरू करने के बाद उसे पता लगे कि उसका भी कोई अर्थ है, उसका भी कोई मूल्य है। और वह जो पहले गलत मालूम पड़ता था, वह पीछे ठीक मालूम पड़े। एम्फेसिस, जोर का फर्क है।

कुतर्क गलत को खोजता है; वहीं से यात्रा शुरू करता है। युक्ति, तर्क, ठीक

से शुरू करता है। एक आदमी को कुरान दे दें पढ़ने को, अगर वह हिन्दू है, तो कुरान में जो-जो महत्त्वपूर्ण है, वो उसे दिखायी ही नहीं पड़ेगा; जो-जो गलत है, उसे अंडरलाइन कर के ले आयेगा कि ये देखो, ये लिखा है! हम पहले ही कहते थे कि कुरान भी कोई धर्मशास्त्र है!

मुसलमान को गीता दे दें; बराबर निकाल लायेगा कि क्या-क्या गलत है! और अगर यह कला सीखनी हो, आर्यसमाजियों से सीख लेनी चाहिए! कहाँ-कहाँ क्या-क्या गलत है, उसमें जैसे वे कुशल हैं, उतने कोई भी कुशल नहीं हैं!

मन को आर्यसमाजी बनने से बचाना तो ही मनन हो सकेगा, नहीं तो मनन नहीं हो सकता; क्योंकि खोज ही गलत को रहे हैं। वो गलत काफी मिल जायेगा। काँटों की कोई कमी है! पर काँटों से प्रयोजन क्या है? कोई काँटों की मालाएँ बनानी हैं, गले में डालनी हैं? प्रयोजन फूलों से है, काँटों से प्रयोजन क्या है?

तो अगर युक्ति हो, तो कुरान में से भी फूल चुन लिये जायें; और वे फूल किसी गीता से कम फूल नहीं हैं। अगर युक्ति हो तो गीता में से भी फूल चुन लिए जायें; वे फूल किसी कुरान, किसी बाइबिल से कम नहीं हैं।

मनन करनेवाला व्यक्ति फूलों की खोज में है; चिन्तन करनेवाला व्यक्ति काँटों की खोज में है। तो आपको तय कर लेना चाहिए। एक बात ख्याल रखना कि जो आप खोजेंगे, उसी से घिर जायेंगे। काँटें खोजेंगे, काँटों से घिर जायेंगे; फूल खोजेंगे, फूलों से घिर जायेंगे।

तो ध्यान रखना कि काँटे खोज के आप किसी और का अहित नहीं कर रहे हैं, अपना ही अहित कर रहे हैं; क्योंकि जो खोजेंगे, वही मिलेगा। जगत् नर्क हो जाता है, क्योंकि सब गलत आदमी चारों तरफ मालूम पड़ते हैं, ठीक आदमी कोई दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए नहीं कि ठीक आदमी नहीं है, बल्कि इसलिए कि आपकी खोज गलत आदमी की है।

किसी से कहो, कि फलाँ आदमी बहुत अच्छी बाँसुरी बजाता है, वो कहेगा --क्या बाँसुरी बजायेगा? चोर, बेईमान! ...वो क्या बाँसुरी बजायेगा?

अब चोर और बेईमान से बाँसुरी बजाने का क्या विरोध है? होगा बेईमान, लेकिन बेईमान बाँसुरी नहीं बजाता--यह किसने कहा? कि नहीं बजा सकता-- यह किसने कहा? किसने यह सम्बन्ध जोड़ा? चोर में भी तो फूल खिल सकता है, बाँसुरी बजाने का। चोरी काँटा होगी, बाँसुरी बजाना फूल होगा। जब काँटों में फूल खिल सकते हैं, तो चोर बाँसुरी क्यों नहीं बजा सकता?

लेकिन नहीं, यह मानने में बड़ी पीड़ा होती है कि कोई कुछ भी अच्छा कर

सकता है। फौरन कह देंगे, वो चोर है, बेईमान है, वो क्या बाँसुरी बजायेगा?

मनन वाले आदमी कि वृत्ति दूसरी होगी। अगर आप कहेंगे उससे कि फलाँ आदमी चोर है, बेईमान है--वो कहेगा—होगा, लेकिन बाँसुरी गजब की बजाता है।

यह चुनाव का फर्क है। और जब कोई आदमी बाँसुरी गजब की बजाता है, तो उसका चोर होना और बेईमान होना भी संदिग्ध होने लगता है। और जब कोई आदमी चोर और बेईमान गजब का होता है, तो उसका बाँसुरी बजाना संदिग्ध होने लगता है। जो हम पकड़ते हैं, उससे दूसरी बात पर प्रभाव पड़ता है।

क्या जरूरत है कि वह चोर है या बेईमान है? हम अपने पड़ोसी को चोर और बेईमान चाहते हैं? तो हमें वही खोजना चाहिए। हम अपने पड़ोसी की सुगंधित बाँसुरी बजानेवाला चाहते हैं तो हमें वही खोजना चाहिए। जिन्दगी में दोनों हैं। वहाँ रात भी है और दिन भी, और वहाँ बुरा भी है और भला भी।

आप यह मत सोचना कि स्वर्ग कहीं और है जमीन से और नर्क कहीं और है; आपकी दृष्टि में निर्भर है। इसी ज़मीन पे लोग स्वर्ग में रहते हैं और इसी ज़मीन पे लोग नर्क में रहते हैं। आप क्या खोजते हैं, वही आपका जगत् बन जाता है।

मनन फूलों से यात्रा शुरू करता है; सहानुभूति से। गलत पर जल्दी से हमला नहीं करता, सही को पहले आत्मसात् कर लेता है। और जब सही पूरी तरह आत्मसात् हो जाता है, तो ही जो पहले गलत-जैसा दिखा था, उस पे सोचता है।

और ध्यान रहे, इस दृष्टि के रूपान्तरण के बुनियादी अन्तर बाद में दिखायी पड़ने शुरू होते हैं। ऐसा आदमी धीरे-धीरे विकसित होता है, अंकुरित होता है; सही को आत्मसात् करते-करते सही हो जाता है, और गलत की खोज करते-करते, गलत को आत्मसात् करते-करते गलत हो जाता है। जो आदमी दूसरों में बेईमानी और चोरी और गलत ही देखता है--ज्यादा दिन तक ईमानदार नहीं रह सकता। सच तो यह है कि पहले से ही ईमानदार नहीं हो सकता।

असल में कोई चोर किसी दूसरे आदमी को मान नहीं सकता कि चोर नहीं है--या कि मान सकता है? चोर यह मान ही नहीं सकता कि दूसरे लोग अचोर हैं। चोर के सोचने का सारा ढंग चोरी का हो जाता है। वो दूसरों में भी तत्काल चोरी खोजता है—देखता है। व्यभिचारी यह नहीं मान सकता कि कोई चरित्रवान है। मान ही नहीं सकता। उसका अनुभव बाधा बनता है मानने में।

यह बड़ी मजेदार बात है: व्यभिचारी मान नहीं सकता कि कोई ब्रह्मचारी है— मान ही नहीं सकता! यह बात ठीक है: अगर कोई सच में ही ब्रह्मचारी है, तो वो भी नहीं मान सकता कि कोई व्याभिचारी है! लेकिन यह बड़े मजे की बात है:

व्यभिचारी तो कभी नहीं मानते कि कोई ब्रह्मचारी है, और ब्रह्मचारी भी नहीं मानते कि कोई ब्रह्मचारी है!

तब बड़ी झंझट की बात है। व्यभिचारी का न मानना तो तर्कसंगत है, कि कोई ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता; जब मैं ही नहीं हो सका, तो कौन हो सकता है? लेकिन ब्रह्मचारी भी मानने को तैयार नहीं होता कि कोई दूसरा ब्रह्मचारी है। तब मामला संदिग्ध है, तब वो भी ब्रह्मचारी नहीं है; क्योंकि उसका भी भीतरी अनुभव यह है कि ब्रह्मचर्य-वगैरह सब ऊपर-ऊपर है, भीतर व्यभिचार है। वो भी नहीं मानता।

इसलिए अगर आपको कोई साधु मिले, जो दूसरों को असाधु मानता हो, तो समझ लेना कि अभी साधु साधु हो नहीं पाया है। साधु होने का मतलब ही यह है कि सारा जगत् तत्क्षण साधु हो जायेगा। सारी बात ही बदल गयी, क्योंकि देखने का ढंग बदल गया। एक आदमी जब भीतर साधु हो जाता है तो सारे जगत् में उसे साधुता दिखायी पड़ने लगती है; क्योंकि जो भीतर है, वही बाहर दिखायी पड़ता है।

अगर आपको सब में असाधुता दिखायी पड़ती हो--चोर, बेईमान, बदमाश दिखायी पड़ते हों, तो उनकी फिक्र छोड़ के अपनी फिक्र में लगना। जो दिखायी पड़ता है, वो आपके भीतर है। वही आपको दिखायी पड़ता है। वही तत्काल दिखायी पड़ता है, क्योंकि उसकी संगति बैठ जाती है; भीतर से तत्काल संगति बैठ जाती है।

मनन, जीवन का जो शुभ्र, शुक्ल पक्ष है, उससे शुरू होता है। चिन्तन, जीवन का जो कृष्ण, अन्धेरा पक्ष है, उससे शुरू होता है। यह ध्यान में रहे तो फिर युक्ति का बड़ा मजा है। विचार, तर्क बड़े सहयोगी हैं। तब पूरी निष्ठा से युक्ति की जा सकती है। और युक्ति से फिर नुकसान नहीं होता। फिर युक्ति सहयोगी बन जाती है, मित्र बन जाती है।

"इस श्रवण और मनन द्वारा निस्संदेह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतान बनना, निदिध्यासन है।"

सुना महावाक्य, 'तत्त्वमसि'--तू ब्रह्म है। सुना पूरे प्राणों से, फिर सहानुभूति से सोचा, विमर्श किया, खोजा इस वाक्य के अर्थ को; इसकी अनेक-अनेक निष्पत्तियों को; अंतर्निहित गहराइयों को अनेक-अनेक मार्गों से टटोला, स्पर्श किया, स्वाद लिया, डुबाया अपने में, मनन किया--और फिर--पाया कि सही है।

पाया ही जायेगा कि सही है; क्योंकि जिन्होंने कहा, उन्होंने पाकर कहा है। यह कोई विचारकों के निष्कर्ष नहीं हैं, अनुभवियों की वाणी है। यह जिन्होंने सोचा,

और सोच-सोचके कुछ तय किया, उनकी बात नहीं है; जिन्होंने जाना, जीया, डूबे, पाया, उनकी खबरें हैं।

पायेंगे ही। अगर मनन, श्रवण, ठीक चला, तो पायेंगे कि ठीक है यह बात। अगर ठीक है, तो फिर इस ठीक से एकतान हो जाना 'निदिध्यासन' है। अगर यह ठीक है कि मैं ब्रह्म ही हूँ, तो फिर ब्रह्म-जैसे ही हो के जीने लगना निदिध्यासन है। आचरण, व्यवहार, सब तरफ एकतान हो जाना; फिर कोशिश करना कि जो ठीक है, उसमें और मुझमें भेद न रह जाये; क्योंकि अगर यह वाक्य ठीक है, तो फिर मैं गलत हूँ।

दो ही बातें हो सकती हैं: या तो मैं सही हूँ, तो यह वाक्य गलत है; अगर यह वाक्य सही है, तो फिर मैं गलत हूँ।

हम सबकी कोशिश क्या है?

इसे थोड़ा समझ लें; हमारी सदा यह कोशिश है कि मैं सही हूँ! यही हमारा उपद्रव है। हमारे जीवन की सबसे बड़ी झंझट, सबसे बड़ी परेशानी और संताप यही है कि हम मानके चलते हैं कि मैं सही हूँ। यह तो हमारी शुरूआत है हर बात में कि मैं सही हूँ। इसी से हम कसते हैं। यह हमारा निकस है, कसौटी है, कि मैं सही हूँ। अब जो मेरे अनुकूल न पड़े वो गलत है।

इसको तय कर लेना चाहिए; साधक को यह तय कर लेना चाहिए कि यह मूढ़तापूर्ण विचार प्रस्थान न बने, कि मैं सही हूँ। अगर आप सही ही हैं, तब खोज की कोई ज़रूरत ही नहीं।

यह बहुत मजेदार है!

कल, एक महिला मेरे पास आयीं। उन्होंने कहा कि मैं कोई बीस वर्ष पहले किसी स्वामी से दीक्षा ली हूँ, कुण्डलिनी मेरी जागृत हो गयी है, लेकिन चैन बिलकुल नहीं है। बड़ी बेचैनी है।

कुण्डलिनी जागृत हो गयी हो, तो यह बेचैनी कैसे है? और अगर बेचैनी है तो कृपा करके कुण्डलिनी को मानो कि सोयी है, अभी जगी नहीं है।

मगर नहीं, दोनों बातें चलती हैं!

आप अगर सही हैं, तो फिर तो कुछ बची ही नहीं खोज, बात खतम हो गयी। हर आदमी यह मान के चलता हैं 'मैं सही हूँ' और फिर कहता है 'मुझे सत्य की खोज करनी है!' सत्य की खोज करनी है तो निर्णय स्पष्ट हो जाना चाहिए चेतना के सामने कि मैं गलत हूँ। तो ही खोज हो सकती है। जब मैं गलत हूँ, तब किसी सत्य में प्रवेश हो सकता है; मैं पहले से ही सही हूँ, तो सत्य ही गलत मालूम पड़ेगा।

क्योंकि जब गलत आदमी अपने को सही मान रहा हो, तो सही को सही कभी नहीं देख सकता।

मन की व्यवस्था यही है मान के चलने का कि मैं सही हूँ; मेरा विचार, मेरी दृष्टि, मेरा धर्म, मेरा शास्त्र। 'मैं सही हूँ'--यहाँ से अगर शुरू करना है तो शुरू करने की कोई जरूरत नहीं, आप मंजिल पे पहुँच ही गये; अब नाहक मेहनत कर रहे हैं; पायेंगे भी कहाँ मंजिल; मंजिल पे आप खड़े ही हैं। आप खुद ही मंजिल हैं।

यह साफ कर लेना चाहिए; अगर ऐसा पागलपन आ गया हो कि मैं सही हूँ, तो खतम हो गयी बात, फिर कुछ खोजबीन नहीं करनी चाहिए।

खोजबीन का मतलब ही है कि मैं गलत हूँ। दुख है, संताप है, पीड़ा है, तनाव है; परेशान हूँ, बीमार हूँ; और सब तरह से घिर गया हूँ अपनी बीमारियों से। इन्हीं सब बीमारियों का जोड़ मैं हूँ--ऐसा जो मानकर चले; और यही सच है।

आप बीमारी का जोड़ हैं, ज्यादा कुछ भी नहीं। एक बंडल उसमें सब तरह की बीमारियाँ हैं; अनेक-अनेक तरह की बीमारियाँ हैं। और हर आदमी आविष्कारक है, निजी बीमारियाँ खोज लेता है। और इन बीमारियों के बीच में भी यह भाव बनाये रखता है कि मैं सही हूँ।

निदिध्यासन का अर्थ है, यह महावाक्य दिखायी पड़ा कि सही है। सुना, सोचा, देखा कि सही है। चित्त को उसका सही होना दिखायी पड़ गया; चेतना को प्रतीति होने लगी उसके सही होने की। अब व्यक्तित्व को भी उसी के अनुकूल ढाल देना निदिध्यासन है; जो दिखा हो सही, फिर उसी को जीना शुरू कर देना।

और ध्यान रहे, दिख जाये सही, फिर जीने में कोई कठिनाई नहीं है। दिखते ही जीना शुरू हो जाता है।

...कौन आग में हाथ डालता है जानकर?
अज्ञान में ही हाथ डाले जाते हैं आग में।
...कौन बुरा करता है जानकर?
अज्ञान में ही बुरा किया जाता है।
...कौन विक्षिप्तता ओढ़ता है जानकर?
अज्ञान में ही विक्षिप्तता ओढ़ी जाती है।

जब दिखायी पड़ने लगे कि सही क्या है, उसकी, दिखायी पड़ने की झलक ही आपको भीतर से बदलने लगेगी--आपकी सारी तरंगें, अब धीरे-धीरे जो आपको दिखायी पड़ा है, उसके साथ तालमेल बिठाने लगेंगी।

इस एकतानता, इस हारमनि का नाम निदिध्यासन है।

फिर, अगर, एकतानता न बने, कठिन मालूम पड़े, तो भी साधक जानता है कि यह मेरी ही कठिनाई है। तो अपने को पिघलाता है। अगर जटिल मालूम पड़े यात्रा, तो समझता है कि यह जटिलता, कम्प्लेक्सिटि मेरी है। तो अपने को सुलझाता है। लेकिन जो आदमी अपने को ठीक मान के चलता है, अगर दो कदम चले, और कोई यात्रा में फल आता न दिखायी पड़े, तो वह समझता है कि यह,...यह जो सोचा था 'तत्वमसि', ये ही गलत है।...छोड़ो!

मेरे पास लोग आते हैं। कल एक मित्र आये; कल ही पहली दफा ध्यान किया। कल ही आये हैं और पहली दफा ध्यान किया।...और कल ही मेरे पास पहुँच गये कि कुछ हुआ नहीं!

आदमी की मूढ़ता की भी कोई सीमा है! इस जगत् में ब्रह्म और मूढ़ता दो ही चीजें असीम मालूम पड़ती हैं! इनका कोई अंत नहीं मालूम पड़ता।

कल ही आये हैं, पहली दफा! सुबह थोड़ा उछल-कूद लिये होंगे! दोपहर पहुँच गये; कि अभी तक कुछ हुआ नहीं! कहने लगे, इस पद्धति में कोई सार नहीं दिखायी पड़ता! अभी तक कुछ हुआ नहीं?

मैंने पूछा कि कितने जन्मों से कर रहे हैं इस पद्धति को?

बोले, जन्म-वगैरह नहीं, आज ही आया हूँ!

...थोड़ा तो मौका दो पद्धति को! थोड़ी कृपा करो पद्धति पे, थोड़ा मौका दो!

आदमी अपने को सही ही मान के चल रहा है! इसलिए जहाँ भी अड़चन आती है, दूसरी चीज ही गलत होगी; वह अपने सहीपन को कायम रखके यात्रा पे निकल जाता है। भटकेंगे फिर तो जन्मों-जन्मों तक, कभी भी कोई बात बैठ नहीं पायेगी; क्योंकि एकतान करना श्रम है। एकदम नहीं हो जायेगा। क्योंकि जन्मों-जन्मों के संस्कार हैं पीछे, उनको तोड़ना पड़ेगा। आज आपको दिखायी भी पड़ जाये--एकदम, एक क्षण में, साफ, कि क्या सही है--तो भी आपके पैरों की चलने की आदत है--शरीर की आदत है, मन की आदत है--उन आदतों का बड़ा जाल है; वो जाल एकदम आज नहीं छूट जायेगा; उस जाल को तोड़ने का श्रम करना पड़ेगा।

सवाल पद्धतियों का नहीं है, सवाल आपका है; पद्धति तो कोई भी काम कर सकती है।...पर आप!

ख्याल करें, जीवन हमारा आदत है। छोटी-छोटी बातों से ले के, बड़ी-बड़ी बातों तक सब आदत है। उस आदत की लम्बी रेखा है। और हमारी चेतना उसी रेखा को बाँध के, पकड़ के बहने की आदी हो गयी है। आज अचानक दिख भी जाता

है कि रास्ता गलत है, तो दूसरा रास्ता पकड़ने में, रास्ता बनाना पड़ेगा। और ध्यान रहे, पिछली जो आदत थी, उससे ज्यादा गहरा रास्ता बनाना पड़ेगा। तभी यह पानी की धार उस यात्रापथ को छोड़कर नये यात्रापथ को ग्रहण करेगी। मगर, बस आपने सोच लिया कि बस, ठीक है, तो इससे कुछ हल नहीं हो जानेवाला।

निदिध्यासन का अर्थ है: जो सुना, जो समझा कि ठीक है, उसके अनुकूल जीवन को रूपांतरित करना है। उसके अनुकूल होने में वक्त लगेगा। मन अड़चन डालेगा, शरीर बाधाएँ खड़ी करेगा––सब होगा; लेकिन जब ठीक दिखायी पड़ गया हो, तो फिर सब भाँति उस ठीक की यात्रा पे अपने को झोंक देना––यह हिम्मत आवश्यक है। फिर बैठने से काम नहीं चल पड़ेगा।

दिख गया हो तारा––बहुत दूर हो, लेकिन दिख गया तारा, तो फिर यात्रा पर निकल जाना। और यह मत सोचना कि एक कदम बढ़ाया, अभी तो तारे तक पहुँचे नहीं; दो कदम उठा लिये, अभी तक तारे तक नहीं पहुँचे! कोई फिक्र नहीं, दो कदम पहुँचे, इतना भी कुछ कम नहीं; दो कदम चले, इतना भी कुछ कम नहीं है; क्योंकि अनेक तो हैं, बैठे ही हैं जन्मों से; वो उठे ही नहीं; वो यह भूल ही गये हैं कि उठना भी होता है, चलना भी होता है!

बुद्ध ने कहा है: तुम चलो। कितनी ही भूल करो, चिन्ता नहीं है; चले, इतना ही काफी है। चले, भूल की, भूल सुधार लेंगे। भटके, कोई फिक्र नहीं। पैरों में गति आ गयी। आज भटकाव की तरफ गये, कल ठीक की तरफ आ जाओगे। एक ही भूल है, बुद्ध ने कहा कि तुम चलो ही ना और बैठे रहो।

यद्यपि जो बैठा रहता है उससे कोई भूल नहीं होती। बैठे ही हैं तो भूल क्या होगी? दुनिया में भूल तो उससे होती है, जो चलता है। भूल तो उससे होती है, जो कुछ करता है। उनसे कहीं कोई भूल होती है, जो कुछ करते ही नहीं और बैठे हैं! बिलकुल निर्भूल होते हैं। लेकिन एक ही भूल है दुनिया में, बैठे रहना।

उठके चल पड़ना, जो ठीक लगे उसकी यात्रा पर। अगर वो कल गलत भी सिद्ध हुआ, तो भी कम-से-कम एक लाभ तो होगा कि चलना आ जायेगा। वो जो चलना आ जायेगा, तो कल ठीक दिशा भी पकड़ी जा सकती है। असली चीज दिशा नहीं है, असली चीज गत्यात्मकता है; वो चलने की क्षमता है।

निदिध्यासन प्रयास है एकतान होने का।

यह शब्द बहुत अद्भुत है।

"श्रवण और मनन द्वारा निस्संदेह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतान बनना, यह निदिध्यासन है।"

फिर जो दिखायी पड़ रहा है, उसके साथ चित्त का तालमेल हो जाये। वो हमारी झलक न रह जाये सिर्फ, हमारा चित्त ही बन जाये। वो ऐसा न लगे कि एक विचार है हमारा, बल्कि ऐसा हो जाये कि यही हमारा मन है अब।

जैसे एक आदमी ने संन्यास लिया, तो संन्यास एक विचार की तरह भी लिया जा सकता है: कि ठीक लगता है, समझ में आता है––ले लिया। पर एक विचार है मन में, और हज़ार विचार भी हैं। तो एकतानता पैदा नहीं होगी अभी। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे-धीरे, यह जो एक विचार की तरह प्रवेश किया था, इसका रंग हमारे सब विचारों पर फैल जायेगा।

सब विचारों पर फैलने का मतलब यह है कि भोजन करते वक्त भी––एक संसारी के भोजन और एक संन्यासी के भोजन में अन्तर पड़ जाना चाहिए; वह रंग जो संन्यास का है, भोजन करने की क्रिया पर भी फैल जाये: संन्यासी ऐसे भोजन करे, जैसे मैं भोजन नहीं कर रहा हूँ; संन्यासी ऐसे चले, जैसे मैं नहीं चल रहा हूँ; संन्यासी ऐसे उठे कि मैं नहीं उठ रहा हूँ; सारा कर्तव्य छोड़ दे।

एक तो संन्यास एक विचार की तरह ले लिया, और एक फिर पूरे जीवन की एकतानता साध ली; फिर चित्त ही संन्यासी हो गया।

तो बुद्ध ने कहा है कि भिक्षु सोये भी; एक भिक्षु सोया हो और एक गृहस्थ सोया हो तो देखनेवाला बता सके कि कौन भिक्षु है, कौन गृहस्थ है? सोने की क्वालिटि, सोने का ढंग––भिक्षु का बदल जाना चाहिए, संन्यासी का बदल जाना चाहिए। क्योंकि जिसका चित्त बदल गया हो पूरा, उसकी सभी क्रियाओं में उसकी छाया, और रंग, और ध्वनि फैल जानी चाहिए।

फैल ही जायेगी।

तो एक विचार की तरह नहीं, एकतानता की तरह निदिध्यासन।...और,

"फिर ध्याता तथा ध्यान का त्याग करके, चित्त केवल एक ध्येय को ही विषय-रूप माने और वायुरहित स्थान में रखे हुए दिये के समान निश्चल बन जाये, उसको समाधि कहते हैं।"

समाधि परम घटना है। ये तीन उस की तरफ पहुँचने के चरण हैं, चौथा चरण समाधि है। उसके पार शब्द का जगत् नहीं है। उसके पार, कहा जा सके, उसका जगत् नहीं है। समाधि तक की बात कही जा सकती है। उस तरफ? उस तरफ जो है, उसके बाबत कभी कुछ कहा नहीं गया, और कभी कुछ कहा नहीं जा सकेगा।

समाधि के द्वार पर जो खड़ा हो जाता है, वह उसे देख लेता है, जो दिखायी नहीं पड़ता; उसे जान लेता है, जिसे जानना असम्भव है; उससे उसका मिलन हो

जाता है, जिसके बिना मिले ही सारा दुख, सारी पीड़ा, सारा संताप है। वो जो अज्ञेय है, वो ज्ञेय बन जाता है। और वो जो रहस्य है--खुल जाता है, प्रकट हो जाता है। सब ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। खुले आकाश की भाँति सत्य के बीच, सत्य में एक हो जाता है चैतन्य।

समाधि, निदिध्यासन के बाद की बात है। जिसने अपने चित्त को ऐसे महावाक्यों के साथ--'तत्त्वमसि', 'अहम् ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्'--ऐसे महावाक्यों के साथ एकतान कर लिया, जिसका चरित्र और जिसका चित्त इनकी अभिव्यक्ति बन गया; जो उठता है तो उसके उठने में स्वर है तत्त्वमसि का, उसके उठने में भी वो मुद्रा और वो गेस्चर और वो खबर है कि वो ब्रह्म के साथ एक हो के डोल रहा है; ऐसा व्यक्ति समाधि को उपलब्ध हो पाता है।

ध्याता और ध्यान, दोनों ही खो जायें, सिर्फ ध्येय रह जाये--यह समाधि है। इसे समझ लें। तीन शब्द हैं: ध्याता; ध्यान; ध्येय। उदाहरण के लिए, 'तत्त्वमसि' --तू वही है--यह 'ध्येय' है। इसी महावाक्य को हम समझ रहे हैं। यह ध्येय है। यह पाने-जैसा है। यही पाने-जैसा है। यही है लक्ष्य। यही अंतिम गन्तव्य है। फिर 'मैं हूँ'--जो 'ध्याता' है, जो इस ध्येय को सोच रहा है; इस ध्येय को विचार रहा है; इस ध्येय की अभीप्सा कर रहा है; इस ध्येय के लिए प्यासा है, आतुर है--कैसे इस ध्येय तक पहुँच जाये?

यह मैं हूँ--ध्याता; इस ध्येय की तरफ जा रही चैतना। और जब ध्याता ध्येय की तरफ दौड़ने लगता है; और सारी तरफ दौड़ बन्द हो जाती है, बस एक ही दौड़ रह जाती है चेतना की, ध्येय की तरफ, तो उस ध्येय का नाम 'ध्यान' है। जब चेतना की सारी धारा ध्येय की तरफ एक जूट हो के बहने लगती है, अलग-अलग पच्चीस धाराओं में नहीं बहती; सभी तरफ से चेतना इक्ट्ठी होकर एक ही धार बन जाती है और ध्येय की तरफ तीर की तरह बहने लगती है, सतत--इस बहती हुई चेतना का नाम 'ध्यान' है।

समाधि--उपनिषद् कहता है, कि जब यह ध्यान सारे-के-सारे प्राणों को उलीचकर ध्येय में डूब जाये, और जब ध्येता की--वो जो ध्यान कर रहा था--ध्याता की, मेडिटेटर की, सारी ऊर्जा, सारी चेतना, इस ध्यान की विधि में यात्रा करके इस ध्येय के साथ एक हो जाये, और ऐसी घड़ी आ जाये कि ध्याता को पता न रहे कि मैं हूँ--आती है--पता न रहे कि मैं हूँ; ध्याता को यह भी पता न रहे कि ध्यान है, सिर्फ तत्त्वमसि--वो जो ध्येय है, वही मात्र रह जाये--उसको उपनिषद् ने कहा है 'समाधि।' एक ही रह जाये, तीन न रहें; ध्याता, ध्यान, ध्येय--

तीन न रहें, एक ही रह जाये।

इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि अलग-अलग साधना पद्धतियों ने, कौन एक रह जाये, इसका अलग-अलग चुनाव किया है।

उपनिषद् कहते हैं 'ध्येय' रह जाये, ध्याता और ध्यान खो जाये। महावीर कहते हैं 'ध्याता' रह जाये, ध्यान और ध्येय खो जाये; आत्माभर रह जाये; शुद्ध, मैं रह जाऊँ। विपरीत मालूम पड़ता है। सांख्य कहता है ध्याता और ध्येय दोनों खो जायें, 'ध्यान' रह जाये; सिर्फ चैतन्य रह जाये--सिर्फ बोध, सिर्फ अवेयरनेस।

लगता है कि बड़ी विपरीत बातें हैं, जरा भी विपरीत नहीं हैं; और पंडित बड़ा विवाद करते रहे हैं! पंडितों के विवाद बड़े हास्यास्पद हैं, हंसने-योग्य हैं। बड़ा विवाद करते रहे हैं; विवाद होगा भी। जो शब्द को ही समझते हैं, वो विवाद करेंगे कि ये तीनों तो विपरीत बातें हैं। उपनिषद् कहते हैं 'ध्येय' रह जाये, कोई कहता है 'ध्यान' रह जाये, कोई कहता है 'ध्याता' रह जाये, तो समाधि क्या है फिर? यह तो तीन तरह की समाधि हो गयी! और अगर ध्येय रह जाये यह समाधि है, तो ध्याता रह जाये वो फिर कैसे समाधि होगी? तो तय करना पड़ेगा, सही समाधि कौन-सी है। दो गलत होंगी, एक ठीक होगी।

पंडित शब्दों में जीता है, अनुभवों में नहीं। अनुभव का बड़ा मजा और है। ये तीनों एक ही बात हैं। क्यों? क्योंकि ये तीनों के साथ एक मजा है, कि दो खो जायें--कोई भी दो खो जायें--एक बच जाये, तो उस एक का नाम रहना बिलकुल कृत्रिम है। वो कौन-सा नाम आप देते हैं, आप पे निर्भर है।

ये तीन हैं अभी: ध्याता है, ध्यान है, ध्येय है। साधक के लिए, निदिध्यासन वाले साधक के लिए ये तीन हैं। जब इन तीनों का खोना हो जाता है और एक बचता है, तो इन तीन में से वो कोई भी एक नाम चुनता है। वो चुनाव बिलकुल निजी है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसको क्या नाम आप देते हैं। चाहें तो उसका चौथा नाम भी चुन सकते हैं। अनेक उपनिषदों ने उसको चौथा ही नाम दे दिया: तीनों ही खो जाते हैं; झगड़ा नहीं रखा। कि इन तीन में से चुनेंगे, तो लगेगा कि वो कोई पक्षपात है: दो छोड़े और एक बचा। तो उन्होंने कहा कि 'तुरीय'--द फोर्थ।

उन्होंने चौथे को भी सिर्फ 'चौथा' ही नाम दिया। उसको नाम भी नहीं दिया, ताकि झंझट न खड़ी हो कोई। कहा: 'चौथा'। लेकिन झंझट करनेवालों को कोई अड़चन नहीं है। वो कहते हैं: तीन थे, चौथा आया कहाँ से? यह चौथा कौन है? उन तीन में से कौन है? या कि वे तीनों ही खो गये, यह चौथा बिलकुल अलग है? या कि तीनों का जोड़ है? यह चौथा क्या है?

उससे कोई फर्क नहीं पड़ता, जिसको विवाद करना है, उसके लिए कोई भी चीज विवाद शुरू करने के लिए काफी है। जिसको साधना करनी है, उसकी यात्रा बिलकुल अलग है। इन तीन में एक नाम उपनिषदों ने चुन लिया 'ध्येय' बच जाता है; महावीर ने चुना 'ध्याता' बच जाता है; सांख्य ने कहा 'ध्यान' बच जाता है। ये सब नाम हैं।

एक बच जाता है, यह तय है। तीन नहीं रह जाते, एक रह जाता है, यह तय है। नाम कृत्रिम है, कोई भी नाम दें। इतना ही याद रखें कि जब एक बच जाता है, तो समाधि है! जब तक दो बचे हैं, तब तक जानना कि तीन बचे हैं; क्योंकि दो जब तक बचते हैं, दोनों को जोड़नेवाला एक तीसरा बीच में खड़ा रहता है।

दो अकेले नहीं बच सकते। दो का मतलब सदा तीन होता है। इसलिए जो लोग बहुत गणित की भाषा में सोचते हैं, वो जगत् को 'द्वैत' नहीं कहते, वो 'त्रैत' कहते हैं। जो बहुत व्यवस्था में सोचते हैं और गणित के ढंग से सोचते हैं, वो जगत् को कहते हैं, जगत् है त्रैत--द्वैत नहीं। क्योंकि दो होंगे तो तीसरा होगा ही। क्योंकि दो को जोड़ेगा कौन? या दो को अलग कौन करेगा?

दो के बीच तीसरा अनिवार्य हो जाता है। तीन अस्तित्व का ढंग है। इसलिए हमने त्रिमूर्ति बनायी। वो त्रैत की सूचक है। कि जगत् तीन से मिल के बना है। लेकिन तीन चेहरे बनाये हैं एक ही आदमी के; वो है चौथा। ये तीनों चेहरों के भीतर से कहीं से भी प्रवेश करें, भीतर जब पहुँचेंगे तो तीनों चेहरे न रह जायेंगे। लेकिन, साधक जहाँ से प्रवेश करेगा, वहाँ से पसंद करेगा। कोई विष्णु के मुँह से प्रवेश करे भीतर, कोई ब्रह्मा के, कोई महेश के; तो जहाँ से वो प्रवेश करेगा, वही नाम वह जो भीतर पहुँचेगा, तो दे देगा। चौथे को कहेगा कि विष्णु, कहेगा कि महेश, कहेगा कि ब्रह्मा। मगर भीतर पहुँच के तीनों चेहरे खो जाते हैं। भीतर कोई जगह नहीं है, भीतर एक है।

यह त्रिमूर्ति सिर्फ मूर्ति नहीं है, यह हमारी परम साधना की निष्पत्ति है।

तीन हैं आखिरी छलाँग के पहले, तीन बच जाते हैं--ध्याता, ध्यान, ध्येय। और इन तीन में से जिसने छलाँग लगायी--एक बच जाता है। उसे जो नाम देना चाहें--मरजी; नाम से कोई अंतर नहीं पड़ता। न देना चाहें--मरजी। 'चौथा' कहना चाहें--सुन्दर। कुछ न कहना चाहें, चुप रह जायें, उससे बेहतर कुछ भी नहीं।

सुनें, सुनने को 'श्रवण' बनायें। सोचें, सोचने को 'मनन' बनायें। मनन करें, निष्पति लें, निष्पत्ति को 'निदिध्यासन' बनने दें, एकतानता लायें।

एकतानता एकतानता ही न रहे, अन्त में ऐक्य बन जाये।

फर्क समझ लें: एकतानता का अर्थ है, अभी दो बाकी हैं और दोनों के बीच तालमेल बैठ गया है; लेकिन दो बाकी हैं। ऐक्य का अर्थ--दो खो गये, तालमेल ही रह गया।

एकतानता है निदिध्यासन, और एकता है समाधि।

ग्यारहवाँ प्रवचन

१८ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
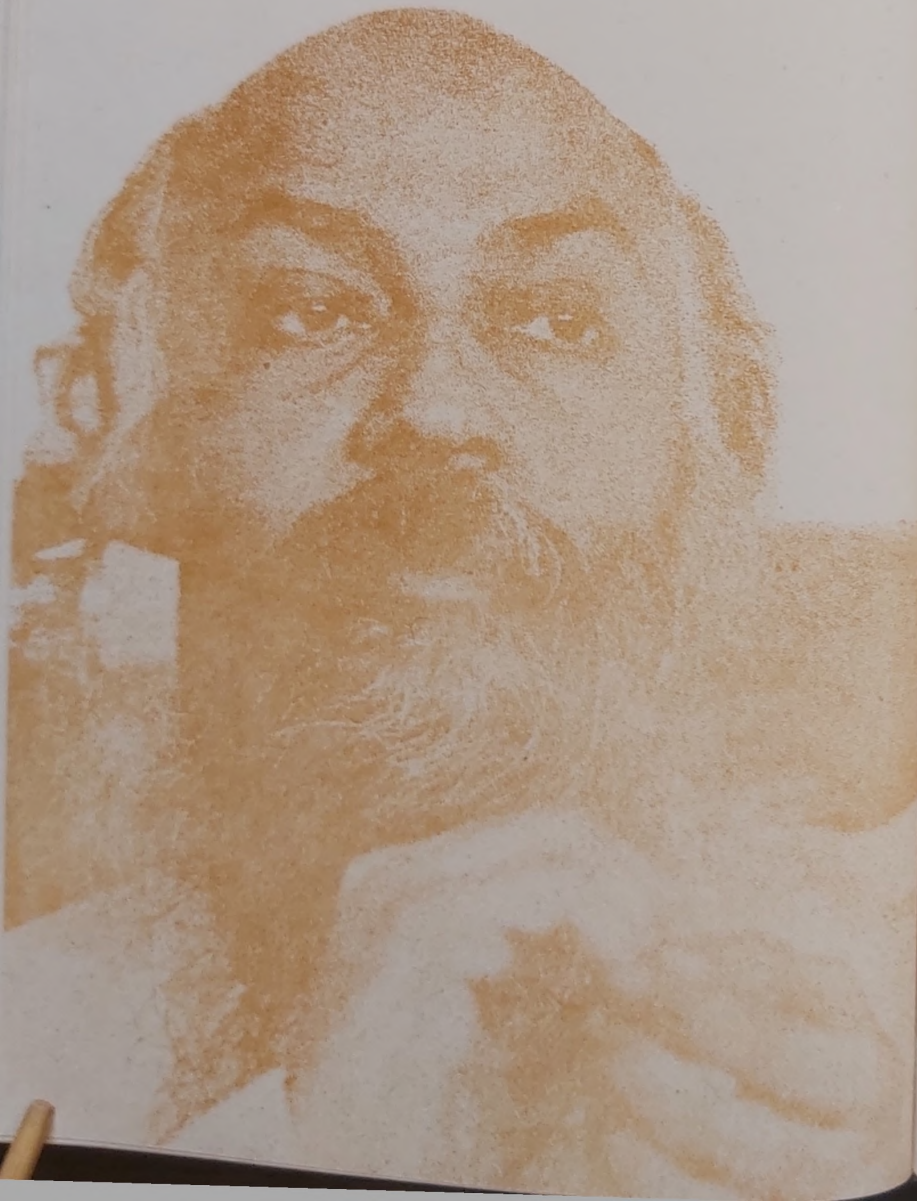
वृत्तयस्तु तदानीभप्यज्ञाता आत्मगोचराः
स्परणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः।।३६।।
अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मोऽभिवर्धते।।३७।।
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधि योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः।।३८।।
अमुना वासनाजाले निःशेष प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये।।३९।।
वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावमासते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते।।४०।।

इस समाधि के समय वृत्तियाँ केवल आत्मारूप विषय वाली होती हैं, इससे जान नहीं पड़तीं, पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियाँ स्मरण से अनुमान की जाती हैं।

इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लिए जाते हैं, पर इस समाधि द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं, और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं।

उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्म-मेघ' कहते है, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्म रूप हजारों धाराओं की वर्षा करती है।

इस समाधि द्वारा वासनाओं का समूह पूर्णतः लय को प्राप्त होता है और पुण्य-पाप नाम के कर्मों का समूह जब जड़ से उखड़ जाता है, तब यह 'तत्वमसि' वाक्य प्रथम परोक्ष ज्ञान रूप में प्रकाशित होता है, और फिर हाथ में रहे आमला की तरह अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि इन चार चरणों के सम्बन्ध में सुबह हमने बात की। समाधि संसार का अंत और सत्य का प्रारम्भ है। समाधि मन की मृत्यु और आत्मा का जन्म है। इस ओर से देखें तो समाधि अंतिम चरण है, उस और से देखें तो समाधि पहला चरण है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन——इनसे मन क्षीण होता चलता है, लीन होता चलता है; समाधि में पूरी तरह लीन हो जाता है। और जहाँ मन पूरी तरह लीन हो जाता है, वहाँ उसका अनुभव शुरू होता है, जो वस्तुतः हम हैं। इस समाधि के सम्बन्ध में यह सूत्र है। और इस सूत्र में कुछ बहुत गहरी बातें हैं।

"समाधि के समय वृत्तियाँ केवल आतमरूप विषय वाली होती हैं, इससे जान नहीं पड़तीं, पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियाँ स्मरण से अनुमान की जाती हैं।"

यह पहली बात काफी ख्याल से समझ लें। जो साधना में लगे हैं, उनके लिए, आज नहीं कल, काम ही होगी। समाधि में कोई अनुभव नहीं होता। सुनकर कठिनाई होगी। समाधि में कोई अनुभव हो भी नहीं सकता। और समाधि परम अनुभव की है। यह विरोधाभासी वक्तव्य है, उलट दिखायी पड़ता है, लेकिन कुछ कारण से उलटा दिखायी पड़ता है। समाधि में परम आनन्द का अनुभव होता है, लेकिन समाधि में डूबे हुए साधक को कोई भी पता नहीं चलता, क्योंकि साधक और आनन्द एक हो गये होते हैं, पता चलने के लिए दूरी नहीं रहती।

हमें पता उन्हीं चीजों का चलता है जिनसे हम भिन्न हैं——अलग हैं, दूर हैं। समाधि में आनन्द की जो प्रतीति होती है, जो अनुभव होता है, उसका कोई पता समाधि में नहीं चलता। जब साधक समाधि से वापिस लौटता है, तब अनुमान करता है कि आनन्द हुआ था; पीछे से स्मरण करता है कि परम आनन्द हुआ था, अमृत बरसा था। जिये थे किसी और ढंग में और जीवन की कोई गहन स्थिति अनुभव की थी——यह पीछ से स्मरण आता है, जब मन लौट आता है।

इसे हम ऐसा समझें कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि, ये चार सीढ़ियाँ हैं। इनसे साधक समाधि के द्वार पर जाकर अनुभव करता है। अगर समाधि में ही साधक रह जाये और वापिस न लौट सके, तो अपने अनुभव को कभी भी न कह सकेगा। अपने अनुभव को बताने का फिर कोई उपाय नहीं है। लेकिन जो साधक समाधि को उपलब्ध हो जाता है, वह वही-का-वही वापिस कभी नहीं लौटता, नया ही होकर लौटता है। लौटकर सारे सम्बन्ध उसके मन से बदल जाते हैं; लेकिन लौटता है मन में। पहले जब मन में था तो गुलाम था मन का, कोई मालकियत न थी अपनी; मन जो चाहता था, करा लेता था; मन जो बताता था, वही मानना पड़ता था; मन जहाँ दौड़ाता था, वहीं दौड़ना पड़ता था; मन की गुलामी थी; मन के हाथ में लगाम थी आत्मा की।

समाधि के द्वार से लौटता है साधक जब वापिस मन में, तो मालिक होकर लौटता है। लगाम उसकी अब अपने हाथ में होती है। अब मन को जहाँ ले जाना चाहता है, वहाँ ले जाता है। नहीं ले जाना चाहता तो नहीं ले जाता। चलाना चाहता है तो चलाता है, नहीं चलाना चाहता तो नहीं चलाता है। मन की अब अपनी कोई सामर्थ्य नहीं रह जाती। लेकिन समाधि को उपलब्ध साधक जब मन में लौटता है——मालिक होकर——तभी वह स्मरण कर सकता है। क्योंकि स्मरण मन की क्षमता है। तभी वह पीछे लौटकर देख सकता है मन के द्वारा कि क्या हुआ था?

इसका मतलब यह हुआ कि मन केवल संसार की ही घटनाओं को अंकित नहीं करता है। जब साधक समाधि में पहुँचता है, और जो घट रहा होता है, वह भी मन अंकित करता है। मन दोहरा दर्पण है। उसमें बाहर का जगत् भी प्रतिबिंबित होता है, उसमें भीतर का जगत् भी प्रतिबिंबित होता है। तो जब साधक लौटता है मन में तभी अनुभव कर पाता है कि क्या घटा? तो फिर यह तीन सीढ़ियों से लौटे, तो ही अभिव्यक्ति कर सकता है।

पहली सीढ़ी होगी साधक की समाधि से लौटते वक्त, निदिध्यासन। निदिध्यासन में उस को अनुभव होना शुरू होगा; समाधि में जो उसने जाना था सूक्ष्म में, गहन तल में, अपने आत्यन्तिक केन्द्र पर वह निदिध्यासन की सीढ़ी पर आकर उसको अपने आचरण में झलकता हुआ दिखायी पड़ेगा। वह पैर उठायेगा, तो पैर पुराना नहीं मालूम पड़ेगा। इस पैर में कोई नृत्य की ध्वनि समा गयी! वह आँख उठाकर देखेगा, तो यह पुरानी आँख नहीं मालूम पड़ेगी: ताजी हो गयी——जैसे सुबह की आँख! उठेगा तो निर्भार मालूम पड़ेगा, जैसे आकाश में उड़ सकता है! भोजन करेगा तो दिखायी पड़ेगा कि भोजन शरीर में जा रहा है और मैंने कभी भी भोजन नहीं किया। अब वह जो कुछ भी करेगा——समाधि से लौटा हुआ साधक——निदि-

ध्यासन की पहली सीढ़ी पर अपने आचरण में समाधि का प्रतिफलन देखेगा; सब जगह उसका आचरण दूसरा हो जायेगा। वह कल जो आदमी था, मर गया। वह जो समाधि के पहले निदिध्यासन की सीमा में खड़ा आदमी था, यह वही नहीं है। सीढ़ी वही है, आदमी उतरता हुआ दूसरा है। यह कुछ जानकर लौटा है। और ऐसी बात जानकर लौटा है कि इसका पूरा जीवन रूपांतरित हो गया है। वह जानने में पुराना मर गया है और नये का जन्म हो गया है।

निदिध्यासन में उसे झलक दिखायी पड़ेगी; जो समाधि में घटा है, रस जो बहा है भीतर, वह उसके रोयें-रोयें, व्यवहार में सब तरफ बहता हुआ मालूम पड़ेगा।

महाकाश्यप बुद्ध से बार-बार जाकर पूछता था--कब होगी समाधि? तो बुद्ध कहते थे कि तू फिक्र मत कर, मुझसे पूछने न आना पड़ेगा। जब हो जायेगी तो तू पहचान लेगा। और तू ही क्यों पहचान लेगा, जो भी तुझे देखेंगे, वे भी पहचान लेंगे। अगर उनके पास थोड़ी-सी भी आँख है। क्योंकि जब भीतर वह क्रांति घटती है, तो उसकी किरणें तन-प्राण, सभी को पार करके बाहर आ जाती हैं।

निदिध्यासन की सीढ़ी पर साधक को पता चलेगा कि मैं दूसरा हो गया; मैं नया हूँ, मेरा दूसरा जन्म हो गया। साधक को पता चलेगा कि जो मैं गया था समाधि में, वही लौटा नहीं हूँ। कोई और गया था, कोई और लौटा है।

निदिध्यासन से नीचे है मनन। जब साधक निदिध्यासन से और नीचे उतरेगा मन में, तो मनन का क्षण आयेगा। अब साधक सोच सकेगा कि क्या हुआ। अब वह लौटकर विचार कर सकेगा--क्या हुआ?--क्या मैंने देखा?—क्या मैंने जाना?—क्या मैं जिया? अब वह विचार में, शब्द में, प्रत्यय में, अनुभव को बाँधने की कोशिश करेगा।

जो लोग मनन की सीढ़ी पर आकर अनुभव को बाँध सके हैं, उनसे ही निकले हैं वेद, उपनिषद्, बाईबिल, कुरान। बहुत लोग समाधि तक गये हैं, लेकिन जो जाना है, उसे मनन तक वापिस लौटाना बड़ा कठिन काम है।

ध्यान रखना, पहली यात्रा इतनी कठिन नहीं थी जो हमें बहुत कठिन मालूम पड़ रही है। इस दूसरी यात्रा से तुलना करें तो पहली यात्रा बहुत सरल थी। यह दूसरी यात्रा अति कठिन है। लाखों लोग समाधि तक पहुँचते हैं। उनमें से कुछ थोड़े-से लोग वापिस निदिध्यासन में खड़े हो पाते हैं। उनमें से भी कुछ थोड़े-से लोग मनन तक उतर पाते हैं। और उनमें से भी बहुत थोड़े लोग पहली सीढ़ी, जिसको हम श्रवण कहते हैं, उसका नाम लौटते वक्त बदल जाता है, वह मैं आपसे बात करूँगा; ...हजारों लोग पहुँचते हैं समाधि तक, एक-आध आदमी बुद्ध हो पाता है। समाधि तो हजारों लोगों को लगती है, एकाध आदमी बुद्ध हो पाता है। बुद्ध का

मतलब ही यह जो वापिस इन चार सीढ़ियों को उतर के, जो जाना है उसने, जगत् को दे पाता है। मनन का अर्थ है लौटते वक्त विचार में बाँधना उसको जो निर्विचार है। इस जगत में असम्भव-से-असम्भव घटना यही है: जो नहीं बोला जा सकता, नहीं सोचा जा सकता, उसे शब्द की सीमा में रखना, बाँधना।

आप भी देखते हैं सुबह का सूरज ऊगता है। कभी कोई चित्रकार, कभी उस उगते सूरज को पकड़ पाता है। सूरज को पकड़ लेना बहुत कठिन नहीं है। बहुत-से चित्रकार बना लेंगे सूरज को, लेकिन ऊगते सूरज को पकड़ना कठिन है। वह जो ऊगने की घटना है, वह जो गुण है विकास का, वह जो उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है, वही चित्र में अंकित हो जाये, और चित्र देखकर ऐसा लगे कि सूरज अब बढ़ा आगे, अब ऊगा, अब ऊगा। वृक्ष को पकड़ लेना कठिन नहीं है, लेकिन जीवंतता को पकड़ लेना कठिन है। ऐसा लगे कि पत्ते अब हिल जायेंगे, हवा का जरा-सा झोंका--और फूल झर जायेंगे। वह बहुत कठिन है।...वह बहुत कठिन है। और यही फर्क है फोटोग्राफी में और पेन्टिंग में।

फोटोग्राफी कितना ही पकड़ ले, मुर्दा ही पकड़ पाती है। वह जो जीवंतता है, उसको। मगर सूरज, पौधे, फूल, आम जीवन के अनुभव हैं। इन्हें पकड़ा जा सकता है। समाधि असाधारण अनुभव है। करोड़ों-करोड़ों में कभी एक-आध को होता है। और वहाँ जो होता है, सारी इन्द्रियाँ असमर्थ हो जाती हैं खबर देने में। कान वहाँ सुनते नहीं, आँखें वहाँ देख नहीं सकतीं, हाथ वहाँ छू नहीं सकते, और अनुभव होता है अपरिसीम। विराट् जैसे टूट पड़े आपके छप्पर पर, सारा आकाश आ जाये आपके आंगन में, तो जैसी मुसीबत हो जाये, और कुछ सूझ-समझ न पड़े, वैसा समाधि के क्षण में होता है। छोटा-सा चेतना का अपना घेरा, उसमें सारा सागर उतर जाता है।

कबीर ने कहा है, कि पहले मैं समझा था, कि बूंद सागर में गिर गयी। जब होश आया, तब पाया कि बात उलटी हुई है: सागर बूंद में गिर गया है। तो कबीर ने कहा है कि पहले तो सोचे थे कि कुछ-न-कुछ बता ही देंगे लौटकर। वह भी कठिन मालूम पड़ा था। बूंद जब सागर में गिर जायेगी तो लौटेगी कैसे? वह भी कठिन मालूम पड़ा था। कठिन है ही। कबीर का वचन है—

"हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई। बुंद समानी समुंद में सो कत हेरि जाई।"

वह जो गिर गई बूंद समुद्र में, अब उसे कैसे बाहर निकालें? ताकि वह खबर दे सके कि क्या हुआ। यह तो कठिन था ही, लेकिन कबीर ने बाद में दूसरी पंक्तियाँ लिखीं, और पहली पंक्तियों को रद्द कर दिया, और कहा कि भूल हो गयी

जल्दी में--अनुभव नया था, ठीक-से समझ न पाये क्या हुआ; आदत पुरानी थी, उसकी वजह से उलटा दिखायी पड़ गया। दूसरी पंक्तियाँ लिखीं--

"हेरत-हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई, समुंद समाना बूंद में, सो कत हेरी जाई।"

वह समुद्र जो है, वह बूंद में समा गया है। बूंद को तो किसी तरह खोज भी लेते समुद्र में गिर गयी थी तो। यह उलटा हो गया है: समुद्र पूरा-का-पूरा आकर बूंद में गिर गया है। अब इस बूंद को हम खोजने भी जायें तो कहाँ जायें? इस बूंद का अब कोई पता नहीं चल सकता।

तो समाधि के क्षण में जो जाना गया है, संसार में जो हमने जाना है, उसको पकड़ने के सारे उपकरण व्यर्थ हो जाते हैं। हम ही व्यर्थ हो जाते हैं। हमारा होना ही बिखर जाता है। और कोई बड़ा होना, जिसकी कोई सीमा नहीं, हम पर टूट पड़ता है--आकस्मिक। मर जाते हैं हम। समाधि महामृत्यु है--मृत्यु से बड़ी; क्योंकि मृत्यु में तो मरती है केवल देह, मन बचा रह जाता है। समाधि में मर जाता है मन। पहली दफे हमारा सारा संबंध मन से टूट जाता है। पहली दफा हम मन के सारे धागों से विच्छिन्न और अलग हो जाते हैं। और हमारा सारा ज्ञान मन का था। इसलिए पहली दफा समाधि में हम परम अज्ञानी होकर खड़े होते हैं।

इसे फिर से दोहरा दूं: समाधि में हमारा ज्ञान काम नहीं आता; क्योंकि ज्ञान सब सीखा था मन ने। वह मन रह गया बहुत पीछे, बहुत दूर! हम निकल गये मन से आगे। जो जानता था, वह साथी नहीं है वहाँ। जो सब बातें समझता था; शब्द का, सिद्धान्त का जिसे बोध था; शास्त्र जिसे रच-पच गये थे, वह बहुत पीछे छूट गया।

वस्त्र ही नहीं छूट जाते, शरीर ही नहीं छूट जाता, मन छूट जाता है। जो हमारा गहरे-से-गहरा अनुभव है, वह सब पीछे पड़ा रह गया। मन से उछाल लगाकर साधक द्वार पर खड़ा हो गया समाधि के। अब जानने का उसके पास कुछ उपाय नहीं।

समाधि के द्वार पर जो भी खड़ा होता है, वह परम अज्ञानी की तरह खड़ा हो जाता है।...परम अज्ञानी की तरह! कुछ भी जानने का उपाय नहीं, जानने की व्यवस्था नहीं, जानने के साधन नहीं, सिर्फ जानना-मात्र खड़ा रह जाता है। फिर लौटकर खबर देना बड़ी मुश्किल है। कौन खबर दे? कौन खबर लाये? लेकिन खबर दी गयी है। कुछ लोगों ने अथक चेष्टा की है।

वे ही परम कारुणिक हैं इस जगत् में, जिन्होंने समाधि के द्वार से लौटकर खबर दी;--क्यों? क्योंकि समाधि से लौटने का भी भाव नहीं उठता। समाधि से लौटना ऐसे ही है, जैसे आप, जो चाहते थे वह मिल गया; सब इच्छा पूरी हो गयी; हिलने-डुलने का भी कोई कारण न रहा; गति का कोई सवाल न रहा; ...वहाँ से लौटना।

कहते हैं बुद्ध को समाधि हुई तो सात दिन तक वह नहीं लौटे। बड़ी मीठी कथा है। कथा है कि सारे देवता उनके चरणों में इकट्ठे हो गये, और इन्द्र रोने लगा, और ब्रह्मा ने चरणों पर सिर पटका, और कहा कि ऐसा मत करें! क्योंकि हम देवता भी तरसते हैं उस बात के लिए, जो समाधि को जाननेवाला लौटकर देता है। और कितने जन्मों से कितने-कितने लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं, कि कोई हो जाये बुद्ध लौटकर खबर दे, लौटकर बोले, बताये जो जाना हो। आप चुप न रहें, आप बोलें!

लेकिन बुद्ध ने कहा: बोलनेवाला नहीं रहा, बोलने की कोई इच्छा नहीं रही! और फिर जो देखा है, वह बोला जा सकता है, यह खुद ही भरोसा नहीं आता! तो सुननेवाले क्या समझ सकेंगे?

देवता नहीं माने तो बुद्ध ने कहा कि नहीं मानते हो तो मैं कहूँ, लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि ये बातें, जो मैं किसी से कहूँगा, अगर जानने के पहले मुझसे कोई कहता, तो मैं नहीं समझता। तो कोई क्या समझेगा? और फिर बुद्ध ने कहा: इस अनुभव से यह भी अनुभव आ गया है कि जो मेरी बात को समझ सकेंगे, वे मेरे बिना भी वहाँ पहुँच सकते हैं; और जो मेरी बात नहीं समझ सकेंगे, उनके सामने सिर धुनने से कुछ बहुत प्रयोजन नहीं है।

लेकिन देवताओं ने एक बड़ी मीठी दलील दी, और उन्होंने कहा: हम जानते हैं, यह बात सच है कि जो लोग समझ सकेंगे, वे वे ही लोग हैं, जो किनारे पर ही खड़े हैं—जो आपकी आवाज सुन लें; एक कदम का फासला है--वे आपके बिना भी किसी-न-किसी तरह एक कदम पार कर जायेंगे। नहीं, उनके लिए हम नहीं कहते कि आप बोलें। और यह भी हम मानते हैं कि ऐसे भी लोग हैं जो एक कदम भी नहीं चले हैं, उन तक आपकी आवाज भी नहीं पहुँचेगी, वे समझेंगे भी नहीं। उनके लिए भी हम नहीं कहते कि आप बोलें। पर ऐसे भी लोग हैं, जो दोनों के बीच में हैं। जो, आप न बोलेंगे तो शायद न समझ सकेंगे। जो, आप बोलेंगे तो शायद समझ सकते हैं।

'शायद ही', देवताओं ने कहा। लेकिन उन्होंने एक बात और बुद्ध को कही कि ये जो 'शायद' हैं--शायद समझ लें, शायद न समझें। अगर आप न बोले और एक भी समझ सकता व्यक्ति, वह अगर इस कारण चूक गया, तो आप सोच लें। पीड़ा आपकी ही है, पीड़ा आपको ही रहेगी। और ऐसा बुद्धों ने कभी नहीं किया है।

तो बुद्ध बोले।

समाधि के क्षण में ऐसा लगना बिलकुल स्वाभाविक है कि अब--अब कहीं कुछ कहना, सुनना, बताना, व्यर्थ हो गया--किसको बताना है? किसको कहना है? किसको सुनना है? फिर भी कुछ लोग लौटे हैं।

मनन की सीढ़ी पर आकर ऐसे लोगों को बड़ी दुरूह घटना घटती है। और

इसलिए महानतम कलाकार वे हैं––वे नहीं जो छंद और गीत रच लेते हैं...कलाकार हैं; वे भी नहीं जो चित्र-मूर्तियाँ बना लेते हैं...कलाकार हैं। लेकिन महाकलाकार वे हैं, जो समाधि के बिलकुल अगोचर, अदृश्य अनुभव को गोचर और दृश्य शब्दों में मनन की सीढ़ी पर बाँधते हैं; चेष्टा करते हैं कि किसी तरह कुछ इशारे पैदा किये जा सकें; कुछ उपाय रचते हैं, कुछ विचार की शृंखला निर्मित करते है, कुछ विचार की व्यवस्था बनाते हैं जहाँ से आपको भी थोड़ी-सी झलक, कम-से-कम मन के तल पर ही थोड़ी-सी चोट, पुलक का अनुभव हो सके।

लेकिन मनन भी बहुत लोग कर लेते हैं, वह आखिरी सीढ़ी जो है। जिसे हमने पहली दफे जाते वक्त 'श्रवण' कहा था, वही सीढ़ी, लौटते वक्त 'प्रवचन' बन जाती है। वही सीढ़ी है। सुनना, बोलना। जाते वक्त जो सुनना था––राइट लिस्निंग थी, ठीक-ठीक सुनना था, श्रवण था, लौटते वक्त वही राइट स्पीकिंग, ठीक-ठीक बोलना, बन जाता है।

और ध्यान रहे, पहली सीढ़ी पर होता है 'शिष्य', और इस लौटती हुई आखिरी सीढ़ी पर होता है 'गुरु', और इन दोनों के बीच जो मिलन है, वह 'उपनिषद्' है। जहाँ सुननेवाला ठीक-ठीक मौजूद है, और जहाँ बोलनेवाला ठीक-ठीक मौजूद है––इन दोनों के बीच जो मिलन की घटना है, वह उपनिषद् है।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है––गुरु के पास रहकर जिसे जाना; गुरु के पास बैठकर जिसे सुना; पास होकर जो अनुभव में आया; निकटता में जिसकी ध्वनि मिली; सामीप्य में जिसका स्पर्श हुआ।

उपनिषद् का अर्थ––पास बैठकर, पास होकर, निकटता पाके।

तो शिष्यों का काम है सुनना और गुरु रह जाये सिर्फ वाणी। सुननेवाला न हो, बोलनेवाला न हो। यहाँ हो सिर्फ वाणी, वहाँ हो सिर्फ सुनने की क्षमता। तब उपनिषद् घटता है।

यह सूत्र कहता है:

"समाधि में वृत्तियाँ केवल आत्मरूप विषय वाली होती हैं।"...आनन्द का अनुभव हो, मौन का अनुभव हो, शांति का अनुभव हो, शून्य का अनुभव हो, मुक्ति का अनुभव हो, लेकिन ये कोई अनुभव समाधि में सीधे पकड़े नहीं जा सकते।

"इससे जान नहीं पड़ती हैं।"...ये वृत्तियाँ जान नहीं पड़ती हैं।

"पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियाँ इस स्मरण से अनुमान की जाती हैं।"

तो बुद्ध भी ऐसा नहीं कह सकते कि ऐसा ही है समाधि में। वे भी इतना ही कहते हैं कि ऐसा मेरा अनुमान है, कि समाधि में ऐसा है। इसलिए महावीर तो अपनी वाणी में 'स्यात्' लगाकर ही बोलते थे। वे कहते हैं, स्यात् वहाँ आनन्द है।

इससे तब कोई यह न समझ ले कि महावीर को पता नहीं है। वाणी से ऐसा ही लगता है, कि महावीर भी अगर कहते हैं कि स्यात्, तो उनको भी संदेह है कुछ?

संदेह के कारण नहीं, अत्यन्त सत्यनिष्ठा के कारण। महावीर की सत्यनिष्ठा इतनी अछूती और इतनी कुँआरी है कि वैसी सत्यनिष्ठा खोजनी मुश्किल है।

तो महावीर यह कहते हैं कि जिस मन से अब मैं यह जान रहा हूँ, वह मन वहाँ मौजूद नहीं था। यह दूर से सुनी हुई खबर है मन के लिए। घटना जहाँ घटी थी, वहाँ मन मौजूद न था। मन चश्मदीद गवाह नहीं है। दूर था, अनुमान किया है इसने, इनफर किया है, सोचा है; घटना घटी थी दूर।

जैसे हम यहाँ बैठे हों और गौरीशंकर के शिखर पर जमी हुई बर्फ को हम देख सकते हैं, यहीं बैठे। मन बहुत दूर था। और गौरीशंकर के शिखर पर जो शीतलता बरसी थी, उसका उसने अनुमान किया है।

इसलिए महावीर 'स्यात्' ही का उपयोग करते हैं। वे कहते हैं स्यात् वहाँ परम आनन्द है। यह अत्यधिक सत्यनिष्ठा के कारण। क्योंकि अनुमान ही है यह मन का।...मन का! महावीर के लिए अनुमान नहीं है। महावीर ने जाना है। लेकिन जिसने जाना है, जानते क्षण में, इतनी एकता हो जाती है कि अनुभव नहीं होता। जानकर जब महावीर वापिस लौटते हैं मन में,...

ऐसा समझ लें, कि आप जायें गौरीशंकर के शिखर पर, और शीतलता के साथ एक हो जायें; आप भी शीतलता हो जायें। या बर्फ के साथ एक हो जायें, आप भी बर्फ की तरह जम जायें। तो वहाँ कोई अनुभव न हो, क्योंकि अनुभोक्ता अलग न हो। फिर आप उतरें और नीचे जमीन पर आकर अपनी दूरबीन उठाकर फिर गौरीशंकर को देखें। तो वह जो गूँजता हुआ अनुभव रह गया है भीतर, जो जाना था, लेकिन निकटता इतनी थी कि जानने-लायक दूरी न होने से जाना नहीं जा सका था। अब इस दूरी पर, परसपैक्टिव, परिपेक्ष मिल गया। अब अपनी दूरबीन मन की उठाकर वापिस देखा है। अब अनुमान होता है कि परम शीतलता थी; कि परम शुभ्र बर्फ का विस्तार था; कि कैसी ऊँचाई थी! कि सारा गुरुत्वाकर्षण खो गया था! कि उड़ जाते आकाश में ऐसे पंख लग गये थे! कि कितना शुद्ध था आकाश! कि कैसी नीलिमा थी! कि बादल भी सब नीचे छूट गये थे! निरभ्र शून्य आकाश रह गया था!

लेकिन यह सब जमीन पर खड़े होकर पुनर्विचार है। इसलिए सूत्र कहता है:

"स्मरण से अनुमान की जाती हैं।"

"इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लिए जाते हैं, पर इस समाधि द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं, और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं।"

इस दूसरे सूत्र में दो शब्द बड़े कीमत के हैं: 'कर्म' और 'धर्म'। जो हम करते हैं, वह कर्म है; और जो हम हैं, वह धर्म है। धर्म का अर्थ है हमारा स्वभाव, और कर्म का अर्थ है जो हम करते हैं। कर्म का अर्थ है हमारा स्वभाव अपने से बाहर जाता है। कर्म का अर्थ है हम अपने से बाहर जगत् में उतरते हैं। कर्म का अर्थ है हम अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे से जुड़ते हैं। स्वभाव का अर्थ है--दूसरे से पृथक, जगत् में बिना गये, जो मैं हूँ; मेरा जो भीतरी होना है। मेरे करने से उसका कोई संबंध नहीं है। मैं क्या करता हूँ, इससे वह निर्मित नहीं होता, वह मेरे सब करने के पहले मौजूद है। वह जो मेरा स्वभाव है।

कर्म में भूल हो सकती है, धर्म में कोई भूल नहीं होती। कर्म में चूक हो सकती है, धर्म में कोई चूक नहीं होती। ध्यान रखना, धर्म का अर्थ यहाँ मजहब या रिलीजन नहीं है। यहाँ धर्म का अर्थ है गुण, स्वभाव। वह जो हमारा आंतरिक स्वभाव है, हमारा होना है, बीइंग है।

तो हम जितने कर्म करते हैं, उतना ही आच्छादित होता चला जाता है स्वभाव। हम जो-जो करते हैं, उससे हमारा होना दबता जाता है। और धीरे-धीरे कर्म की इतनी पर्तें हो जाती हैं कि हम यह भूल ही जाते हैं कि कर्मों के अतिरिक्त भी हमारा कोई होना है।

अगर कोई आपसे पूछे, आप कौन हैं? तो आप जो भी उत्तर देते हैं वह कर्मों के बाबत है, आपके धर्म के बाबत नहीं। आप कहते हैं मैं इंजीनियर हूँ, आप कहते हैं मैं डॉक्टर हूँ, आप कहते हैं मैं व्यापारी हूँ। आपने ख्याल किया, व्यापार कर्म है? आप व्यापारी नहीं हैं, व्यापार करते हैं। कोई आदमी डॉक्टर कैसे हो सकता है? डॉक्टरी कर सकता है। कोई आदमी इंजीनियर कैसे होगा? आदमी और इंजीनियर हो जाये! तो आदमी खतम ही हो गया। आदमी इंजीनियरी करता है। वह उसका कर्म है, उसका होना नहीं।

आप जो भी अपना परिचय देते हैं, अगर गौर से देखेंगे तो पायेंगे: आप सदा अपने कर्म का परिचय देते हैं, कभी अपने होने की खबर नहीं देते। दे भी नहीं सकते। उसकी खबर आपको ही नहीं है। आप इतना ही जानते हैं, जो आप करते हैं। करने का आपको पता है कि मैं क्या करता हूँ, क्या कर सकता हूँ। मैंने पीछे क्या किया है, और आगे मैं क्या करने के योग्य हूँ, यहीं आप खबर देते हैं। जो सर्टिफिकेट लेकर आप घूमते हैं, आप क्या कर सकते हैं, इसकी खबर देते हैं। आप क्या हैं, उसकी नहीं। अगर आप कहते हैं 'मैं साधु हूँ', तो उसका मतलब यह है कि आप साधुता करते हैं।

कोई कहता है 'मैं चोर हूँ', उसका मतलब वह चोरी करता है। एक का कर्म साधुता है, एक का कर्म चोरी है।

लेकिन होना क्या है; आपके भीतर क्या है? जब आप पैदा नहीं हुए थे माँ के पेट से, तब साधु क्या था? चोर क्या था? इंजीनियर क्या था? डॉक्टर क्या था? माँ के पेट में अगर इनसे कोई पूछता--कौन हो? तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाते! क्योंकि इंजीनियर थे नहीं तब, डॉक्टर थे नहीं तब, व्यापार कुछ किया नहीं था। माँ के पेट में अगर कोई पूछता, कौन हो भीतर? तो कोई उत्तर नहीं आ सकता था-- कि आ सकता था? कोई उत्तर नहीं आ सकता था। मगर थे आप माँ के पेट में। उत्तर नहीं आ सकता था।

आज तो ब्रेनवाश, मस्तिष्क कोधो डालने के बहुत उपाय खोज लिये गये हैं। आप कहते हैं मैं इंजीनियर हूँ, आपका मस्तिष्क धोया जा सकता है, वाश किया जा सकता है। क्लीनिंग ठीक से हो जाये, फिर आपसे पूछें कौन हो? आप खाली रह जायेंगे। क्योंकि वह जो इंजीनियर होना था, वह स्मृति में था। पढ़े थे, लिखे थे, सर्टिफिकेट पाया था, कुछ किया था। यश पाया था, अपयश पाया था, वह स्मृति में था, वह धो दी गयी। अब आप कोई उत्तर नहीं दे सकते कि कौन हैं। लेकिन हैं। होना नष्ट नहीं किया जा सकता है स्मृति के धोने से, लेकिन कर्म की रेखायें साफ की जा सकती हैं।

यह सूत्र कहता है:

"अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लिये जाते हैं।"

स्वभावतः, प्रतिदिन, प्रतिपल, कर्म इकट्ठे किये जा रहे हैं। उठते हैं, बैठते हैं, श्वास लेते हैं--कर्म हो रहा है। सोते हैं, स्वप्न देखते हैं, कर्म हो रहा है। कोई आदमी कर्म छोड़कर भाग नहीं सकता; क्योंकि भागना भी कर्म है। कहाँ जाइयेगा? जंगल में बैठ जायेंगे जाकर? बैठना भी कर्म है। आँख बंद कर लेंगे? आँख बंद करना भी कर्म है। कुछ भी करिये; जहाँ करना है, वहाँ कर्म है।

तो प्रतिपल न-मालूम कितने कर्म किये जा रहे हैं! उनकी छाया, उनकी स्मृति, उनकी रेखा, उनका संस्कार, भीतर छूटता जा रहा है। जो भी आप कर रहे हैं, वह आपके होने पर इकट्ठा होता जा रहा है। जैसे कि रिकॉर्ड पर ग्रूव बन जाते हैं, फिर ग्रामोफोन की सुई लगा के चलायें, तो जो-जो भर गया है रिकॉर्ड की रेखाओं में, वह पुनर्जीवित होकर प्रकट होने लगता है। ठीक आपका मन, आपके सब कर्मों की संगृहीत संहिता है; सब इकट्ठा है। जो-जो आपने किया है, उस सबकी आपके ऊपर रेखाएँ खिंच गयी हैं। और ये रेखाएँ अनन्त जन्मों की हैं। ये भार बड़ा है। और

आप करीब-करीब उसी-उसी को फिर-फिर दोहराते रहते हैं। करीब-करीब आपकी हालत घिसे रिकॉर्ड-जैसी है: कि सुई फँस गयी, चलाये जा रहे हैं! वही लकीर दोहर रही है बार-बार!

क्या कर रहे हैं आप? कल भी वही किया, आज भी वही किया, परसों भी वही किया था, कल भी वही करियेगा। वही क्रोध, वही लोभ, वही मोह, वही काम, वही सब-का-सब--घिसे रिकॉर्ड! फँस गई सुई, निकल नहीं पाती गड्ढे से, वही आवाज बार-बार दिये जाती है!

इसलिए तो जिंदगी में इतनी ऊब है, इतनी बोरडम है।...होगी ही; क्योंकि नया कुछ होता नहीं। सुई आगे बढ़ती ही नहीं। लौटकर देखें आपकी तीस-चालीस साल की जिंदगी! क्या किया है आपने? एक ही रिकॉर्ड बजा रहे हैं!

वही रोज दोहरता जाता है, पुनुरुक्त होता चला जाता है। इसी को भारत के मनीषियों ने 'आवागमन' कहा है। वही फिर,...फिर वही। इस जन्म में वही, अगले जन्म में वही, उसके अगले जन्म में वही, अतीत की कथा वही, भविष्य की कथा वही, वही कामवासना है, वही प्रेम, वही क्रोध, वही घृणा, वही मित्रता, वही शत्रुता, वही धन का कमाना, वही मकान बनाना, और फिर सब करके एक दिन पाना कि हवा का झोंका आया, और वह जो ताश का महल बनाया था, गिर गया!

मगर जैसे बच्चे तत्काल फिर से पत्तों को इकट्ठा करके मकान बनाने लगते हैं, वैसे ही हम फिर तत्काल नया जन्म लेकर फिर पत्तों का मकान बनाने में लग जाते हैं। अब की दफे और मजबूत बनाने की कोशिश करते हैं। मगर मकान वही है, ढाँचा वही है, मन वही है। फिर हम वही कर लेते हैं और फिर उसी तरह अस्त होते रहते हैं।

यह सूरज ही नहीं हैं जो रोज साँझ डूब के सुबह फिर ऊग आता है। आप भी ऐसे ही डूबते, ऊगते रहते हैं। एक वर्तुलाकार है, एक व्हील। 'संसार' शब्द का अर्थ होता है चाक, व्हील—जो घूमता रहता है, एक ही धुरी पर।

यह जो अनन्त-अनन्त कर्म इकट्ठे कर लिये जाते हैं, इस समाधि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। यह थोड़ा समझने-जैसा है। क्योंकि, अनेक लोग सोचते हैं कि अगर कर्म बुरे इकट्ठे हो गये हैं तो अच्छे कर्म करके उनको नष्ट कर दें, वे गलती में हैं। बुरे कर्मों को अच्छे कर्म करके नष्ट नहीं किया जा सकता। बुरे कर्म बने रहेंगे और अच्छे कर्म और इकट्ठे हो जायेंगे--बस इतना ही होगा। वे काटते नहीं हैं एक-दूसरे को। काटने का कोई उपाय नहीं है।

एक आदमी ने चोरी की, फिर वह पछताया और साधु हो गया। तो साधु

होने से वह चोरी का कर्म और उसके जो संस्कार उसके भीतर पड़े थे, वे कटते नहीं हैं। कटने का कोई उपाय नहीं है। साधु होने का अलग कर्म बनता है, अलग रेखा बनती है। चोर की रेखा पर से साधु की रेखा गुजरती ही नहीं। चोर से साधु का क्या लेना-देना!

आप चोर थे, आपने एक तरह की रेखाएँ खींची थीं; आप साधु हुए, ये रेखायें उसी स्थान पर नहीं खिंचती हैं जहाँ चोर की रेखायें खिंची थीं, क्योंकि साधु होना --मन के दूसरे कोने से होता है; चोर होना—मन के दूसरे कोने से होता है।

तो होता क्या है?

आपके चोर होने की रेखा पर, साधु होने की रेखाएँ और आच्छादित हो जाती हैं, कुछ कटता नहीं है। फिर चोर के ऊपर साधु सवार हो जाता है, बस। उसका मतलब--चोर-साधु; ऐसा आदमी पैदा होता है।

साधुता चोरी को नहीं काट सकती। चोर तो बना ही रहता है भीतर। इम्पोजीशन हो जाता है। एक और सवारी उसके ऊपर हो गई।

तो चोर भी ठीक था एक लिहाज से, और साधु भी ठीक था एक लिहाज से। यह जो चोर और साधु की खिचड़ी निर्मित होती है, यह भारी उपद्रव है। यह एक सतत आंतरिक कलह है। क्योंकि वह चोर अपनी कोशिश जारी रखता है, और यह साधु अपनी कोशिश जारी रखता है। और हम इस तरह न-मालूम कितने-कितने रूप अपने भीतर इकट्ठे कर लेते हैं, जो एक-दूसरे को काटते नहीं, जो पृथक ही निर्मित होते हैं। इसलिए यह सूत्र कहता है कि समाधि के द्वारा वे सब कट जाते हैं।

कर्म से कर्म नहीं कटता, अकर्म से कर्म कटता है। इसको ठीक-से समझ लें: कर्म से कर्म नहीं कटता, कर्म से कर्म और भी सघन हो जाता है; अकर्म से कर्म कटता है। और अकर्म समाधि में उपलब्ध होता है, जब कि कर्त्ता रह ही नहीं जाता।

जब हम उस चेतना की स्थिति में पहुँचते हैं—जहाँ सिर्फ होना ही है; जहाँ करना बिलकुल नहीं है; जहाँ करने की कोई लहर भी नहीं उठी है कभी; जहाँ मात्र-होना, अस्तित्व ही रहा है सदा; जहाँ बीइंग है, डूइंग नहीं—उस होने के क्षण में अचानक हमें पता चलता है कि कर्म जो हमने किये थे, वे हमने किये ही नहीं थे। कुछ कर्म थे जो शरीर ने किये थे--शरीर जाने; कुछ कर्म थे जो मन ने किये थे --मन जाने; और हमने कोई कर्म किये ही नहीं थे।

इस बोध के साथ ही समस्त कर्मों का जाल कट जाता है। आत्मभाव, समस्त कर्मों का कट जाना है। आत्मभाव के खो जाने से ही वहम होता है कि मैंने किया।

एक आदमी चोरी कर रहा है। या तो शरीर करवाता है, या मन करवाता है। कुछ लोगों के शरीर इस हालत में हो जाते हैं कि चोरी करनी पड़ती है। एक

भूखा आदमी है, शरीर चोरी करवा देता है। आत्मा कभी कोई चोरी नहीं करती। भूख है, पीड़ा है, परेशानी है; बच्चा मर रहा है और दवा नहीं है; और एक आदमी चोरी कर लेता है। यह शरीर के कारण हुई चोरी है।

अभी तक हम फर्क नहीं कर पाये, शरीर के चोर और मन के चोरों में। क्योंकि शरीर का चोर अपराधी नहीं है। शरीर के चोर का मतलब है कि समाज अपराधी है। मन का चोर अपराधी है। मन का चोर अलग चीज है। कोई जरूरत नहीं है, घर में तिजोरी भरी है; लेकिन एक पैसा सड़क पर पड़ा हुआ मिला जाये, तो उठा-कर जेब में रख लेता है।

यह जो आदमी है, यह मन का चोर है। मतलब इनकी कोई शारीरिक,... शरीर इनसे नहीं कह रहा है चोरी करो;--इनका लोभ! इस एक पैसे से इनका कुछ बढ़ेगा भी नहीं, लेकिन, फिर भी, कुछ तो बढ़ेगा ही। एक पैसा भी बढ़ेगा। करोड़ों रुपये हों, और एक पैसे को भी उठाने की नियत बनी रहे, यह है असली अपराधी। लेकिन यह पकड़ में नहीं आता। पकड़ में वह शरीर का अपराधी आ जाता है। यह है असली अपराधी, क्योंकि कोई कारण नहीं है--शरीर के तल पर भी--कि यह चोरी करे; लेकिन यह चोरी कर रहा है। चोरी करना इसकी आदत है। चोरी में इसका रस है।

मनोविज्ञान एक बीमारी की बात करता है--'क्लेप्टोमेनिया'। एक बीमारी होती है मन की, अधिक लोग उसके बीमार हैं। कुछ लोगों को मनोविज्ञान पकड़ता है, जो बहुत ज्यादा बीमार हो जाते हैं। मैं एक प्रोफेसर को जानता रहा हूँ। पैसे वाले थे। सुविधा-सम्पन्न थे। सब कुछ था। एक ही लड़का था, वह लड़का क्लेप्टो-मेनियाँक था। उसको चोरी की बीमारी थी। तो वह कुछ भी चुरा लेता था। इससे कोई संबंध ही नहीं था कि वह क्या है? आपके घर में गया, एक बटन टूटी पड़ी है, फौरन वह खीसे में कर लेगा! उसका कोई उपयोग नहीं है। एक सुई मिल जाये पड़ी, वह मार लेगा! किताब देख रहा है आपकी, एक पन्ना ही फाड़कर खींसे में रख लेगा!

उन्होंने मुझे कहा कि क्या करना इसका? और कोई ऐसी भी चोरी करके नहीं लाता है कि लगे कि भई कोई चोरी कर रहा है! कुछ भी ले आता है! और लड़का एम० ए० में पढ़ता था। होशियार लड़का था। मैं उस लड़के से थोड़ा संबंध बनाया। तो उसने मुझे ले जाकर अपनी अलमारी दिखायी। उस अलमारी में उसने जो-जो चीजें कभी चुराई, सब रखी हुई हैं। उन पर साथ-साथ चिट्ठियाँ लगी हुई थीं: कि किसको धोखा दिया, किसके घर से मार के लाये। इस बात का अभी तक पता नहीं चल सका किसी को। वह इसका रस ले रहा था। बटन उठा लाया आपके घर की, उस पर लिखा हुआ था, कागज पर, कि यह फलाँ आदमी के घर से बटन लाया हूँ।

और वह आदमी सामने ही बैठा था, लेकिन अन्दाज भी नहीं हुआ, कि ले गया।

अब यह रस और तरह का है, इसका शरीर से कोई लेना-देना नहीं है। या तो शरीर की चोरी है या मन की चोरी है, आत्मा की कोई चोरी नहीं है। तो जिस दिन आप आत्मा में प्रवेश करते हैं, उसी दिन अचानक आप पाते हैं कि वह चोरी तो मैंने कभी की ही नहीं, वह कर्म मैंने किये नहीं; मैं उन कर्मों में केवल मौजूद था। यह सच है कि मेरे बिना वे कर्म नहीं हो सकते थे। यह भी सच है कि मैंने वे कर्म नहीं किये थे।

विज्ञान एक शब्द का प्रयोग करता है, वह कीमती है। विज्ञान में एक शब्द प्रयोग किया जाता है, कैटेलेटिक एजेंट। अगर आप पानी को तोड़ें, तो उसमें से 'उद्जन' और 'ऑक्सीजन' मिलती है, और कुछ नहीं मिलता। 'एच०टू०ओ०' उसका फार्मूला है। दो परमाणु उद्जन के, एक ऑक्सीजन का; उनसे मिलकर पानी बनता है। तो आप दो अनुपात में उद्जन और एक अनुपात में ऑक्सीजन मिलाकर पानी बनाना चाहें, तो भी बनेगा नहीं।

यह बड़े मजे की बात है, अगर पानी को तोड़ें तो दो अनुपात उद्जन, एक अनुपात ऑक्सीजन मिलती है। स्वभावतः, अगर आप दो अनुपात उद्जन में और एक अनुपात ऑक्सीजन को मिलायें तो पानी बनना चाहिए, लेकिन पानी बनता नहीं। तो एक और चीज है जिसकी मौजूदगी की ज़रूरत पड़ती है। वह भीतर प्रवेश नहीं करती, लेकिन सिर्फ उसकी मौजूदगी में घटना घटती है। वह है बिजली। इस-लिए आकाश में जब बिजली चमकती है, वह कैटेलेटिक एजेंट है। उसकी वजह से पानी बनता है। जब बिजली चमकती है, उसकी मौजूदगी जरूरी है। वह कुछ करती नहीं, वह पानी में प्रवेश नहीं होती।

हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को आप रख दें, और बीच में बिजली कौंधा दें, पानी बन जायेगा। फिर पानी को तोड़ें, तो बिजली नहीं निकलेगी, सिर्फ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन निकलेगी। उसका मतलब यह हुआ कि बिजली भीतर प्रवेश नहीं करती, पानी के निर्माण में। लेकिन पानी निर्मित नहीं हो सकता बिजली की बिना मौजूदगी के। इस खास घटना को विज्ञान कहता है 'कैटेलेटिक एजेन्ट'। ऐसी उपस्थिति जिसके बिना घटना नहीं घटेगी, फिर भी वह वस्तु घटना में भीतर प्रवेश नहीं करती।

तो आप चोरी नहीं कर सकते हैं बिना आत्मा के। आत्मा कैटेलेटिक एजेन्ट है। वह, उसकी मौजूदगी जरूरी है। शरीर अकेला,...लाश कहीं कोई चोरी करने नहीं जाती। लाश के खींसे में भी पैसा रख दें, तो भी हम उसको चोरी नहीं कहेंगे। लाश का चोरी से क्या संबंध, क्योंकि लाश है; कर्म ही नहीं कर सकती।

अकेला मन भी चोरी करने नहीं जाता। अकेला मन कितना ही सोचे, चोरी नहीं कर सकता। और अगर भीतर आत्मा न हो तो सोच भी नहीं सकता। आत्मा की मौजूदगी ज़रूरी है, तब चोरी घटती है। लेकिन, फिर भी जिस दिन आदमी आत्मा में पहुँचता है, उस दिन पाता है कि मौजूदगी में घटी थी; लेकिन आत्मा चोरी में प्रवेश नहीं थी; आत्मा सिर्फ मौजूद थी। उसकी मौजूदगी इतनी शक्तिशाली है कि घटनाएँ घटनी शुरू हो जाती हैं।

एक चुम्बक पड़ा है, लोहे के टुकडे खिंच रहे हैं। आप शायद सोचते होंगे चुम्बक खींच रहा है! तो आप गलती में हैं। चुम्बक का होना ही काफी है। चुम्बक को खींचना नहीं पड़ता, खींचने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता; कोई अस्थि, माँसपेशियाँ सिकोड़नी नहीं पड़तीं, कि खींचो। चुम्बक को कुछ पता ही नहीं चलता। चुम्बक का होना ही,...लोहे के टुकड़े खिंचना शुरू हो जाते हैं।

आत्मा की मौजूदगी...और कर्म शुरू हो जाते हैं; शरीर सक्रिय हो जाता है, मन सक्रिय हो जाता है, कर्म की यात्रा शुरू हो जाती है। जिस दिन आप इस आत्मा में पुनः प्रवेश करते हैं, समाधि में, उस दिन सारे कर्म से छुटकारा हो जाता है। इसलिए नहीं कि उन्होंने आपको बाँधा था--बल्कि, इसलिए कि उन्होंने कभी बाँधा ही नहीं था। और आप अपने तक कभी पहुँचे नहीं थे कि समझ पाते कि मैं अनबंधा हूँ।

यह जो उपनिषद् की दृष्टि है, एक अर्थ में बड़ी नीति विरुद्ध है। और इसलिए उपनिषदों का बड़ा विरोध भीतर गहरे मन में रहा है। जो भी नीतिवादी है, वह कहेगा कि बुरे कर्म को अच्छे कर्म से काटो; अच्छे कर्म करो, बुरे कर्म मत करो। उपनिषद् कहते हैं, कर्म करते हो, यही बुरा है। अच्छा करते हो कि बुरा करते हो, यह तो गौण बात है। कर्म करने का तुम्हें खयाल है, तुम कर्ता हो; बस यही बुराई है।

तो बुराई दो तरह की है: बुरी बुराई, अच्छी बुराई; बाकी दोनों की बुराई हैं। क्योंकि तुम कर्म करते हो, यही भ्रांति है। तुम सिर्फ मौजूद हो और कर्म हो रहा है। तुम्हारी मौजूदगी में कर्म हो रहा है। तुम सिर्फ साक्षी हो, कर्ता नहीं हो।

जिस दिन इस मौजूदगी को तुम इसकी मौजूदगी में ही समझ लोगे--कर्ता की तरह नहीं, साक्षी की तरह--उसी दिन ही पाओगे कि जो भी हुआ, वह मेरे आसपास हुआ; जो भी हुआ, मैंने नहीं किया, मेरे आस-पास हुआ; वह घटना घटी थी, मेरे पास-पास घटी थी, लेकिन मैं फिर भी अछूता और दूर रह गया था।

रात जैसे आप स्वप्न देखते हैं और सुबह जागकर कहते हैं, 'स्वप्न घटा' और आप अछूते रह जाते हैं। स्वप्न में हो सकता है चोरी की हो; और स्वप्न में यह

भी हो सकता है कि जेलखाने में चले गये हों; स्वप्न में यह भी हो सकता है रिश्वत देकर बच गये हों, जेलखाने न गये हों। स्वप्न में कुछ भी हो सकता है, लेकिन सुबह जब आप जागते हैं, तो स्वप्न ऐसे ही तिरोहित हो जाता है, जैसे हुआ ही न हो। सुबह उठकर आप अपने चोर का अनुभव नहीं करते। लेकिन क्या कभी अपने ख्याल किया, आपके बिना स्वप्न हो सकता था? आप थे तो ही स्वप्न हो सका। आप न होते तो मुर्दे को, लाश को सपना नहीं आता। आप थे तो स्वप्न घटा। आपकी मौजूदगी ज़रूरी थी। फिर भी सुबह उठकर आप ऐसा अनुभव नहीं करते कि अब क्या करें? रात चोरी कर ली! ...व्रत करें, उपवास करें? कोई दान, त्याग करें?... क्या करें? कुछ भी अनुभव नहीं करते। जागने के बाद दो मिनट से ज्यादा स्वप्न याद भी नहीं रहता; खो जाता है, धुएँ की रेखा की तरह।

ठीक समाधि की स्थिति में पूरा जीवन स्वप्नवत् मालूम होता है। जो-जो जिया--एक जीवन में नहीं, अनन्त जीवन में जो-जो जिया—समाधि की अवस्था में पहुँचते ही जैसे आप सुबह नींद से जागने में पहुँचते हैं, ऐसे ही इस तथाकथित जागने से जब आप समाधि में पहुँचते हैं, तब पीछे का सारा-का-सारा वर्तुल, सब धुंआ, स्वप्न हो जाता है।

समाधि में पहुँचा हुआ, पहली दफा जानता है, कि मैं सिर्फ हूँ; कर्म मेरे पास घटे हैं स्वप्न-जैसे। और उनकी जरा भी चिन्ता और पश्चाताप नहीं रह जाता? न उनकी कोई आत्मप्रशंसा और आत्मस्तुति रह जाती है कि मैंने कैसे बड़े-बड़े कर्म किये, कि मैंने कैसे छोटे-छोटे कर्म किये! नहीं, वह सब खो जाता है।

रात सपने में आप सम्राट थे, कि रात सपने में आप एक परम संन्यासी थे, कि रात सपने में चोर-हत्यारे थे, सुबह चाय पीते वक्त स्वाद में तीनों बातों से कोई फर्क नहीं पड़ता; तीनों व्यर्थ हो जाते हैं। सुबह ऐसा नहीं कि सम्राट रहे रात तो बड़ी अकड़ से चाय पी रहे हैं! सपने के ही सपने...! कि रात चोर रहे, बेईमान रहे, हत्या की, तो चाय में बिलकुल स्वाद नहीं आ रहा है, बड़ा अपराधी मन है, तिक्त-तिक्त मालूम हो रही है! कि रात साधु रहे तो कैसे चाय पियें, ऐसा भी सुबह नहीं होता। रातभर साधु रहे, और सुबह से चाय पी रहे हैं, कैसा जघन्य कृत्य! नहीं, सुबह आप जब चाय पीते हैं, तब सपने खो जाते हैं।

सुना है मैंने, बड़ा फकीर था जापान में, रिंझाई। एक सुबह उठा और अपने एक शिष्य से--जैसा ही वह उठा उसका शिष्य पास खड़ा था—उससे उसने कहा कि रात मैंने एक सपना देखा है, तुम व्याख्या करोगे, तो मैं सपना बोलूँ। उसके शिष्य ने कहा, दो मिनट रुकें, जरा मैं हाथ-मुँह धोने के लिए आपके लिए पानी ले आऊँ।

वह हाथ-मुंह धोने के लिए पानी ले आया।

रिंझाई ने हाथ-मुंह धो लिया, मुस्कराया। तब तक एक दूसरा शिष्य आ गया। रिंझाई ने कहा कि मैंने रात एक सपना देखा, मैं इस नम्बर एक के शिष्य को कहने जा रहा था...कि बताऊँ तुझे सपना...तू व्याख्या करेगा? लेकिन मेरे बताये इसने व्याख्या कर दी...तुझे बताऊँ? उसने कहा, रुकें! जरा एक गरम चाय की प्याली ले आऊँ, फिर हो जाये।

चाय की प्याली पीकर रिंझाई हँसा और कहा कि मैं खुश हूँ, अब कोई सपना बताने कि जरूरत नहीं है। तीसरा एक व्यक्ति मौजूद सब यह देख रहा था। नासमझी की हद हो गयी! उसने कहा कि सीमा की भी कोई बातें होती हैं! वह सपना बताया ही नहीं गया है; व्याख्याएँ भी हो चुकी हैं, और सब हल भी हो गया है! उसने कहा कि महाराज, कम-से-कम सपने का तो पता चल जाये...सपना क्या था?

रिंझाई ने कहा कि इनकी परीक्षा कर रहा था। अगर ये आज सपने की व्याख्या करने की तैयारी दिखाते, तो इन्हें मैं बाहर कर देता आश्रम के। सपने की कोई व्याख्या करनी होती है! सपना ही था, बात खतम हो गयी। इसने ठीक किया, इसने कहा कि अभी भी कुछ सपने की मदहोशी बाकी है, जरा हाथ-मुँह धो लो। इस दूसरे ने भी ठीक ही किया कि मालूम होता है हाथ-मुँह धोने से भी काम नहीं हुआ है, सपना अभी भी कुछ धूमिल-धूमिल सरक रहा है, जरा गर्म-गर्म चाय पी लो, फिर। जरा जाग जाओ, यही सपने की व्याख्या है। सपने की और कोई व्याख्या हो सकती है? जाग जाओ, सपना व्यर्थ हो जाता है...व्याख्या क्या करनी है? व्यर्थ की तो कोई व्याख्या नहीं करता।

समाधि में जिनको हमने बड़े-बड़े कर्म, छोटे कर्म, अच्छे कर्म, बुरे कर्म--कितने-कितने बाँटे थे, विभाजन किये थे--नीति और अनीति, सदाचार और अनाचार--सब-के-सब बेमानी हो जाते हैं, व्यर्थ हो जाते हैं। जागकर समाधि में पता चलता है कि एक बड़ा स्वप्न था--लम्बा, अनन्तकालीन, अनादि--लेकिन स्वप्न था, और मैं सिर्फ मौजूद था; मैं प्रविष्ट नहीं हुआ था, बाहर ही खड़ा था।

इसलिए सब कट जाता है कर्म, और धर्म का उदय होता है। जब कर्म कट जाता है--जो हम करते थे, वह कट जाता है, तब हमें पता चलता है--जो हम हैं; जो हमारा होना है, स्वभाव है।

स्वभाव है धर्म।

"उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्म-मेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्म-रूप हजारों धाराओं की वर्षा करती है।"

'धर्म-मेघ' बड़ा प्यारा शब्द है। मेघ तो हमने देखे हैं। आषाढ़ आता है और मेघ घिर जाते हैं आकाश में। लेकिन पूरी घटना का हमें ख्याल नहीं है। वे जो आकाश में मेघ घिर जाते हैं--आषाढ़ में, और मोर नाचने लगते हैं, और जमीन में जगह-जगह दरारें बन जाती हैं; ओंठ खोल देती है अपने; अपने हृदय तक पानी की बूंदों को पी जाने के लिए अपने द्वार तोड़ देती है, सब तरफ से... और प्यासी धरती बहुत दिन से प्रतीक्षा में थी, प्यासे वृक्ष तड़फ रहे थे—मछलियों की तरह--जैसे रेत में किसी ने उनको फेंक दिया हो, फिर घिरते हैं बादल, और फिर काले मेघों की छाया में वर्षा शुरू हो जाती है, और एक नृत्य सारी प्रकृति पर... और एक गीत सारी प्रकृति पर छा जाता है।

धर्म-मेघ ऐसी ही आषाढ़ की भीतर घटी घटना है। ऐसी—कि जन्मों-जन्मों से प्राण प्यासे थे, दरारें पड़ गयीं थीं, कोई प्यास बुझानेवाला पानी न मिला था। पीते थे पानी, उससे प्यास केवल बढ़ती थी, बुझती नहीं थीं। बहुत पानी पिये, और बहुत घाटों की यात्रा की, और न-मालूम क्या-क्या खोजा और पकड़ा, लेकिन सब बार आशा निराशा हुई, हाथ कुछ लगा नहीं। वो धरती पूरे प्राणों की फटी-प्यासी, अभीप्सा से भरी, समाधि के क्षण में, पहली दफा उसके ऊपर मेघ घिरते हैं, समाधि के क्षण में पहली दफा आषाढ़ आता है, भीतर...और अमृत की एक वर्षा। एक सिर्फ प्रतीक है। अमृत की एक वर्षा भीतर होने लगती है। आत्मा नहा जाती है, और अनन्त-अनन्त धाराओं में उन मेघों से अमृत गिरने लगता है।

यह सिर्फ प्रतीक है। घटना इससे बहुत बड़ी है। न तो अमृत कहने से कुछ पता चलता है उसके बाबत, लेकिन, फिर भी, थोड़ी-सी सूचना मिलती है, कि मेघ घिर गये ऊपर, और उनसे वर्षा होने लगी, और जो प्यासी थी आत्मा जन्मों-जन्मों से वह तृप्त हो गयी।

"उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्म-मेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्म-रूप हजार धाराओं की वर्षा करती है।"

लेकिन 'धर्म-मेघ' क्यों कहते हैं?

क्योंकि स्वभाव की वर्षा पहली दफा स्वयं पर होती है। धर्म यानी स्वभाव। अब तक जो भी जाना, परभाव था। कभी सौंदर्य दिखा, तो किसी और में; कभी प्रेम पाया, तो किसी और से; सुख मिला, दुख मिला, सदा किसी और से; सब जानकारी किसी और की थी, अपना कोई अनुभव न था;--कोई और, कोई और, कोई और--हमेशा दि अदर, वह दूसरा ही महत्त्वपूर्ण था। पहली दफा दूसरा हट गया और स्वयं की ही वर्षा स्वयं पर होने लगी। जैसे अपना भी झरना टूटा, जैसे अपनी

ही धारा फूटी, जैसे अपने ही स्रोत को पा लिया, और अपने पर ही अपनी वर्षा होने लगी।

धर्म-मेघ का अर्थ है, स्वभाव बरसने लगा। खुद उसमें नहा गये, डूब गये, ताजे हो गये, नये हो गये। सारे कर्म, सारे कर्मों की धूल, अनन्त-अनन्त यात्राओं का उपद्रव, सारा कचरा जो ऊपर इकट्ठा हो गया था, सब बह गया। रह गयी सहजता, स्पॉन्टेनिटि; रह गये स्वयं, और कुछ भी न बचा।

एक लिहाज से इसे हम कह सकते हैं 'परम-धन्यता'। एक लिहाज से हम कह सकते हैं, यही है 'परम-सम्पदा'। और एक लिहाज से कह सकते हैं, यही है 'परम-दरिद्रता'।

अगर संसार को सोचें, तो यह आदमी संसार से बिलकुल दरिद्र हो गया। अगर परमात्मा को सोचें, तो यह आदमी 'परम-धन' को पा गया। जीसस ने इसी धर्म-मेघ समाधि के लिए कहा है, 'पावर्टी ऑफ स्पिरिट'। जब कोई इस जगह पहुँचता है तो सब भांति दरिद्र हो जाता है। उसके पास कुछ भी नहीं है अब सिवाय अपने के; सिवाय स्वयं के और कुछ भी न बचा। इसको ही कहेंगे दरिद्रता।

इसी वजह बुद्ध ने अपने संन्यासियों को 'स्वामी' नहीं कहा, 'भिक्षु' कहा। यह धर्म-मेघ समाधि की वजह से। बुद्ध ने कहा कि मैं नहीं कहूँगा अपने स्वामियों को... अपने संन्यासियों को स्वामी, मैं कहूँगा भिक्षु। पर दोनों बातें एक ही अर्थ रखती हैं। अगर संसार की तरफ से देखें तो हो गये भिखारी, भिक्षु, और अगर परमात्मा की तरफ से देखें तो हो गये स्वामी, सम्राट।

हिन्दू उपयोग कर रहे थे स्वामी का, उस दूसरी तरफ से, कि समाधि पाकर आदमी हो जाता है सम्राट, मालिक—पहली दफा। अब तक भिखारी था। अब तक माँगता फिर रहा था; हाथ जोड़े था, भिक्षापात्र फैलाये था। अब तक उसकी आत्मा सिवाय भिक्षापात्र के और कुछ भी न थी। उसमें जो भी टुकड़े कोई फेंक देता था, वही उसकी सम्पदा थी। झूठे, उधार, बासे, दूसरों की टेबल से गिरे हुए टुकड़े, वह सब इकट्ठे कर लेता था। इसी को मानता था कि मेरी सम्पदा है। अब तक भिखारी था।

इसलिए हिन्दुओं ने इस धर्म-मेघ समाधि को उपलब्ध करनेवाले संन्यासी को कहा 'स्वामी'। लेकिन बुद्ध ने कहा, कि जो भी था अब तक—सारा संसार, साम्राज्य, धन—सब छूट गया; कुछ भी न बचा पराया, खुद ही बचे। दीनता आखिरी आ गयी।

जब आप अकेले ही हों, और कुछ भी न हो—कपड़ा-लता भी नहीं, मकान भी अपना नहीं, जमीन भी अपनी नहीं, कुछ भी अपना नहीं, सिर्फ खुद ही बचे। इससे ज्यादा दरिद्र ...

भिखारी के पास भी खुद से कुछ ज्यादा होता है। थोड़ा होता होगा, लेकिन होता है; खुद से कुछ ज्यादा। एक लंगोटी सही, लेकिन वह भी सम्पदा होती है।

एक भिखारी भी इतना भिखारी नहीं है कि अकेला ही हो, कुछ भी न हो। बुद्ध ने अपने भिक्षु को कहा, कि संसार इस तरह छूट जाये तुमसे, कि कुछ भी न बचे, संसार की रेखा भी न बचे; तुम बिलकुल भिखारी हो जाओ संसार की दृष्टि में। पर ये दोनों बातें एक हैं।

संसार की तरफ से जो हो जाये भिखारी, आत्मा की तरफ से हो जाता है स्वामी; आत्मा की तरफ से जो हो जाये स्वामी, संसार की तरफ से हो जाता है भिखारी। इसलिए भिक्षु को हमने इतना आदर दिया जितना हमने किसी स्वामी को कभी नहीं दिया। हमने भिक्षु को उस सिंहासन पर बिठा दिया जहाँ हमने किसी सम्राट को कभी नहीं बिठाया।

भिक्षु आदृत हो गया शब्द। कभी-कभी भाषा में भी...

अब भिक्षु शब्द का मतलब तो भिखारी होता है। और किसी को भिखारी कह दो, झगड़ा हो जाये। लेकिन बुद्ध ने अपने परम धन्य शिष्यों को भिक्षु कहा। और जिसको भिक्षु कह दिया, वह धन्यभागी हो गया।

कभी-कभी भाषा में ऐसे लोग बड़ी अड़चनें डाल जाते हैं। बुद्ध-जैसे लोग, भाषा को अस्त-व्यस्त कर जाते हैं। भिखारी का मतलब साफ था। खराब कर दिया। नया ही अर्थ दे दिया। भिक्षु हो गया सम्राट। सम्राट भिक्षु के पैरों में गिरे, तो यह भिक्षु की परम-गरिमा हो गयी।

धर्म-मेघ समाधि एक तरफ से बना देगी भिखारी, एक तरफ से बना देगी सम्राट।

"...इस समाधि द्वारा वासनाओं का समूह पूर्णतः लय को प्राप्त होता है और पुण्य-पाप नाम के कर्मों का समूह जड़ से उखड़ जाता है।"

ध्यान रखना, पुण्य-पाप दोनों। यही उपनिषद् की चिंतना की गहराई है। पुण्य-पाप, दोनों का समूह। वह जो अच्छा किया था—वह भी, जो बुरा किया था—वह भी, दोनों का समूह जड़ से कट जाता है।

यह मत सोचना कि परमात्मा के पास जब पहुँचेंगे, तो अपने पुण्य का बैंक-बैलेंस साथ लिये रहेंगे; कि धर्मशाला बनवायी थी एक, क्या हिसाब रखा उसका? कि एक मंदिर बनवा दिया था! कि इतने ब्राह्मणों को भोजन करवा दिया था! उसका हिसाब अगर लेकर पहुँच गये, तो दरवाजे पर भला स्वर्ग लिखा हो, भीतर नर्क ही पायेंगे; कोई स्वर्ग मिलनेवाला नहीं है।

पाप और पुण्य इस जगत् की भाषा में ऊँच-नीच हैं। पाप बुरा है, पुण्य अच्छा है। समाज की दृष्टि से ठीक है, लेकिन उस परम दृष्टि में पाप-पुण्य दोनों ही व्यर्थ हैं; क्योंकि वहाँ कर्ता होना पाप है, अकर्ता होना पुण्य है। वहाँ तो सीधी बात है एक, कि वहाँ जो अकर्ता है, निरहंकारी है, वही प्रवेश कर पायेगा। वहाँ तो वही प्रवेश कर पायेगा जो है ही नहीं; जो मिट गया और शून्य होकर जा रहा है।

अगर थोड़े से भी आप हैं, तो रास्ता बहुत संकरा है, आप प्रवेश न कर पायेंगे।

जीसस का वचन है, उसका आध्यात्मिक अर्थ कभी भी नहीं किया गया। असल में पश्चिम के पास आध्यात्मिक अर्थों की खोज करने की क्षमता ही नहीं है। इसलिए जो भी अर्थ होता है, वह सांसारिक हो जाता है। जीसस का वचन है:

"सुई के छेद से ऊँट निकल जाये, लेकिन धनी आदमी मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश न कर पायेगा।"

लेकिन पूरी ईसाइयत के दो हज़ार साल, और एक बार भी किसी ने इस वाक्य की ठीक व्याख्या नहीं की। दो हज़ार साल लम्बा वक्त है। सारी व्याख्या यह हुई कि धनी आदमी स्वर्ग नहीं जा सकता। ऊँट के निकल जाने की संभावना है सुई के छेद से, जो कि नहीं हो सकता। सुई के छेद से ऊँट कैसे निकलेगा? जो नहीं निकल सकता, वह भी जीसस कहते हैं हो सकता है निकल जाये; कोई तरकीब खोज ले, कोई रास्ता बन जाये, कि सुई के छेद से ऊँट निकल जाये, लेकिन धनी आदमी स्वर्ग के द्वार में प्रवेश नहीं पा सकेगा।

इसका सीधा-सीधा अर्थ जो हो सकता था, वह ईसाइयत ने लिया। वह इसका अर्थ नहीं है। धनी आदमी से अर्थ है उस आदमी का, जिसे थोड़ा भी लगता है कि मेरे पास कुछ है। जिसे लगता है कि मेरे पास कुछ है, वह धनी आदमी है। जिसको ख्याल है कि मेरे पास कुछ है, वह धनी आदमी है। तो अगर किसी को लगता है कि मैंने पुण्य कमाया है, यह धनी आदमी है। किसी को लगता है मैं साधु था, संयमी था, तपस्वी था, यह धनी आदमी है।

धनी आदमी का मतलब हुआ कि जो कहता है मेरे अलावा भी मेरे पास कुछ है; वह धनी आदमी है। अगर वह कहता है मैंने इतनी प्रार्थनाएँ की, इतने उपवास किये, इतने दिन धूप में खड़ा रहा; पैर पर ही खड़ा रहता था, बैठता भी नहीं था वर्षों तक; मैंने दरिद्रों को इतनी सेवा की, इतने अस्पतालों में गया--ये किया, वो किया--अगर इसके पास कुछ भी कहने को है, कि मेरे पास इतना है, तो यह आदमी धनी आदमी है।

अब सूत्र को फिर सुन लें:

"ऊँट गुजर जाये सुई के छेद से, लेकिन धनी आदमी मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकेगा।"

निर्धन कौन है?

ईश्वर के सामने खड़ा होकर जिसके पास कहने को कुछ भी नहीं है कि मेरे पास कुछ है। मेरे पास ध्यान है, कि मेरे पास पुण्य है, कि मेरे पास धर्म है; जो ईश्वर के सामने खड़ा हो जाता है शून्यवत्, और कहता है मेरे पास कुछ भी नहीं है, अकेला मैं हूँ--या जो कुछ भी हूँ, जो तुमने ही मुझे दिया है, वही मैं हूँ, उसके अतिरिक्त मेरी कोई भी कमाई नहीं है; मेरा होना ही मेरा सब-कुछ है, मेरे पास कर्म का कोई भी लेखा-जोखा नहीं है--ऐसा शून्यवत् जो उस द्वार पर खड़ा होता है, वह है दरिद्र आदमी। वह है बुद्ध का भिक्षु, जीसस का दरिद्र आदमी। वही प्रवेश कर पाता है।

तो दरिद्रता का ठीक अर्थ हुआ, कि जो बिलकुल शून्य है। जो शून्य है, वही प्रवेश कर पाता है। और इसीलिए ऊँट की बात कही। सुई का छेद बहुत छोटा है; इससे ऊँट के निकलने का कोई उपाय नहीं है। मोक्ष का द्वार सुई के छेद से भी बहुत छोटा है; उसमें से सिर्फ शून्य ही निकल सकता है। अगर ज़रा-सा भी पदार्थ आपके पास है, ज़रा-सा भी मैं...अटक जायेगा। ऊँट लेकर जा रहे हैं आप, सुई के छेद में से निकलने। ऊँट छोड़ दें।

लेकिन सवारियाँ छोड़नी बड़ी मुश्किल होती हैं, क्योंकि सवारियाँ पर हम ऊँचे मालूम पड़ते हैं। ऊँट इसीलिए जीसस को ख्याल में आ गया होगा। जो भी अहंकार पर बैठे हैं, ऊँट पर बैठे हैं। और जानते हैं कि ऊँट की सवारी कैसी दुखद है। ऊँट की सवारी है अहंकार की सवारी; काफी धक्के खाने पड़ते हैं; ऊँचा-नीचा होता रहता है पूरे वक्त। लेकिन, फिर भी ऊँचे तो मालूम पड़ते हैं!

ऊँट से नीचे उतरना पड़े। जो भी आपके पास है, वह कर्म से मिला है;—जो भी। कर्म से जो भी मिला है, उसकी सीमा मन है। आत्मा तक कर्म से मिला हुआ कुछ भी नहीं पहुँचता।

"समस्त समूह वासना का हो जाता है नष्ट, पुण्य-पाप नाम के कर्म जड़ से उखड़ जाते हैं, तब यह 'तत्त्वमसि' वाक्य परोक्ष ज्ञानरूप में प्रकाशित होता है।"

तब पहली दफा अनुभव होता है कि क्या यह ऋषि-जन, 'तत्त्वमसि'--वह तू ही है, दैट आर्ट दाऊ; यह क्या है। इसका पहली दफा परोक्ष अनुभव होता है।...परोक्ष! अभी भी यह साफ-साफ दिखायी नहीं पड़ता। अभी भी लगता है, यह धर्म-स्पर्श होता है, अनुमान होता है; अभी भी सीधा साक्षात्कार नहीं होता। यह धर्म-

मेघ की जब वर्षा हो जाती है ऊपर, जब चित्त बिलकुल शून्य हो जाता है और दरिद्रता परम हो जाती है, और आदमी भीतर एक शून्य हो जाता है, तब पहली दफा, इस 'तत्त्वमसि,' महावाक्य का, कि तू ब्रह्म ही है, परोक्ष अनुभव होता है।

गजब के लोग हैं, उपनिषद् के ऋषि। अभी वे कहते हैं, अभी भी सीधा साक्षात्कार नहीं होता। अभी ऐसा होता है कि जैसे हम आंख बन्द किये बैठे हों और किसी के पैरों की ध्वनि सुनायी पड़े...और हमें लगे कि कोई आया है; यह परोक्ष है। दिखायी न पड़ता हो, अंधेरा हो...और किसी के गीत की कड़ी गूंज जाये...और हमें लगे कि कोई गाता है--दिखायी न पड़े--तो परोक्ष।

परोक्ष का मतलब है: अभी ठीक आमना-सामना नहीं हुआ, अभी पास ही कहीं प्रतीति हो रही है। धर्म-मेघ की वर्षा के बाद जो पहली घटना होती है, वह है 'तत्त्वमसि' वाक्य की परोक्ष प्रतीति--कि ठीक कहा है ऋषियों ने, कि ठीक कहा है उपनिषद् ने। वह जो वचन सुना था; वह जो श्रवण में सुना था, मौन में सोचा था, निदिध्यासन में साधा था, समाधि में एकता पायी थी, अब धर्म-मेघ की वर्षा पर पता लगता है--ठीक ही कहा था।

ठीक ही कहा था, यह परोक्ष है; किसी ने कहा था। आज पता चलता है, उसका स्वाद आता है, लगता है--ठीक ही कहा था।

"परोक्ष ज्ञानरूप में प्रकाशित होता है, और फिर...

जब यह परोक्ष ज्ञान थिर हो जाता है, और इसमें किसी तरह की कहीं कोई जरा-सी भी लहर नहीं रह जाती विपरीत की; बिलकुल निसंदिग्ध ठहर जाता है, आस्था बन जाती है, तब...

...फिर हाथ में रखे आँवले की तरह अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है।"

और जब यह परोक्ष ज्ञान बिलकुल थिर हो जाता है, प्राणों की पूरी शक्ति कहती है, अनुभव करती है, कि ठीक कहा था ऋषियों ने 'तत्त्वमसि'--वह तू ही है। जब इसमें कहीं की कोई लहर भी इसके विपरीत नहीं रह जाती; जब पूरा-पूरा यह असंदिग्ध मालूम होने लगता है, लेकिन परोक्ष, तब जैसे हाथ में कोई फल को रख दे आँवले के, ऐसा यह 'तत्त्वमसि' वाक्य प्रत्यक्ष हो जाता है; अपरोक्ष हो जाता है। तब फिर ऐसा व्यक्ति यह नहीं कहता कि ऋषियों ने जो कहा, ठीक। ऐसा व्यक्ति तब कहता है, अब मैं कहता हूँ 'तत्त्वमसि'।

परोक्ष ज्ञान में यह आदमी कहता है कि ऋषियों ने कहा है, इसलिए मैं कहता हूँ कि ठीक है; प्रत्यक्ष ज्ञान में यह आदमी कहेगा, मैं कहता हूँ यह ठीक है, इसलिए ऋषियों ने भी ठीक ही कहा होगा। इस फर्क को ठीक-से ख्याल में ले लें।

परोक्ष ज्ञान में प्रमाण था--वेद, ऋषि, शास्त्र। उससे ही, श्रवण से शुरू की थी यात्रा। गुरु ने कहा था, इसलिए ठीक ही कहा होगा, इस आस्था से खोज चली थी। परोक्ष था तब तक जब तक गुरु ने कहा है, ठीक ही कहा होगा। और जो गुरु को जानता है, वह निश्चित ही स्वीकार कर लेता है कि ठीक ही कहा होगा।

बुद्ध के पास कोई रहा हो, और बुद्ध कहें 'तत्त्वमसि'। जिसने बुद्ध को जाना है, वह सोच भी नहीं सकता, उसे कुछ भी पता नहीं है कि यह वाक्य ठीक है या नहीं, लेकिन बुद्ध को जानता है। इसलिए बुद्ध जो कहते हैं, वह प्रमाण हो जाता है। बुद्ध से कुछ अप्रमाण निकल सकता है, इसकी कोई बात ही नहीं बनती, इसका कोई ख्याल ही नहीं आता।

जो गुरु के पास रहा है, गुरु को जाना है, गुरु का वचन उसे प्रमाण है। लेकिन गुरु का वचन ही प्रमाण है। यह परोक्ष है। दूसरे के द्वारा आया है। पहली प्रतीति तो यही होगी, जब बुद्ध का साधक पहुँचेगा समाधि में, तो हाथ जोड़कर बुद्ध के चरणों में सिर झुकायेगा--कहेगा: ठीक कहा था, वह जाना। लेकिन जब यह प्रतीति और गहरी होगी...और डूबेगा...और डूबेगा, स्थिति बिलकुल बदल जायेगी। तब वह कहेगा कि 'मैं जानता हूँ'। और जब मैं कहता हूँ, चूंकि मेरा अनुभव है कि ठीक है, इसलिए गुरु ने जो कहा था, वह ठीक है।

अब प्रमाण बन जाता है व्यक्ति स्वयं, और व्यक्ति बन जाता है शास्त्र। ऐसे व्यक्तियों को हमने बुद्ध, तीर्थंकर, अवतार कहा है। जो व्यक्ति स्वयं प्रमाण है। जो यह नहीं कहते कि ऐसा वेद में लिखा है, इसलिए सही है; जो कहते हैं ऐसा मैंने जाना, इसलिए सही है। और अगर वेद भी ऐसा कहते हों, तो मेरे जानने के कारण, वेद भी सही; और अगर ऐसा न कहते हों, तो वेद गलत। अगर ऐसा न कहते हों तो वेद गलत। अब कसौटी अपना ही अनुभव है। अब अपना ही निकस उपलब्ध हो गया है।

यह सिद्धावस्था है।

समाधि जब परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष ज्ञान में प्रवेश करती है, तो सिद्धावस्था हो जाती है। ऐसी अवस्था को पाया हुआ व्यक्ति ही अगर लौटे, समाधि, निदिध्यासन, मनन, प्रवचन तक, तो हमें खबर मिलती है उस जगत् की। इसलिए अगर हमने शास्त्रों को इतना आदर दिया है, उसका कारण यही है कि वे उन लोगों के वचन हैं, जिनके पास रहनेवाले लोगों ने उनके वचन सुने थे और पाया था कि यह जो आदमी कहता है, गलत कह ही नहीं सकता। फिर भी ऐसे लोग कहते नहीं कि हम जो कहें, मान लो।

बुद्ध कहते हैं--सोचना, विचारना, मनन करना, निदिध्यासन करना, साधना,

और फिर तुम्हें अनुभव में आये तो ही मानना। बुद्ध कहते हैं, मैं कहता हूं इसलिए मत मानना; बुद्ध कहते हैं इसलिए मत मानना; शास्त्र कहते हैं इसलिए मत मानना;--खोजना। और जब स्वयं का अनुभव बन जाये, तो गवाह बन जाना।

समाधि को उपलब्ध व्यक्ति साक्षी हो जाता है समस्त शास्त्रों का। ज्ञाता नहीं, साक्षी। पंडित ज्ञाता होता है, समाधिस्थ साक्षी होता है। पंडित कहता है कि शास्त्र ठीक कहते हैं, क्योंकि तर्क में जंचती है बात। समाधिस्थ कहता है शास्त्र ठीक कहते हैं, क्योंकि मेरा भी अनुभव यही है।

बारहवाँ प्रवचन

१९ अक्तूबर, १९७२, प्रातः

वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदाऽवधिः।
अहंभावावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः।।४१।।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा।
स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते।।४२।।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रयः।
ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।४३।।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते।
सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।।४४।।
देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते।।४४।।

भोगने लायक पदार्थं के ऊपर वासना जाग्रत् न हो, तब वैराग्य की अवधि जान लेनी और अहं-भाव का उदय न हो तब ज्ञान की परम अवधि समझना।

इसी प्रकार लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों, वह उपरति की अवधि है। ऐसा स्थितप्रज्ञ यति सदा आनन्द को पाता है।

जिसका मन ब्रह्म में ही लीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय रहता है। ब्रह्म और आत्मा (जीव) शोधा हुआ और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्प-रहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है तब प्रज्ञा कहलाती है। यह प्रज्ञा जिसमें सर्वदा होती है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

देह तथा इन्द्रियों पर जिसको अहं-भाव न हो, और इनके सिवाय अन्य पदार्थों पर 'यह मेरा है', ऐसा भाव जिसको न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
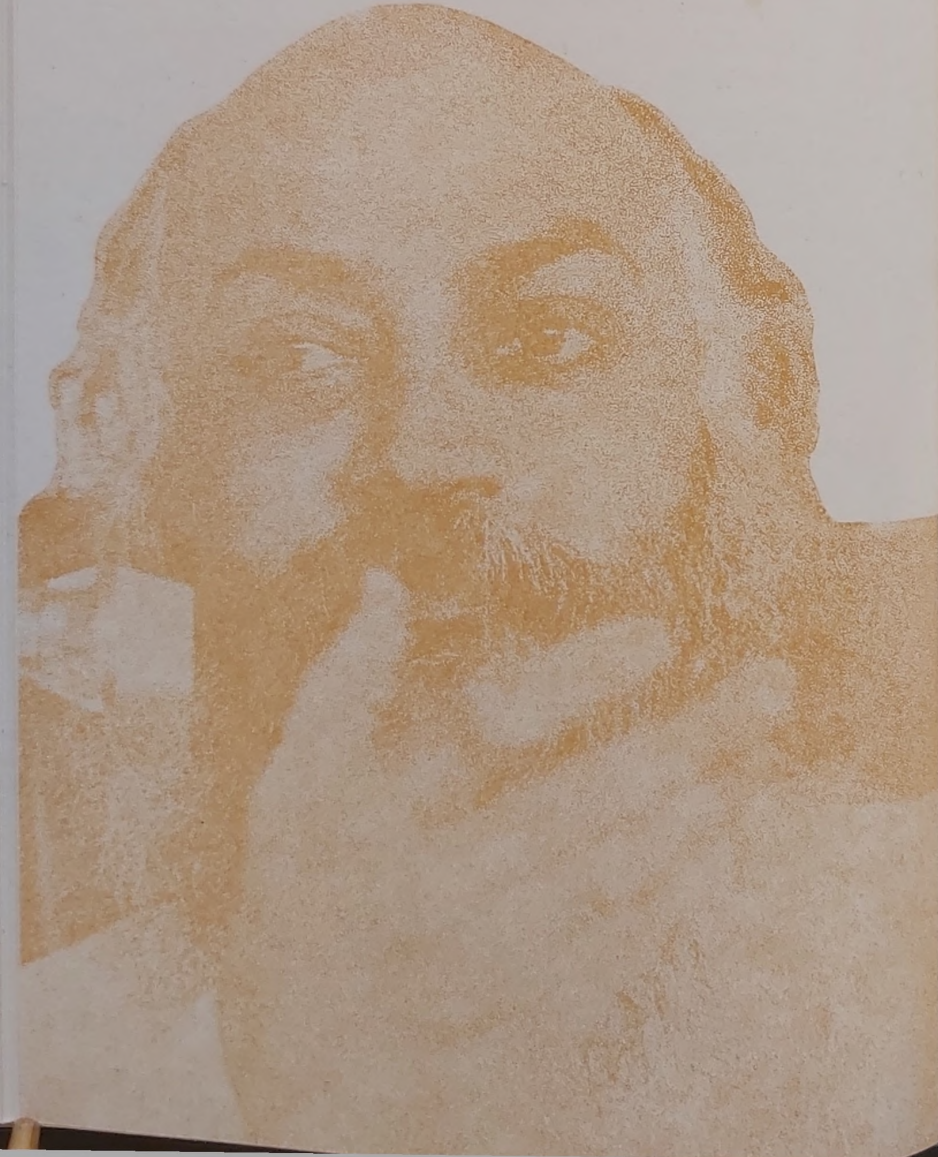
"भोगने लायक पदार्थ पर वासना जाग्रत् न हो, तब समझना वैराग्य की अवधि, और अहं-भाव का उदय न हो, तब समझना ज्ञान की परम अवस्था।"

वैराग्य से साधारणतः लोग समझते हैं, 'विराग'। राग है, उसके विपरीत विराग है। राग का अर्थ है, वस्तुओं को देखकर माँगने की आकाँक्षा का जगना। सौंदर्य दिखायी पड़े, स्वादिष्ट वस्तु दिखायी पड़े, सुखद परिस्थिति दिखायी पड़े, उसे भोग लेने का, उसमें डूबने का, लीन होने का जो मन पैदा होता है, वह है राग।

राग का अर्थ है जुड़ जाने की इच्छा; अपने को खोकर किसी वस्तु में डूब जाने की इच्छा। अपने से बाहर कोई सुख दिखायी पड़े, तो अपने को सुख में डुबा देने की आकाँक्षा राग है।

विराग का अर्थ है, कोई वस्तु दिखायी पड़े भोगने-योग्य, तो उससे विकर्षण का पैदा हो जाना; उससे दूर हटने का मन पैदा हो जाना; उसकी तरफ पीठ कर लेने की इच्छा हो जाये।

आकर्षण है राग, विकर्षण है विराग; —भाषा की दृष्टि से। जिसकी तरफ जाने का मन हो, वह है राग...और जिससे दूर हटने का मन हो, वह है विराग। विराग का अर्थ हुआ विपरीत राग। एक में खिंचते हैं पास, दूसरे में हटते हैं दूर। विराग, राग से पूरी तरह मुक्ति नहीं है; उलटा राग है। कोई धन की तरफ पागल है; धन मिल जाये तो सोचता है सब मिल गया। कोई सोचता है धन छोड़ दूँ तो सब मिल गया! लेकिन दोनों की दृष्टि धन पर है। कोई सोचता है—पुरुष में सुख है, स्त्री में सुख है; कोई सोचता है स्त्री-पुरुष के त्याग में सुख है। बाकी दोनों का केन्द्र स्त्री या पुरुष का होना है। कोई सोचता है संसार ही स्वर्ग है, और कोई सोचता है संसार नर्क है, लेकिन दोनों का ध्यान संसार पर है।

भाषा की दृष्टि से विराग राग का उलटा रूप है, लेकिन अध्यात्म के खोजी के लिए वैराग्य राग का उलटा रूप नहीं है, राग का अभाव है।

इस फर्क को ठीक-से समझ लें।

शब्द-कोश में देखेंगे तो राग का उलटा विराग है, अनुभव में उतरेंगे तो राग का उलटा विराग नहीं है, राग का अभाव, एब्सेन्स—विराग है।

फर्क थोड़ा बारीक है।

स्त्री के प्रति आकर्षण है, यह राग हुआ। स्त्री के प्रति विकर्षण पैदा हो जाये, कि स्त्री को पास सहना मुश्किल हो जाये, स्त्री से दूर भागने की वृत्ति पैदा हो जाये, स्त्री से दूर-दूर रहने का मन होने लगे, यह हुआ विराग—भाषा, शब्द, शास्त्र के हिसाब से। अनुभव, समाधि के हिसाब से यह भी राग है।

समाधि के हिसाब से विराग तब है, जब स्त्री में न आकर्षण हो, न विकर्षण हो; न खिंचाव हो और न विपरीत। स्त्री का होना और न होना बराबर हो जाये, पुरुष का होना, न होना बराबर हो जाये, गरीबी और समृद्धि बराबर हो जाये; चुनाव न रहे, अपना कोई आग्रह न रहे कि यह मिलेगा तो स्वर्ग, यह छूटेगा तो स्वर्ग; बाहर के मिलने और छूटने से कोई संबंध ही न रह जाये सुख का, सुख अपना ही हो जाये; बाहर कोई मिले, न मिले—ये दोनों बातें गौण, ये दोनों बातें व्यर्थ हो जायें—तब वैराग्य।

वैराग्य का अर्थ यह हुआ, कि हमारी दृष्टि ही 'पर' पर जानी बंद हो जायेः न अनुकूल, न प्रतिकूल; न आकर्षण में, न विकर्षण में। दूसरे से पूरा छुटकारा वैराग्य है।

दूसरे से दो तरह के बंधन हो सकते हैं: मित्र मिलता है तो सुख होता है, शत्रु मिलता है तो दुःख होता है; शत्रु जब छूट जाता है तो सुख होता है, मित्र छूट जाता है तो दुःख होता है।

बुद्ध ने कहा है,...बड़ा गहरा मजाक किया है।

...बुद्ध ने कहा है कि शत्रु भी सुख देते हैं, मित्र भी दुःख देते हैं। मित्र जब छूटते हैं तब दुःख देते हैं, शत्रु जब मिलते हैं तब दुःख देते हैं।

फर्क क्या है...?

...लेकिन शत्रु से भी हमारा लगाव रहता है; मित्र से भी लगाव रहता है। शत्रु मर जाये आपका, तो भी आपके भीतर कुछ टूट जाता है; खाली हो जाती है जगह। कई बार तो मित्र से भी ज्यादा खाली जगह हो जाती है शत्रु के मरने से, क्योंकि उससे भी एक राग था; —उलटा राग था; उसके होने से भी आप जुड़े थे।

मित्र से भी जुड़े हैं, शत्रु से भी जुड़े हैं। तो जिन चीजों से आपका विरोध हो गया है, उनसे भी सम्बन्ध है।

वैराग्य का अर्थ है सम्बन्ध ही न रहा, असंग हो गये, असम्बन्धित हो गये। तो वैराग्य की परम अवधि की परिभाषा की है इस सूत्र में कि 'भोगने-लायक पदार्थ के ऊपर वासना जाग्रत् न हो।'

भाषा में, शब्द में जो विराग का अर्थ है, उसका अर्थ है भोगने लायक पदार्थ को छोड़कर चले जाना। वैराग्य का अर्थ है भोगने लायक पदार्थ हों--मौजूद हों, निकट हों--तो भी उसके भोगने की आकाँक्षा न जगे; भोग भी रहे हों तो भी भोग की आकाँक्षा न जगे।

जनक रह रहे हैं अपने महल में, सब कुछ वहाँ है--भोगने-योग्य, लेकिन भोगने की वासना नहीं है। आप जंगल भाग जायें: कुछ भी नहीं है भोगने-योग्य वहाँ, लेकिन भोगने की वासना सपने बनेगी, वृत्तियाँ उठायेगी; मन दौड़-दौड़कर वहाँ जायेगा जहाँ भोगने-योग्य पदार्थ होंगे।

तो भोगने-योग्य पदार्थ की उपस्थिति या गैर-उपस्थिति का सवाल नहीं है, वासना का सवाल है। और यह बड़े मजे की बात है कि जहाँ पदार्थ न हों, वहाँ वासना ज्यादा प्रखर रूप से मालूम होती है; जहाँ पदार्थ हों वहाँ उतनी प्रखर मालूम नहीं पड़ती। अभाव में और भी ज्यादा खटक पैदा हो जाती है।

यह सूत्र कहता है कि जो आदमी सब छोड़कर चला आया हो, सब छोड़ दिया हो उसने, यह भी वैराग्य की परम अवधि नहीं है, यह भी वैराग्य का चरम रूप नहीं है; क्योंकि हो सकता है राग भीतर रहा हो;—यह भी हो सकता है कि छोड़कर भागना राग का ही एक अंग रहा हो।

तो परम परिभाषा क्या होगी?

सब भोगने-योग्य मौजूद हो और भीतर भोगने की वासना न हो।

कौन तय करेगा यह?

यह व्यक्ति को स्वयं ही निर्णय करना है। दूसरों के निर्णय की बात नहीं है, आप अपने निर्णायक हैं।

भीतर वासना न जगती हो, भोगने-योग्य पदार्थ मौजूद हो और भीतर कोई वासना न दौड़ती हो--पक्ष में या विपक्ष में; इधर या उधर मन भागता ही न हो; आप डांवाँडोल न होते हों; आप वैसे ही हों, जैसे बाहर कुछ भी नहीं है; पदार्थ हो बाहर, और भीतर प्रतिबिंब किसी तरह का रस या विरस पैदा न करता हो--तो वैराग्य की अवधि।

हमारे लिए अति कठिन मालूम पड़ेगा, क्योंकि हम सबने विराग का राग से विपरीत रूप समझ रखा है। एक आदमी अपने पत्नी-बच्चे, घर-परिवार को छोड़-कर भाग जाता है, हम कहते हैं विरागी है। लेकिन भागता है, उससे खबर देता है कि राग अभी जुड़ा था। कोई भागता है तो मकान से डर के नहीं भागता, अपने भीतर की वासना से ही डर कर भागता है। मकान क्या भगायेगा! और अगर मकान अभी भगा सकता है, तो अभी आप में स्थिति बनी नहीं है।

एक आदमी खोज रहा है मकान बड़े, और मकान उसे भगा रहा है, दौड़ा रहा है...और एक आदमी मकान से डर के जंगलों में भाग रहा है, मकान उसे भी दौड़ा रहा है। पीठ मकान की तरफ है, लेकिन जुड़ा मकान से ही है।

न, एक आदमी को वस्तुएँ भगाना बंद कर देती हैं, दौड़ाना बंद कर देती हैं। वस्तुओं की कोई भी चुनौती आदमी के ऊपर नहीं रह जाती। वह वस्तुओं की चुनौती ही स्वीकार नहीं करता। तब तो वैराग्य का अर्थ हुआ 'आत्मस्थिति'; अपने में ठहर गया जो।

हम में से कोई भी अपने में ठहरा हुआ नहीं है। पुरानी कहानियाँ हैं, बच्चों की कहानियों में अभी भी उस तरह की घटना घटती है, कि कोई राजा है, उसके प्राण किसी तोते में बंद हैं। राजा को मारो, मरेगा नहीं--जब तक कि तोते को न मार दो। तो प्राण तोते में छिपा रखे हैं। जब तक तोता बचा है, राजा बचा रहेगा। यह कहानी नहीं है सिर्फ, हम सबके भी प्राण कहीं और बंद हैं। आपकी तिजोड़ी में हो सकते है आपके प्राण बंद हो, तोते में न हों। तिजोड़ी चली जाये,...

...उन्नीस सौ तीस में, इक्कतीस में अमरीका में, वालस्ट्रीट के अमरीका के बड़े-बड़े करोड़पतियों में से कई ने आत्महत्या कर ली थी--एकदम से, क्योंकि अमरीका में ह्रास हुआ मुद्रा का। इतना तीव्रता से हुआ कि सटोरिये और बड़े करोड़-पति एकदम दीन-हीन हो गये। उनके बेंक-बैलेंस एकदम खाली हो गये। तो पचास मंजिल से, साठ मंजिल से कूदकर उन्होंने तत्काल आत्महत्या कर ली।

क्या हुआ इन व्यक्तियों को?

क्या घटना घटी कि अचानक इनको मरने के सिवाय कोई रास्ता न सूझा?

...इनके प्राण तिजोरियों में बंद थे; तिजोरी में प्राण थे। तिजोरी मर गयी, ये मर गये। यह जो कूदना था,...कुछ और नहीं हुआ था, दुनिया सब वैसी थी; लेकिन बैंक में कुछ आँकड़े खो गये।...आँकड़े! किसी के नाम पर दस के आँकड़े थे, वे दो के रह गये। जहाँ बड़ी लम्बी कतार थी आँकड़ों की वहाँ शून्य हो गया। यह सब बैंक में हुआ। यह सब कागज पर हुआ। पर इनके प्राण वहाँ बन्द थे। वही इनका प्राण था। इनको मार डालते, ये न मरते। तिजोरी खाली हो गयी, ये मर गये!

किसी का किसी से प्रेम है। प्रेमी मर जाये, प्राण निकल गये। हम सब अगर अपनी खोज करें तो हमारे प्राण कहीं-न-कहीं, किन्हीं-न-किन्हीं तोतों में बन्द हैं। जब तक आपके प्राण कहीं और बन्द हैं, तब तक आप आत्म-स्थित नहीं हैं। आपके प्राण वहाँ नहीं हैं जहाँ होने चाहिएँ। आपके भीतर होने चाहिएँ, वहाँ नहीं हैं, कहीं और हैं।

यह कहीं और होना बहुत तरह का हो सकता है।

एक आदमी सोचता है कि उसकी आत्मा उसका शरीर है, तो यह भी कहीं

और है। कल यह बूढ़ा होने लगेगा, तो पीड़ित होगा, दुखी होगा--क्योंकि शरीर दीन-हीन होने लगा, झुर्रियाँ पड़ने लगीं, कुरूप होने लगा--रुग्ण, जीर्ण; यह मरने के पहले मरा हुआ अनुभव करेगा; क्योंकि इसने जिस जवान शरीर में अपने प्राण रखे थे वह जा रहा है।

कहाँ आप अपने प्राण रख लिये हैं, इसमें भेद हो सकता है, लेकिन कहीं आपके प्राण हैं--बाहर, तो आप राग में जी रहे हैं। राग का मतलब है: आत्मा अपनी जगह नहीं, कहीं और है। फिर इसके उलटे भी आप भाग सकते हैं, लेकिन आत्मा कहीं और है।

आत्मा अपने भीतर है, मैं अपने में ठहरा हुआ हूँ, कोई चीज खींचती नहीं और मेरे भीतर किसी तरह की तरंगें पैदा नहीं करती, वैराग्य की यही परिभाषा है। इसलिए वैराग्य आनन्द का द्वार है। क्योंकि जो अपने में ठहर गया, उसे दुखी करने का कोई उपाय नहीं।

और ध्यान रहे, वे कहानियाँ बच्चों की ठीक कहती हैं। जो अपने में ठहर गया, जिसके प्राण अपने में आ गये, उसे मारने का भी कोई उपाय नहीं है। प्राण नहीं मरते कभी भी, तोते मर जाते हैं। जहाँ-जहाँ रखते हैं, वे चीजें खिसक जाती हैं, वे मर जाती हैं। इसलिए खुद आदमी अपने को मरा हुआ अनुभव करता है।

आत्मा तो अमृत है, लेकिन हम उसे मृत वस्तुओं के साथ जोड़ देते हैं। वे मृत वस्तुएँ आज नहीं कल, बिखरेंगी। वह उनका स्वभाव है। जब वे बिखरेंगी तब यह भ्रम पैदा होगा कि मैं भी मर गया। यह स्वयं का मर जाना एक भ्रम है--जो पैदा होता है, मरणधर्मा वस्तुओं से स्वयं को जोड़ लेने से।

वैराग्य का अर्थ है, जिसने सारे संबंध तोड़कर उसको जान लिया, जो सदा संबंधित होता रहा था।

> " भोगने लायक पदार्थ के ऊपर वासना जाग्रत् न हो...
> विपरीत वासना जाग्रत् हो? ...नहीं, वासना ही जाग्रत् न हो, किसी भी अर्थ की।
> ...तब वैराग्य की अवधि जान लेना।"

यह खुद के लिए सूत्र दिया जा रहा है। इससे दूसरे की जाँच करने मत जाना। हम सब बहुत होशियार हैं! हमें परिभाषाएँ मिल जायें तो हम दूसरे की जांच करने जाते हैं: कि अच्छा, तो फलाँ आदमी विरागी है या नहीं?

आपका कोई प्रयोजन नहीं है, दूसरे से आपका कोई लेना-देना नहीं है; राग में होगा तो दुख भोगेगा, विराग में होगा तो आनन्द भोगेगा; आपका कोई भी संबंध नहीं है।

लेकिन हम इतने कुशल हैं स्वयं के साथ धोखा करने में, कि अगर हमारे हाथ में कोई परिभाषा, कोई कसौटी लगे, तो हम दूसरों को कसने निकल जाते हैं, खुद को कसने की फिक्र नहीं करते।

अपने को कसना, यह सूत्र आपके लिए है। यह सूत्र किसी और पर चिन्तन करने के लिए नहीं है: महावीर विरागी हैं या नहीं? कि कृष्ण विरागी हैं या नहीं? होंगे या न होंगे, कुछ भी लेना-देना नहीं है। यह उनकी अपनी बात है। होंगे विरागी तो आनन्द पायेंगे, नहीं होंगे तो दुःख पायेंगे, आप कहीं बीच में आते नहीं।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कैसे पता चले कि कोई आदमी वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हो गया? ज़रूरत क्या है, कि कोई आदमी वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हो गया है, इसका आपको पता चले? आप हुए हैं कि नहीं, इतना पता चलता रहे, काफी है। दूसरा हो भी गया हो, तो उसके होने से आप नहीं हो जाते। दूसरा न भी हुआ हो, तो उसके न होने से आपको कोई बाधा नहीं पड़ती। लेकिन क्यों हम ऐसा सोचते हैं?

...उसके कारण हैं। हम पक्का कर लेना चाहते हैं कि कोई वैराग्य को उपलब्ध नहीं हुआ, उससे हमको राहत मिलती है; ...फिर कोई हर्ज नहीं; ...हम भी न हुए, कोई हर्ज नहीं; ...कोई उपलब्ध नहीं हुआ! इससे मन को सांत्वना मिलती है, इससे मन को आधार मिलता है कि हम जैसे हैं, ठीक है; क्योंकि कोई कभी उपलब्ध नहीं हुआ; ...हम भी नहीं हो रहे हैं!

इसीलिए हमारा मन कभी यह मानने का नहीं करता कि कोई वैराग्य को उपलब्ध हुआ है। हम खोजते हैं तरकीब कि पता चल जाये कि नहीं हुआ। अगर कोई वैराग्य को उपलब्ध हुआ है तो हमें अड़चन होती है भीतरी। वह अड़चन यह है कि कोई और हो गया उपलब्ध तो मैं भी हो सकता हूँ, लेकिन हो नहीं पा रहा। इससे ग्लानि पैदा होती है।

इसलिए दुनिया में कोई भी आदमी दूसरे का ठीक होना स्वीकार नहीं करता। दूसरे से कोई मतलब नहीं है। दूसरे का ठीक होना स्वीकार न करने से अपनी बुराई को स्वीकार करने में आसानी होती है। अगर सारी दुनिया चोर है, तो आपको चोर होने में कोई आत्मग्लानि नहीं होती। अगर सारी दुनिया बुरी है, तो आपका बुरा होना भी सहज मालूम पड़ता है। अगर सारी दुनिया भली है, तो फिर आपका बुरा होना, आपको काँटे की तरह गढ़ने लगता है। फिर एक आत्मदंश शुरू होता है; ग्लानि पैदा होती है, अपराध मालूम पड़ता है, और लगता है कि जो होना चाहिए वह नहीं हो पा रहा है। और आपके जीवन में बेचैनी पैदा होती है।

वह बेचैनी पैदा न हो, हम नींद में गहरे सोये रहें, इसलिए हम कभी दूसरे

में भला नहीं देखते। अगर कोई आकर कहे कि फलाँ आदमी वैराग्य को उपलब्ध हुआ, आप कहेंगे--नहीं, वैराग्य को उपलब्ध नहीं हुआ। आप पच्चीस आधार खोज लेंगे कि नहीं हुआ। यह हमारे मन के गहरे जाल का एक हिस्सा है। इसके प्रति सावधान होना ज़रूरी है। दूसरे से कोई प्रयोजन ही नहीं है।

एक मित्र तीन दिन से मेरे पास पहुँचते थे। समय ज़्यादा वे चाहते थे। कहते थे संन्यास तो मुझे लेना है, लेकिन संन्यास के पहले कोई दो-तीन ज़रूरी सवाल पूछने हैं। सोचा कि ज़रूरी सवाल होंगे। एक भी सवाल ज़रूरी नहीं था। सवाल दूसरों के सम्बन्ध में थे, उनके सम्बन्ध में न थे। संन्यास उन्हें लेना था, सवाल दूसरे के सम्बन्ध में थे: कि क्या कृष्ण वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हुए हैं? तो फिर जैनों ने उनको नर्क में क्यों डाला हुआ है?

जैनों ने कृष्ण को नर्क में डाला हुआ है अपने शास्त्रों में, क्योंकि जैनों की अपनी व्याख्या और परिभाषा है वैराग्य की; उसमें कृष्ण नहीं आते। छोड़कर जाना चाहिए सब, वह उनकी परिभाषा है। और कृष्ण तो कुछ छोड़कर गये नहीं! इसलिए अड़चन है।

कृष्ण की परिभाषा ही यही है कि अगर छोड़कर ही भागते हो, तो अभी वैरागी नहीं हुए। इसलिए हिन्दुओं ने अपने शास्त्रों में महावीर का उल्लेख भी नहीं किया है। कोई उल्लेख करने योग्य बात नहीं मानी। कम-से-कम जैनियों ने थोड़ा प्रेम दर्शाया है कृष्ण के प्रति; नर्क में डाला है! हिन्दुओं ने उल्लेख ही नहीं किया महावीर का। बात ही करने लायक नहीं समझी। नर्क में भी डाला, तो थोड़ी फिक्र तो ली है! वे कृष्ण को एकदम छोड़ नहीं सके, कुछ-न-कुछ वक्तव्य, कृष्ण के लिए कोई-न-कोई जगह बनानी पड़ी है। नर्क ही सही! लेकिन महावीर को हिन्दुओं ने नर्क में तक नहीं डाला! बात ही छोड़ दी। लेकिन अगर कृष्ण की परिभाषा को कोई पकड़ कर चले, तो अड़चन हो जाती है।

लेकिन, ध्यान रहे, सब परिभाषाएँ आपके लिए हैं, साधक के लिए हैं, ताकि वह अपने भीतर खोजबीन करता रहे। एक निकस हाथ में रहे, कसौटी, तौलता रहे! और हम सब होशियार हैं; उस कसौटी पर हम दूसरों को कसने जाते हैं! दूसरों से कोई लेना-देना नहीं है; कृष्ण नर्क में होंगे तो वे समझें, इससे किसी को क्या लेना-देना! आप कोई कृष्ण की जगह नर्क में पड़ने को तैयार हो नहीं सकते: कि हम जगह लिये लेते हैं आपकी, आप मोक्ष चले जाओ! और कृष्ण मोक्ष में होंगे तो आपका मोक्ष निर्मित नहीं होता है।

आपके अतिरिक्त आपकी सारी चिन्तना दूसरे के सम्बन्ध में व्यर्थ है।

एक दूसरे मित्र आये! ...पूछने कि अगर आपको और कृष्णमूर्ति को मिलने की

व्यवस्था की जाये, तो क्या आप मिलने को राजी हैं? अब यह मेरे और कृष्णमूर्ति के बीच की बात है! इसमें इन मित्र को क्या प्रयोजन हो सकता है? फिर उन्होंने पूछा हुआ था कि अगर आप दोनों का मिलना हो तो नमस्कार कौन पहले करेगा? अब यह भी मेरे और कृष्णमूर्ति के बीच का मामला है!

चित्त दूसरों के चिन्तन में लगा है। चित्त अपना चिन्तन कर ही नहीं रहा है। साधक को निर्णय कर लेना चाहिए कि ये सब व्यर्थ की चिंतनाएँ हैं। मेरे अतिरिक्त, और मेरे भीतरी विकास के अतिरिक्त, सब बातें साधक के लिए नहीं हैं। व्यर्थ हैं। उन जिज्ञासाओं में, कुतूहल में उलझना ही नहीं चाहिए। उससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। उससे कुछ आपके जीवन में होगा भी नहीं।

तो यह ध्यान रखें, ये परिभाषाएँ आपके लिए हैं। और अपने भीतर आप तौलते रहें, इसलिए उपनिषद् ने आपको मापदंड दिये; ताकि भीतर के अगम रास्ते पर आपकी कठिनाई न हो। अपने भीतर देखते रहना; जब तक वस्तुओं को देखकर वासना जगती हो, तब तक समझना कि वैराग्य उपलब्ध नहीं हुआ। और वैराग्य के सतत श्रम में लगना, उस श्रम की हम धीरे-धीरे बात कर रहे हैं।

"अहं-भाव का उदय न हो तब ज्ञान की परम अवधि समझना।"

बड़े अजीब लोग हैं उपनिषद् के ऋषि! वे यह नहीं कहते कि परमात्मा का दर्शन हो जाये तो ज्ञान की अवधि समझना। परमात्मा तक के दर्शन की बात को उन्होंने ज्ञान की अवधि नहीं कहा: कि आपके बिलकुल सब 'चक्र' खुल जायें,...और 'कुंडलिनी' जाग्रत् हो जाये,... और 'सहस्त्र-दल-कमल' खिल जायें,...तो ज्ञान की परम अवधि समझना;—नहीं,...कि आप सातों स्वर्ग चढ़ जायें--और न-मालूम कितने हिसाब जारी हैं! ...कि सारे चौदह खंडों की यात्रा पूरी हो जाये, ... और 'सच-खंड' में प्रवेश हो जाये। तो भी उपनिषद् कहते हैं कि इस सबसे कोई मतलब नहीं है; कसौटी की बात एक है कि 'अहं-भाव' का उदय न हो।

कुण्डलिनी से भी अहं-भाव का उदय होता है; साधक को लगता है कि हमारी कुण्डलिनी जाग्रत् हो गयी! अब हम कोई साधारण आदमी नहीं! किसी को लगता है कि हमारा आज्ञाचक्र जग गया, ज्योति के दर्शन होने लगे, हम कोई साधारण आदमी नहीं! किसी को लगता है कि हृदय में नीलमणि प्रगट हो गयी, नीली ज्योति दिखायी पड़ने लगी, अब हम मुक्त हो गये, अब हमारे लिए कोई संसार नहीं!

ध्यान रहे, जिस चीज़ से भी मैं निर्मित होता हो वह अज्ञान का ही हिस्सा है, चाहे नाम आप कुछ भी देते चले जायें। उपनिषद् कहते हैं, अहं-भाव जब तक पैदा हो—कारण कोई भी हो; जब तक ऐसा लगे कि मैं कुछ हो गया, तब तक

जानना कि अभी ज्ञान पका नहीं; अभी ज्ञान में फूल नहीं खिले; अभी ज्ञान का विस्फोट नहीं हुआ।

एक ही सूत्र दिया है कि अहं-भाव पैदा न हो।

तो यह भी हो सकता है कि दुकान पर बैठा हुआ आदमी——न जिसकी कुण्डलिनी जगी हो, और न जिसने नील-ज्योति देखी हो, और न सच-खंडों की यात्रा की हो——कुछ भी न किया हो, सीधा दुकान पर बैठकर अपना काम कर रहा हो, लेकिन अहं-भाव न जगता हो, तो वह भी ज्ञान की परम अवधि को पहुँच गया।

...और बड़ा योगी हो, और हिमालय के ऊँचे शिखर पर खड़ा हो; और जितना हिमालय का ऊँचा शिखर हो, उतना ही भीतर अहंकार का भी शिखर हो; ...और सोचता हो कि मैं पहुँच गया और कोई नहीं पहुँचा; ... सोचता हो मैंने पा लिया और किसी ने नहीं पाया—— तो समझना कि अभी ज्ञान की घटना नहीं घटी है।

एक ही कसौटी है: कि ऐसी घड़ी आ जाये भीतर, कि कोई भी चीज अहं-भाव को निर्मित न करती हो; कुछ भी होता रहे——खुद परमात्मा सामने आकर खड़ा हो जाये——तो भी यह भाव पैदा न हो कि 'अहोभाग्य मेरे, पा लिया परमात्मा को भी: यह परमात्मा सामने खड़े हैं, दर्शन हो रहा है।'

मैं की वृत्ति निर्मित न हो तो ज्ञान की परम अवधि समझना। इसको भी भीतर खोजते रहना, नहीं तो हर चीज से अकड़ आनी शुरू हो जाती है;—हर चीज से! मन बड़ा कुशल है, और हर चीज में से अहं-भाव को निकाल लेता है; इतना कुशल है कि विनम्रता तक में से अहं-भाव को निकाल लेता है! कि एक आदमी कहने लगता है कि मुझसे ज्यादा विनम्र और कोई भी नहीं!

मुझसे ज्यादा विनम्र और कोई भी नहीं! मगर वह 'मुझसे ज्यादा कोई भी नहीं'; वह कुछ भी हो——चाहे धन हो, चाहे यश हो, चाहे पद हो, चाहे ज्ञान हो, चाहे मुक्ति हो... चाहे विनम्रता हो—'मुझसे ज्यादा कोई भी नहीं'। वह जो 'मैं' है, निर्मित होता चला जाता है।

तो भीतर जाँचते रहना, खोजते रहना, नहीं तो आध्यात्मिक तलाश भी सांसारिक तलाश हो जाती है।

आध्यात्मिक और सांसारिक खोज में वस्तुओं का भेद नहीं है, आध्यात्मिक और सांसारिक खोज में अहंकार का भेद है। एक आदमी संसार में धन के ढेर लगा लेता है तो अहंकार मजबूत होता है। एक दूसरा आदमी सारे धन का त्याग कर देता है और त्याग से अहंकार को मजबूत कर लेता है। दोनों की यात्रा सांसारिक हैं। आध्यात्मिक यात्रा तो शुरू होती है अहंकार के विसर्जन से। एक ही त्याग है करने-

जैसा, और वह 'मैं' का त्याग है। बाकी सब त्याग फिजूल है, क्योंकि उन त्याग से भी मैं भर लेता है।

कल ही एक सज्जन मुझे मिलने आये थे। वे कहते हैं कि चौदह साल से मैंने अन्न नहीं लिया! और उनकी अकड़ देखने लायक थी। अन्न लेने से भी इतनी अकड़ पैदा नहीं होती, जितनी उनको अन्न न-लेने से पैदा हो गयी है! तो यह अन्न का न लेना तो जहर हो गया।

उनकी अकड़ ही और थी! चौदह साल से अन्न नहीं लिया, होने ही वाली है अकड़। अब किस पर कृपा की है आपने अन्न नहीं लिया तो? न लें! लेकिन इसको वे बताते फिर रहे हैं, कि चौदह साल से अन्न नहीं लिया! अब यही अहंकार बन रहा है। अन्न से भी अहंकार इतना नहीं भरता, यह 'न-अन्न' से भरा जा रहा है!

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि हम दूध ही ले रहे हैं वर्षों से! दूध उनके लिए जहर मालूम हो रहा है। वे जमीन पर नहीं चल रहे हैं, क्योंकि वे दूध ले रहे हैं।

...क्या फर्क कर रहे हैं आप?... कौन-सी बड़ी क्रान्ति हुई जा रही है कि दूध ले रहे हैं?

...मगर उसका कारण है: क्योंकि उन्हें लगता है वे कुछ विशेष कर रहे हैं, जो दूसरे नहीं कर रहे हैं।

बस, जहाँ विशेष का ख्याल आया, अहंकार निर्मित होना शुरू हो जाता है—फिर वह कोई भी विशेष हो। किसी भी कारण से आप विशिष्टता पैदा कर लें अपने लिए, तो अहंकार निर्मित होता है।

...तो साधक का क्या अर्थ हुआ?

साधक का अर्थ हुआ कि अपने भीतर से विशेषता पैदा करना बंद करता जाये; धीरे-धीरे ऐसा हो जाये कि 'नो बॅडी', कोई भी नहीं है। फिर धीरे-धीरे इतना सामान्य हो जाये भीतर, कि यह भाव ही पैदा न हो कि मैं भी कुछ हूँ; न-कुछ हो जाये।

जिस दिन साधक न-कुछ हो जाता है, ज्ञान की परम अवधि आ जाती है।

ज्ञान के संग्रह से नहीं, अहंकार के विसर्जन से।

जानकारी के संग्रह से नहीं, मैं की मृत्यु से।

"इसी प्रकार लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों, वह उपरति की अवधि है। ऐसा स्थितिप्रज्ञ यति सदा आनन्द को पाता है।"

'लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों।'

बहुत बार वृत्तियाँ लय हो जाती हैं; ...बहुत बार। लेकिन वह लय होना, वापिस-वापिस लौट आता है। एक दिन लगता है कि मन बिलकुल शान्त हो गया, दूसरे दिन फिर अशान्त हो जाता है। एक दिन लगता है बड़ा आनन्द है, दूसरे दिन फिर दुख में घिर जाते हैं।

मन के कुछ नियम हैं, वे समझने चाहिएँ। एक नियम तो मन का यह है कि वह सतत एक-जैसा कभी नहीं रहता, परिवर्तन उसका स्वभाव है। तो जो शांति मिले और खो जाये, समझना कि वह आध्यात्मिक शांति नहीं है, मन की ही शांति थी--एक बात। जो आनन्द मिले और खो जाये, समझना कि वह आध्यात्मिक आनन्द न था, मन का ही आनन्द था। जो भी बने और बिखर जाये, वह मन का है। जो आये और चला जाये वह मन का है। जो आये और फिर कभी न जाये; जो आये तो बस आ जाये, और जाने का कोई उपाय न रहे; आप चेष्टा भी करें और उसे हटा न पायें,...

--ख्याल रखें फर्क: मन में शान्ति आ जाये, तो आप लाख चेष्टा करें कि बनी रहे, बनी नहीं रहेगी--बदलेगी; और आत्मिक शान्ति जाये, तो आप लाख चेष्टा करें उसे नष्ट करने की, तो भी आप नष्ट नहीं कर सकते, वह बनी ही रहेगी।

मन में प्रयास से भी सातत्य नहीं रह सकता, और आत्मा में प्रयास से भी सातत्य तोड़ा नहीं जा सकता।

तो जो वृत्तियाँ उठनी बन्द हो जायें, तो...जल्दी मत करना। यह मत सोच लेना कि पहुँच गये। प्रतीक्षा करना कि वे दुबारा तो नहीं उठतीं। अगर दुबारा उठती हैं तो समझना कि क्रम अभी मन के तल पर ही चल रहा है। और मन की शान्ति का क्या मूल्य है? वह तो आयेगी और चली जायेगी...और फिर अशान्ति आ जायेगी।

मन में तो प्रतिपल विपरीत की तरफ गति होती रहती है। जब आप अशान्त होते हैं तो मन शान्ति की तरफ गति करता है, और जब शान्त होते हैं तो अशान्ति की तरफ गति करता है। मन द्वन्द्व है। इसलिए विपरीत हमेशा मौजूद रहेगा और गति करता रहेगा।

कैसे अनुभव करेंगे कि जो हो रहा है वह मन का है?

अगर मन शान्त हो, तो एक बुनियादी ख्याल रखना: जब मन शान्त हो--जब मन ही शान्त हो और भीतर के तल पर शान्ति न पहुँची हो--तो शान्त होते ही एक वासना पैदा हो जायेगी: कि यह शान्ति बनी रहे, मिट न जाये। अगर यह वासना पैदा हो तो समझना कि यह मन का मामला है; क्योंकि मिटने का डर मन में ही होता है। शान्ति आ जाये और यह डर न आये कि मिट तो नहीं जायेगी, तो समझना कि यह मन की नहीं है।

दूसरी बात: मन हर चीज से ऊब जाता है; --हर चीज़ से! दुःख से ही नहीं, सुख से भी ऊब जाता है। यह मन का दूसरा नियम है, कि मन किसी भी थिर चीज से ऊब जाता है। अगर आप दुःख में हैं तो दुःख से ऊबा रहता है और कहता है कि सुख चाहिए। और आपको पता नहीं है कि यह मन का नियम है कि सुख मिल जाये, तो सुख से ऊब जाता है। और तब भीतरी दुःख की माँग करने लगता है।

ऐसा मैं निरंतर, इतने लोगों पर प्रयोग चलते हैं तो देखता हूँ, कि उनको सुख भी ठहर जाये थोड़े दिन, तो वे बेचैन होने लगते हैं; अगर शान्ति भी थोड़े दिन ठहर जाये, तो वे बेचैन होने लगते हैं, क्योंकि उससे भी ऊब पैदा होती है।

मन हर चीज से ऊब जाता है। मन सदा नये की माँग करता रहता है। नये की माँग से ही सब उपद्रव पैदा होता है। मन के बाहर--आत्मिक तल पर--नये की कोई माँग नहीं है; पुराने की कोई ऊब नहीं है: जो है, उसमें इतनी लीनता है, कि उसके अतिरिक्त, किसी की कोई माँग नहीं है।

सूत्र कहता है कि लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों, तो 'उपरति' की अवधि है। तो समझना कि विश्राम मिला। वे फिर-फिर पैदा होती रहें, तो समझना कि सब मन का ही जाल है।

...क्यों, इसको सोच रखने की ज़रूरत क्यों है?

क्योंकि मन के साथ हमारा इतना गहरा सम्बन्ध है कि हम मन की ही शान्ति को अपनी शान्ति समझ लेते हैं। उससे बड़ा कष्ट होता है। क्योंकि वह खो जाती है।

...क्या करें हम?

साक्षी के सूत्र का प्रयोग करना उपयोगी है। तो मन के बाहर जाने का रस्ता बनता है और परम उपरति उपलब्ध होती है।

...करते क्या हैं हम?

जब मन अशान्त होता है तो हम उससे हटना चाहते हैं, और जब मन शान्त होता है तो हम उससे जुड़ना चाहते हैं; शान्ति को हम बचा रखना चाहते हैं, अशान्ति को हटाना चाहते हैं; जब मन दुःखी होता है, तो हम मन को फेंक देना चाहते हैं; ...कैसे छुटकारा हो जाये मन से? ...और जब मन सुखी होता है, तो हम उसका आलिंगन कर लेते हैं, उसको बचा लेना चाहते हैं।

तब तो आप मन से कभी न छूट पायेंगे; क्योंकि यह तो मन की व्यवस्था ही है कि दुख से छूटो, सुख को पकड़ो।

मन से छूटने का उपाय यह है कि जब सुख मन दे रहा हो, तब भी साक्षी बने रहना, उसको पकड़ना मत। जैसे आप यहाँ ध्यान कर रहे हैं, ध्यान में कभी अचानक शान्ति का झरना फूट पड़ेगा। तो उस वक्त उसको आलिंगन मत कर लेना,

खड़े देखते रहना दूर...कि शान्ति घट रही है, मैं साक्षी हूँ; सुख का झरना टूट पड़ेगा, भीतर रोएँ-रोएँ में सुख व्याप्त हो जायेगा किसी क्षण, तो उसको भी दूर खड़े होकर ही देखते रहना, उसको पकड़ मत लेना जोर से...कि ठीक आ गयी मुक्ति; उसको खड़े होकर साक्षी-भाव से देखते रहना...कि मन में सुख घट रहा है, पकड़ूँगा नहीं।

मजे की बात यह है कि जो सुख को नहीं पकड़ता, उसके दुःख समाप्त हो जाते हैं; जो शान्ति को नहीं पकड़ता, उसकी अशान्ति सदा के लिए मिट जाती है। शान्ति को पकड़ने में ही अशान्ति का बीजारोपण है, और सुख को पकड़ने में ही दुःख का जन्म। पकड़ना ही मत। पकड़ का नाम मन है। क्लिंगिंग, पकड़ का नाम मन है। कुछ न पकड़ना। खुली मुठ्ठी और आप मन के पार हट जायेंगे...और उसमें प्रवेश हो जायेगा, जहाँ से फिर वृत्तियाँ जन्म नहीं पाती; परम लय हो जाता है। उस परमलय को कहा है 'उपरति', विश्राम।

"ऐसा स्थितिप्रज्ञ यति सदा आनन्द को पाता है।"

'स्थितिप्रज्ञ' बड़ा मीठा शब्द है। अर्थ है उसका--जिसकी प्रज्ञा अपने में ठहर गयी; जिसका बाँध अपने में रुक गया; जिसकी चेतना स्वयं को छोड़कर कहीं भी नहीं जाती। ठहर गयी चेतना जिसकी, ऐसा यति, ऐसा साधक, ऐसा संन्यासी, सदा आनन्द को पाता रहता है।

मन के तल पर है सुख और दुःख—द्वन्द्व; शान्ति-अशान्ति--द्वन्द्व; अच्छा-बुरा--द्वन्द्व; जन्म-मृत्यु--द्वन्द्व; मन के पीछे हटते ही निर्द्वन्द्व आनन्द है।

आनन्द के विपरीत कोई शब्द नहीं है; वह द्वन्द्व के बाहर है। और जो द्वन्द्व के बाहर है, ऐसा यति सदा आनन्द को पाता रहता है।

हमारी बड़ी तकलीफ है! हमारी तकलीफ यह है कि आनन्द तो हम भी पाना चाहते हैं। और इस तरह की बातें सुनकर हमारा लोभ जगता है कि अगर आनन्द सदा मिले, तो फिर हम भी पाना चाहते हैं। कोई रास्ता बता दे, तो सदा आनन्द को हम भी पा लें। लेकिन ध्यान रखना, यह जो परिभाषा है, यह केवल स्थिति-सूचक है। अगर इससे वासना का जन्म होता है तो आप इस स्थिति को कभी न पायेंगे। इसका फर्क ठीक-से समझ लें।

एक मित्र मेरे पास आये: 'जल्दी से मुक्ति हो जाये; ध्यान लग जाये; समाधि आ जाये--जल्दी से!' तो मैंने उनको कहा कि जितनी जल्दी करियेगा, उतनी देर हो जायेगी। क्योंकि जल्दी करनेवाला मन शान्त हो नहीं सकता। जल्दी ही तो अशान्ति है। और हम सब अनुभव करते हैं कि कभी-कभी जल्दी में कैसी मुश्किल

हो जाती है। ट्रेन पकड़नी है और जल्दी में हैं। तो जो काम दो मिनट में हो सकता था वह पाँच मिनट लेता है! कोट के बटन उल्टे लग जाते हैं! फिर खोलो, फिर लगाओ। चश्मा हाथ में उठाते हैं, छूट जाता है, टूट जाता है! चाबी बन्द कर रहे हैं सूटकेस की, चाबी ताले में ही नहीं जाती!

...जल्दी! जल्दी में तो निरंतर ही देर हो जाती है। क्योंकि जल्दी का मतलब यह है कि चित्त बहुत अस्त-व्यस्त है, और भूल-चूक हो जायेगी। तो जब छोटी-छोटी चीजों में जल्दी देर करवा देती है, तो इस विराट् की यात्रा पर तो जल्दी बहुत देर करवा देगी।

उन मित्र से मैंने कहा कि जल्दी मत करो, नहीं तो देर हो जायेगी। यहाँ तो तैयारी रखो कि अनन्त काल में कभी भी हो जायेगा तो हम राजी हैं, कोई जल्दी नहीं' तो शायद जल्दी भी हो जाये। तो उन्होंने कहा 'ऐसा, अगर हम अनन्त काल के लिए तैयारी रखें, तो जल्दी हो जायेगी न?'

यहाँ मन दिक्कत देता है। वे तैयार हैं, इसके लिए भी! ...लेकिन जल्दी के लिए ही। यह भी उपयोग कर रहे हैं। अब इनको कैसे समझाया जाये? वे कहते हैं हम प्रतीक्षा करने को भी राजी हैं, मगर आप भरोसा दिलाते हैं कि इससे जल्दी हो जायेगी? तब यह प्रतीक्षा झूठी हो जायेगी। और जल्दी का क्या मतलब रहा?

प्रतीक्षा अगर आप अनन्त करेंगे, तो जल्दी परिणाम है; आप जल्दी की वासना नहीं बना सकते।

इस फर्क को समझ लें।

अगर आप प्रतीक्षा करने को तैयार हैं तो जल्दी होगी, लेकिन वह प्रतीक्षा करनेवाले चित्त का परिणाम है। अगर आप कहते हैं कि इसीलिए हम प्रतीक्षा करेंगे कि जल्दी हो जाये, तो आप प्रतीक्षा कर ही नहीं रहे, और जल्दी कभी नहीं होगी। जल्दी की वासना से प्रतीक्षा कैसे निकल सकती है?

यही तकलीफ रोज-रोज की है। हम सबको लगता है कि आनन्द तो हमें भी चाहिए। तो हम कैसे आनन्द को पा लें। कैसे आनन्द को पा लेने का जो विचार और वासना है, वही तो बाधा है आनन्द के लिए।

आनन्द परिणाम है। उसको आप वासना मत बनायें। वह घटेगा। आप मौन चुपचाप यात्रा करते जाना, वह घटेगा।

इसलिए बड़ी कठिनाई घटती है, और वह यह, कि इन सूत्रों को पढ़कर अनेक लोग वासनाग्रस्त हो जाते हैं;--आनन्द की। न-मालूम कितने लोग सदियों से इस तरह के सूत्रों को पढ़कर वासना से भर जाते हैं! और ये सूत्र जो हैं, वासनामुक्ति के लिए हैं। और नयी वासना पकड़ लेती है कि कैसे मिले आनन्द! कैसे हो जायें

स्थितिप्रज्ञ? कैसे आ जाये उपरति? कैसे आ जाये वैराग्य? इस वासना से भर जाते हैं। और तब वे दौड़ते रहते हैं जन्मों-जन्मों और कभी यह घटना नहीं घटती उनके जीवन में। तब उन्हें सन्देह होने लगता है कि कहीं ये सब बातें झूठी तो नहीं हैं, क्योंकि कहा तो था कि आनन्द आ जायेगा, वह अभी तक नहीं आया!

इस सन्दर्भ में आपको एक बात बता दूँ। रोज हम दुनिया को अधार्मिक होते हुए देखते हैं--रोज; लोग ज्यादा-से-ज्यादा अधार्मिक होते चले जाते हैं और उनकी निष्ठा धर्म पर कम होती चली जाती है। कारण आपको पता है? कारण इस सूत्र में है।

आप में से हर एक ने--आनन्द की, मोक्ष की, परमात्मा की कई जन्मों में वासना कर ली है--और आनन्द नहीं मिला, मोक्ष नहीं मिला, परमात्मा नहीं मिला। उसका जो परिणाम होना था, वह हो गया। वह परिणाम यह हुआ है कि अब आपको लगता है कि ये कोई मिलनेवाली चीजें ही नहीं हैं। आपकी वासना निष्फल चली गयी। इन सूत्रों पर से भरोसा उठ गया है।

दस हज़ार साल से ये सूत्र आदमी को पता हैं। इस दस हज़ार साल में सभी लोगों ने करीब-करीब—कोई बुद्ध के पास, कोई कृष्ण के पास, कोई क्राइस्ट के पास कोई मुहम्मद के पास--सभी लोगों ने करीब-करीब इस पृथ्वी पर, यह आनन्द की वासना कर ली, इसके लिए प्रयास कर लिये; कभी ध्यान किया, कभी योग किया, कभी तन्त्र साधा, कभी मन्त्र साधा; सब कर चुके हैं।

जब मैं लोगों को उनके भीतरी तल पर देखता हूँ, तो मुझे ऐसा आदमी अब तक नहीं मिला, जो किसी-न-किसी जन्म में कुछ न कर चुका हो। हर आदमी किसी-न-किसी जन्म में साधना के पथ पे चल चुका है--लेकिन, वासनाग्रस्त होकर। उस वासना के कारण ही साधना निष्फल चली गयी है--और भीतर गहरी चेतना में यह असफलता बैठ गयी है। उसका कारण है कि सारी दुनिया में अधर्म बढ़ता हुआ दिखायी पड़ता है। क्योंकि धर्म अधिक लोगों के लिए असफल हो गया है।

आपको याद भी नहीं है, लेकिन आप धर्म को असफल कर चुके हैं अपने भीतर। और कारण आप हैं। क्योंकि, आपने, जिसकी वासना नहीं की जा सकती, उसकी वासना करके भूल कर ली है। यह परिणाम है। और आप साधना से गुजरेंगे तो ये परिणाम घटते हैं। इनकी आपको चिन्ता नहीं करनी है, न इनका विचार करना है, और न इनकी आकांक्षा करनी है, और न जल्दी करनी है कि ये घट जाएँ। उस जल्दी से ही सब विपरीत हो जाता है।

दुनिया में अधर्म तब तक बढ़ता ही चला जायेगा, जब तक हम धर्म की भी वासना करते हैं। और, आप कोई नये नहीं हैं। इस ज़मीन पर कोई भी नया नहीं है।

सब इतने पुराने और प्राचीन हैं, जिसका हिसाब नहीं। और सब इतने-इतने रास्तों पर, इतने-इतने मार्गों पर चल चुके हैं, जिसका हिसाब नहीं। और उन सबमें असफलता पाकर आप निराश और हताश हो गये हैं। वो हताशा प्राणों में गहरे बैठ गयी है। उस हताशा को तोड़ना ही आज सबसे बड़ी कठिनाई की बात हो गई है। और अगर कोई तोड़ना चाहे, तो एक ही उपाय दिखता है कि फिर आपकी वासना को कोई जोर से जगाये, और कहे कि इससे यह हो जायेगा, तभी आप थोड़ा हिम्मत जुटाते हैं। लेकिन वही, वासना का जगाना ही तो सारे उपद्रव की जड़ है।

बुद्ध ने एक अनूठा प्रयोग किया था। और बुद्ध के समय में भी हालत यही थी, जो आज हो गयी है। यह हमेशा हो जाती है। और जब भी दुनिया में बुद्ध या महावीर-जैसे लोग पैदा होते हैं तो उनके पीछे हज़ारों सालों तक एक छाया का काल व्यतीत होता है। होगा ही। जब बुद्ध या कृष्ण-जैसा कोई व्यक्ति पैदा होता है, तो उसको देखकर, उसके अहसास में, उसके सम्पर्क में, उसकी हवा में, हज़ारों लोग वासना से भर जाते हैं, धर्म की। और उनको लगता है कि हो सकता है। भरोसा जगता है देखकर, कि जब बुद्ध को हो सकता है, तो हमें भी हो सकता है। और अगर इन्होंने भूल कर ली और इस होने को वासना बना लिया, तो बुद्ध के बाद ये व्यक्ति हज़ारों सालों तक उस वासना के कारण धीरे-धीरे परेशान हो के अधार्मिक हो जायेंगे।

शर्त समझ लें! आनन्द उपलब्ध हो सकता है, लेकिन आप उसको लक्ष्य न बनायें। वो लक्ष्य नहीं है। परम शान्ति हो सकती है, लेकिन लक्ष्य न बनायें। वो लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो बनायें आप ज्ञान को, समझ को; लक्ष्य तो बनायें आप ध्यान को; लक्ष्य तो बनायें आप अपने भीतर थिरता को; लक्ष्य बनायें रुक जाने को, अपने भीतर आ जाने को--परिणाम में आनन्द चला आयेगा। वह उसके पीछे आ ही जाता है। उल्टा न करें; आनन्द को लक्ष्य न बनायें। जिसने आनन्द को लक्ष्य बनाया, बस वह मुश्किल में पड़ गया।

परिणाम, परिणाम है—लक्ष्य नहीं।

ऐसा समझें; सामान्य जीवन से कोई उदाहरण ले लें, तो आसानी हो जाये। आप कोई खेल खेलते हैं: फुटबाल खेलते हैं, हॉकी खेलते हैं, टेनिस खेलते हैं--कुछ भी खेलते हैं; कबड्डी खेलते हैं--कोई खेल खेलते हैं: बड़ा आनन्द अनुभव होता है। किसी से आप कहें, कि कबड्डी खेलता हूँ, टेनिस खेलता हूँ, बड़ा आनन्द आता है! वह आदमी कहे, आनन्द तो हमें भी चाहिए, कल हम भी आ के देखेंगे, खेल के, कि आनन्द आता है कि नहीं। वह आदमी खेलने आये, और सतत इस बात का ख्याल रखे, कि आनन्द आ रहा है कि नहीं? तो आनन्द आ रहा है कि नहीं, इस ख्याल

की वजह से पहली तो बात यह है कि खेल में लीन नहीं हो पायेगा—खेल हो जायेगा गौण, आनन्द हो जायेगा प्रमुख; हर बार जब वह तू-तू करके कबड्डी में प्रवेश करेगा, तो तू-तू रह जायेगी गौण, भीतर खोजता रहेगा: अभी तक आनन्द आया नहीं! यह आनन्द आ नहीं रहा, यह मैं क्या कर रहा हूँ तू-तू? इससे क्या होनेवाला है? अभी तक आनन्द आया नहीं! खेल के बाद वह सिर्फ थकेगा और कहेगा कि कुछ आनन्द-वगैरह मिलता नहीं, यह क्या है?

आनन्द जो खेल में पाने जायेगा--खेल भी खराब हो जायेगा, आनन्द तो मिलेगा नहीं। आनन्द है बाइ-प्रॉडक्ट। खेल में पूरे लीन हो जायें, तो आनन्द घटता है। आनन्द का ही ख्याल बना रहे तो लीन नहीं हो पाते। लीन नहीं हो पाते तो आनन्द कैसे घटेगा; यह पूरा जीवन ऐसा है। यहाँ सब चीजें बाइ प्रॉडक्ट हैं। जो भी महत्त्वपूर्ण है, वह चुपचाप घटता है। जो भी गहरा है, उसका लक्ष्य नहीं बनाना होता। लक्ष्य बनाने से ही उसका द्वार बन्द हो जाता है।

अनायास घटता है आनन्द, आकस्मिक घटना है आनन्द। सचेत कोई बैठा रहे, तो वह सचेत बैठने में ही इतना तनाव हो जाता है, कि द्वार बन्द हो जाते हैं; दीवाल बन जाती है तनाव की, और आनन्द नहीं घटता है।

इस सूत्र पर ख्याल रखना, यह सूत्र खतरनाक है। यह सूत्र सभी शास्त्रों में है। और जिन-जिन ने उन शास्त्रों को पढ़ा है, उनकी वासना जग गयी है। और वे खोज में लगे हैं कि कैसे हथिया लें मोक्ष को? मोक्ष हथियाये नहीं जाते; लीन होकर मोक्ष मिलता है। कैसे पा लें आनन्द को? कैसे आनन्द नहीं पाया जाता। कुछ करें, जिसमें इतने डूब जायें कि अपनी भी खबर न रहे, आनन्द की भी खबर न रहे--और अचानक जागकर पाया जाता है कि आनन्द-ही-आनन्द रह गया है; आप जो खोजते थे, जो खोज-खोजकर नहीं मिलता था, वह मिल गया है।

बुद्ध के जीवन में बड़ी साफ बात है। बुद्ध छह साल तक कोशिश करते रहे--अथक: मिल जाये मोक्ष, मिल जाये शान्ति, मिल जाये सत्य। नहीं मिला। सब गुरुओं के चरणों को टटोल आये। गुरु भी उनसे थक गये। क्योंकि वे आदमी, तलाशी थे, पक्के थे; क्षत्रिय की जिद थी, कि खोजकर रहूँगा; क्षत्रिय का अहंकार था, कि ऐसी क्या चीज हो सकती है जो हो और न मिले! असम्भव नहीं मानता है क्षत्रिय। वही क्षत्रिय का अर्थ है। तो जिन-जिन गुरुओं के पास गये, वे भी उनसे मुसीबत में पड़ गये। क्योंकि गुरु जो भी कहते, बुद्ध तत्काल करके दिखा देते। कितना ही कठिन हो, कितना ही शीर्षासन करना पड़े, कितना धूप-वर्षा में खड़ा रहना हो, कितना उपवास करना हो--जो भी कोई कहता--पूरा करके बता देते और कुछ भी न होता! और गुरु भी थक गये। उन्होंने कहा, हम भी क्या...

गुरु साधारण शिष्य से नहीं थकता; क्योंकि साधारण शिष्य कभी मान के चलता ही नहीं। इसलिए कभी ऐसी नौबत नहीं आती कि गुरु को यह कहना पड़े: अब हम क्या करें; जो हम कर सकते थे, कर चुके!

बुद्ध-जैसा शिष्य मिले तो बहुत मुश्किल खड़ी हो जाती है; क्योंकि बुद्ध, जो भी गुरु कहता, पूरा करते। उसमें गुरु भी भूल नहीं निकाल सकता था। और कुछ होता नहीं! आखिर एक गुरु कहता है कि अब मैं जो कर सकता था, जो बता सकता था, मैंने बता दिया; इसके आगे मुझे भी पता नहीं है; अब तुम कहीं और चले जाओ!

सब गुरु उनसे ऊब गये! और वे जिद्दी पक्के थे। छह वर्ष तक, जिसने जो कहा--सही, गलत; संगत, असंगत—सब उन्होंने पूरा किया; ...और बड़ी निष्ठा से पूरा किया। एक भी गुरु यह नहीं कह सका कि तुम पूरा नहीं कर रहे, इसलिए नहीं हो रहा है। क्योंकि वे इतना पूरा कर रहे थे कि गुरुओं तक ने उनसे क्षमा माँगी: कि जब तुम्हें हो जाये, कुछ और ज्यादा, हमको भी खबर करना। क्योंकि जो भी हम जानते थे, वह पूरा बता दिया।

कुछ भी नहीं हुआ!

ऐसा नहीं था कि जो बताया था, उससे उन गुरुओं को नहीं हुआ; उससे उनको हुआ था। क्रिया, बराबर बुद्ध भी वही कर रहे थे, जो गुरु ने की थी और पाया था। तो गुरु भी मुश्किल में था, कि वही क्रिया पूरी कर रहे हो, मुझसे भी ज्यादा पूरी कर रहे हो, इतनी निष्ठा से मैंने भी कभी नहीं किया था, फिर क्यों नहीं हो रहा!

पर कारण था: उस गुरु को हुआ होगा, क्योंकि उसने क्रिया की थी--बिना किसी लक्ष्य के, ख्याल के। बुद्ध को लक्ष्य प्रगाढ़ था। कर रहे थे वे, लेकिन नजर लक्ष्य पे थी कि कब सत्य, कब आनन्द, कब मोक्ष मिले? तो क्रिया पूरी कर देते थे, लेकिन वह जो लक्ष्य था, वह बाधा बन रहा था।

आखिर बुद्ध भी थक गये। छह वर्ष के बाद एक दिन उन्होंने सब छोड़ दिया। संसार तो पहले ही छोड़ चुके थे, फिर संन्यास भी छोड़ दिया। भोग तो पहले ही छोड़ चुके थे, ये छह साल योग में बर्बाद किये थे, फिर योग भी छोड़ दिया। और एक रात उन्होंने तय कर लिया कि अब कुछ भी नहीं करना; अब खोजना ही नहीं। समझ लिया कि कुछ है नहीं मिलनेवाला।

तनाव पर पहुँच गये थे, आखिरी, खोज के। श्रम, प्रयास, चरम हो गया था; छोड़ दिया। उस रात वृक्ष के नीचे सो गये। वह पहली रात थी अनेक-अनेक जन्मों में, जब बुद्ध ऐसे सोये कि सुबह करने को कुछ भी बाकी नहीं था। कुछ था ही नहीं बाकी करने को! राज्य छोड़ चुके थे, घर छोड़ चुके थे, संसार की सारी आयोजना छोड़ चुके थे, दूसरी योजना पकड़ी थी, वह भी व्यर्थ हो गयी थी, अब कोई हाथ में

था ही नहीं काम। सुबह, कल उठें तो ठीक, न उठें तो ठीक; जन्म रहे तो बराबर, मृत्यु हो जाये तो बराबर--अब कोई अन्तर न था; कल सुबह करने को कुछ बचा ही न था; कल का कोई मतलब ही नहीं था।

और जब कोई रात ऐसे सो जाता है, कि जिस रात में सुबह की कोई योजना न हो, तो समाधि घटित हो जाती है। सुषुप्ति समाधि बन जाती है; क्योंकि सुबह की कोई वासना ही न थी, कोई लक्ष्य शेष न रहा था, कुछ पाने को नहीं था, कहीं जाने को नहीं था; सुबह होगी तो क्या करेंगे--यह सवाल था। अब तक करना था, करना था, करना था। अब करना बिलकुल नहीं था।

बुद्ध रात ऐसे सोये कि सुबह उठेंगे तो क्या करेंगे? सूरज ऊगेगा, पक्षी गीत गायेंगे, मैं क्या करूँगा? शून्य था उत्तर।

लक्ष्य जब नहीं होते, भविष्य नष्ट हो जाता है। लक्ष्य जब नहीं होते, समय व्यर्थ हो जाता है। लक्ष्य जब नहीं होते, योजनाएँ टूट जाती हैं, मन की यात्रा बन्द हो जाती है; क्योंकि मन की यात्रा के लिए योजना चाहिए; मन की यात्रा के लिए लक्ष्य चाहिए; मन की यात्रा के लिए कुछ पाने का बिन्दु चाहिए; मन की यात्रा के लिए भविष्य चाहिए, समय चाहिए। सब नष्ट हो गया।

बुद्ध उस रात सो गये, जैसे कोई आदमी जिन्दा जी मर गया है। जीते थे, मौत घट गयी। सुबह पाँच बजे आँख खुली। तो बुद्ध ने कहा है, मैंने आँख नहीं खोली। क्या करेंगे आँख खोल के? न कुछ देखने को बचा, न कुछ सुनने को बचा, न कुछ पाने को बचा; क्या करेंगे आँख खोल के? इसलिए बुद्ध ने कहा, मैंने आँख नहीं खोली, आँख खुली। थक गयी बंद रहते-रहते; रातभर बन्द थी, विश्राम पूरा हो गया, पलक खुल गयी। शून्य था भीतर।

जब भविष्य नहीं होता, भीतर शून्य हो जाता है। उस शून्य में बुद्ध ने रात का आखिरी तारा डूबता हुआ देखा। और उस आखिरी तारे को डूबते देखकर, बुद्ध परम-ज्ञान को उपलब्ध हो गये। उस डूबते तारे के साथ बुद्ध का सब अतीत डूब गया। उस डूबते तारे के साथ सारी यात्रा डूब गयी, सारी खोज डूब गयी।

बुद्ध ने कहा है कि मैंने पहली दफा निष्प्रयोजन आकाश में डूबते तारे को देखा;--निष्प्रयोजन। कोई प्रयोजन नहीं था। न देखते तो चलता, देखते तो चलता। इस तरफ, उस तरफ चुनने की भी कोई बात न थी। आँख खुली थी, इसलिए तारा दिख गया। डूब रहा था, डूबता रहा; उधर तारा डूबता रहा, उधर आकाश तारों से खाली हो गया, इधर भीतर मैं बिलकुल खाली था, दो खाली आकाशों का मिलन हो गया। और बुद्ध ने कहा है जो खोज-खोज के न पाया, वह रात बिना खोजे मिल गया। दौड़ के जो न मिला, उस रात बैठे-बैठे मिल गया; पड़े-पड़े मिल गया; श्रम

से जो न मिला, उस रात विश्राम से मिल गया। पर क्यों मिल गया वह?

आनन्द, जब आप भीतर शून्य होते हैं, उसका सहज परिणाम है। आनन्द के लिए जब आप दौड़ते हैं, शून्य नहीं हो पाते, वह आनन्द भी दिक्कत देता रहता है शून्य हो नहीं पाते, इसलिए सहज परिणाम घटित नहीं होता है।

"जिसका मन ब्रह्म में लीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय रहता है। ब्रह्म और आत्मा शोधा हुआ, और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्प-रहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है, तब प्रज्ञा कहलाती है। यह प्रज्ञा जिसमें सर्वदा होती है, वह जीवन्मुक्त है।"

ऐसा जब भीतर का आकाश बाहर के आकाश में एक हो जाता है, जब भीतर का शून्य बाहर के शून्य से मिल जाता है, तब सब निर्विकार और निष्क्रिय हो जाता है

विकार उठ ही नहीं सकते बिना विचार के; विचार ही विकार है। और विचार उठता ही इसलिए है कि कुछ करना है, ध्यान रखना!

लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि विचार से छुटकारा नहीं होता। विचार से होगा नहीं छुटकारा। आपको कुछ करना है। कुछ करना है तो विचार से छुटकारा कैसे होगा? वह कुछ करना है, उसकी योजना विचार है। अगर आपको विचार से छुटकारा भी करना है, तो भी छुटकारा नहीं होगा; क्योंकि वह उसकी योजना में विचार लगा रहेगा।

लोग मुझसे कहते हैं कि हम बैठते हैं, बड़ी कोशिश करते हैं निर्विचार हो जायें।

निर्विचार होने की योजना, विचार के लिए मौका है। तो मन यही सोचता रहता है कि कैसे निर्विचार हो जायें? ...अभी तक निर्विचार नहीं हुए! ...कब होंगे? ...होंगे कि नहीं होंगे?

ध्यान रखिये! वासना है, कोई भी--स्वर्ग की, मोक्ष की, प्रभु की--तो विचार जारी रहेगा। विचार का कोई कसूर नहीं है। विचार का तो इतना ही मतलब होता है कि आप जो वासना करते हैं, मन उसका चिन्तन करता है कि कैसे पूरा करे। जब तक कुछ भी पाने को बाकी है, विचार जारी रहेगा। जिस दिन आप राजी हैं इस बात के लिए कि मुझे कुछ पाना ही नहीं--निर्विचार भी नहीं पाना --आप अचानक पायेंगे कि विचार विदा होने लगे; उनकी कोई जरूरत न रही।

जब भीतर सब शून्य हो जाता है, कोई योजना नहीं रहती, कुछ पाने को नहीं बचता, कहीं जाने को नहीं रहता, सब यात्रा व्यर्थ मालूम पड़ने लगती है, और चेतना बैठ जाती है, रास्ते के किनारे, मंजिल-वंजिल की बात छोड़ देती है, मंजिल मिल जाती है।

'ब्रह्म में लीन हुआ निर्विकार और निष्क्रिय रहता है।'

फिर ऐसा व्यक्ति, निर्विकार और निष्क्रिय रहता है। उसके भीतर कुछ भी नहीं उठता। दर्पण खाली रहता है। उस पे कुछ भी बनता नहीं। और निष्क्रिय रहता है। करने की कोई वृत्ति नहीं रहती। इसका यह मतलब नहीं है कि वह कोई मुर्दे की तरह पड़ा रहता है। क्रियाएँ घटित होती हैं; लेकिन क्रियाओं की कोई योजना नहीं होती। इस फर्क को ठीक-से समझ लें।

यहाँ मैं आया। उपनिषद् के इस सूत्र पर मुझे बोलना है। अगर इसकी मैं योजना करके आऊँ, सोच के आऊं कि क्या बोलना है और क्या नहीं बोलना है, तो चित्त में विचार चलेगा और विकार होगा; और चित्त में क्रिया चलेगी। आ जाऊँ; सूत्र को देख लूँ, और बोलने लगूँ; और जो भी निकल जाये, उससे राजी रहूँ; तो यह क्रिया, क्रिया नहीं है। फिर बोलकर चला जाऊँ; फिर रास्ते में यह ख्याल आये कि जो बोला वह ठीक नहीं था; अच्छा होता कि यह बोल देता, या वह बोल देता; अच्छा होता कि यह छोड़ देता; तो विकार है। बोल के चला जाऊँ, और जैसे ही बोलना बन्द हो जाये, भीतर उस बोलने के सम्बन्ध में कुछ और न रह जाये, कोई धारा न चले, तो निर्विकार है।

सुना है मैंने, अब्राहीम लिंकन के बाबत। लौटता था एक रात, अपनी पत्नी के साथ, एक व्याख्यान देकर। घर लौटा, तो बच्चों ने लिंकन को पूछा, कि व्याख्यान कैसा रहा? तो लिंकन ने कहा, कौन-सा व्याख्यान? जो देने के पहले मैंने तैयार किया, वो—या जो मैंने दिया, वो; या देने के बाद जो मैंने सोचा कि देना चाहिए था, वो? कौन-सा व्याख्यान? तीन दे चुका हूँ। एक तो जाने के पहले जो दे रहा था, अपने मन-ही-मन में। और फिर एक वस्तुतः जो दिया। और फिर एक जो पीछे पछताता रहा और सोचता रहा कि यह कहना था और यह कहना था, और यह छोड़ दिया।

तो यह व्याख्यान क्रिया हो गयी।

व्याख्यान में क्रिया नहीं है, उसकी आयोजना में। तो अगर चित्त तय करता है पहले से, चित्त लौट के विचार करता है, तो विकार है। क्रिया अगर घटित होती है—न तो पूर्व आयोजित होती है, और न पश्चात् चिंतन होता है—तो निष्क्रिय से निकलती है क्रिया।

क्रिया तो जारी रहेगी। बुद्ध, बुद्ध हो गये, फिर भी जारी रहेगी। लेकिन फर्क पड़ गया। कृष्ण, कृष्ण हो गये, फिर भी जारी रहेगी। लेकिन फर्क पड़ गया।

गीता इसी अर्थ में कीमती है कि गीता में जो भी कृष्ण ने कहा है, वह एकदम

सहज है। युद्ध के मैदान पे कोई व्याख्यान की तैयारी करके जाता भी नहीं। सोचा भी नहीं होगा, कृष्ण को कभी ख्याल भी न होगा कि इस मुसीबत में पड़ेंगे, युद्ध के मैदान पर। कल्पना में भी नहीं हो सकता। कोई योजना नहीं हो सकती। अचानक, अनायास एक घटना, आकस्मिक, और कृष्ण के झरने का फूट पड़ना।

यह बोलना नहीं है, यह अबोल से निकला हुआ बोलना है। यह क्रिया नहीं है, यह निष्क्रिय से जन्मी हुई क्रिया है। इसीलिए गीता इतनी कीमती हो गयी। इतनी आकस्मिक थी, इसलिए इतनी कीमती हो गयी। दुनिया में बहुत शास्त्र हैं, लेकिन गीता-जैसी आकस्मिक परिस्थिति किसी शास्त्र की नहीं है। युद्ध का मैदान है, शंख बज चुके हैं, योद्धा तैयार हैं मरने-मारने को, वहाँ ब्रह्मचर्चा! कोई,...कहीं कोई संगति नहीं बैठती। गीता किसी आश्रम में, किसी गुरुकुल में दी गयी होती, समझ में आती। चूँकि इतनी सहज है, इसलिए इतनी गहरी भारतीय मन में उतर गयी। निष्क्रिय से निकली है। बिना आयोजना के निकली है। इसलिए हमने उसे "भगवत् गीता" कहा है; उसे हमने कहाः प्रभु का गीत। उसमें कोई योजना आदमी की नहीं है। उसमें कृष्ण आदमी-जैसे व्यवहार ही नहीं कर रहे हैं। गहरी भगवत्ता से निकला हुआ संदेश है।

तो जब सारी क्रियाएँ भीतर की निष्क्रियता से जन्मती हों, और विचार भी निर्विचार से आता हो, और शब्द भी मौन में जन्म लेता हो, ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है।

एक तो भारत में दो तरह की मुक्ति की धारणा है। एक तो मुक्त है, जीवन्मुक्त; जो जीते जी मुक्त है। और एक है मुक्त, जो मृत्यु के साथ मुक्त होता है। ये दोनों घटनाएं घटती हैं। एक व्यक्ति जीवनभर खोज करता है, खोज करता है, खोज करता है। जैसे मैंने बुद्ध का कहा; खोज करते हैं, करते हैं, करते हैं—और थक जाते हैं एक दिन खोजते और घटना घट जाती है। ऐसा कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी जीवनभर खोज करता है––छह साल नहीं, जीवनभर––और थकता नहीं और खोजता जाता है, खोजता जाता है,...और जब मौत आती है, तभी उसे अनुभव होता है कि सब खोज व्यर्थ गयी, कुछ पाया नहीं। और मौत के क्षण में सारी खोज शिथिल हो जाती है।

मरने के पहले अगर सारी खोज शिथिल हो जाये, और सारी योजना बन्द हो जाये, और भविष्य न रहे, तो जो बुद्ध को घटना घटी बोधि-वृक्ष के नीचे, वो मृत्यु के वृक्ष के नीचे घट जाती है। तब मृत्यु और मुक्ति एक साथ घटित हो जाती, क्योंकि मृत्यु बहुत रिलेक्स कर सकती है, अगर खोज व्यर्थ हो गयी हो; अगर आपको यह अनुभव आ गया हो पक्का कि सब खोजना बेकार है, कहीं कुछ मिला नहीं—न

संसार में कुछ पाया, न साधना में कुछ पाया--कुछ भी नहीं पाया; अगर यह बिलकुल साफ हो जाये, और मन में कोई मन न रह जाये आगे के लिए, कि अब आगे भी जीवन चाहिए, कुछ पाने को--यह भी भाव न रह जाये कि अभी न मरूँ, दो दिन बच जाऊँ तो कुछ कर लूं;--मौत आती है राजी हो जायें।

अगर सब व्यर्थ हो गया, तो आदमी मौत के लिए राजी हो जाता है। जैसे बुद्ध उस साँझ सो गये, सुबह क्या करेंगे, यह भी सवाल न रहा। ऐसे ही अगर कोई मरते क्षण में मर जाये—बिना यह सोचे कि अब मर गये, कुछ काम अधूरे रह गये, कुछ करने को पूरा था, वह पूरा नहीं हुआ, दो दिन बच जाते तो कुछ पूरा कर लेते—ऐसा कोई भाव न हो, मृत्यु सहज उतर आये--जैसे साँझ उतर आती है और आदमी सो जाता है--तो मृत्यु भी मुक्ति बन जाती है। ऐसे व्यक्ति को मुक्त कहा है। लेकिन यह घटना कभी जीवन के बीच में भी घटती है, और आदमी मुक्ति के बाद भी बच जाता है। बचना अलग कारणों पर निर्भर है।

जब आप पैदा होते हैं तो शरीर एक सीमित जीवन ले के पैदा होता है। सत्तर साल चलेगा, अस्सी साल चलेगा, लेकिन अगर चालीस साल की उम्र में वह घटना घट जाये, तो वे जो चालीस साल बच गये हैं, वो शरीर तो पूरा करेगा। आप तो मर गये चालीस साल में, लेकिन शरीर तो अस्सी साल में मरेगा। आप तो खतम हो गये चालीस साल में, लेकिन शरीर चालीस साल और चलेगा; वह उसकी अपनी योजना है, उसके अपने अणुओं की अपनी व्यवस्था है। वह जन्म के साथ अस्सी साल चलने की क्षमता ले के पैदा हुआ, वह अस्सी साल चलेगा।

तो बुद्ध मर गये, महावीर मर गये चालीस साल में, और चालीस साल शरीर और चला। भीतर तो चलना बन्द हो गया, लेकिन शरीर चलता रहा। ऐसे ही, जैसे कि आपके हाथ पे घड़ी बंधी है, आपने उसमें चाबी भर दी है, वह सात दिन चलनेवाली है, और आप जंगल में भटक गये और गिर गये और मर गये;--आप मर गये और घड़ी चलती रही। घड़ी में सात दिन की चाबी थी, आपके मरने से कोई फर्क नहीं पड़ता। घड़ी चलती रही और टिक-टिक करती रही।

आपका शरीर तो एक यंत्र है। आप अगर परम ज्ञान को उपलब्ध हो जायें तो आज ही मर गये, लेकिन शरीर टिक-टिक करता रहेगा। चालीस साल तक वह जो शरीर टिक-टिक करता रहेगा, और भीतर की चेतना ऐसे हो गयी जैसे नहीं है, ऐसी अवस्था को 'जीवन्मुक्त' कहा है।

"ब्रह्म और आत्मा में शोधा हुआ, और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्परहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है, तब प्रज्ञा कहलाती है।"

जब बुद्धि किसी और के सम्बन्ध में नहीं सोचती--सोचती ही नहीं, असोच हो जाती है; जब विचार गिर जाते हैं और केवल विचारणा की शक्ति भीतर रह जाती है; जब बुद्धि किसी विषय के साथ नहीं जुड़ती, शुद्ध—जैसे कि कोई दिया जल रहा हो, और दिये से कोई चीज प्रकाशित न होती हो, बस अकेला शून्य में दिया जल रहा हो--ऐसी जब चेतना हो जाती, तो उसके लिए भारतीय शब्द है "प्रज्ञा"। तब आप वास्तविक ज्ञान की ज्योति को उपलब्ध हुए। और जिसमें ऐसी प्रज्ञा सदा जलती रहती है, वह जीवन्मुक्त है।

"देह तथा इन्द्रियों पर जिसको अहं-भाव न हो, और इनके सिवाय अन्य पदार्थ पर 'यह मेरा है', ऐसा भाव न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

ये भाव तो गिर ही जायेंगे। 'मेरा', 'मैं'—ये तो कब के गिर गये। अहंकार के गिरने के साथ ही तो ज्ञान हुआ। अब उसे कुछ 'मेरा', कुछ 'मैं' से जुड़ा हुआ नहीं मालूम होता। ऐसा चैतन्य यह भी नहीं कहता है कि 'मैं आत्मा हूँ'। मैं की कहीं भी कोई वृत्ति नहीं जोड़ता; होना ही शेष रह जाता है। हम कहते हैं 'मैं हूँ', ऐसा व्यक्ति कहता है 'हूँ'। 'मैं' गिर जाता है। बस होना, शुद्ध होना, प्योर 'एमनेस', 'हूँ'—यही स्थिति रह जाती है।

इस 'हूँपन' को, इस 'एमनेस' को, 'जीवन्मुक्त-अवस्था' कहा है। मैं तो मिट जाये और होना रह जाये, तो आप जीते जी मोक्ष को उपलब्ध हो गये।

प्रयास इस दिशा में वासनारहित हो, तो अभी यह घटना घट सकती है; वासनापूर्ण हो, तो देर लगती है।

तेरहवाँ प्रवचन

१९ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
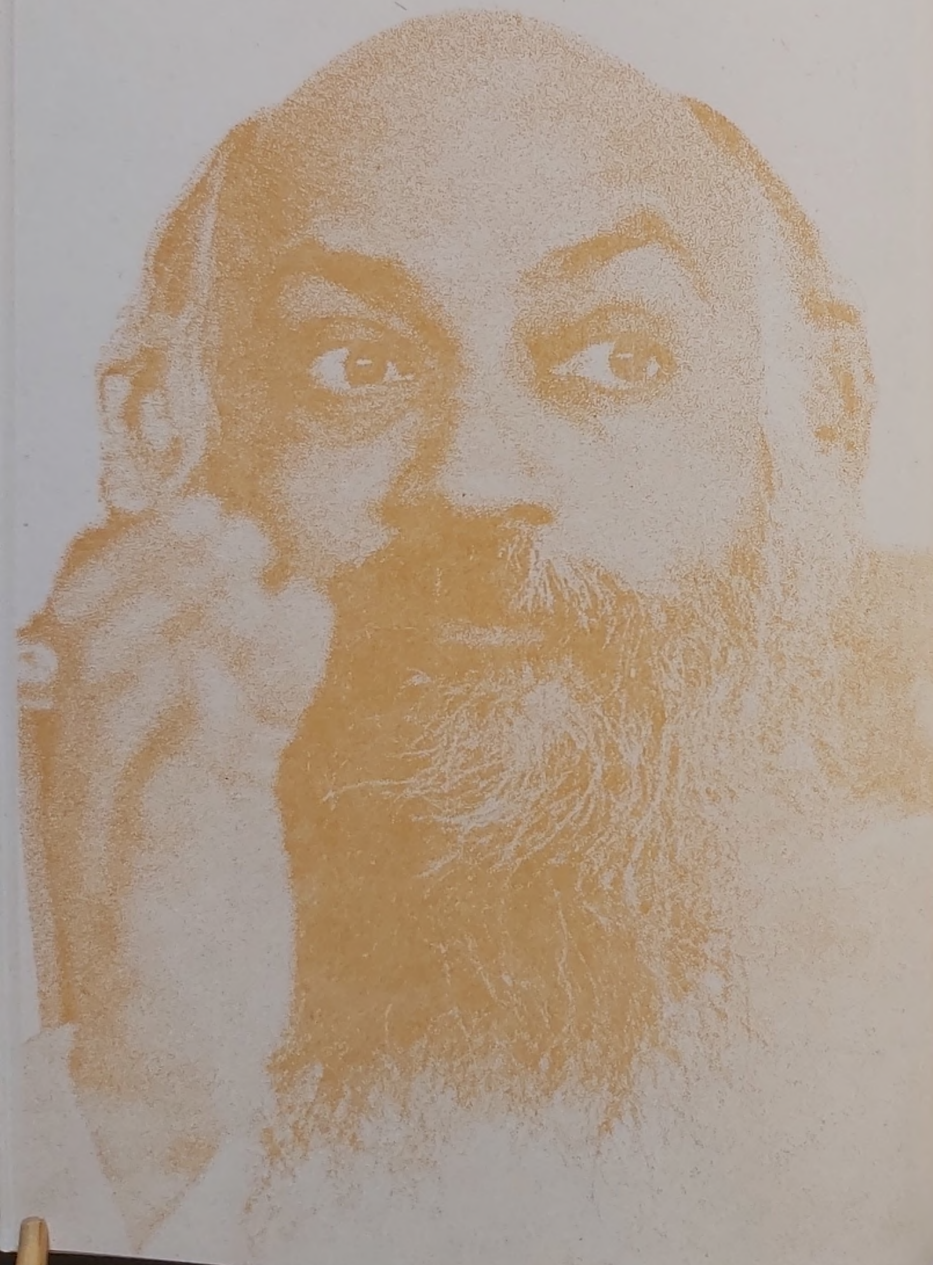
न प्रत्यम्ब्रह्मणोभदं कथाऽपि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४६।।
साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४७।।
विज्ञातब्रह्मतत्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुख ।।४८।।
सुखाद्यनुभवो यावत् तावत् प्रारब्धमिष्यते।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ।।४९।।
अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतर्जितम्।
संचितं विलयं याति प्रबोधान् स्वप्नकर्मंयत् ।।५०।।

जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

सज्जन सत्कार करें और दुर्जन दुःख दें, तो भी जिसको सदैव सबके ऊपर सम भाव रहे, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है।

जिसने ब्रह्म तत्त्व को जान लिया है, उसकी दृष्टि में संसार पहले जैसा नहीं रहता, इसलिए अगर वह संसार को पूर्ववत् ही देखता है तो मानना पड़ेगा कि उसने अभी तक ब्रह्म-भाव को जाना ही नहीं है और वह बहिर्मुख है।

जहाँ तक सुख-वगैरह का अनुभव होता है, वहाँ तक यह प्रारब्ध कर्म है, ऐसा माना गया है, क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रियापूर्वक ही होता है, क्रिया बिना किसी स्थान पर कोई फल होता ही नहीं।

जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्म से इकट्ठा किया संचित कर्म नाश पाता है।

जीवन्मुक्त की आन्तरिक दशा के लिए कुछ और निर्देश...।

जीवन्मुक्त है वहव्यक्ति, जिसने जीते-जी मृत्यु को जान लिया है। मृत्यु तो सभी जानते हैं, मरते समय ही जानते हैं। उसे भी जानना नहीं कह सकते, क्योंकि ठीक मरने के क्षण में ही चित्त बेहोश हो जाता है, मूर्छित हो जाता है।

तो मृत्यु हम अपनी कभी नहीं जानते हैं, हम सदा दूसरे की मृत्यु जानते हैं। आपने दूसरे को मरते देखा है, अपने को कभी भी नहीं। मृत्यु का ज्ञान तक हमारा उधार है। और जब दूसरा मरता है तो हम क्या जानते हैं? हम जानते हैं कि वाणी खो गई, कि आँखें बन्द हो गईं, कि नाड़ी खो गई, कि हृदय बन्द हो गया;--शरीर का तन्त्र अब काम नहीं करता, इतना ही हम जानते हैं। भीतर जो तन्त्र के छिपा था, उस पर क्या बीती, क्या हुआ--वह बचा, नहीं बचा--वो था भी वहाँ, या कभी नहीं था--इस सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते।

मृत्यु घटती है भीतर, हम केवल बाहर उसके परिलक्षण देख पाते हैं। दूसरे को मरते देखकर कैसे मृत्यु का पता चलेगा? मरे हम भी बहुत बार हैं, लेकिन अपने को मरते हम कभी नहीं देख पाये। मरने के पहले बेहोश हो गये हैं, मूर्छित हो गये हैं।

इसलिये, कितने ही लोगों को आप मरते देखें, आपको भरोसा नहीं आता कि आप भी मरेंगे। कभी आपको यह भरोसा आया है कि मैं भी मरूँगा? कितना ही रोज लोग मरें, मरघट भर जाये, महामारी फैल जाये, प्रतिपल जहाँ दिखे लाश दिखे, फिर भी सदा ऐसा लगता है: दूसरे ही मरते रहेंगे; ऐसा कभी भी भीतर भाव नहीं आता कि मैं मरूँगा। आता भी हो तो ऊपर-ऊपर ही होता है, गहरे में प्रवेश नहीं कर पाता।

क्यों? क्योंकि अपनी मृत्यु तो कभी देखी नहीं; उसका कोई अनुभव नहीं है; उसकी कोई याद नहीं है। कितना ही सोचो पीछे लौटकर, पता ही नहीं चलता कि कभी मरे हों! तो जो कभी नहीं हुआ, वह आगे भी कैसे होगा?

मन का तो सारा-का-सारा हिसाब अतीत पर निर्भर है। मन तो भविष्य को भी सोचता है तो अतीत के ही शब्दों में सोचता है। जो कल हुआ है वही आनेवाले

कल म हो सकता है; थोड़ा-बहुत हेर-फेर होगा; लेकिन जो कभी नहीं हुआ है वो कल भी कैसे होगा! इसीलिये मन कभी मृत्यु को मान नहीं पाता। और जब अपनी मृत्यु घटती है, तब मन बेहोश हो गया होता है।

इसलिए जीवन के दो बड़े अनुभव, जन्म का और मृत्यु का अनुभव हमें होता ही नहीं। जन्मते भी हम हैं, मरते भी हम हैं। और अगर इन दो बड़ी घटनाओं का अनुभव नहीं होता, तो इनके बीच में जो जीवन की धारा है, उसका भी हमें क्या अनुभव होगा, कैसे होगा? जो जीवन के शुरुआत को नहीं जान पाता, अन्त को नहीं जान पाता, वह मध्य को भी कैसे जान पायेगा?

जन्म और मृत्यु के बीच में जो धारा है, वही है जीवन। न शुरू का हमें पता है, न अन्त का हमें पता है, तो बीच भी अपरिचित ही रह जायेगा। धुंधली-धुंधली खबर होगी--जैसे दूर सुनी गई कोई बात हो, कोई देखा गया स्वप्न हो। लेकिन जीवन से भी हमारा सीधा संस्पर्श नहीं हो पाता।

जीवन्मुक्त का अर्थ है कि जिसने जीवन में ही जाग के, होशपूर्वक मृत्यु को जान लिया। यह शब्द बड़ा अद्भुत है। जीवन्मुक्त का अर्थ है, बहुत तरह का। एक अर्थ हम कर सकते हैं कि जो जीवन में मुक्त हो गया, दूसरा अर्थ हम कर सकते हैं कि जो जीवन से मुक्त हो गया। दूसरा अर्थ ज्यादा गहरा है। असल में पहला अर्थ दूसरे अर्थ के बाद ही उपयोगी है। जो जीवन से मुक्त हो गया, वही जीवन में मुक्त हो सकता है।

जीवन से कौन मुक्त होगा?

जीवन से वही मुक्त हो सकता है, जिसने जान लिया हो कि समस्त जीवन मृत्यु है; जिसे दिखायी पड़ा हो कि जिसे हम जीवन कह रहे हैं, वह मृत्यु की एक लम्बी यात्रा है। जन्म के बाद मरने के सिवाय हम कुछ और करतें नहीं। कुछ भी करते रहें, मरने की क्रिया जारी रहती है;--हर पल। सुबह से साँझ हो गई, आप मर गये, बारह घन्टे और। साँझ से फिर सुबह होगी, आप मर गये—बारह घन्टे और। जीवन चूकता जाता है, बून्द-बून्द समय रिक्त होता जाता है।

तो जिसे हम जीवन कहते हैं, वह वस्तुतः मरने की एक लम्बी प्रक्रिया है। जन्म के बाद और कोई कुछ भी करे, सब एक काम ज़रूर करते हैं, वह है मरने का--मरते रहने का। जन्मे नहीं कि मरना शुरू हो गया। बच्चे ने पहली साँस ली, अन्तिम साँस की व्यवस्था हो गई। अब मौत से बचने का कोई उपाय नहीं। जो जन्म गया, वह मरेगा--देर-अबेर; समय का अन्तर हो सकता है, लेकिन मौत सुनिश्चित हो गई।

जीवन को जो मृत्यु की लम्बी प्रक्रिया के भाँति देख लेता है—समझ लेता है नहीं कह रहा हूँ, देख लेता है; क्योंकि समझ तो आप भी सकते हैं कि ठीक है,

इससे जीवन्मुक्त नहीं हो जायेंगे। जो देख लेता है, इसका साक्षी हो जाता है, यह उसको दर्शन हो जाता है, कि मैं मर रहा हूँ—प्रतिपल।

एक तो हमें पता ही नहीं चलता कि हम मरेंगे--मैं मरूँगा, यह पता नहीं चलता: दूसरे मरते हैं सदा। दूसरी बात, हमें सदा, अगर हम कभी सोचते हैं, अनुमान भी करते हैं दूसरों के मरने से अपनी मृत्यु का, तो मृत्यु कभी भविष्य में घटित होगी, उसे अभी टाला जा सकता है। वह अभी घटित नहीं हो रही है, आज नहीं घटित हो रही है। बिस्तर पर मरणासन्न पड़ा हुआ आदमी भी यह नहीं सोचता कि मृत्यु आज घटित हो रही है, इस क्षण में आ रही है; --कल; टालता है, स्थगित करता है। टाल के हम बच जाते है। जीवन होता है अभी और मौत होती है कभी, दूर।

जिसे दिखाई पड़ जाता है कि पूरा जीवन मृत्यु है, उसे यह भी दिखाई पड़ जाता है कि मृत्यु कल नहीं है, अभी है, इसी क्षण है—इसी क्षण मैं मर ही रहा हूँ। यह जो मरने की घटना मेरी घट रही है इसी क्षण, इसकी प्रतीति कैसे हो, इसे कैसे हम देख पायें? देख पायें, तो आदमी फिर जीवन की वासना नहीं करता। बुद्ध ने कहा है, जो जीवेष्णा नहीं करता, वह जीवन्मुक्त है। जो माँग नहीं करता कि मुझे जीवन और मिले; जो और जीना नहीं चाहता; जिसकी जीने की अब कोई इच्छा नहीं रह गई है, कोई वासना नहीं रह गई है; मृत्यु आये तो सहजता से स्वीकार कर लेगा; एक क्षण भी मौत से न कहेगा: रुको, ठहरो मैं थोड़ा निपट लूँ; तैयार ही रहेगा। प्रतिपल तैयार रहेगा।

जीवेष्णा जिसकी समाप्त हो गई हो, वह जीवन से मुक्त हो सकता है। जो जीवन से मुक्त हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर वह जीवन में ही मुक्त हो जाता है। फिर यहीं और अभी वह हमारे साथ होता है, लेकिन हमारे-जैसा नहीं होता। वह भी उठता है, बैठता है, खाता है, पीता है, चलता है, सोता है, लेकिन उसका सोना, उठना, बैठना, सब का गुण, सब की क्वालिटि रूपान्तरित हो जाती है। हमारे जैसे काम करते हुए भी वह हमारे जैसे काम नहीं करता है। ये संसार जैसा हमें दिखाई पड़ता है, ऐसा ही रहता है, लेकिन उसे किसी और भाँति दिखाई पड़ने लगता है। उसकी दृष्टि बदल जाती हैं, देखनेवाला केन्द्र बदल जाता है; सारा जगत् रूपान्तरित हो जाता है।

इस जीवन्मुक्ति की परिभाषा और निर्देश इस सूत्र में हैं। इन्हें एक-एक कर गौर से समझ लेना है।

"जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद...

...कुछ मित्रों को ज्यादा खाँसी आती हो, एकदम यहाँ से चले जायें। या अपनी खाँसी रोक के बैठ जायें। ये दोनों काम नहीं चलेंगे।

"जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

पहली लक्षणा।

स्वयं का और परम के बीच--वह जो भीतर छुपा जीव है--वह, और वह जो विराट् में छिपा हुआ ब्रह्म है--वह, दोनों के बीच जिसे कोई भी भेद बुद्धि के द्वारा दिखाई नहीं पड़ता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

दो बातें हैं। कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता, बुद्धि के द्वारा। सभी भेद बुद्धि के द्वारा दिखाई पड़ते हैं। बुद्धि ही भेद को देखने की व्यवस्था है। जैसे पानी में हम लकड़ी को डाल दें तो लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। लकड़ी को बाहर खींच लें, लकड़ी फिर सीधी दिखाई पड़ने लगती है। फिर पानी में डालें, फिर तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। लकड़ी तिरछी होती नहीं पानी में, सिर्फ दिखाई पड़ती है--क्योंकि पानी और पानी के बाहर किरणों की यात्रा का पथ बदल जाता है। पानी के माध्यम में किरणें तिरछी यात्रा करती हैं, इसलिये लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ने लगती है।

पानी के माध्यम में, कोई चीज सीधी डालें, वह तिरछी दिखाई पड़ेगी। वह तिरछी होती नहीं है, सिर्फ दिखाई पड़ती है। और मजा यह है कि आपको बिलकुल पक्का पता है कि तिरछी होती नहीं, तो भी तिरछी दिखाई पड़ती है। हज़ार दफे निकाल के बाहर देख लें, फिर पानी में डाल दें, तो ऐसा नहीं है कि आप हज़ार बार देख चुके, परख चुके, पानी के अन्दर हाथ डाल के भी लकड़ी को देख लें तो वह सीधी मालूम पड़ती है--हाथ को, लेकिन आँख को तिरछी ही दिखाई पड़ती है; क्योंकि पानी का माध्यम और हवा का माध्यम किरणों के लिये यात्रापथ बदल देता है।

इसे ऐसा समझें, आपने प्रिज़्म देखा हो काँच का--खास तरह का बना हुआ टुकड़ा होता है, त्रिकोण। उसमें से सूरज की किरणें निकलें, तो सात हिस्सों में टूट जाती है सूरज की किरण।

इन्द्रधनुष देखते हैं आप? वह प्रिज़्म का ही खेल है। जब आप इन्द्रधनुष देखते हैं तो होता क्या है? सूरज की किरणें तो हमेशा आकाश से आ रही हैं ज़मीन पर, लेकिन जब कभी पानी की बूंदे हवा में होती हैं--छोटी बूंदें, तो पानी की छोटी बूंदे प्रिज़्म का काम करती हैं, काँच के टुकड़े का काम करने लगती हैं।

उनमें किरण प्रवेश करती है, तत्काल सात हिस्सों में टूट जाती है। वे सात रंग, आपको इन्द्रधनुष जैसे दिखाई पड़ते हैं।

इन्द्रधनुष पानी की बूंदों से गुजरी हुई सूरज की किरण ही है। इसलिए सूरज न हो तो भी इन्द्रधनुष दिखाई नहीं पड़ेगा। आकाश में बादल न हों और हवा में पानी के कण न लटके हों, तो भी इन्द्रधनुष दिखाई नहीं पड़ेगा।

प्रिज्म, काँच का टुकड़ा, या पानी की बूंद, सूरज की किरण को सात हिस्सों में तोड़ देती है; माध्यम है। अगर आप पानी की बूंद से सूरज को देखेंगे तो सात रंग दिखाई पड़ेंगे। अगर पानी के बाहर सूरज की किरण को देखेंगे तो वह सफेद कोई रंग नहीं है। सफेद कोई रंग नहीं हैं, सफेद रंग का अभाव है।

बुद्धि भी ऐसा ही एक माध्यम है। जैसे पानी में लकड़ी तिरछी हो जाये, और प्रिज्म में सूरज की सात किरणें हो जायें, एक के सात टुकड़े हो जायें, ऐसा ही बुद्धि, विचार, सूक्ष्म माध्यम है। इससे जिस चीज को भी हम देखते हैं वह दो में टूट जाती है; भेद निर्मित होता है। जहाँ भी बुद्धि को देखेंगे, बुद्धि से देखेंगे, वहाँ चीजें दो हो जायेंगी, भेद निर्मित हो जायेगा।

बुद्धि भेद निर्मात्री है। कोई भी चीज को बुद्धि से देखें, द्रष्टांन्त के लिये, समझने के लिए—प्रकाश को बुद्धि से देखें, तो तत्काल दो हिस्से हो जाते हैं: अन्धेरा और उजाला। वस्तुतः अस्तित्व में प्रकाश और अन्धेरे में कोई भी फर्क नहीं है, वह एक ही चीज का क्रमिक विस्तार है। इसीलिये तो अन्धेरे में भी कुछ पक्षी देखते हैं। अन्धेरा बिलकुल अन्धेरा होता, तो उल्लू भी रात को देख नहीं सकता था। उल्लू देखता है रात में, इसलिये,... इसीलिये देख पाता है कि अन्धेरा भी प्रकाश है; सिर्फ आपकी आँख उसको पकड़ने में समर्थ नहीं, उल्लू की आँख पकड़ने में समर्थ है।

सूक्ष्म प्रकाश है, अन्धेरा भी। आप के पास से बहुत बड़ा प्रकाश भी गुजरता है, वह आपको दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि आपकी आँख की देखने की एक क्षमता है: उसके नीचे भी दिखाई नहीं पड़ता, उसके ऊपर भी नहीं दिखाई पड़ता; दोनों तरफ अन्धेरा हो जाता है।

कभी आपने ख्याल किया है कि अगर आप की आँख एकदम महाप्रकाश के सामने आ जाये, तो अन्धेरा छा जायेगा; क्योंकि उतना प्रकाश आँख देख नहीं पाती।

तो अन्धेरे दो तरह के हैं। जितने दूर तक आपकी आँख की क्षमता है देखने की उधर प्रकाश—उसके उस पार भी अन्धेरा, इस पार भी अन्धेरा। आपकी आँख की क्षमता बड़ी हो जाये, तो अन्धेरा प्रकाश हो जाता है; आपकी आँख की क्षमता छोटी हो जाये, तो प्रकाश अन्धेरा हो जाता है। अन्धे आदमी की क्षमता बिलकुल नहीं है, इसलिये सभी अन्धेरा है, कोई प्रकाश है ही नहीं उसके लिये। पर प्रकाश

और अन्धेरा अस्तित्व में एक हैं, बुद्धि के कारण दो दिखाई पड़ते हैं।

बुद्धि हर चीज को दो में बाँट देती है। बुद्धि के देखने का ढंग ऐसा है कि बिना बटे कोई चीज रह नहीं सकती। बुद्धि है विश्लेषण; बुद्धि है भेद; बुद्धि है विभाजन, डिविजन। इसीलिये हमें जन्म और मृत्यु दो दिखाई पड़ते हैं, बुद्धि से देखने के कारण; अन्यथा दो नहीं हैं। जन्म शुरुआत है, मृत्यु उसी का अन्त है; दो छोर हैं एक ही चीज के। हमें सुख और दुःख अलग दिखाई पड़ते हैं, बुद्धि के कारण; वे दो नहीं हैं। इसीलिये तो दुःख सुख बन जाते हैं, सुख दुःख बन जाते हैं। आज जो सुख मालूम पड़ता है, सुबह दुःख हो सकता है। सुबह तो बहुत दूर है, अभी मालूम होता था सुख, अभी दुःख हो सकता है।

यह असंभव होना चाहिये। अगर सुख और दुःख दो चीजें हैं अलग-अलग, तो सुख कभी दुःख नहीं होना चाहिये, दुःख कभी सुख नहीं होना चाहिये। पर हर घड़ी यह बदलाहट चलती रहती है। अभी प्रेम है, अभी घृणा हो जाती है। अभी लगाव लगता था, अभी विकर्षण हो जाता है। अभी मित्रता लगती थी, अभी शत्रुता हो जाती है। ये दो चीजें नहीं हैं, नहीं तो रूपान्तरण असंभव होना चाहिये। जो अभी जिन्दा था, अभी मर गया! तो जीवन और मृत्यु ये अलग चीजें नहीं होनी चाहिए, नहीं तो—नहीं तो जीवित आदमी मर जाये!

कैसे,... जीवन मृत्यु में कैसे बदल जायेगा?

हमारी भूल है कि हमने दो में बाँट रखा है।...हमारी भूल है कि हमने दो में बाँट रखा है! हमारे देखने का ढंग ऐसा है कि चीजें दो में बंट जाती हैं।

इस देखने के ढंग को जो एक तरफ रख देता है, बुद्धि को जो हटा देता है अपनी आँख के सामने से, और बिना बुद्धि के जगत् को देखता है, तो सारे भेद तिरोहित हो जाते हैं। अद्वैत का अनुभव उन्हीं लोगों का अनुभव है, वेदान्त का सार-अनुभव उन्हीं लोगों का अनुभव है, जिन्होंने बुद्धि को एक तरफ रख के जगत् को देखा। फिर जगत् जगत् नहीं, ब्रह्म हो जाता है। और तब जो भीतर जीव मालूम पड़ता था और वहाँ ब्रह्म मालूम पड़ता था, वे भी एक चीज के दो छोर रह जाते हैं। जो मैं यहाँ हूँ भीतर, और जो वहाँ फैला है सब ओर—वो, दोनों एक ही हो जाते हैं: "तत्वमसि"। तब अनुभव होता है कि मैं नहीं हूँ, उसका ही एक छोर हूँ। वो जो आकाश बहुत दूर तक चला गया है, वही आकाश यहाँ मेरे हाथ को भी छू रहा है। वही हवा का विस्तार जो सारी पृथ्वी को घेरे हुए है, वही मेरी श्वास बनके भीतर प्रवेश कर रहा है। इस सारे अस्तित्व के प्राण कहीं धड़क रहे हैं, जिनसे ये सारा जीवन है: तारे चलते हैं और सूरज उगता है, और चाँद में रोशनी है, और वृक्षों में फल लगते हैं, और पक्षी गीत गाते हैं, और आदमी जीता है। सब के भीतर छिपा

हुआ जो प्राण धड़क रहा होगा कहीं विश्व के केन्द्र में, और मेरे शरीर में जो हृदय की धीमी-धीमी धड़कन है, वे एक ही चीज के दो छोर हैं। वे दो नहीं हैं।

लेकिन बुद्धि को अलग करके जब कोई देखेगा, तभी। बुद्धि को अलग करके देखना बड़ी मुश्किल की बात है, क्योंकि जब भी हम देखते हैं, बुद्धि से ही देखते हैं। हमारी आदत सुनिश्चित हो गई है। बुद्धि के अतिरिक्त आप देखियेगा कैसे? कोई भी चीज देखियेगा, विचार बीच में आ जायेगा।

एक फूल के पास खड़े हो जायें। देख भी नहीं पायेंगे फूल कि बुद्धि कहेगी: गुलाब का फूल है; बड़ा सुन्दर है! देखें, सुवास कितनी अच्छी है! आप देख भी नहीं पाये फूल को अभी, अभी फूल भीतर पहुँच भी नहीं पाया, अभी उसकी खबर, उसकी भनक आत्मा तक लगी भी नहीं, कि बुद्धि ने खबर दी, कि गुलाब का फूल है--अतीत के स्मरण से, अनुभव से। सुवासिक है, सुंदर है--ये सब वक्तव्य बुद्धि ने दे डाले। उसने एक जाल फैला दिया बीच में। फूल बाहर रह गया, आप भीतर रह गये, बीच में बुद्धि के विचारों का जाल तन गया। इस जाल के भीतर से ही आप फूल को देखते हैं।

हमारा सभी देखना ऐसा है। तो बुद्धि के पार उठने के लिये तो गहन अभ्यास की ज़रूरत पड़ेगी। फूल के पास बैठे हैं, बुद्धि को न उठने दें, फिर फूल को देखें सीधा, मन में यह विचार भी न उठने दें कि फूल है, कि गुलाब है, कि सुन्दर है, शब्द को ही न बनने दें। थोड़ा अभ्यास करें, तो कभी-कभी क्षणभर को झलक मिलेगी: कि उधर रह जायेगा फूल, इधर रह जायेंगे आप, बीच में एक क्षण को विचार नहीं होंगे, और तब आपको उस फूल में उस लोक का दर्शन होगा, जिसको आपने कभी भी जाना नहीं।

टेनिसन ने कहा है, एक फूल को भी कोई देख ले पूरा, तो सारा जगत् देख लिया, कुछ देखने को बच नहीं जाता है। बच भी नहीं जाता, क्योंकि एक फूल में सारा जगत् समाया हुआ है। वो जिसे हम शुद्र कहते हैं, वह विराट् की ही अनुकृति है; जिसे हम छोटा कहते हैं, वह बड़े का ही छोटा रूप है।

जैसे एक छोटे-से दर्पण में सारा आकाश झलक जाये, एक छोटी-सी आँख में आकाश के करोड़ों तारे झलक जायें, ऐसे एक छोटे-से फूल में सारा ब्रह्माण्ड...

लेकिन वह तभी होता है, जब बुद्धि बीच में खड़ी न हो।

इसका अभ्यास करते रहें। खाली बैठे हैं; पक्षी गीत गा रहा है, तो बुद्धि को बीच में न आने दें, सिर्फ कान बन जायें—सुनें, और सोचें मत।

पहले बड़ी मुश्किल होगी--सिर्फ आदत के कारण; नहीं तो कोई मुश्किल नहीं है। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे झलकें मिलनी शुरू होंगी। पक्षी गाता रहेगा, बुद्धि का

कोई स्वर न होगा, आप सुनते रहेंगे, आप और पक्षी के बीच एक सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा, बीच में कोई माध्यम न होगा। और तब आप बहुत हैरान हो जायेंगे! यह तय करना मुश्किल हो जायेगा कि आप गा रहे हैं कि पक्षी गा रहा है? आप सुन रहे हैं कि पक्षी सुन रहा है?

जैसे ही बुद्धि बीच से हटती है, आप और पक्षी का गीत एक ही चीज के दो हिस्से हो जाते हैं। वो जो पक्षी का कंठ है, वह एक छोर--और आपका जो कान है, वह दूसरा छोर, और गीत बीच में जोड़ हो जाता है।

फिर वह जो फूल खिल रहा है वहाँ, और यह जो हृदय है भीतर, यह जो चैतन्य है भीतर--यह; ये एक ही घटना के हिस्से हो जाते हैं। और बीच में जो तरंगे दौड़ रहीं हैं, वे इन दोनों के बीच--दो के बीच जोड़ने का सेतु बन जाते हैं।

और तब ऐसा नहीं लगता कि फूल वहाँ दूर खिल रहा है, और मैं यहाँ दूर खड़ा देख रहा हूँ। तब ऐसा लगता है कि मैं फूल में खिल रहा हूँ, और फूल मुझ में खड़ा देख रहा है।

लेकिन यह भी उस क्षण नहीं लगता, यह भी जब हम उस क्षण के बाहर निकल आते हैं, तब लगता है। उस क्षण तो इतना भी पता नहीं चलता; क्योंकि जिसे पता चलता है, सोच-विचार होता है, वह बुद्धि एक तरफ रख दी गई है। और तब प्रतिपल का अनुभव ब्रह्म का अनुभव बन जाता है।...प्रतिपल का अनुभव ब्रह्म का अनुभव बन जाता है।

बोकुजू को किसी ने पूछा है, कि तुम्हारे ब्रह्म का अनुभव क्या है? तो बोकोजू कहता है: ब्रह्म? ब्रह्म का मुझे कोई भी पता नहीं।

"करते क्या रहते हो", पूछनेवालों ने पूछा, "फिर तुम्हारी साधना क्या है?"

तो बोकोजू ने कहा है कि जब कुएँ से...

...उस वक्त वह कुएँ से पानी भर रहा था। उसने कहा है कि कुएँ से जब मैं पानी भरता हूँ, तो मुझे ठीक-ठीक पता नहीं लगता कि कुआँ मुझे भर रहा है कि मैं कुएँ से भर रहा हूँ। और जब मेरी बाल्टी आवाज करती कुएँ में उतरती है तो मुझे ऐसा नहीं लगता कि यह बाल्टी उतरी, कि मैं ही उतर गया हूँ! और जब पानी भरके ऊपर आने लगता है, तब भरोसा मानो, मुझे कुछ साफ नहीं रहता: कि क्या क्या है; क्या हो रहा है! यह तुम पूछते हो, इसलिये तुमसे सोच के कहता हूँ। तुमने पूछा, इसलिये मैंने सोचा और कहा, अन्यथा मैं खो गया हूँ। ब्रह्म का मुझे कोई पता नहीं है। मुझे अपना ही पता नहीं रहा है!

जब अपना ही पता नहीं रहता है, तभी तो जिसका पता चलता है, वही ब्रह्म है। अपना पता कब खोता है, जब आपके पास कोई बुद्धि प्रत्येक चीज के साथ

विचार चिपकाने को नहीं रह जाती। बुद्धि का काम है विचार चिपकाना; हर चीज को लेबल लगाना; हर चीज को शब्द देना, नाम देना, रूप देना।

बच्चा पैदा होता है। बच्चे की आँख खुलती है। बुद्धि नहीं होती है बच्चे के पास उस समय। बुद्धि धीरे-धीरे विकसित होगी, बनेगी, शिक्षित होगी, संस्कारित होगी। तो वैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा जब आँख खोलता है, तब उसे भेद दिखाई नहीं पड़ता। लाल रंग उसे भी लाल ही दिखाई पड़ेगा, लेकिन वह यह अनुभव नहीं कर सकता कि यह लाल है। क्योंकि लाल शब्द तो अभी सीखना पड़ेगा। हरा रंग उसे भी हरा ही दिखाई भी पड़ेगा, क्योंकि आँखें तो रंग देखती हैं, तो हरा दिखाई पड़ेगा। लेकिन बच्चा यह नहीं कह सकता कि यह हरा है। बच्चा यह भी नहीं कह सकता कि यह रंग है। और बच्चा यह भी नहीं कह सकता कहाँ लाल समाप्त होता है, कहाँ हरा शुरू होता है; क्योंकि लाल और हरे का उसे कोई भी बोध नहीं है।

बच्चे की दृष्टि में जगत् एक इकट्ठी घटना की तरह दिखाई पड़ता है, जहाँ सब चीजें एक-दूसरे में मिली हुई हैं, और किसी चीज को अभी भिन्न नहीं किया जा सकता, अलग नहीं किया जा सकता। एक सागर––अनुभव का––अविभाज्य। पर यह भी हमारा अनुमान है, बच्चे को क्या होता है––कहना मुश्किल है।

लेकिन संतों को, जो कि पुन: बच्चे हो गये हैं, जो कि फिर वैसे ही सरल हो गये हैं जब बुद्धि नहीं थी; जो अब फिर वैसे ही निर्दोष और अबोध हो गये हैं, जब बुद्धि नहीं थी; ऐसा अनुभव होता है, कि सब चीजें एक हो जाती हैं। एक चीज दूसरे से जुड़ जाती है, दूसरी तीसरे से जुड़ जाती है। चीजें दिखाई पड़नी बन्द हो जाती हैं, भीतर का जोड़ ही दिखाई पड़ने लगता है।

हमारी स्थिति ऐसी है कि हमें माला के मनके दिखाई पड़ते हैं, भीतर जोड़ा हुआ धागा दिखाई नहीं पड़ता। बुद्धि मनके देखती है। और जब बुद्धि हट जाती है, तो वो जो चैतन्य है, बुद्धि से मुक्त, वो भीतर अन:स्यूत धागे को देखता है। उस एकता को देख लेता है जो सब में घिरी है, सब में जुड़ी है; जो सबके भीतर छिपी है, और जो आधार है।

बुद्धि जहाँ भी काम करती है, वहाँ विभाजन करती है।

विज्ञान बुद्धि की व्यवस्था है। इसलिये विज्ञान तोड़ता है, एनालिसिज, विश्लेषण करता है। और परमाणु पर पहुँच गया है तोड़ते-तोड़ते, आखिरी जगह। उसे जहाँ भी दिखाई पड़ता है––टुकड़े, खंड, एकता बिलकुल दिखाई नहीं पड़ती।

बुद्धि को छोड़ता है धर्म। तो उल्टी प्रक्रिया शुरू होती है, चीजें जुड़ती जाती हैं, और एक होती जाती हैं।

विज्ञान पहुँच गया परमाणु पर, और धर्म पहुँचता है परमात्मा पर। परमाणु

है एक छोटे-से-छोटा हिस्सा, जो हम तोड़ सके हैं। और तोड़ लेंगे तो दूसरा, और तोड़ लेंगे तो तीसरा; तोड़ती जायेगी बुद्धि। और परमात्मा है बड़े-से-बड़ा हिस्सा, जो हम बिना बुद्धि के जोड़ सके हैं। बुद्धि से तोड़ा है तो परमाणु हाथ आया, परमाणु विज्ञान की शक्ति है। और बुद्धि के बिना देखा है तो परमात्मा अनुभव में आया है, परमात्मा धर्म की शक्ति है।

इसलिये ध्यान रहे, जो धर्म तोड़ता हो वह धर्म नहीं है––कहीं भी तोड़ता हो, किसी भी तल पर। अगर हिन्दू-मुसलमान से अलग हो जाता हो, तो समझना कि ये दो तरह की राजनीतियाँ हैं, धर्म नहीं है। अगर जैन हिन्दू से अलग मालूम पड़ता हो, तो समझना कि ये दो तरह की समाज व्यवस्थाएँ हैं, धर्म नहीं। और समझ लेना कि इनके पीछे बुद्धि ही काम कर रही है, जो तोड़ने की व्यवस्था रखती हैं, इनके पीछे वह बुद्धि के अतिक्रमण कर गई चेतना का अनुभव नहीं है, जहाँ सब चीजें जुड़ जाती हैं और एक हो जाती हैं।

"जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

"सज्जन सत्कार करें और दुर्जन दु:ख दें, तो भी जिसको सदैव सब के ऊपर समभाव रहे, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

'समभाव'––पहली बात, 'अद्वैत'––दूसरी बात। समत्व, समता, समभाव––ये थोड़ा...शब्द...कठिन है, इसका जो हम व्यवहार करते हैं उसके कारण।

एक आदमी आपको गाली दे जाये, और एक आदमी आपको चरण स्पर्श कर जाये, तो समभाव का क्या अर्थ होगा? क्या आप अपने को सम्हाल के सम भाव रखें...कि नहीं, गाली दे गया, उस पर क्रोध नहीं करना; सम्मान कर गया, उस पे प्रसन्न नहीं होना––ऐसी चेष्टा करें? अगर चेष्टा करें तो समभाव नहीं है। फिर व्यवस्था दी गई है; अनुशासन है; अपने को सम्हाल फिर आयोजित सयंम है। लेकिन समभाव का यह अर्थ है कि कोई गाली दे, कि कोई सम्मान करे, लिया है। भीतर दोनों से कोई भी प्रतिक्रिया पैदा न हो। कोई भी प्रतिक्रिया पैदा न हो। भीतर कुछ हो ही न। गाली भी बाहर घूमे, सम्मान भी बाहर घूमे, भीतर कुछ प्रवेश ही न हो।

यह कब होगा?

यह तभी होता है जब भीतर साक्षी हो।

जब कोई गाली देता है तो हममें प्रतिक्रिया होती है? क्योंकि गाली देते ही तत्काल हमें लगता है मुझे दी गयी है गाली। बस, कष्ट शुरू हो जाता है। सम्मान कोई करता है तो सुख मिलता है, क्योंकि लगता है मुझे दिया गया है सम्मान! सुख

शुरू हो जाता है। इसका मतलब हुआ मेरे साथ जो भी किया जाता है, उसके साथ मैं अपना तादात्म्य जोड़ लेता हूँ। उस से ही सुख-दुःख पैदा होता है। और वैषम्य पैदा होता है, सन्तुलन खो जाता है।

नैतिक व्यक्ति भी समता की चेष्टा करता है, लेकिन नैतिक व्यक्ति की समता आरोपित होती है, कल्टिवेटिड होती है। वह भी अपने को समझाता है कि ठीक है, किसी ने गाली दी तो क्या हर्ज! और किसी ने सम्मान किया तो ठीक है, उसकी मर्जी, मैं दोनों में समभाव रखूँगा। यह समभाव ऊपर-ऊपर रहेगा; यह बहुत गहरे जानेवाला नहीं है। क्योंकि इस व्यक्ति को अभी तक साक्षी का कोई भी पता नहीं है। इसका समभाव चरित्रगत होगा। तो कभी मौके-बे-मौके, जब यह जरा होश में न होगा, इसको छेड़ा जा सकता है। और कभी मौके-बे-मौके चरित्र में सन्धि मिल जाये, तो इसके भीतर का वैषम्य प्रगट हो जाता है।

चरित्रगत समता का मूल्य नहीं है उपनिषद् की नजर में। उपनिषद् की नजर में मूल्य है, आत्मगत समता का। आत्मगत समता का अर्थ हुआ कि चाहे कुछ भी बाहर होता है, मैं साक्षी से ज्यादा नहीं हूँ।

राम को न्यूयॉर्क में कुछ लोगों ने गालियाँ दीं, कुछ लोगों ने पत्थर मारे, तो राम नाचते हुए वापिस लौटे। शिष्यों ने कहा, क्या हुआ, आप बड़े खुश है?

तो राम ने कहा, खुशी की बात है। आज राम बड़ी मुश्किल में पड़ गए थे: कुछ लोग गाली देने लगे, कुछ लोग पत्थर मारने लगे, मज़ाक उड़ाने लगे। राम को फँसा देखकर बड़ा मजा आया: कि बुरे फँसे। देखो, अब फँसे।

जो साथ थे, उन्होंने पूछा, आप किसके बावत बात कर रहे हैं? कौन राम?

तो राम ने कहा, यह राम। छाती पे हाथ रखा और कहा, यह राम। ये बड़े फँस गये थे, और हम खड़े देखते रहे। हमने उनको भी देखा जो गाली दे रहे थे, और उन सज्जन को भी देखा जो फँस गए थे और गाली खा रहे थे। हम खड़े देखते रहे।

यह तीसरा बिन्दु आपको मिल जाये तो समता। अगर दो ही हैं आपके बिन्दु, तो समता नहीं हो सकती। कोई गाली दे रहा है और आप गाली खा रहे हैं, तो आप चेष्टा कर सकते हैं—भाव अच्छा बनाने का। सज्जन का लक्षण वो है; करनी चाहिए। चेष्टा कर सकते हैं कि...नहीं, कोई हर्जा नहीं; गाली दे दी, हमारा क्या बिगड़ा? यह समझाना है। आपको लग रहा है कि कुछ बिगड़ तो गया, इसीलिये समझा रहें है कि क्या बिगड़ा। और उसने अपनी जबान खराब की, हमारा क्या गया। लेकिन कुछ गया। यह कन्सोलेशन है, यह सांत्वना है।

सज्जन सांत्वना में जीता है। वह सोचता है कि ठीक है, गाली दी, अपना-अपना कर्म, अपना-अपना फल पायेगा वह आदमी। हम क्यों कुछ कहें? गाली दी है,

दुःख पायेगा, नरक जायेगा, पाप किया है। वह सांत्वना कर रहा है अपने मन में। वह जो खुद नहीं कर पा रहा है नर्क उसके लिये पैदा, वह सोच रहा है भगवान् करेगा। अपना काम वह भगवान् से ले रहा है। बाकी अपने को समझा रहा है। वो कह रहा है कि जो बुरा बोयेगा, वह बुरा काटेगा; जो अच्छा बोयेगा, वह अच्छा काटेगा। हम अच्छा ही बोयेंगे, ताकि अच्छा काटें। यह बुरा बो रहा है, अपने-आप काटे बुरा। यहाँ तक भी वह कर सकता है कि 'जो तोहे काँटा बुवे, बाहे बो तू फूल'

वो यह भी कर सकता है कि यह हमें काँटे बो रहा है, हम इसके लिये फूल बोयें। क्योंकि यह काँटे ही काटेगा और हम फूल काँटेंगे। बाकी है यह गणित दुकानदार का, व्यवसायी का, सौदा है इसमें। समझदारी का सौदा है, बाकी समता नहीं है।

समता कहाँ है?

समता तो तभी होती है जब यह दो बिन्दु के पार तीसरा बिन्दु दिखाई पड़ना शुरू हो जाये। जब मुझे लगे कि यह रहा गाली देनेवाला, यह रहा मेरा रूप, मेरा नाम गाली खानेवाला, और यह तीसरा रहा मैं देखनेवाला। इन दोनों से मेरी दूरी बराबर होनी चाहिये तो समता। जो गाली दे रहा है उससे भी मैं उतना ही दूर, और जिसको गाली दी जा रही है उससे भी मैं उतना ही दूर। अगर इस दूरी में जरा भी फर्क है, और जरा भी कमी है, और गाली देनेवाला मुझे ज्यादा दूर मालूम पड़ता है और गाली खानेवाला कम दूर मालूम पड़ता है मुझसे, तो समता डोल गई, तो विषमता आ गई।

समता का मतलब है कि तराजु के पलड़े दोनों-के-दोनों सम हो जायें, और मैं तराजु की तीर की तरह बीच में तीसरा हो जाऊँ, और जरा भी अन्तर न दिखाऊँ —गाली खानेवाले की तरफ न झुकूं, गाली देनेवाले की तरफ न झुकूं, मैं पार ही खड़ा रहूँ, मैं दूर ही खड़े हो के देखता रहूँ।

यह साक्षी का भाव समता है। और जीवन्मुक्त समता में जीयेगा, क्योंकि जीवन्मुक्ति आती ही साक्षीत्व से है।

यह दूसरा सूत्र ध्यान रखें: सांत्वना से सज्जन पैदा होगा, साक्षी से संत पैदा होता है। संत और सज्जन में बड़ा फर्क है। सज्जन ऊपर-ऊपर संत होता है; भीतर, उसमें और दुर्जन में कोई फर्क नहीं होता। दुर्जन, बाहर-भीतर दुर्जन होता है; सज्जन, बाहर सज्जन होता है, भीतर दुर्जन होता है।

संत में और सज्जन में बड़ा फर्क है। एक अर्थ में तो संत में और दुर्जन में एक समानता है। दुर्जन बाहर भी दुर्जन होता है, भीतर भी दुर्जन होता है। सज्जन भीतर दुर्जन होता है, बाहर सज्जन होता है। संत बाहर भी सज्जन होता है, भीतर भी सज्जन होता है। एक अर्थ में दुर्जन से समानता है। वह समानता यह है कि दुर्जन

भी एक रूप होता है, बाहर-भीतर——और संत भी एक रूप होता है, बाहर-भीतर; रूप अलग हैं, बाकी एक रूप होता है। सज्जन दोनों के बीच में अटका होता है।

इसलिए सज्जन के कष्ट का कोई अन्त नहीं है; क्योंकि सज्जन का मन तो होता है दुर्जन-जैसा, और आचरण होता है संत-जैसा।

इसलिए सज्जन बड़ी दुविधा में जीता है।

और सज्जन के मन में सदा द्वंद्व बना रहता है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि कभी बुरा नहीं किया, कभी चोरी नहीं की, बेईमानी नहीं की, और इतना कष्ट पा रहे हैं! और जिन्होंने चोरी की, बेई-मानी की, मजा कर रहे हैं! तो इस जगत् में न्याय नहीं है। या सज्जन अपने मन में समझा लेता है कि कुछ भी हो, प्रभु का नियम है कुछ, देर है, अन्धेर नहीं है।

...समझाता है अपने मन को: थोड़ी देर लग रही है; अभी बेईमान बीच में सफल हुए जा रहे हैं, आखिर में तो हम ही सफल होंगे! देर है, अन्धेर नहीं है—— यह समझा रहा है अपने को; लेकिन एक तो बात साफ है कि देर दिखायी पड़ रही है। और शक अन्धेर का भी हो रहा है: कि कुछ गड़बड़ तो नहीं है; कि हम दोनों तरफ से तो नहीं चूक गये...न माया मिली, न राम! कहीं ऐसा न हो कि अभी माया खो रहे हैं, और आखिर में पता चले कि राम थे ही नहीं! तो वो जो जीत गया है माया में, वो अखीर में भी जीता हुआ मालूम पड़े।

सज्जन को सदा पीड़ा बनी रहती है। और जिसको पीड़ा बनी रहे अपनी सज्जनता से, उसका अर्थ साफ हुआ कि उसका भाव तो दुर्जन का है। भीतर से चाहता तो वो भी वही है जो दुर्जन कर रहा है, और दुर्जन पा रहा है, लेकिन सज्ज-नता का आचरण उसने बना रखा है। उसके दोहरे लोभ हैं। उसकी गाड़ी के बैल दो तरफ जुते हैं, और दोनों तरफ गाड़ी खींची जा रही है। उसका लोभ यह भी है कि धन भी मिल जाये, यश भी मिल जाये, अहंकार की भी तृप्ति हो। दुर्जन के जो लोभ हैं, वे उसके लोभ हैं। उसका लोभ यह भी है कि परमात्मा भी मिल जाये, आत्मा भी मिल जाये, मोक्ष भी मिल जाये, शान्ति और आनन्द भी मिल जाये। जो सज्जन, जो सन्त की अभीप्सा है, वह भी उसका लोभ है। उसके दोहरे लोभ हैं। उन दोनों लोभों के बीच वह परेशान है। और इसलिए अक्सर, सज्जन बड़ी ही अशान्ति में उपलब्ध होगा।

अगर सज्जन शान्त हो, तो सन्त हो जाता है। और सज्जन अगर अशान्त बना रहे, तो आज नहीं कल, दुर्जन हो जाता है। ज्यादा देर टिक नहीं सकता। वह मध्य की कड़ी या तो नीचे गिरे, या ऊपर जाये, बीच में कोई उपाय नहीं है ठहरने का।

जीवन्मुक्त है संत। वह इसलिये नहीं कि दूसरे के साथ बुराई कर रहा है, कि

बुराई करने से खुद का बुरा होगा कभी——नहीं, वह बुराई कर नहीं सकता है, क्योंकि वह तीसरे बिन्दु पर खड़ा है जिसके साथ कभी कोई बुराई की नहीं गयी।

सिकन्दर एक संन्यासी को ले जाना चाहता था भारत से। ददामी उस संन्यासी का नाम था। जाने को ददामी राजी नहीं था। तो सिकन्दर ने तलवार खींच ली और कहा, काट के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा, चलो मेरे साथ! मैं अगर हिमालय को भी आज्ञा दूँ तो जाना पड़ेगा।

तो ददामी ने कहा: हो सकता है कि हिमालय को जाना पड़े, लेकिन तुम मुझे न ले जा सकोगे।

सिकन्दर की कुछ समझ में न पड़ा कि एक दुबला-पतला फकीर, नग्न खड़ा था नदी की रेत में, यह इतनी हिम्मत की बातें कर किस बलबूते पे रहा है?

उसने तलवार खींच ली और अपने सिपाहियों को कहा कि घेर लो!

नंगी तलवारों से ददामी घेर लिया गया। ददामी खिलखिलाके हँसा और उसने कहा: लेकिन तुम मुझे नहीं घेर रहे हो, तुम उसे घेर रहे हो जो मैं नहीं हूँ। और तुम्हारी कोई सामर्थ्य नहीं कि तुम मुझे घेर लो; क्योंकि मेरा घेरा उस विराट् घेरे के साथ एक हो गया है।

सिकन्दर ने कहा कि मैं दर्शन की, तत्त्वज्ञान की बातें नहीं जानता हूँ, मैं सिर्फ तलवार जानता हूँ; गर्दन अभी कट के गिर जायेगी!

तो ददामी ने कहा: बड़ा आनन्द आयेगा! तुम भी देखोगे कि गर्दन कट के गिर गयी, और मैं भी देखूँगा कि गर्दन कट के गिर गयी; हम दोनों ही देखेंगे।

...यह तीसरा बिन्दु है कि मैं भी देखूँगा कि गर्दन कट के गिर गयी।

अगर आप अपनी गर्दन को कट के गिरता हुआ देख सकें, तो उसका मतलब सिर्फ एक हुआ कि इस शरीर से आपका तादाम्य न रहा, इसके आप साक्षी हो गये; आप दूर खड़े हो गये, बाहर खड़े हो गये——अपने से ही।

इस बिन्दु पर ही संतत्व का जन्म है; और यह बिन्दु ही जीवन्मुक्ति है।

"जिसने ब्रह्म तत्व को जान लिया, उसकी दृष्टि में संसार पहले जैसा नहीं रहता। इसलिए अगर वह संसार को पूर्ववत् ही देखता हो, तो मानना पड़े कि उसने अभी भी ब्रह्म-भाव को जाना नहीं, और वह बहिर्मुख है।"

संसार तो यही रहेगा; आपके बदलने से संसार नहीं बदलेगा; लेकिन आपके बदलने से आपका संसार बदल जायेगा।

जैसा मैंने पहले कहा: हम सबके अपने-अपने संसार हैं। मैं अज्ञानी हूँ, तो भी ये आबू के पर्वत ऐसे ही हैं; मैं ज्ञानी हो जाऊँ, तो भी आबू के पर्वत ऐसे ही होंगे। आकाश ऐसा ही होगा, चाँद ऐसा ही होगा, जमीन ऐसी ही होगी। यह संसार तो ऐसा ही होगा। लेकिन, जब मैं अज्ञानी हूँ, तो मैं इस संसार को जिस ढंग से देखता हूँ, जिस ढंग से चुनता हूँ, जो मुझे दिखायी पड़ता है--हो सकता है: यह पहाड़ मेरा है। जब मैं अज्ञानी हूँ, तब पहाड़ पहाड़ नहीं है, मेरा है। ज्ञान के क्षण में, जीवन-मुक्ति के अनुभव में, पहाड़ पहाड़ रहेगा, मेरा नहीं रह जायेगा। वह जो मेरा इस पर आरोपित था, वह तिरोहित हो जायेगा। और मेरे के हटते ही पहाड़ का सौन्दर्य पूरा प्रकट होगा। वह जो मेरा ममत्व था, जो मेरा राग था, वही मेरा दुःख था, वही मेरी पीड़ा थी। वही मेरी बुद्धि थी जो बीच में खड़ी हो जाती थी। जब भी इस पहाड़ को देखता था, लगता था: मेरा पहाड़ है। वह मेरा बीच में आता था और मैं परदे से देखता था। अब पहाड़ पहाड़ है, मैं मैं हूँ।

जापान में झेन फकीरों ने दस चित्र निर्मित किये। वे चित्र सदियों से चले आते हैं और ध्यान करने के काम में आते हैं। वे चित्र समझने-जैसे हैं। इस सूत्र को समझने में उपयोगी होंगे।

पहले चित्र में कुछ दिखायी नहीं पड़ता; गौर से देखें तो समझ में आता है कि पहाड़ है, वृक्ष है, और वृक्ष की आड़ से किसी बैल का, सिर्फ पीछे का हिस्सा--दो पैर और पूंछ—दिखाई पड़ रही है। बस, इतना ही।

दूसरे चित्र में इतना है और साथ में बैल को खोजनेवाला आ के खड़ा हो गया है, और वह चारों तरफ देख रहा है कि बैल कहाँ है। अभी उसे दिखायी नहीं पड़ रहा है; धुंधला है सांझ का। वृक्ष हैं, लतायें हैं, उनमें बैल छिपा खड़ा है: जरा-सी पूंछ और दो पैर पीछे के दिखायी पड़ते हैं; वो भी रेखाएँ गौर से देखें तो।

तीसरे चित्र में उसे दिखायी पड़ गया है।

दूसरे चित्र में वह उदास खड़ा था, चारों तरफ देखता मालूम पड़ता था, कोई झलक न थी उसकी आँखों में। तीसरे चित्र में उसकी आँखों में झलक आ गयी, पैर में गति आ गयी, बैल उसे दिखायी पड़ गया है।

चौथे चित्र में पूरा बैल प्रगट हो गया है और खोजनेवाला बैल के पास पहुँच गया है। पाँचवे चित्र में उसने बैल की पूंछ पकड़ ली।

छठवें चित्र में उसने बैल के सींग पकड़ लिये हैं।

सातवें चित्र में उसने बैल को घर की तरफ मोड़ लिया है।

आठवें चित्र में वह बैल के ऊपर सवारी कर रहा है।

नौवें चित्र में वह बैल को अपने लगाम में बाँध के, कब्जे में करके घर की तरफ लौट रहा है। और दसवें चित्र में कुछ भी नहीं है। न बैल है, न उसका मालिक उस पे सवार है। जंगल रहा गया है, पहाड़ रह गया है; न बैल है, न उसका मालिक है, वे दोनों नदारद हो गये हैं।

ये दस चित्र झेन-परम्परा में ध्यान के लिए उपयोग में लाये जाते हैं।

ये आत्मा की खोज के चित्र हैं।

पहले चित्र में कुछ पता नहीं खोजी का: कहाँ है?

दूसरे चित्र में खोजी जगा है; आकांक्षा जगी है--आत्मा को पाने की, खोजने की। तीसरे चित्र में थोड़ी-सी झलक आत्मा की मिलनी शुरू हुई है।

चौथे चित्र में पूरी झलक आत्मा की मिल गयी है।

पाँचवें चित्र में झलक ही नहीं मिल गयी है, आत्मा की पूंछ हाथ में पकड़ आ गयी है; एक कोने से आत्मा पर अधिकार हो गया है।

बाद के चित्र में पीछे से नहीं, सामने से--आमना-सामना हो गया है, आत्मा के सींग पकड़ लिये गये हैं।

बाद के चित्र में सींग ही नहीं पकड़ लिये गये हैं, आत्मा को घर की तरफ वापिस--घर की तरफ--ब्रह्म की तरफ--मोड़ दिया गया है।

बाद के चित्र में मोड़ ही नहीं दिया गया है, खोजी स्वयं पर सवार होकर घर की तरफ चल पड़ा है।

और आखिरी चित्र में दोनों खो गये हैं; न खोजी है, न खोज है, जगत् शून्य रह गया है। पहाड़ अब भी खड़े हैं, वृक्ष अब भी खड़े हैं, लेकिन वे दोनों खो गये हैं।

यही है अनुसंधान। जब खोजने निकले हैं, तो यह जगत् जैसा आज दिखायी पड़ रहा है, वैसा दिखायी, खुद जाग जाने पर नहीं पड़ेगा। सारा ममत्व क्षीण हो जायेगा। सारी संगृहीत धारणाएँ क्षीण हो जायेंगी। जगत् के साथ जो-जो प्रोजेक्शन, प्रक्षेपण थे अपने, वो भी नष्ट हो जायेंगे। जगत् से जो अपेक्षाएँ थीं, वे भी गिर जायेंगी। जो माँग थी, वो भी नहीं रह जायेगी। जगत् में जो सुख को देखने का ख्याल था, वो भी चला जायेगा। जगत् से दुख मिलता है, यह भ्रान्ति भी टूट जायेगी। जगत् से हमारा कोई लेन-देन भी है, यह भी समाप्त हो जायेगा।

तो सूत्र कहता है: जिसने जान लिया ब्रह्म को, उसकी दृष्टि में संसार पहले-जैसा नहीं रहता। संसार तो रहता है, पहले-जैसा नहीं रहता। और अगर अब भी पहले-जैसा रह जाये, तो जानना कि उसने अभी जाना नहीं है। यह खुद की परीक्षा के लिए है। यह खुद ही देखते चलना है। पत्नी है,...

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि पत्नी है, बच्चे हैं, कलह है, परिवार है, धंधा है, कुछ हो नहीं सकता इसमें, हम छोड़ के भाग जायें!

मैं उनसे कहता हूँ छोड़ के मत भागो। भागके जाओगे भी कहाँ, संसार सब जगह है। और तुम अगर, जैसे हो वैसे ही रहे, तो कोई दूसरी तुम्हारी पत्नी बन जायेगी, कोई दूसरा घर बस जायेगा, कोई दूसरा धन्धा शुरू हो जायेगा। धंधे बहुत तरह के हैं, धार्मिक किस्म के धंधे भी हैं। नहीं खोली दुकान, एक मठ खोल लेंगे; कुछ-न-कुछ तो हो ही जायेगा। करोगे क्या, वो जो आदमी भीतर बैठा है, वो अगर वैसा ही है, तो वो जो जानता है, वही तो करेगा!

...भागो मत, वहीं रह के डूबते चले जाओ, खोजते चले जाओ। खोज उस दिन पूरी समझ लेना, जिस दिन बाजार में बैठे रहो और बाजार भी रहे, और तुम्हारे लिए बाजार न रह जाये। पत्नी पास बैठी हो, मन में पत्नी ही रहेगी, रही आये। तुम्हारे लिए पहले तो पत्नी न रह जाये। वो जो मेरे होने का भाव है, वह विसर्जित हो जाये। स्त्री रह जायेगी। पर स्त्री भी तभी तक दिखायी पड़ेगी जब तक कामवासना है। फिर ध्यान और गहरा हो, कामवासना भी क्षीण हो जाये, तो फिर वह स्त्री भी न रह जायेगी; फिर वो देह भी न रह जायेगी। और जैसे-जैसे तुम्हारे भीतर कुछ टूटता जायेगा, वैसे-वैसे बाहर तुम्हारा जो प्रक्षेपण था, उस स्त्री के ऊपर तुम्हारे जो भाव थे--पत्नी के, स्त्री के--वे भी विलीन होते चले जायेंगे। एक दिन ऐसा आयेगा कि तुम जहाँ बैठे हो, वहीं शून्य हो जाओगे। चारों तरफ संसार वही होगा, लेकिन तुम वही नहीं रहोगे। इसलिए तुम्हारी दृष्टि बदल जायेगी।

इसे खोजते रहना है निरंतर कि मुझे कहीं वैसा ही तो नहीं है सब; सब वैसा ही तो नहीं चल रहा है? नाम बदल जाते हैं, वस्तुएँ बदल जाती हैं, लेकिन ढंग भीतर का अगर वही चल रहा है, और सब वैसा ही दिखायी पड़ रहा है, तो फिर...तो फिर समझना...कि जीवनन्मुक्ति बहुत दूर है, सत्य की झलक बहुत दूर है।

सत्य की झलक का अर्थ ही यह है कि तुम्हारे और तुम्हारे संसार के बीच में सम्बन्ध बदल जाये; संसार तो वही रहेगा। सम्बन्ध भी तभी बदलेगा, जब मैं बदल लाऊँ।

"जहाँ तक सुख का अनुभव होता है--या दुख का, वहाँ तक प्रारब्ध कर्म है, एसा माना गया है। और, क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रियापूर्वक होता है, क्रिया बिना किसी स्थान पर कोई फल नहीं।

"पर जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्मों से इकट्ठा किया हुआ संचित कर्म नाश पाता है।"

सुख और दुख होते हैं कर्मों के कारण। तो जो जीवन्मुक्त हो गया है, ऐसा मत सोचना कि उसे दुख या सुख होने बन्द हो जायेंगे।

रमण को मरते समय कैंसर हो गया। बड़ी पीड़ा थी। कैंसर की पीड़ा स्वाभाविक है। नासूर था गहरा, और बचने का कोई उपाय न था। बहुत डॉक्टर आते, रमण को देखते तो बड़े हैरान होते; क्योंकि सारा शरीर पीड़ा से जर्जर हो रहा था, पर आँखों में कहीं कोई पीड़ा की झलक न थी। आँखों में तो वही शान्त झील थी, जो सदा से थी। आँखों से तो साक्षी ही जागता था; वही देखता था, वही झाँकता था।

...डॉक्टर कहते कि आपको बहुत पीड़ा हो रही होगी? तो रमण कहते: पीड़ा तो बहुत हो रही है, लेकिन मुझे नहीं हो रही। पीड़ा तो बहुत हो रही है, लेकिन मुझे नहीं हो रही, मुझे सिर्फ पता चल रहा है कि पीड़ा हो रही है। शरीर पर बड़ी पीड़ा हो रही है, मुझे सिर्फ पता चल रहा है; मैं देख रहा हूँ; मुझे नहीं हो रही है।

बहुत लोगों के मन में सवाल उठता है कि रमण-जैसा ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति--जीवन्मुक्त--उसको कैंसर क्यों हो गया?

इस सूत्र में उसका उत्तर है।

जीवन्मुक्त को भी सुख-दुख आते रहेंगे, क्योंकि सुख-दुखों का सम्बन्ध उसके पिछले कर्मों से है, संस्कारों से है। उसने जो किया है, जागने के पहले उसने जो किया है, ...समझ लें कि जागने के पहले, और मैंने बीज बो दिये हैं अपने खेत में। तो मैं जाग जाऊँ, वे बीज तो फूटेंगे और अंकुर बनेंगे। सोया रहता तो भी अंकुर बनते, फूलते, फल लगते। अब भी अंकुर बनेंगे, फूलेंगे, फल लगेंगे। एक ही फर्क पड़ेगा: सोया रहता, तो सोचता मेरी फसल है, और छाती से संभाल के रखता। अब जाग गया हूँ, तो समझूँगा जो बीज बोये थे, वे अपनी नियति को उपलब्ध हो रहे हैं, मेरा इसमें कुछ भी नहीं है; देखता रहूँगा। अगर सोया रहता, तो इस फसल को काटता और बीजों को संभाल के रखता ताकि अगले वर्ष फिर बो सकूँ। जाग गया हूँ, इसलिए देखता रहूँगा: बीज फूटेंगे, अंकुरित होंगे, फल लगेंगे, अब मैं उन्हें इकट्ठा नहीं करूँगा। वे फल लगेंगे और वहीं से गिर जायेंगे, और नष्ट हो जायेंगे; मेरा उनसे सम्बन्ध टूट जायेगा। मेरा सम्बन्ध उनसे बोने का था, अब मैं उन्हें दुबारा नहीं बोऊँगा। मुझसे उनका आगे कोई सम्बन्ध नहीं बनेगा।

तो जीवन्मुक्त को भी सुख-दुःख आते रहेंगे। पर जीवन्मुक्त जानेगा कि यह पिछले कर्मों की श्रृंखला का हिस्सा है, मेरा कुछ लेन-देन नहीं है। वह देखता रहेगा। जब रमण को कोई चरणों में जाके फूल चढ़ा आता है, तब भी वो बैठे देखते रहते

हैं: कि किसी पिछली कर्म-श्रृंखला का हिस्सा होगा, कि यह आदमी मुझे सुख देने आया है। मगर वे सुख लेते नहीं; यह आदमी देता है, वो लेते नहीं। अगर वो ले लें, तो नये कर्म की यात्रा शुरू हो जाती है। इसे वे रोकते भी नहीं कि तू मत दे; ये फूल मत चढ़ा, ये पैर मत छू; वे रोकते भी नहीं; क्योंकि रोकना भी कर्म है... और फिर श्रृंखला शुरू हो जाती है।

इसे थोड़ा समझ लें। यह आदमी फूल रखने आया है; यह एक हार गले में डाल गया है; इसने चरणों पे सिर रख दिया है; रमण बैठे क्या कर रहे होंगे भीतर? वे देख रहे हैं कि इस आदमी से कुछ लेन-देन होगा, कोई प्रारब्ध कर्म होगा; यह अपना पूरा कर रहा है। लेकिन अब सौदा पूरा कर लेना है, अब आगे सिलसिला नहीं करना है। यह बात यहीं समाप्त हो गयी, अब इसमें से आगे कुछ नहीं निकालना है।

तो वो बैठे रहेंगे, वो ये भी नहीं कहेंगे कि मत कर। क्योंकि मत करने का मतलब क्या होता है? इसका मतलब होता है, एक तो आपका अपना पिछला किया हुआ, लेने को राजी नहीं हैं, जो कि लेना ही पड़ेगा। और दूसरा उसका मतलब यह हुआ कि अब इस आदमी से आप एक और सम्बन्ध जोड़ रहे हैं, इसे रोककर, कि मत कर। यह सम्बन्ध कब पूरा होगा? एक नया कर्म कर रहे हैं, आप एक प्रतिक्रिया कर रहे हैं।

न, रमण देखते रहेंगे; चाहे आदमी फूल ले के आये, और चाहे कैंसर आ जाये। तो वो कैंसर को भी देखते रहेंगे।

रामकृष्ण भी मरते वक्त कैंसर से मरे। गले का कैंसर था। पानी भी भीतर जाना मुश्किल हो गया, भोजन भी जाना मुश्किल हो गया। तो विवेकानन्द ने एक दिन रामकृष्ण को कहा कि आप...आप कह क्यों नहीं देते काली को, माँ को? यह क्षण की बात है, आप कह दें, और गला ठीक हो जायेगा!

तो रामकृष्ण हँसते, कुछ बोलते नहीं। एक दिन बहुत आग्रह किया तो रामकृष्ण ने कहा, तू समझता नहीं: जो अपना किया है, उसका निपटारा कर लेना जरूरी है। नहीं तो उसके निपटारे के लिए फिर आना पड़ेगा। तो जो हो रहा है, उसे हो जाने देना उचित है। उसमें कोई भी बाधा डालनी उचित नहीं है।

तो विवेकानन्द ने कहा कि न इतना कहें, इतना ही कह दें कम-से-कम कि गला इस योग्य तो रहे जीते जी, कि पानी जा सके, भोजन जा सके, हमें बड़ा असह्य कष्ट होता है।

तो रामकृष्ण ने कहा, आज मैं कहूँगा। और सुबह जब वो उठे, तो बहुत हँसने लगे और उन्होंने कहा, बड़ी मजाक रही। मैंने माँ को कहा, तो माँ ने कहा कि इसी

गले से कोई ठेका है? दूसरों के गलों से भोजन करने में तुझे क्या तकलीफ है?

तो रामकृष्ण ने कहा कि तेरी बात में आ के मुझे तक में बुद्धू बनना पड़ा! नाहक तू मेरे पीछे पड़ा था। और यह बात सच है, जाहिर है, इसी गले का क्या ठेका है? तो आज से जब तू भोजन करे, समझना कि मैं तेरे गले से भोजन कर रहा हूँ। फिर रामकृष्ण बहुत हँसते थे, उस दिन, दिनभर, डॉक्टर आये और उन्होंने कहा, आप हँस रहे हैं? और शरीर की अवस्था ऐसी है कि इससे ज्यादा पीड़ा की स्थिति नहीं हो सकती!

रामकृष्ण ने कहा, हँस रहा हूँ इससे, कि मेरी बुद्धि को क्या हो गया कि मुझे खुद ख्याल न आया, कि सभी गले अपने हैं।

...सभी गलों से अब मैं भोजन करूँगा। अब इस एक गले की क्या ज़िद करनी!

व्यक्ति कैसी ही परम स्थिति को उपलब्ध हो जाये, शरीर के साथ अतीत बंधा हुआ है; वो पूरा होगा। सुख-दुःख आते रहेंगे, लेकिन जीवन्मुक्त जानेगा: वो प्रारब्ध है; और ऐसा जानकर उनसे भी दूर खड़ा रहेगा; और उसके साक्षीपन में उनसे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। उसका साक्षीभाव थिर है।

"और जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्मों से इकट्ठा किया हुआ संचित कर्म नाश पाता है।"

इस सम्बन्ध में हमने पीछे बात की है। जैसे स्वप्न से जागके स्वप्न खो जाता है, ऐसा ही जागकर, जो भी मैंने किया, वो मैंने कभी किया ही नहीं था, खो जाता है। लेकिन मेरे यह जान लेने पर भी मेरे शरीर को कोई ज्ञान नहीं होता है। मेरा शरीर तो अपनी यंत्रवत् प्रक्रिया में घूमता है; अपनी नियति को पूरा करता है। जैसे हाथ से तीर छूट गया हो, वापिस नहीं लौटाया जा सकता; और ओंठ से शब्द निकल गया हो, उसे भुलाया नहीं जा सकता, लौटाया नहीं जा सकता—ऐसे ही शरीर तो एक यंत्र-व्यवस्था है, उसमें जो हो गया, वो जब तक पूरा न हो जाये, तीर जब तक अपने लक्ष्य पर न पहुँच जाये, और शब्द जब तक आकाश के अंतिम छोर को न छू ले, तब तक विनाश को उपलब्ध नहीं होता।

तो शरीर तो झेलेगा ही। और एक बात इस संदर्भ में कह देनी उचित है। ख्याल में आ गया होगा आपको भी, कि यह बात थोड़ी अजीब सी है कि रामकृष्ण को भी कैंसर, रमण को भी कैंसर! इतनी बुरी बीमारियाँ?

बुद्ध की मृत्यु हुई जहरीले भोजन से, विषाक्त हो जाने से रक्त के। महावीर

की मृत्यु हुई भयंकर पेचिस हो जाने से; छह महीने तक पेट की असह्य पीड़ा से-- जिसका कोई इलाज न हो सका। तो ख्याल में उठना शुरू होता है कि इतनी महान्, शुद्धत्तम् आत्माओं को ऐसी जघन्य बीमारियाँ पकड़ लेती हैं! क्या होगा कारण? हमें पकड़ें, अज्ञानी-जन को पकड़ें, पापी-जन को पकड़ें--समझ में आता है कि फल है, भोगते हैं अपना। महावीर को, बुद्ध को, रमण को या रामकृष्ण को ऐसा हो, तो चिन्तना आती है मन में कि क्या बात है? उसका कारण है।

जो व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है, उसके जीवन की आगे की यात्रा तो समाप्त् हो गयी, यही जन्म आखिरी है। आपकी तो आगे की लम्बी यात्रा है। समय बहुत है आपके पास। आप सारे दुःख रत्ती-रत्ती करके झेल लेंगे। समय बहुत है आपके पास। बुद्ध, महावीर या रमण के पास समय बिलकुल नहीं है। दस, बीस, पच्चीस, तीस साल का वक्त है। आपके पास जन्मों-जन्मों का भी हो सकता है।

इस छोटे-से समय में सारे कर्म, सारे संस्कार इकट्ठे, संगृहीत होकर फल दे जाते हैं। इसलिए दोहरी घटनाएँ घटती हैं। महावीर को एक तरफ तीर्थंकर का सम्मान मिलता है, वो भी सारे सुखों का इकट्ठा अनुभव है; और दूसरी तरफ असह्य पीड़ा भी झेलनी पड़ती है, वो भी सारे दुखों का इकट्ठा संघात है।

रमण को एक तरफ हज़ारों-हज़ारों लोगों के मन में अपरिसीम सम्मान है। वो सारा सुख इकट्ठा हो गया, और फिर कैंसर-जैसी बीमारी है, सारा दुःख इकट्ठा हो गया। समय थोड़ा है। सब संगृहीत और जल्दी और शीघ्रता में पूरा होता है। इसलिए ऐसे व्यक्ति परम सुख और परम दुःख दोनों को एक साथ भोग लेते हैं। समय कम होने से सभी चीजें संगृहीत और एकाग्र हो जाती हैं। लेकिन, भोगनी पड़ती हैं। भोगने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।

(मा आनंद मधु ने खड़े होकर पूछाः) "जिसके पास ज्यादा समय हो, वो ये बीमारी को ले सकता है कि नहीं? ले सकता है तो उपाय क्या?"

नहीं, कोई उपाय नहीं, और लिया भी नहीं जा सकता। क्योंकि बीमारी लेने का तो मतलब यह होगा कि मेरे किये हुए का फल किसी दूसरे को मिल सकता है। तो सारी अव्यवस्था हो जायेगी। और अगर मेरे किये का फल दूसरे को मिल सकता है, तो इस जगत् में फिर कोई नियम, कोई ऋत नहीं रह जायेगा। तब तो मेरी स्वतन्त्रता भी किसी को मिल सकती है; और मेरी जीवन्मुक्ति भी किसी को मिल सकती है। मेरा दुःख, मेरा सुख, मेरा ज्ञान, मेरा अनुभव, मेरा आनन्द, फिर तो कोई भी चीज ट्रान्सफरेबल हो जाती है, हस्तान्तरित हो जाती है।

नहीं, इस जगत् में कोई भी चीज हस्तान्तरित नहीं होती। होने का कोई

उपाय नहीं है। कोई उपाय नहीं है। और उचित है कि उपाय नहीं है। हाँ, मन में ऐसा भाव पैदा होता है; वह भी उचित है और शुभ है। रमण को कोई प्रेम करनेवाला चाह सकता है कि कैंसर आप का मैं ले लूँ। यह चाह सुखद है। और इस चाह से इस व्यक्ति को पुण्य का फल मिलेगा। यह कर्म हो गया, इसकी तरफ से। समझ लें इसको।

रमण मर रहे हैं और कैंसर है। कोई कह सकता है कि कैंसर मुझे मिल जाये, पूरे भाव से। तो भी मिल नहीं जायेगा। लेकिन इसने यह भाव किया है इतना, अपने ऊपर लेने का; यह कर्म हो गया; यह एक पुण्य हो गया। और इसका सुख इसे मिलेगा।

यह बड़ी अजीब बात हैः माँगा था दुःख, लेकिन दुख माँगनेवाला एक अद्भुत पुण्य कर्म कर रहा है। इसे इसका सुख मिलेगा लेकिन रमण से इसकी तरफ कुछ भी नहीं आ सकता। यह जो कर रहा है भाव, यह इसका ही कर्म बन रहा है। यह कर्म इसे लाभ देगा।

(किसी अन्य ने खड़े होकर पूछना चाहाः) "अरविन्द के बारे में...

न, यह आदत खराब की मधु, शुरू। यह तो नुकसान होगा। तुम्हारे इरादे अलग हैं, ये इतने लोग यहाँ बैठे हैं! हूँ... इस तरह नहीं शुरू करो, नहीं तो मुश्किल होगा। वो...सारी बात को...अव्यवस्था हो जायेगी।

चौदहवाँ प्रवचन

२० अक्तूबर, १९७२, प्रातः
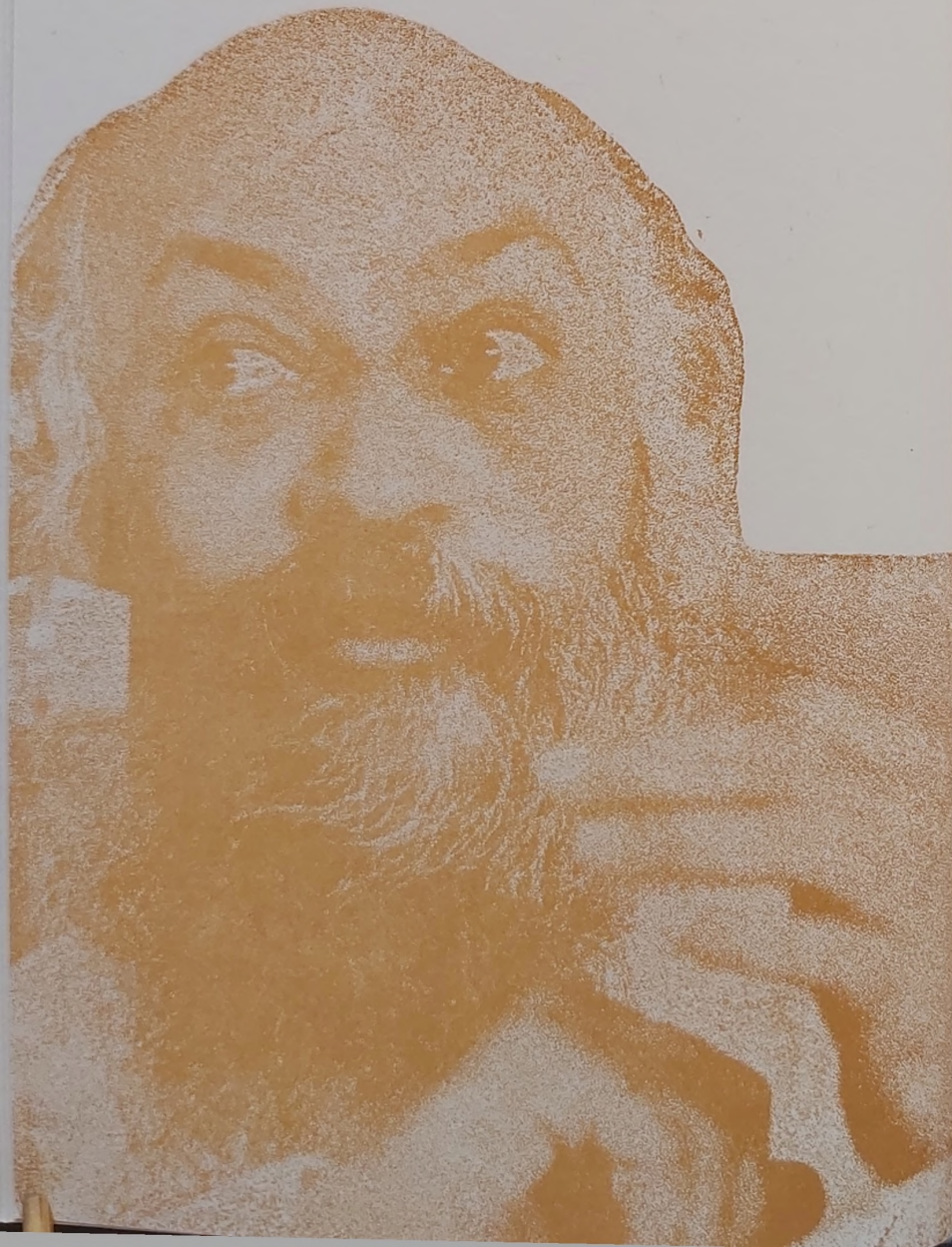
स्वमसंगमुदासीनं परिज्ञाय नन्नो यथा।
न श्लिष्यते यतिः किंचित् कदाचिद्भाविकर्मभिः।।५१।।
न नभो घटोयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते।
तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तंद्धर्मैर्नेव लिप्यते।।५२।।
ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
यदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टवाणवत्।।५३।।
व्याघ्रवुद्ध्या विनिर्मुल्तो वाणः पश्चातु गोमतौ।
न तिष्ठति भिनत्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्।।५४।।
अजरोऽस्म्यमरोऽमीति य आत्मानं प्रपद्यते।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्ध कल्पना।।५५।।

आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जानकर योगी भविष्य के कर्मों में लेशमात्र लिप्त नहीं होता।

जिस प्रकार मदिरा के घड़ों में रहा हुआ आकाश मदिरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा उपाधि का संयोग होने पर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होता।

जिस प्रकार लक्ष्य को उद्देश्य करके छोड़ा वाण लक्ष्य को बींधे बिना नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान के उदय होने के पहले किया गया कर्म, ज्ञान का उदय होने के बाद भी उसका फल दिये बिना नहीं रहता। (अर्थात्, किए हुए कर्म का फल तो ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी भोगना पड़ता है। ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं हो सकता।)

बाघ समझकर छोड़ा हुआ बाण छूटने के बाद, 'यह बाघ नहीं है वरन् गाय है', ऐसी बुद्धि होने पर भी रुक नहीं सकता, पर वेगपूर्वक लक्ष्य को पूर्ण तरह बेधता ही है। इसी प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान हो जाने के बाद भी फल प्रदान करता है।

'मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ'--इस प्रकार जो अपने को आत्मरूप स्वीकार करता है तो वह आत्मरूप ही रहता है, अर्थात् उसको प्रारब्ध कर्म की कल्पना कहाँ से हो? (अर्थात् ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म का सम्बन्ध नहीं रहता।)

चैतन्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ गहरे इशारे हैं। जीवन्मुक्त ही इन अनुभवों से गुज़रता है। जीवन्मुक्त ही जान पाता इन सूत्रों को। क्योंकि हमें चैतन्य का सीधा कोई अनुभव नहीं है। जो भी हम चेतना के सम्बन्ध में जानते हैं, वे भी मन में पड़े हुए प्रतिबिंब ही हैं।

इस बात को पहले समझ लें, फिर हम सूत्रों में प्रवेश करें।

मन एक अद्भुत यंत्र है, और अब तो इस बात को वैज्ञानिक आधार भी मिल गए हैं कि मन यंत्र से ज्यादा नहीं है। कम्प्यूटर मन से भी ज्यादा कुशल काम करता है। आदमी को चाँद पर भेजने की ज़रूरत नहीं है, यंत्र भी भेजा जा सकता है। रूस ने यंत्र भेजे हैं, वे कम्प्यूटर हैं। वे चाँद के सम्बन्ध में सूचनाएँ इकट्ठी करके रूस को भेज देते हैं। यंत्र मात्र हैं, लेकिन मन-जैसा ही सूक्ष्म है और आसपास जो भी घटित होता है उसको संगृहीत कर लेता है।

मैंने पीछे आपको कहा कि जब समाधि से लौटता है जीवन्मुक्त वापिस, एक मित्र पूछने आये थे कि जब समाधि में जाती है चेतना, तो मन तो पीछे छूट जाता है, और मन ही स्मृति रखता है, तो जो अनुभव चेतना को घटित होते हैं, जब चेतना मन में लौटती है, तो किसे उनका स्मरण आता है? क्योंकि चेतना गई थी अनुभव में, और चेतना कोई स्मृति रखती नहीं, चेतना पर कोई रेखा छूटती नहीं, और मन गया नहीं अनुभव में, मन पीछे रह गया था, तो स्मरण किसको आता है? फिर कौन पीछे लौट-कर देखता है?

मन अनुभव में नहीं गया, लेकिन अनुभव के द्वार पर ही छूट गया था। लेकिन द्वार से ही जो भी घटना घट रही है उसे पकड़ता है। मन तो यंत्र है, और उसका उपयोग दो-तरफा है: बाहर के जगत् में जो घट रहा है उसे भी मन पकड़ता है, भीतर के जगत् में जो घट रहा है उसे भी मन पकड़ता है। मन तो दोनों तरफ, उसकी परिधि में जो भी घटता है, उसे पकड़ता है। इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि कि मन जाये। वहाँ दूर कैमरा रखा हो, तो यहाँ जो घट रहा है वह कैमरा पकड़ता रहेगा। वहाँ दूर टेपरिकॉर्डर रखा हो, यहाँ जो मैं बोल रहा हूँ, पक्षी गीत गायेंगे,

हवाएँ गुजरेंगी वृक्षों से, पत्ते गिरेंगे, वह टेपरिकॉर्डर उन्हें पकड़ता रहेगा।

मन को ठीक-से समझ लें कि मन सिर्फ एक यंत्र है, मन में कोई चेतना नहीं है, मन में कोई आत्मा नहीं है, मन प्रकृति के द्वारा विकसित जीवयंत्र है, जैविक यंत्र है, बायॉलोजिकल मशीन है। मन, हमारी आत्मा और जगत् के बीच में है। यह यंत्र जो है, शरीर में छिपा है और जगत् और आत्मा के बीच में है। जगत् में जो घटता है मन उसे भी पकड़ता है। इसे पकड़ने के लिए उसने पाँच इन्द्रियों के द्वार खोले हुए हैं।

इन्द्रियाँ आपके मन के द्वार हैं। जैसे कि टेपरिकॉर्डर है, तो उसका माइक मेरे पास लगा हुआ है। टेपरिकॉर्डर हज़ारों मील दूर रख दें, यह माइक पकड़ता रहेगा, और टेपरिकॉर्डर तक खबर पहुँचती रहेगी।

आपकी इन्द्रियाँ, माइक की तरह हैं मन की। पाँच इन्द्रियाँ मन के पाँच द्वार हैं। रंग के जगत् में, प्रकाश के जगत् में, रूप के जगत् में कुछ भी घटित होता है, तो मन ने शरीर तक आँख पहुँचाई हुई है, वह आँख पकड़ती रहती है, आँख का कैमरा घूमता रहता है, वह पकड़ता रहता है।

ध्वनि के जगत् में कुछ घटित होता है, संगीत होता है, शब्द होता है, मौन होता है, तो कान पकड़ता रहता है। और प्रतिपल जो पकड़ा जा रहा है, वह मन को संवादित किया जा रहा है। मन उसे संगृहीत करता रहता है। हाथ छूता है, जीभ स्वाद लेती है, नाक गंध लेती है, वह सब मन तक पहुँच रहे हैं।

आपकी सारी इन्द्रियाँ मन के द्वार हैं। ये पाँच इन्द्रियाँ मन के द्वार हैं। एक और इन्द्रिय है, जिसका नाम आपने सुना होगा, लेकिन कभी इस भाँति नहीं सोचा होगा, वह है अंतःकरण। वह इन्द्रिय, भीतर जो भी घटित होता है, उसको पकड़ती है। वह भी इन्द्रिय है। भीतर जो भी घटित होता है, जब एक आदमी समाधि में डूब जाता है, तो अंतःकरण पकड़ता रखता है, क्या घट रहा है। शान्त, मौन, आनन्द, परमात्मा की प्रतीति––क्या हो रहा है?

अंतःकरण भीतर की तरफ खुला हुआ माइक है। वह भीतर की तरफ गई रिसे-प्टिविटि है। और वहाँ एक की ही ज़रूरत है, वहाँ पाँच की ज़रूरत नहीं है। पाँच की तो ज़रूरत इसलिये है कि पंचमहाभूत हैं बाहर, और हर महाभूत को पकड़ने के लिए एक अलग इन्द्रिय चाहिए। भीतर तो एक ब्रह्म ही है––इसलिये पाँच इन्द्रियों की कोई ज़रूरत नहीं; एक ही अंतःकरण भीतर के अनुभव को पकड़ लेता है।

तो छह इन्द्रियाँ हैं आदमी की––पाँच बहिर्मुखी, एक अंतर्मुखी; और मन यंत्र है बीच में खड़ा हुआ: एक शाखा भीतर गई है, वह पकड़ती रहती है।

भीतर कुछ भी घटित हो, मन पर सब अंकन हो जाते हैं। मन के जाने की जरूरत नहीं है। और इसलिए जब समाधि से साधक लौटता है मन में, तो मन ही अपने रिकॉर्ड उसे दे देता है कि यह-यह भीतर हुआ। तुम जब यहाँ नहीं थे, तब यह-यह भीतर हुआ।

आप यहाँ से चले जायें अपने टेपरिकॉर्डर को छोड़ के, घंटेभर बाद आप लौटें, टेपरिकॉर्डर आपको बता देगा यहाँ क्या-क्या शब्द बोले गये, क्या-क्या ध्वनि हुई।

टेपरिकॉर्डर का जीवंत होना जरूरी नहीं है। मन भी जीवन्त नहीं है; मन भी पदार्थ है, और सूक्ष्म यंत्र है। यह जो पदार्थ यंत्र है, ये दोनों तरफ से संगृहीत करता चला जाता है। इसलिए समाधि से लौटा हुआ साधक मन के द्वारा ही अनुमान करता है, मन से ही जानता है।

तो जितना परिशुद्ध मन हो, उतनी मन की खबर सही होती है; और जितना अशुद्ध मन हो, उतनी गलत होती है। जैसे कि टेपरिकॉर्डर आपका बिगड़ा हो, तो जो कहा जाये वह रिकॉर्ड तो करे, लेकिन पीछे समझ में न आए कि क्या कहा गया। रूप बिगड़ जाये, आकार बिगड़ जाये, ध्वनि बिगड़ जाये--कुछ समझ में आए, कुछ समझ में न आए।

इसलिए श्रवण से, मनन से, निदिध्यासन से, पहले मन पूरी तरह शुद्ध कर लिया जाता है। और मन शुद्ध ग्राहक बन जाता है--जो भी हो, उसकी शुद्ध प्रति-लिपि देने लगता है; तब समाधि में प्रवेश होता है।

तो अंतःकरण सब पकड़ लेता है। फिर भी सत्यनिष्ठा के कारण मुनियों ने, ऋषियों ने कहा है कि वह अनुमान है, क्योंकि मन भीतर तो कभी गया नहीं, इसलिए जो भी कह रहा है, वह यांत्रिक खबर है। उस खबर में भूलचूक हो ही सकती है।

और इसीलिए एक बात और ख्याल में ले लें। अगर एक हिन्दू समाधि में जायेगा, अगर एक मुसलमान समाधि में जायेगा, एक ईसाई समाधि में जायेगा, एक जैन समाधि में जायेगा, तो चारों के मन थोड़ी-थोड़ी अलग-अलग खबर देंगे, क्योंकि चारों का जो यंत्र है मन का, उसकी बनावट में थोड़ी-थोड़ी फर्क है।

समाधि का अनुभव तो एक है, लेकिन मन की बनावट में फर्क हैं। और जो आदमी जैन घर में पैदा हुआ है, उसका मन जैन ढंग से विकसित हुआ है, उसके यंत्र में जैन होना प्रवेश कर गया है। बचपन से उसने सुना है कोई परमात्मा नहीं है, तो उसकी बिल्ट-इन, उसके मन की एक प्रक्रिया हो गई है: 'कोई परमात्मा नहीं है'। और जो अन्तिम अनुभव है, वह आत्मा का अनुभव है, परमात्मा का अनुभव नहीं है--यह उसके मन ने सुन रखा है। यह मन तैयार है, संस्कारित है। फिर जब घटित होगी, तो यही मन तो रिकॉर्ड करेगा।

समाधि तो एक है, किसी को भी घटित हो, लेकिन मन अलग-अलग हैं, यह मन रिकॉर्ड करेगा। इस मन ने जाना है कि परमात्मा तो है ही नहीं। अन्तिम अनुभव आत्मा का अनुभव है, इससे ऊपर कोई अनुभव नहीं है। या यही अनुभव परमात्मा का अनुभव है, लेकिन अलावा कोई परमात्मा नहीं है। यह मन, जब समाधि में घटना घटेगी, तत्काल रिकॉर्ड करेगा कि यह आत्मा का परम अनुभव हो रहा है।

हिन्दू, जिसने सुन रखा है परमात्मा का अनुभव, और जिसने जान रखा है कि आत्मा जब लीन होती है भीतर, तो जो दर्शन होता है वह परमात्मा का है। उसका मन रिकॉर्ड करेगा: यह परमात्मा का दर्शन हो रहा है। घटना वही घट रही है, यह परमात्मा का अनुभव हो रहा है।

बौद्ध, जो आत्मा को भी नहीं मानता और परमात्मा को भी नहीं मानता, उसका मन दोनों ही बातें रिकॉर्ड नहीं करेगा, उसका मन कहेगा निर्वाण घटित हो गया--तुम मिट गए, शून्य हो गया।

इसीलिए शास्त्रों में फर्क है, क्योंकि शास्त्र मनों के रिकॉर्ड हैं--अनुभवों के नहीं। इसलिए हिन्दू-शास्त्र, जैन-शास्त्र, बौद्ध-शास्त्र में अन्तर होगा। अन्तर कभी-कभी ऐसा लगेगा कि बड़ा विपरीत है, क्योंकि मन के पास तो शब्द हैं, जो सीखे हैं। मन है सीखा हुआ--निर्मित।

ऐसा समझ लें, धर्म को अलग कर दें। ऐसा समझ लें कि आप संस्कृत सीखे हैं--या ग्रीक सीखे हैं--या अरेबिक सीखे है--तो मन के पास एक भाषा है। जब समाधि का अनुभव घटित होगा तो समाधि के अनुभव में तो भाषा का कोई भी सवाल नहीं है, लेकिन मन तो अपनी ही भाषा में रिकार्ड करेगा। जो अरबी जानता है, उसका मन यह कभी नहीं कह सकता कि समाधि घट गई; समाधि शब्द का ही उस मन को कोई पता नहीं है।

तो सूफी कहेगा--"फना"--मिट गये।

मतलब वही है।

आप देखते हैं, संन्यासी की कब्र को हम समाधि कहते हैं--इसीलिए; हर किसी की कब्र को समाधि नहीं कहते। उसी की कब्र को समाधि कहते हैं जो जीते-जी मिट गया हो, और मौत को मिटाने के लिए कुछ बचा ही न हो; मौत जब आए तो मिटाने को कुछ बचा ही न हो; जो खुद ही फना हो गया हो, समाप्त हो गया हो।

तो सूफी कहेगा "फना", हिन्दू कहेगा "समाधि", बौद्ध कहेगा "निर्वाण"। ये शब्द तो मन के पास हैं। तो मन तत्काल अपनी भाषा में अनुवादित कर लेगा; जो भी भीतर घटित होगा, मन का यंत्र अनुवादित कर लेगा। हमें कठिनाई

लगती है कि यंत्र कैसे अनुवादित करता होगा? तो आपको यंत्रों के संबंध में बहुत पता नहीं है, इसलिए कठिनाई लगती है।

नवीनतम जो यंत्रों की शोध है, वह बहुत अद्भुत है। जो मन कर सकता है, वह काम सभी यन्त्र कर सकता है। ऐसा कोई भी काम मन का नहीं है, जो यन्त्र न कर सके। इससे एक बड़ी खतरनाक बात हो गई कि अगर मन का सारा काम यन्त्र कर लेता है तो मन तो यान्त्रिक हो गया। तो जो लोग मानते हैं कि मन के पार कोई आत्मा नहीं है, उनके लिए आदमी यन्त्र हो गया, फिर उसमें कुछ बचा नहीं।

अगर यह सच है कि कोई आत्मा नहीं है, तो आदमी सिर्फ एक यन्त्र है। और बहुत कुशल यन्त्र भी नहीं, उससे ज्यादा कुशल यन्त्र हो सकते हैं।

यू० एन० ओ० में पाँच भाषाओं में यन्त्र अनुवाद कर देते हैं। मैं यहाँ बोल रहा हूँ हिन्दी में, तो पाँच भाषाओं में अनुवाद करने की व्यवस्था यू० एन० ओ० में की गई है; पाँच बड़ी भाषाओं में तत्काल अनुवाद हो जाता है। कोई अनुवादक नहीं करता, यन्त्र ही। मैं यहाँ कहता हूँ, 'प्रेम' तो अंग्रेजी में अनुवाद करनेवाला यन्त्र तत्काल 'लव' कर देता है। यह प्रेम की जो चोट पड़ती है भीतर यन्त्र पर, यन्त्र वैद्युत्तिक रूप से इसको दूसरी चोट में बदल देता है, जो लव का उद्घोष कर देती है।

तो यन्त्र अनुवाद करते हैं; यन्त्र गणित करते हैं; यन्त्र स्मृति रखते हैं; यन्त्र सभी काम करने लगे हैं जो मनुष्य का मन करता है।

इसलिए जब पहली दफा योगियों ने, उपनिषदों ने, तान्त्रिकों ने कहा था कि मन एक यन्त्र है, तो दुनिया की समझ में नहीं आया था। लेकिन अब तो विज्ञान ने यन्त्र बना दिये हैं, और कोई अड़चन नहीं है।

यह मन दो-तरफा संग्रह करता है—समाधि का भी, संसार का भी। संसार की खबर भी मन से मिलती है और ब्रह्म की खबर भी मन से मिलती है।

अब हम इस सूत्र में प्रवेश करें।

जिसको यह अनुभव हो जाता है कि सारे प्रतिबिंब मन पर निर्मित होते हैं, जिसे यह अनुभव हो जाता है कि जितना भीतर मैं प्रवेश करता हूँ, केन्द्र पर जाकर, मेरे ऊपर कोई भी संस्कार निर्मित नहीं होते हैं, सारे संस्कार मन पर ही निर्मित होते हैं—स्वयं पर नहीं, तब यह सूत्र समझ में आयेगा।

"आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जानकर योगी भविष्य के कर्मों से लेशमात्र लिप्त नहीं होता।"

बहुत बातें हैं इसमें समझने की।

'आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जानकर...'

आकाश को हम देखते हैं रोज। एक पक्षी आकाश में उड़ता है, कोई चिह्न पीछे नहीं छूट जाते। ज़मीन पर चलते हैं, पद्चिह्न छूट जाते हैं। गीली ज़मीन हो, और ज़्यादा छूट जाते हैं। पत्थर की ज़मीन हो, हल्के छूटते हैं। लेकिन कोशिश करके गहरे किये जा सकते हैं। लेकिन आकाश में पक्षी उड़ता है तो कोई पद्चिह्न नहीं छुटते। पक्षी उड़ जाता है, आकाश वैसा-का-वैसा होता है, जैसा पहले था पक्षी के उड़ने के। कोई उपाय नहीं है पता लगाने का कि यहाँ से पक्षी उड़ा है। आकाश में बादल घिरते हैं, आते हैं, चले जाते हैं, आकाश वैसा ही बना रहता है जैसा था।

आकाश को अशुद्ध करने का, संस्कारित करने का, आकाश में निशान बनाने का कोई उपाय नहीं है। पानी में हम बनाते हैं लकीरें, बनती हैं, बनते ही मिट जाती हैं। पत्थर पर बनाते हैं, बनती हैं, मिटने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। आकाश में लकीर ही नहीं खिंचती। बनती ही नहीं, मिटने का कोई सवाल ही नहीं है।

फर्क को समझ लें: आकाश में लकीर बनती ही नहीं। मैं अपनी अँगुली खींचता हूँ आकाश में, अँगुली खिंच जाती है, लकीर नहीं बनती; मिटने का कोई सवाल ही नहीं है।

जिस दिन कोई व्यक्ति मन के पार उठता है, जिस दिन चेतना मन के पीछे सरक जाती है, उस दिन अनुभव होता है कि इस आत्मा पर आकाश की भाँति अब तक कोई भी,...कोई भी निशान निर्मित नहीं हुआ है; यह सदा से शुद्ध, और सदा से बुद्ध, इस पर कोई विकृति घटित नहीं हुई है।

'आकाश की तरह अपने को असंग...'

'असंग' बड़ा कीमती शब्द है। असंग का अर्थ है, सबके साथ है और फिर भी साथ नहीं है। आकाश सब तरफ मौजूद है। वृक्ष को भी आकाश ने घेरा है, आपको भी आकाश ने घेरा है, साधु को भी आकाश घेरे हुए है, असाधु को भी आकाश घेरे हुए है, अच्छा कर्म हो रहा हो तो भी आकाश मौजूद है, बुरा कर्म हो रहा हो तो भी आकाश मौजूद है; पाप करो, पुण्य करो—जियो, मरो—आकाश मौजूद है, लेकिन असंग; आपके साथ मौजूद है, लेकिन संगी नहीं है आपका। आपसे कोई सम्बन्ध नहीं बनाता। मौजूद है, लेकिन मौजूदगी असंग है। हमेशा मौजूद है, फिर भी आपसे कोई दोस्ती नहीं बनती, कोई सम्बन्ध निर्मित नहीं होता।

असंग का अर्थ है असम्बन्धित। है तो, लेकिन कोई सम्बन्ध नहीं है। आप हट जायें, तो आकाश को पता भी नहीं चलता कि आप कभी थे। कितनी पृथ्वियाँ बनती हैं और खो जाती हैं! कितने लोग जन्मते हैं और मर जाते हैं! कितने महल

खड़े होते हैं, धूल-धूसरित हो जाते हैं! कितना हो चुका है, आकाश के पास कोई भी हिसाब नहीं है। आकाश से पूछें आकाश के पास कोई इतिहास नहीं है; सब खाली है। जैसे कभी कुछ न हुआ हो, आकाश ऐसा ही है।

लौट के पीछे देखें, अरबों-खरबों वर्ष--कहते हैं पृथ्वी को भी हुए चार अरब वर्ष हो गये, इस चार अरब वर्ष में इस छोटी-सी पृथ्वी पर कितना नहीं घटा है: कितने युद्ध, कितने प्रेम, कितनी मित्रताएँ, कितनी शत्रुताएँ, कितनी जीत, कितनी हार, कितने लोग—आकाश के पास कोई हिसाब नहीं। जैसे कभी कुछ न हुआ हो, कोई रेखा नहीं छूट गई।

भारतीयों ने इतिहास नहीं लिखा। पश्चिम के लोग बहुत हैरान होते हैं, कि भारत के पास ऐतिहासिक बुद्धि क्यों नहीं है। हमें कुछ पक्का पता नहीं कि राम कब हुए। हमें कुछ पक्का हिसाब नहीं कि कृष्ण की जन्म-तिथि--सच में, ऐतिहासिक रूप से क्या है। कोई पक्का नहीं है। कथाएँ हमारे पास हैं, लेकिन ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

इतिहास को मनुष्य की दुनिया में प्रवेश कराने का श्रेय ईसाइयत को है। जीसस जिस अर्थ में ऐतिहासिक हैं, उस अर्थ में बुद्ध, कृष्ण, परशुराम ऐतिहासिक नहीं हैं। जीसस के साथ दुनिया दो हिस्सों में बंट जाती है: पहली दुनिया, उसके पहले की दुनिया ग़ैर-ऐतिहासिक हो जाती है--प्रिहिस्टोरिकल, पूर्व-ऐतिहासिक; और जीसस के बाद की दुनिया ऐतिहासिक हो जाती है, हिस्टोरिकल हो जाती है।

इसलिए उचित यह है कि सन् जीसस का चले। ईसवी सन् चले, यह उचित ही है, क्योंकि जीसस के साथ जगत् में इतिहास प्रवेश करता है। तो हम कहते हैं 'जीसस के पूर्व' और 'जीसस के बाद'--रेखा खिंच जाती है।

भारत ने कभी इतिहास नहीं लिखा है, उसका कारण है। उसका एक कारण बुनियादी यही है, कि भारत ने यह अनुभव किया है, कि जिसके भीतर सब घटता है--जिस आकाश के भीतर, वही कोई हिसाब नहीं रखता, तो हम व्यर्थ का हिसाब क्यों रखे? जिसके भीतर सब घटता है, उसके पास ही कोई हिसाब नहीं रहता तो हम फिज़ूल पंचायत में क्यों पड़ें हिसाब रखने की: कौन कब पैदा हुआ और कौन कब मरा।

तो हमने इतिहास नहीं रखा, हमने पुराण निर्मित किया। पुराण भारतीय घटना है। पुराण भारतीय घटना है, इतिहास नहीं। पुराण का मतलब कुछ और होता है। पुराण का मतलब--हमने तिथि, तारीखें, जन्मदिन, मृत्युदिन--इनकी फिक्र नहीं की। हमने तो जो सार--राम हुए, हमने इसकी फिक्र नहीं की कि कब हुए, किस सन् में हुए, कब पैदा हुए, कब पढ़ने गए, कब विवाह हुआ, इस सबकी हमने फिक्र

नहीं की; क्योंकि इसका तो कोई हिसाब रखने का प्रयोजन नहीं मालूम पड़ा। लेकिन राम के होने की जो भीतरी घटना घटी--कि एक व्यक्ति राम हो गया, एक दिया जल उठा और प्रकाशित हो गया--हमने बस उतना स्मरण रख लिया। हमने बाकी खोल का, शरीर का कोई हिसाब नहीं रखा। हमने इतना स्मरण रख लिया कि बुझा हुआ दिया जल सकता है, प्रकाशित हो सकता है। मनुष्य का जीवन दुर्गन्ध ही नहीं है, वहाँ सुगन्ध भी घटी है--बस, इतना हमने हिसाब रख लिया। फिर, फिर हमने बाकी सब व्यर्थ की बातें छोड़ दीं, हमने उनका कोई हिसाब नहीं रखा।

तो हम यह जरूरी नहीं मानते कि राम हुए ही हों, इससे भी कोई प्रयोजन नहीं है। राम हो सकते हैं, बस इतना काफी है। राम के होने की घटना घट सकती है, हमने इतना स्मरण रखा है। यह स्मरण काफी है। कृष्ण हो सकते हैं। हुए हैं, नहीं हुए हैं, यह गौण है। हुए को भी हम ख्याल रखते हैं तो सिर्फ इसीलिए ताकि याद रहे कि हो सकते हैं; यह हमारे भीतर भी यह फूल खिल सकता है; और हमारे भीतर भी यह आनंद का झरना घट सकता है। इसलिए हमने पुराण...

पुराण का मतलब, वह जो सारभूत है--उतना ही।

चैतन्य में प्रवेश करके पता लगता है कि आकाश में कोई रेखा नहीं छूटती, लेकिन आपका जो सार है वह छूट जाता है।

इसे थोड़ा समझ लें:

आकाश में कोई रेखा नहीं छूटती, लेकिन आपकी जो सार-सुगन्ध है वह छूट जाती है। और वह इसीलिए छूट जाती है कि उसका आकाश से कोई विजातीय मामला नहीं है, वह स्वयं ही आकाश है आपके भीतर। आप जब मरते हैं, तो आपके भीतर का आकाश ही केवल आकाश में छूट जाता है, बाकी सब खो जाते हैं। उस आकाश को, तो आकाश बिलकुल भीतरी आकाश को हम आत्मा कहते हैं।

एक विस्तार है बाहर, एक विस्तार भीतर भी है। बाहर के आकाश में भी बादल घिरते हैं और आच्छादित मालूम पड़ता है आकाश। वर्षा के दिन में आषाढ़ के साँझ में, सब ढंक जाता है--और कोई सोच भी नहीं सकता कि वह नीला आकाश कभी था, या वह नीला आकाश फिर कभी मिलेगा। जब काले बादल घेर लेते हैं, दिखाई नहीं पड़ता, बादल ही दिखाई पड़ते हैं।

बाहर का आकाश भी बादलों से घिरता है, भीतर का आकाश भी बादलों से घिरता है। भीतर के आकाश के जो बादल हैं, उनको ही विचार, विकल्प, विकार --जो भी हम नाम देना चाहें--वे भीतर घिर जाते हैं। जब भीतर के आकाश में भी बादल घिर जाते हैं, तो वहाँ भी ऐसा लगता है कि पीछे कोई निरभ्र आकाश

नहीं है। इन बादलों को हटाना ही साधना है; इन बादलों को हटा के ही नीले आकाश में झाँक लेना।

असंग आकाश में झाँक लेना उपलब्धि है, सिद्धावस्था है।

यह सूत्र कहता है:

'आकाश के समान अपने को असंग और उदासीन...'

आकाश न आपके साथ हँसता है, न आपके साथ रोता है। आप मरें, तो आकाश से आँसू की बूंद नहीं टपकती; आप जीयें, प्रफुल्लित हों, तो आकाश आपकी खुशी में नूपुर बाँध के नाचता नहीं। आकाश बिलकुल उदासीन है। क्या घट रहा है, इस पर आकाश कोई वक्तव्य ही नहीं देता। मुर्दे को मरघट की तरफ ले जा रहे हैं, तो; नये बच्चे की खुशी में बैंड-बाजा बजा रहे हैं, तो; विवाह हो गया है और घरों को फूलों से सजा लिया है, तो; प्रियजन खो गया है और जीना व्यर्थ मालूम पड़ रहा है, तो--आकाश उदासीन है। क्या घट रहा है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसे ही कोई भीतर के अंतरआकाश में प्रवेश करता है, वह भी ऐसा ही उदासीन हो जाता है; क्या हो रहा है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता: आकाश की तरह देखने लगता है जगत् को।

आकाशी-भाव आ जाये, तो ही जानना कि जीवन्मुक्ति हुई। आकाश की तरह भीतर कोई रेखा न खिचे; कुछ भी हो जाये बाहर, सब नाटक रह जाये; सब परिधि पर होने लगे, केन्द्र पर कोई भी स्पर्श न पहुँचे।

मन के पीछे हटते ही, ऐसा हो ही जाता है।

"आकाश के समान अपने को असंग, उदासीन जानकर योगी भविष्य के कर्मों में लेशमात्र लिप्त नहीं होता।"

यह दूसरा हिस्सा इस सूत्र का: जब कोई जान लेता है कि अतीत का कोई भी कर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सका--हारा, तो मेरी आत्मा हारी नहीं--और जीता, तो मेरी आत्मा जीती नहीं; सम्मान हुआ, तो मेरी आत्मा में कुछ बढ़ा नहीं; अपमान हुआ, तो मेरी आत्मा में कुछ घटा नहीं--ऐसी जिसको प्रतीति हो जाये, स्वभावतः, भविष्य के कर्म उसके लिए व्यर्थ हो जायेंगे। अब अतीत के कोई कर्म मुझे छू नहीं सके तो भविष्य के भी कोई कर्म मुझे छू नहीं सकेंगे। इसलिए भविष्य की योजना बन्द हो जायेगी। फिर वह नहीं सोचेगा कि मैं सफल न हो जाऊँ, फिर वह नहीं सोचेगा कि कहीं मैं असफल न हो जाऊँ, फिर वह नहीं सोचेगा कि मेरी प्रतिष्ठा रहे, फिर वह नहीं सोचेगा कि कहीं कोई अप्रतिष्ठित न कर दे, कोई अपमान न कर जाये; जिसने देख लिया स्वयं को, देखते ही सारा अतीत असम्बन्धित

हो गया; उसी क्षण सारा भविष्य भी असम्बन्धित हो गया।

भविष्य अतीत का ही विस्तार है। जो-जो हमने भविष्य में जाना है--सुखद पाया है, दुःखद पाया है, उसको ही हम भविष्य में पुनः-पुनः आयोजन करते हैं। जिसे सुखद पाया है, उसकी चाह करते हैं भविष्य में--और जिसे दुःखद पाया है उसे भविष्य में भोगना न पड़े, इसकी चाह करते हैं।

हमारा भविष्य क्या है? अतीत का ही प्रतिफलन है, अतीत का ही थोड़ा सुधारा हुआ रूप है। कल कुछ किया था, उसमें दुःख पाया, तो हम कल उसे नहीं करना चाहते। कल कुछ किया था, सुख पाया, तो हम उसे कल और ज्यादा मात्रा में करना चाहते हैं।

अगर पूरा अतीत ऐसा दिखाई पड़ जाए कि सुख और दुःख, शुभ और अशुभ, कोई भी नहीं छू सके मुझे, मैं आकाश की तरह खाली-का-खाली हूँ, शून्य-का-शून्य, कोई रेखा नहीं खिंची मुझ पर, असंस्कारित, अन्कन्डिशन्ड रह गया हूँ--सारे की सारी यात्रा हो गई इतनी और मैं भीतर अस्पर्शित, कुँआरा-का-कुँआरा रह गया हूँ --तो फिर भविष्य व्यर्थ हो गया।

ध्यान रहे, जीवन्मुक्त का कोई भविष्य नहीं है। और अगर आपका थोड़ा-सा भी भविष्य बाकी है, तो समझना कि अभी अंतर्आकाश का अनुभव नहीं हुआ है। अगर कोई योगी अभी भी सोच रहा है कि मोक्ष कैसे पाऊँ, अभी भी सोच रहा है कि कैसे परमात्मा का दर्शन हो, तो अभी जानना कि अंतर्आकाश का अनुभव नहीं हुआ है। ये सब योजना है--भविष्य की योजना है। अभी भविष्य है। जरा-सा इंचभर भी भविष्य है तो काफी भविष्य है। इंचभर भी भविष्य इस बात की खबर देता है, कि अभी यह अनुभव नहीं हुआ है कि आत्मा को कोई भी कर्म छूता नहीं है। मोक्ष भी नहीं छूएगा, ईश्वर भी नहीं छुएगा। असल में यह अछूतापन, यह शाश्वत अछूतापन ही मोक्ष है। यह शाश्वत अस्पर्शित रह जाना ही भगवत्ता है; यही भगवान् होना है; कुछ और भगवान् का अर्थ नहीं है।

कृष्ण को अगर हम भगवान् कहते हैं, या महावीर को भगवान् कहते हैं, या बुद्ध को भगवान् कहते हैं, तो क्या अर्थ है? कोई बुद्ध ने दुनिया बनायी है?--इसलिए भगवान्? क्या, भगवान् का अर्थ? बुद्ध को भी बीमारी आती है, बुद्ध भी जीर्ण होते हैं, बुद्ध भी मरते हैं, शरीर बिखरता है;--कैसे भगवान्? दुःख आता है, बीमारी आती है, जीर्ण होते हैं, मरते हैं: भगवान् को तो मरना नहीं चाहिए; भगवान् को तो वृद्ध नहीं होना चाहिए; भगवान् को तो बीमारी नहीं लगनी चाहिए। बुद्ध को

भी भूख लगती है, प्यास लगती है; चाकू मार दें तो खून बहता है! —कैसे भगवान्? --क्या अर्थ भगवान् का?

भगवान् का यही अर्थ है कि यह सब होता है, और भीतर जो छिपा है वह जानता है कि कुछ भी नहीं छूता; यह सब होता है। हाथ काट दो तो खून बहता है --भूख लगती है, प्यास लगती है, बुढ़ापा आता है, मृत्यु आती है--लेकिन भीतर जो अंतर्आकाश है बुद्ध के, वह जानता है कि कुछ भी छूता नहीं। न मौत छूती है, न जीवन छूता है। जीवन भी निकल जाता है, मौत भी निकल जाती है—जवानी भी, बूढ़ापा भी--और भीतर वह जो कुँआरापन है, वह अछूता, अस्पर्शित रह जाता है; उसमें कोई भंग नहीं होता; वहाँ कोई खबर ही नहीं पहुँचती कि बाहर क्या हो गया है।

इस अनुभव का नाम भगवत्ता है।

तो कोई आदमी अगर भगवान् के दर्शन की तलाश कर रहा है, तो उसका भविष्य है। जिसका भविष्य है, उसका भगवान् से कभी कोई मिलन नहीं है। भविष्य यानी संसार। भविष्य का अर्थ है अतीत का सत्य अभी दिखाई नहीं पड़ा; अभी यह अनुभव में नहीं आया कि मैं आकाशवत् हूँ।

इसलिए यह सूत्र कहता है कि योगी के लिए भविष्य के कर्मों में लेशमात्र रस नहीं रह जाता। कल योगी के लिए है ही नहीं, बस आज है। आज भी बड़ा है, कहना चाहिए यही क्षण है—पल-मात्र, अभी और यहीं उसका होना है। उसकी कोई दौड़ आगे की तरफ नहीं है।

"जिस प्रकार मदिरा के घड़ों में रहा हुआ आकाश, मदिरा की गंध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा उपाधि का संयोग होने पर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होती।"

घड़ा है, शराब भरी है, तो घड़ा तो प्रभावित हो जाता है शराब से। घड़े की मिट्टी तो शराब को पी जाती है। घड़े के रोएँ-रोएँ में शराब भर जाती है। और अगर बहुत पुराना घड़ा हो और बहुत शराब रही हो, तो घड़े की मिट्टी भी खा जायें तो नशा चढ़ सकता है। तो घड़े की मिट्टी तो आच्छादित हो जाती है शराब से, भर जाती है। क्यों? मिट्टी पोरस है।

समझ लें थोड़ा। मिट्टी में छिद्र हैं। उन छिद्रों में शराब भर जाती है और छिप जाती है। घड़ा शराब पी लेता है और शराबी हो जाता है। हूँ...घड़ा भी मतवाला हो जाता है। लेकिन घड़े में एक और तत्त्व भरा हुआ है-- आकाश; घड़े का खालीपन...

अब यह बड़े मजे की बात है कि घड़े की मिट्टी में शराब भरी नहीं जाती, शराब

तो भरी जाती है घड़े के भीतर के खालीपन में। शराब तो भरती है--घड़े में नहीं घड़े के भीतर जो आकाश है--उसमें। शराब को जब हम भरते हैं, तो किसमें भरते हैं, मिट्टी में? नहीं, मिट्टी तो केवल उस आकाश को चारों तरफ से बाँधने का उपाय है। आकाश है बड़ा, और शराब है थोड़ी; पूरे आकाश को आप भर न सकेंगे, इसलिए छोटे-से आकाश को चुनते हैं: मिट्टी की दिवाल बनाते हैं, छोटा-सा आकाश चुन लेते हैं भीतर, उसमें शराब भरते हैं।

शराब भरी जाती है आकाश में, मिट्टी में नहीं। मगर मज़ा यह है कि मिट्टी दीवानी हो जाती है और पागल, और जिसमें भरी जाती है आकाश, वह अछूता रह जाता है। शराब बाहर निकाल लें घड़े के, तो वह जो खाली जगह है, उसमें जरा भी शराब की गंध नहीं होती, मिट्टी में होती है। मिट्टी तो सन्निधि से भी दीवानी हो जाती है। सिर्फ सत्संग का परिणाम पड़ जाता है। और आकाश में भरा हुआ है सब, और वह अस्पर्शित रह जाता है।

तो जो भी आपने किया है, वह सब आपके शरीर को छुआ है, बस। वह आपकी मिट्टी में गया है। जो भी आपने किया है, वह आपके भीतर के आकाश, आपकी आत्मा को नहीं छुआ है। किये हों पाप, किये हों पुण्य; किया हो अच्छा, किया हो बुरा; जो भी किया है, वह आपकी मिट्टी में, आपके घड़े में समा गया है।

मन भी आपकी मिट्टी है और आपका शरीर भी। इन दोनों के बीच में जो रिक्त है, शून्य है, वह है आपकी आत्मा। वहाँ तक कुछ भी नहीं पहुँचा है। कभी नहीं पहुँचा है।

ऐसा जान लेना, ऐसा अनुभव कर लेना, तो उपाधि से मुक्त हो जाना है। उपाधि कभी आपको है ही नहीं, उपाधियाँ शरीर, मन की हैं। लेकिन, जो शरीर पी गया है, वह शरीर भोगेगा।

आत्मज्ञानी का शरीर भी वह भोगेगा, जो शरीर पी गया है। अच्छा है, बुरा है; सुख है, दुःख है; जो किया है, जो घटा है; अतीत रोएँ-रोएँ में समाया है। तो जिस दिन यह परमज्ञान की घटना भी घटती है, और व्यक्ति जाग के आकाशवत् हो जाता है, उस दिन भी शरीर में जो होता रहा है, उसकी यात्रा पूरी होगी।

यह करीब-करीब ऐसा कि आप साईकल चला रहे हैं, और आपने पैंडल मारने बन्द कर दिये, आपको समझ में आ गया यात्रा व्यर्थ है, कहीं जाना नहीं है; लेकिन साईकल में एक मोमेन्टम् है। हजारों मील से आप चलाते चले आ रहे थे, तो सायकिल ने गति अर्जित कर ली है। आपने पैंडल बंद कर दिये तो साईकल अभी नहीं रुक जाएगी। साईकल तो थोड़ा चलेगी, बिना पैंडल के चलेगी। आप नहीं चला रहे हैं तो भी चलेगी; क्योंकि साईकल ने गति अर्जित कर ली है। वह गति

साईकल के भीतर भर गई है। वह गति जब तक पूरी न निकल जाये, तब तक साईकल चलेगी। फिर गिरेगी, जब पूरी गति निकल जायेगी। अगर आप गति देते चले जायें, तो कभी नहीं गिरेगी। आप गति बंद कर लें तो उसी वक्त नहीं गिरेगी, थोड़ा समय लेगी।

तो, हम तो जन्मों-जन्मों से शरीर पर सवार हैं, और जन्मों-जन्मों से मन की यात्रा कर रहे हैं। आज अगर जाग के अलग भी हो जायेंगे, तो इसी वक्त मन और शरीर नहीं गिर जायेगा। मन और शरीर ने तो जो गति अर्जित कर ली है—मोमेन्टम्, उसको पूरा करेगा।

"जिस प्रकार लक्ष्य को उद्देश्य करके छोड़ा गया बाण लक्ष्य को बींधे बिना नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान के उदय होने के पहले किया गया कर्म, ज्ञान के उदय होने के बाद भी उसका फल दिये बिना नहीं रहता।"

तो चाहे बुद्ध हों, और चाहे कृष्ण हों, और चाहे कोई हो, वह जो पीछे किया है, उसका फल, उसकी पूर्ण निष्पत्ति होगी, उसका परिपाक होगा।

"अर्थात् किये हुए कर्म का फल तो ज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद भी भोगना ही पड़ता है। ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं होता।"

ज्ञान द्वारा अनुभव होता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, लेकिन ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं होता। वह जो कर्म किया है, वह पूरा होगा।

उदाहरण लिया है कि जैसे तीर छोड़ दिया; निशाना लगाया, तीर छोड़ दिया। छोड़ते ही तीर, ख्याल आया, बोध आया कि यह मैं हिंसा कर रहा हूँ, न करूँ, तो भी अब कुछ होगा नहीं, तीर अपनी यात्रा पूरी करेगा।

एक शब्द मैंने बोला, और बोलते ही मुझे लगा कि नहीं बोलना था, लेकिन अब शब्द अपनी यात्रा पूरी करेगा। बोलते ही जो गति शब्द को मिल गई है, जब तक वह गति समाप्त् न हो जायेगी, तब तक शब्द चलता रहेगा।

एक पत्थर हम फेंकते हैं, तो पत्थर जब हम फेंकते हैं, तो अपनी शक्ति पत्थर को दे देते हैं। उसी शक्ति के सहारे पत्थर जाता है; जहाँ तक शक्ति रहती है वहाँ तक यात्रा करता है, फिर गिर जाता है। हमें बीच में ख्याल भी आ जाये कि नहीं फेंकना था, तो भी अब उसे लौटाने का कोई उपाय नहीं है।

कर्म छूटे हुए बाण हैं। बीच में स्मरण आने से कुछ भी न होगा; वे अपनी यात्रा पूरी करके ही गिरेंगे। और जब तक उनकी पूरी, सारे कर्मों की यात्रा पूरी नहीं हो जाती, तब तक जीवन्मुक्ति रहेगी, मोक्ष नहीं होगा।

इसे समझ लें। तब तक व्यक्ति मुक्तभाव में रहेगा, लेकिन उसके आसपास शरीर और मन का कर्मजाल चलता रहेगा। नया पोषण नहीं होगा अब, लेकिन पुराना जो पोषण है, वह जब तक रिक्त, चुक न जाये, तब तक चलता रहेगा।

ऐसा समझें, कि अगर आप उपवास करके जीवन छोड़ देना चाहें, तो आज आप उपवास करेंगे तो आज ही नहीं मर जायेंगे--तीन महीने लगेंगे, कम-से-कम--ज्यादा भी लग सकते हैं; लेकिन तीन महीने तो लगेंगे ही। नब्बे दिन के उपवास के बाद ही मृत्यु घटित हो सकती है।

क्यों? आपने आज उपवास किया, आज ही मर जाना चाहिए। लेकिन आपके शरीर के पास अर्जित माँस है, वह जो आपने पीछे इकट्ठा कर लिया है। तीन महीने लग जायेंगे उस माँस के पचने में। तीन महीने में आपकी हड्डी-हड्डी रह जायेगी। आपका अर्जित भोजन जो शरीर में इकट्ठा था, वह आप पचा लेंगे। इसलिए एक दिन आप उपवास करते हैं तो एक पौंड वजन कम हो जाता है। तो जितना मोटा आदमी हो, उतनी देर टिक जायेगा। संग्रह है उसके पास ज्यादा। संग्रह उसके पास ज्यादा है, वह उसको एक-एक पौंड पचाता जायेगा। जब तक उसका संगृहीत नहीं पच जाता तब तक शरीर से छुटकारा नहीं होगा, शरीर नहीं टूटेगा। तीन महीने लगेंगे।

ठीक ऐसे ही, जब चेतना जाग जाती है पूरी, उसी वक्त मोक्ष हो जाना चाहिए, पर नहीं होता। कभी-कभी हुआ है। बहुत,...बहुत न्यून घटनाएँ हैं, न के बराबर: कि ज्ञान के साथ और मोक्ष हो गया है। उसका मतलब यह हुआ, कि कोई ऐसा आदमी हो बिलकुल हड्डी-हड्डी, कुछ अर्जित ही न हो, कि पहले ही दिन उपवास कर ले और प्राणान्त हो जायें। उसका मतलब हुआ कि भीतर बिलकुल है ही न कुछ, मरने को तैयार ही थे। पर ऐसा आदमी खोजना कठिन है। भिखारी-से-भिखारी के पास भी थोड़ी संपदा रहती है। भूखे-से-भूखा आदमी भी थोड़ा-सा अर्जित कोष रखता है। वह एमरजेन्सी के लिए ज़रूरी है। इसलिए उसको बचाये रखता है।

संयोग से कभी ऐसा हो सकता है कि किसी व्यक्ति के कर्मों की भी समाप्ति उसी क्षण में हो, जिस क्षण में उसको बोध हो। लेकिन यह बहुत मुश्किल मामला है; बहुत, कभी ऐसा हुआ है। साधारणत: तो—चाहे बुद्ध, चाहे महावीर, चाहे कोई और—रुका है, जीया है—ज्ञान के बाद वर्षों तक। वह जीने का कारण, मुक्ति तो घटित हो गई, लेकिन अतीत के कर्मों का बोझ, और अतीत की शक्ति, शरीर को धकाये लिए जाती है यात्रा में। जब वह शक्ति चुक जायेगी, उस वक्त जीवन्मुक्ति मोक्ष बन जायेगी।

पर ज़रूरी है, और उपयोगी भी है; क्योंकि जीवन्मुक्त अगर उसी वक्त मोक्ष को उपलब्ध हो जाये, तो जीवन्मुक्त ने जो जाना है, वह हमें बता भी नहीं पायेगा।

जीवन्मुक्त हमें बता पाता है इसीलिए, कि उसकी मुक्ति और मोक्ष के बीच अन्तर है, समय है।

चालीस साल बुद्ध जीये, चालीस साल महावीर जीये। ये चालीस साल ही हमारे काम पड़े। इन चालीस साल में जो उन्होंने जाना है, जो अनुभव किया है, वह उनका मन हम तक संवादित कर सका।

"बाघ समझकर छोड़ा हुआ बाण भी छूटने के बाद, 'यह बाघ नहीं है वरन् गाय है', ऐसी बुद्धि आ जाने पर भी रुक नहीं सकता। वेगपूर्वक लक्ष्य को पूरी तरह बेधेगा ही। इसी प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान हो जाने के बाद भी फल प्रदान करता है।"

इसलिए अगर आपको कभी ज्ञानी भी कई तरह के दुःख में पड़ता हुआ दिखाई पड़े, तो आप यह मत सोचना कि इतना ज्ञानी, इतना सात्विक, फिर परमात्मा इसको क्यों सता रहा है! कोई किसी को सता नहीं रहा है; क्योंकि कोई कितना ही बड़ा ज्ञानी हो, अज्ञान की लम्बी यात्रा तो पीछे है ही। ज्ञानी होने का मतलब ही यह है कि काफी अज्ञान में यात्रा हो गई है। उस यात्रा में जो धूल-धवाँस इकट्ठी हो गई है उसे तो भोगना ही पड़े। पर ज्ञानी उसे भोगता है आकाशभाव से। हाँ, उसके आसपास जो लोग इकट्ठे होते हैं, वे आकाशभाव से नहीं भोग पाते।

रामकृष्ण को कैन्सर हुआ तो विवेकानन्द तो रोते ही थे। अभी विवेकानन्द को आकाशभाव उत्पन्न नहीं हुआ था। रमण को कैन्सर हुआ तो पूरा आश्रम तो दुःखी होगा ही, क्योंकि जो इकट्ठे थे उनका तो कोई आकाशभाव नहीं है।

रमण से मरते वक्त, जैसे ही वे श्वास छोड़ रहे थे, किसी ने पूछा: "अब हमारा क्या होगा?" तो रमण ने कहा, "क्या होगा! मैं यहीं रहूँगा—आई वील बी हीयर; मैं यहीं रहूँगा।"

आश्वासन आ गया।...आँसू रुक गये रोनेवालों के,...कि भरोसा उन्होंने दे दिया कि मैं यहीं रहूँगा। मतलब वे नहीं मरनेवाले हैं, और वे मर गये! समझ में भूल हो गई। वे जो कह रहे थे, मैं यहीं रहूँगा, वो उस आकाश की बात कर रहे थे। जो घड़े के फूट जाने पर भी कहाँ जायेगा?

घड़ा ही फूटता है। रमण कहते हैं, मैं यहीं रहूँगा; किसलिए रोते हो?

पर यह आकाश का वचन है: मैं यहीं रहूँगा। यह घड़े का वचन नहीं है। पर जो आसपास थे उन्होंने समझा घड़े का वचन है: घड़ा यहीं रहेगा। फिर घड़ा फूट गया। फिर वे सोचने लगे कि क्या रमण धोखा दे गये। क्या हमको समझाने को कहा था? क्या सांत्वना थी यह?

यह सांत्वना नहीं थी, यह सत्य था।

लेकिन, अब इस आकाशवत् रमण को अनुभव करने का उपाय आपके पास तब तक नहीं है, जब तक आप अपने आकाश को अनुभव न कर लें। जब तक आप अपने को घड़ा ही समझते हैं, तब तक रमण तो गए।

रामकृष्ण मरने लगे, तो उनकी पत्नी शारदा रोने लगी, छाती पीटने लगी। तो रामकृष्ण ने कहा, तू क्यों रोती है? तू तो सधवा ही रहेगी; तू विधवा नहीं होगी।

खुश हो गई होगी शारदा। और रामकृष्ण मर गये। और कह गये कि तू सधवा ही रहेगी; मैं कहीं मरनेवाला हूँ!

पर शारदा अद्भुत स्त्री थी। रामकृष्ण मर गये, रामकृष्ण दफना दिये गये, लेकिन शारदा की आँख से आँसू न टपका। बँगाल का जैसा रिवाज था, लोग आ गये चूड़ियाँ तोड़ने, शारदा ने कहा, रहने दो; क्योंकि मैं सधवा हूँ।

लोगों ने कहा, अब सफेद कपड़े पहन लो। शारदा ने कहा, बात ही मत करना। क्योंकि जिसने कहा है, उसके वचन का मुझे भरोसा है। वो कोई सांत्वना के लिए नहीं कहा था।

तो बड़ी मीठी कथा घटी है। शारदा जितने दिन जिन्दा रही, उसने माना ही नहीं, कभी स्वप्न में भी कि रामकृष्ण मर गये हैं। लोग हैरान होते थे कि या तो शारदा पागल हो गई है। लेकिन पागल नहीं थी। क्योंकि पागल का कोई और लक्षण न था। बल्कि सच तो यह है कि जिस दिन से रामकृष्ण मरे, और जिस दिन से रामकृष्ण की मृत्यु को शारदा ने स्वीकार नहीं किया, उसी दिन से वह स्वयं अमृत-धर्मा हो गई। उस दिन से वह स्वयं ही आकाशवत् हो गई।

वह अनुभव, रामकृष्ण की मृत्यु का, सिर्फ घड़े के मिटने का अनुभव रहा। और घड़े से तो कुछ लेन-देन भी न था। यह रामकृष्ण और शारदा का विवाह असाधारण विवाह था। इसमें घड़ों का तो कभी कोई संपर्क ही नहीं हुआ था। रामकृष्ण तो शारदा को माँ की तरह ही मानते रहे थे। इसमें शरीर का तो कोई लेनदेन ही न था। वो तो दो आकाश का ही मिलन था।

मीठी है बात, बड़ी अद्भुत, वर्षों शारदा जी है रामकृष्ण के मरने के बाद। लेकिन जैसे रोज वह भोजन बनाती थी और रामकृष्ण के पलंग के पास जाकर कहती थी कि परमहंसदेव, भोजन तैयार है, ये सब ऐसा ही जारी रहा; भोजन बनता रहा। शारदा रोज जाती पलंग के पास। कोई भी नहीं, किसी को रामकृष्ण... ···लोग रोते शारदा की बात सुनके कि वह कहती, परमहंसदेव, भोजन तैयार है। फिर जैसे रामकृष्ण के लिए रुकी रहती, जैसा वह सदा रुकती थी। फिर वह उठते। जब तक वे उठते न, तब तक वह खड़ी रहती। फिर रामकृष्ण आगे जाते

तो वह पीछे जाती। ये उसी को दिखाई पड़ता, यह किसी और को दिखाई नहीं पड़ता। फिर वह थाली पर बिठाती, फिर वह पंखा झलती रहती, फिर वह रोज उन्हें सुलाती, फिर रोज सुबह उठाती; वह सब क्रम वैसा ही चलता रहा।

किसी ने शारदा से पूछा है, कि किसको उठाती हो, किसको सुलाती हो, किसको खिलाती हो; ये सब क्या है?

तो शारदा ने कहा, जिसको पहले सुलाती थी, वही। अब देह खो गई है, अब सिर्फ आकाश रह गया है। जिसे खिलाती थी, उसे ही।

शारदा सधवा ही बनी रही...हूँ। पूरे मनुष्यजाति के इतिहास में यह अकेली घटना है: किसी पत्नी ने पति के मर जाने पर सधवा रहने का जो अनूठा अनुभव किया है; वह अकेली घटना है। इसलिए शारदा-जैसी स्त्री खोजनी बहुत मुश्किल है।

कर्म तो पूरे होते हैं ज्ञान हो जाने पर भी, पर जिसे अनुभव हो गया भीतर के शून्य का वह देखता रहता है साक्षीभाव से, जो भी होता है। अब उसकी कोई मर्जी और इच्छा नहीं है कि ऐसा हो और ऐसा न हो: जो होता है, वह स्वीकार कर लेता है।

साक्षी, अर्थात् तथाता। अब जो हो रहा है, ठीक है। नहीं हो रहा है, वह भी ठीक है। और कुछ भी मेरे भीतर कभी नहीं हुआ है और कभी नहीं हो सकता है, यह अनुभव में निष्ठा बनी रहती है।

"में अजर हूँ, मैं अमर हूँ, इस प्रकार जो अपने को आत्मारूप स्वीकार करता है, तो वह आत्मारूप ही रहता है। अर्थात् उसको प्रारब्ध कर्म की कल्पना कहाँ से हो? अर्थात् ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म का सम्बन्ध नहीं रहता।"

इसे समझ लें। यह सूत्र विपरीत-सा दिखाई पड़ेगा। विपरीत नहीं है। कर्म तो रहते हैं, लेकिन ज्ञानी को उनसे सम्बन्ध नहीं रहता। जो जान लेता है मैं आकाशवत् हूँ—अजर और अमर, सदा अलिप्त, असंग, उदासीन, तटस्थ; कभी अपने बाहर नहीं गया, कभी कोई मेरे भीतर नहीं आया; न जन्मा हूँ, न मरूँगा––सिर्फ होना-मात्र ही मेरी अवस्था है—ऐसा जो अनुभव कर लेता है, उसे कर्म घटित होते रहते हैं अतीत की शृंखला से, लेकिन उसका सम्बन्ध उनसे टूट जाता है।

दुःख आता है, शरीर में पीड़ा होती है, बुढ़ापा आता है, तो वह ऐसा नहीं कहता कि मैं बूढ़ा हो रहा हूँ; वह ऐसा ही कहता है कि मैं देखता हूँ: शरीर बूढ़ा हो रहा है। बीमारी आती है, तो वह कहता है, मैं देखता हूँ कि शरीर बीमार हो रहा है। दुख आता है तो वह कहता है, मैं देखता हूँ दुख आया। और सुख आता है तो वह कहता है, मैं देखता हूँ सुख आया। जो अपने देखने में ही थिर होता है,

वह जुड़ता नहीं। और जब कोई कर्म से नहीं जुड़ता, तो कर्म अपनी गति को पूरा करके लीन हो जाते हैं; शरीर अपनी यात्रा पूरी करके गिर जाता है; मन अपने संचित वेग को दौड़-दौड़ के तोड़ लेता है, पस्त हो जाता है; और साक्षी शून्य आकाश के साथ एक हो जाता है।

जब तक शरीर है, तब तक जीवन्मुक्ति है; जब शरीर भी गिर जाता है, तो मोक्ष।

पन्द्रहवाँ प्रवचन

२० आक्तूबर, १९७२, रात्रि
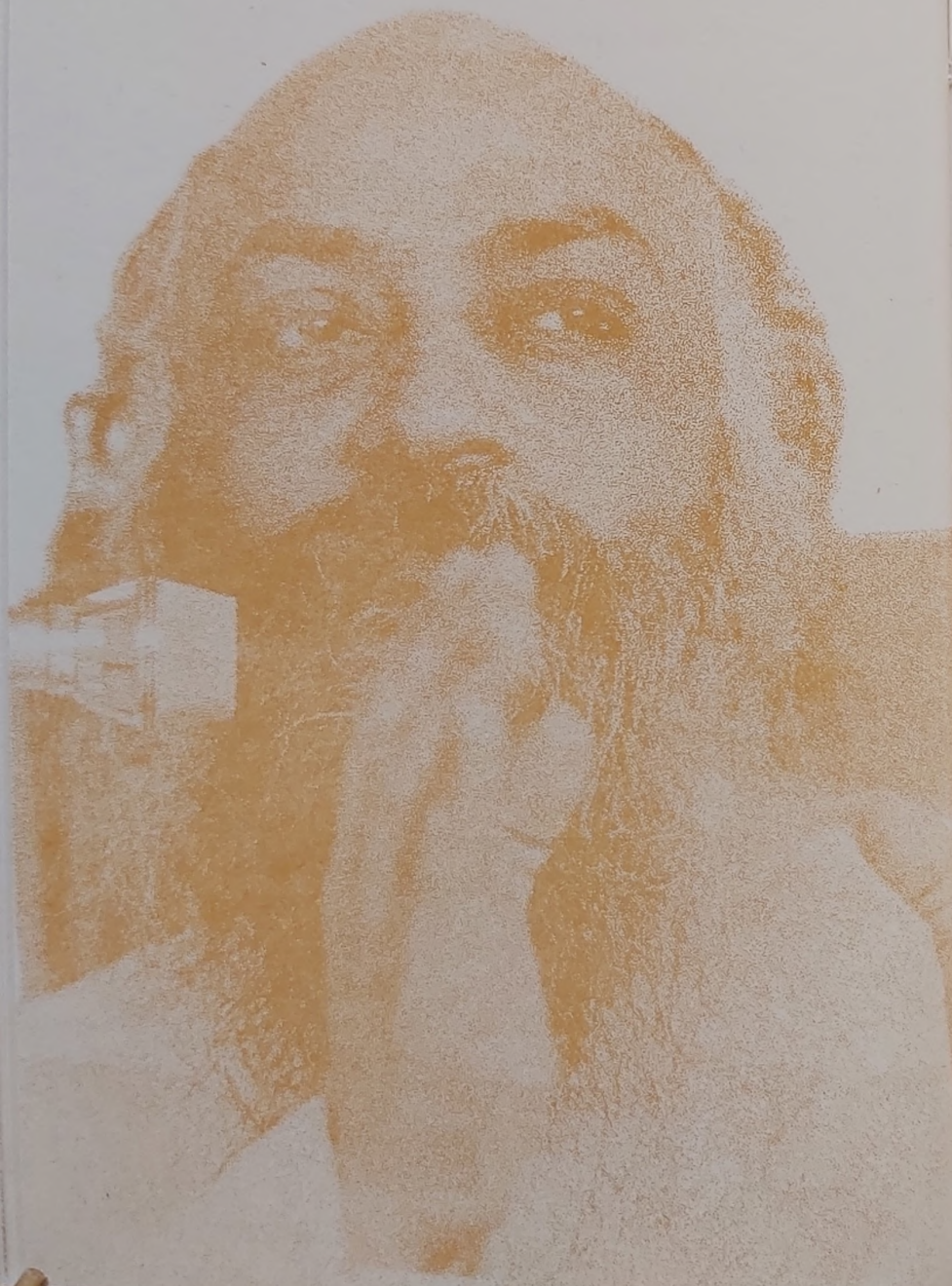
प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थिति।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः।।५६।।
प्रारब्धकपल्नाऽप्यस्य देहस्य भ्रान्ति रेष हि।।५७।।
अध्यस्तस्य कुतस्य असत्यस्य कुतोजनिः।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः।।५८।।
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि।
तिष्ठत्यय कथं देह इति शङ्कावतो जडान्।।५९।।

प्रारब्ध कर्म तो उसी समय सिद्ध होता है, जब देह के ऊपर आत्म-बुद्धि होती है। पर देह के ऊपर आत्मभाव रखना तो कभी इष्ट नहीं है, इसलिए देह के ऊपर की आत्म-बुद्धि को तजकर प्रारब्ध कर्म का त्याग करना।

देह की भ्रान्ति यही प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है, पर आरोपित अथवा भ्रान्ति से जो कल्पित हो वह सच्चा कहाँ से हो? जो सच्चा नहीं है, उसका जन्म कहाँ से हो? जिसका जन्म नहीं हुआ उसका नाश कहाँ से हो? इस प्रकार जो असत् है, वस्तु रूप है ही नहीं, उसको प्रारब्ध कर्म कहाँ से हो।

देह यह अज्ञान का कार्य है, उसका ज्ञान द्वारा जो समूल नाश हो जाता है तो यह देह रहती कैसे है? ऐसी शंका करनेवाले अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति ने बाह्य दृष्टि से प्रारब्ध कहा है। (वास्तव में न तो देह है, और न प्रारब्ध है।)

एक-दो प्रश्न पूछे गये हैं; उनकी बात कर लेनी उचित है।

एक मित्र ने पूछा है कि आप जो कह रहे हैं वह बात समझ में भी आती है... और समझ में आती भी नहीं; तो क्या करें?

उनका प्रश्न मूल्यवान है। ऐसी सभी की प्रतीति होगी। क्योंकि समझ के दो तल हैं। एक तो जो मैं कहता हूँ, वह आपकी बुद्धि की समझ में आ जाता है; आपकी बुद्धि को युक्तिपूर्ण लगता है; आपकी बुद्धि को प्रतीत होता है कि ऐसा होगा।

यह समझ ऊपर-ऊपर है। यह समझ प्राण के भीतर तक नहीं उतर सकती है। यह समझ आपके पूरे व्यक्तित्व की समझ नहीं है—आत्मिक नहीं है। इसलिए ऊपर से समझ में आता हुआ लगेगा। और जब तक यहाँ बैठकर सुन रहे हैं, तब तक ऐसा लगेगाः बिलकुल समझ में आ गया। फिर यहाँ से हटेंगे और समझ खोनी शुरू हो जायेगी; क्योंकि जो समझ में आ गया है, वह जब तक साधा न जाये, तब तक आपके प्राणों का हिस्सा नहीं हो सकता; जो समझ में आ गया है, जब तक वह आपके खून, माँस, मज्जा में सम्मिलित न हो जाये, तब तक वह ऊपर से किये गये रंग-रोगन की तरह उड़ जायेगा।

फिर, जो समझ में आ गया है, उसके भीतर आपकी पुरानी सब समझ दबी हुई पड़ी है। जैसे ही यहाँ से हटेंगे, वह भीतर की सब समझ, इस नयी समझ के साथ संघर्ष शुरू कर देगी। वह इसे तोड़ने की, हटाने की कोशिश करेगी। इस नये विचार को भीतर प्रवेश करने में पुराने विचार बाधा देंगे; अस्त-व्यस्त कर देंगे; हजार शंकाएँ, संदेह उठायेंगे। और अगर उन शंकाओं और संदेहों में आप खो जाते हैं, तो वह जो समझ की झलक मिली थी, वह नष्ट हो जायेगी।

एक ही उपाय है कि जो बुद्धि कि समझ में आया है, उसे प्राणों की ऊर्जा में रूपान्तरित कर लिया जाये; उसके साथ हम एक तालमेल निर्मित कर लें; हम उसे साधें भी; वह केवल विचार न रह जाये, वह गहरे में आचार भी बन जाये——न केवल आचार, बल्कि हमारा अंतस भी उससे निर्मित होने लगे——तो ही, धीरे-धीरे जो ऊपर गया है, वह गहरे में उतरेगा, और साधा हुआ सत्य, फिर आपके पुराने

विचार उसे न तोड़ सकेंगे। फिर वे उसे हटा भी न सकेंगे। बल्कि, उसकी मौजूदगी के कारण पुराने विचार धीरे-धीरे स्वयं हट जायेंगे, और तिरोहित हो जायेंगे।

तो यह बात ठीक है, साधक के लिए सवाल ऐसा उचित है। समझ में आ जाता है, फिर हम तो वैसे ही बने रहते हैं। अगर हम वैसे ही बने रहते हैं तो जो समझ में आया है, वह ज्यादा देर टिकेगा नहीं। कहाँ टिकेगा? किस जगह टिकेगा? आप अगर पुराने ही बने रहते हैं, तो जो समझ में आया है वह जल्दी ही झड़ जायेगा——भूल जायेगा, विस्मृत हो जायेगा।

ऐसे तो बहुत बार आपको समझ में आ चुका है। यह कोई पहला मौका नहीं है। न-मालूम कितनी बार आप सत्य के करीब-करीब पहुँचकर वापिस हो गये हैं। न-मालूम कितनी बार द्वार खटखटानाभर था, कि आप आगे हट गये हैं और दीवाल हाथ में आ गयी है।

भूल यहीं हो जाती है कि जो हमारी समझ में आता है, उसे हम तत्काल जीवन में रूपान्तरित नहीं करते हैं।

इस सम्बन्ध में यह बात ख्याल-लेने-जैसी हैः कि अगर आपको कोई गाली दे, तो आप तत्काल क्रोध करते हैं; और आपको कोई समझ दे, तो आप तत्काल ध्यान नहीं करते हैं। कुछ बुरा करना हो तो हम तत्काल करते हैं, कुछ भला करना हो तो हम सोच-विचार करते हैं—ये दोनों मन की बड़ी गहरी तरकीबें हैं; क्योंकि जो भी करना हो, उसे तत्काल करना चाहिए, तो ही होता है।

क्रोध करना हो कि ध्यान करना हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; बुरा हम करना चाहते हैं इसलिए हम तत्काल करते हैं, एक क्षण रुकते नहीं—क्योंकि रुकें, तो फिर न कर पायेंगे।

कोई गाली दे, उससे कह आयें कि चौबीस घंटे बाद आकर जवाब दूंगा। फिर कोई जवाब संभव नहीं होगा। चौबीस घंटे तो बहुत लम्बा वक्त है, चौबीस क्षण भी अगर आप चुपचाप विचार में व्यतीत कर दें, तो शायद क्रोध करने का मन नहीं रह जायेगा। शायद हँसी आ जाये। शायद उस आदमी की नासमझी पता चले। या शायद वह ठीक ही गाली दे रहा है, यह भी पता चल जाये।

...इसलिए समय खोना उचित नहीं है; जैसे ही गाली की चोट पड़े, तत्काल उबल पड़ना जरूरी है...फिर पछताने का काम पीछे कर लेंगे।

आपने ख्याल किया है कि सभी क्रोधी पछताते हैं! क्रोध करने के बाद पछताते हैं। अगर थोड़ी देर रुक जाते, तो क्रोध करने के पहले ही पछतावा आ जाता और क्रोध कभी न होता। जिसका पछतावा क्रोध के बाद आता है, वह कभी क्रोध से मुक्त नहीं हो पायेगा; जिसका पछतावा क्रोध के पहले आ जाता है, वही मुक्त हो

सकता है। क्योंकि जो हो चुका, वह हो चुका; उसे अनकिया नहीं किया जासकता है।

लेकिन जगह कहाँ है ? उधर गाली दी आपने, इधर क्रोध भभका; दोनों के बीच में स्थान कहाँ है कि मैं थोड़ा सोच लूं, विचार कर लूं, विमर्श कर लूं; देख लूं अतीत के अपने संकल्प न-मालून कितनी बार किये हैं कि क्रोध न करूँगा; खोज लूं अतीत में कितनी बार क्रोध करके पछताया हूँ?

उतना मौका नहीं है; समय नहीं है, स्थान नहीं है। उधर गाली, इधर आग निकलनी शुरू हो जाती है।

थोड़ी-सी जगह बनायें, क्रोध मुश्किल हो जायेगा। क्रोध में तो नहीं बनाते जगह, लेकिन ध्यान में थोड़ी जगह बनाते हैं। इसलिए ध्यान भी मुश्किल हो जाता है।

जब कोई शुभ और सही और ठीक बात की चोट पड़ती है, उसे उसी क्षण करने में हम नहीं लग जाते, हम राह देखते हैं। वह जो बीच का समय है, वही अस्त-व्यस्त कर देता है। गर्म लोहे पर चोट मारनी चाहिए। तो विचार करते रहते हैं कि चोट मारें या न मारें? तब तक लोहा ठंडा हो जाता है। फिर चोट भी मारते हैं तो कोई परिणाम नहीं होता।

एक मित्र आज आये थे। वे कहते हैं संन्यास लेना है। लेकिन अभी और थोड़ा समय चाहिए; सोचना है। मैंने उनसे पूछा, और कितनी बातों के सम्बन्ध में जीवन में सोचा है? अगर और बातों के सम्बन्ध में सोचा होता, तो संन्यास कभी का फलित हो गया होता; क्योंकि सोच-विचार का अन्तिम परिणाम संन्यास है। जो भी आदमी सोचेगा, विचारेगा, इस जीवन में भोग उसके लिए व्यर्थ हो ही जानेवाला है।

तो मैंने उनसे पूछा, और कितना सोचा-विचारा है? किस-किस बात को सोच-विचार के किया है? या कि सिर्फ संन्यास को सोच-विचार कर लेंगे? कितना समय लगायेंगे सोचने-विचारने में? और आप ही सोचेंगे न? तो कल आप सोचते हैं कि आप कुछ ज्यादा बुद्धिमान हो जायेंगे? जरा पीछे लौटकर देखें: बुद्धि कम भला हो गयी हो, ज्यादा होती मालूम नहीं होती।

वैज्ञानिक कहते हैं कि चौदह साल और अठारह साल के बीच में आमतौर-से लोगों की बुद्धि रुक जाती है, फिर कभी बढ़ती नहीं। यह भी बहुत विशेष लोगों की बात है; अठारह साल तक बुद्धि जिनकी बढ़ती हो। नहीं तो और पहले रुक जाती है।

पिछले महायुद्ध में, अमरीका में जाँच-पड़ताल की गयी भर्ती के लिए—युद्ध के सैनिकों की—तो औसत बुद्धि की उम्र साढ़े तेरह वर्ष पायी गयी; औसत बुद्धि का साढ़े तेरह वर्ष का आँकड़ा तय हुआ...कि आमतौर से आदमी की बुद्धि साढ़े तेरह वर्ष पर रुक जाती है, फिर कभी बढ़ती-वढ़ती नहीं।

आप कहेंगे कि यह बात जँचती नहीं हैं। क्योंकि आपको लगता है कि जब आप

जवान थे, उससे बूढ़े होकर आप ज्यादा बुद्धिमान हो गये हैं। भला आपको न लगता हो, लेकिन अपने बेटों को आप जँचवाते रहते हैं...कि ज्यादा बुद्धिमान मैं,...बूढ़ा आदमी,...अनुभवी,...मेरे पास बुद्धि ज्यादा है।

बुद्धि ज्यादा नहीं है आपके पास, अनुभव ज्यादा हो सकते हैं। अनुभव तो संग्रह है। बुद्धि उस संग्रह का उपयोग है, वह अलग बात है।

बच्चे के पास संग्रह कम होता है, आपके पास ज्यादा है। मगर उस संग्रह का जो उपयोग है, उस संग्रह का कैसे उपयोग करना, वह बुद्धि है। बुद्धि संग्रह नहीं है।

तो यह भी हो सकता है कि एक बच्चे के पास बूढ़े से ज्यादा बुद्धि हो, यह कभी नहीं हो सकता है कि एक बच्चे के पास बूढ़े से ज्यादा अनुभव हो; कभी नहीं हो सकता। अनुभव तो बच्चे के पास कम होगा ही, लेकिन बुद्धि ज्यादा हो सकती है। बूढ़े के पास अनुभव ज्यादा होता है, बुद्धि ज्यादा नहीं होती।

...उन मित्र से मैंने कहा कि कल आप सोचते हैं, या परसों, बुद्धि थोड़ी ज्यादा हो जायेगी? इतना ही होगा कि अभी इस विचार की हवा में, अभी इस ध्यान की तरंग में, अभी इतने संन्यासियों के आनन्द और मुक्त प्रभाव में एक ख्याल उठा है मन में, माउँट-आबू से नीचे उतरते-उतरते, जैसे-जैसे आपकी बस नीचे उतरने लगेगी, वैसे-वैसे इस ख्याल से आप भी नीचे उतरने लगेंगे। माऊँट-आबू-रोड स्टेशन तक यह विचार टिक जाये, कठिन है। माऊँट-आबू-रोड स्टेशन पर उतर कर आप ठंडी गहरी साँस लेंगे...कि अच्छा हुआ, जैसे के तैसे वापिस लौट आये: कुछ खोया नहीं, कुछ गँवाया नहीं, किसी झंझट में न पड़े!

महीनेभर बाद आपको ख्याल भी नहीं आयेगा।

वातावरण, अनेक लोगों की मौजूदगी, अनेक लोगों का सामूहिक प्रयास—आपको भी उठा देता है एक ऊँचाई पर—जिस पर होना आपकी आदत नहीं है।

आप नाच रहे हैं कीर्तन में: आपको पता है, अकेला इस भाव से आप नाच सकेंगे? आप कम नाच रहे हैं, इतने लोग नाच रहे हैं, उनका नाच संक्रामक हो जाता है; वह आपको भी छू लेता है। उनकी तरंगें आपके हृदय को भी कंपानें लगती हैं। उनके पैरों की गति आपके पैरों को भी उछलने का मौका देने लगती है।

और, फिर, आपके सदा के सोचने का ढंग यह है कि कोई क्या कहेगा! और जहाँ सभी लोग नाच रहे हों, एक बात पक्की है कि नाचनेवाले से कोई कुछ कहने वाला नहीं है, खड़े रहनेवाले से कोई कुछ भला कहे। तो गति आ जाती है; आप मुक्त अनुभव करते हैं कि ठीक है, यहाँ कोई अड़चन नहीं है, यहाँ नाचा जा सकता है। उतरेंगे भीड़ में वापिस बाजार की, यह जो एक ऊँचाई की झलक मिली थी, एक

छलाँग ली थी, और आकाश की तरफ आँखें उठाई थीं, वे फिर जमीन की तरफ लग जायेंगी।

तो क्या आशा है कि कल, परसों आप निर्णय कर सकेंगे; निर्णय तो आपको करना है, वह आज भी किया जा सकता है।

पर वे मित्र बोले कि ऐसा भी नहीं है कि मैंने निर्णय करने की कोशिश नहीं की, निन्यानवे परसेन्ट तो मन बिलकुल तैयार है, एक परसेन्ट रह गया है।

उनसे मैंने पूछा कि जिन्दगी में और भी कोई काम किया है जिसमें निन्यानवे परसेन्ट मन तैयार रहा हो और एक परसेन्ट तैयार न रहा हो? कभी रुके हैं, इस बात से? और उनसे मैंने यह भी पूछा कि क्या आपको पता है, आप क्या कह रहे हैं? जब निन्यानवे परसेन्ट मन संन्यास लेने को तैयार है और एक परसेन्ट नहीं लेने को तैयार है, तो आप एक परसेन्ट के पक्ष में निर्णय ले रहे हैं!

यह तो आप सोचना ही मत कि आप निर्णय लेने से बच सकते हैं। निर्णय लेने से बचने का इस जगत् में कोई उपाय ही नहीं है। चाहे आप 'न-लेने' का लें, वह भी निर्णय है। रोकने का लें...कि कल लेंगे, वह भी निर्णय है। दुनिया में आपके लिए चुनाव की स्वतंत्रता है...कि आप क्या निर्णय लें, इसकी कोई स्वतंत्रता नहीं है कि आप निर्णय ही न लें। इसका कोई उपाय ही नहीं है।

निर्णय तो लेना ही पड़ेगा, लेकिन एक मजे की बात है: कि न करने के निर्णय को हम निर्णय नहीं समझते; यह बड़ी अद्‌भुत बात है। उनको ख्याल में भी नहीं था कि नहीं लूंगा संन्यास, यह भी निर्णय है। लूंगा, यह भी निर्णय है। अगर दोनों निर्णय हैं तो बड़ा अद्‌भुत मन है कि एक परसेन्ट निर्णय के साथ रुकता है, और निन्यानवे परसेन्ट के साथ जाने की हिम्मत नहीं जुटाता है!

हम अपने को धोखा देने में बड़े कुशल हैं। ऊपर बुद्धि को समझ में आ जाता है संन्यास, तो हम डरते भी हैं। हम सोचते हैं, थोड़ा वक्त मिल जाये। वक्त इसलिए नहीं कि हम सोच लेंगे, वक्त इसलिए कि यह प्रभाव क्षीण हो जायेगा। और वह जो निन्यानवे परसेन्ट है, वह एक परसेन्ट रह जायेगा और जो एक परसेन्ट है, वह निन्यानवे परसेन्ट हो जायेगा। और जब निन्यानवे परसेन्ट था, तब हमने नहीं निर्णय लिया संन्यास का, तो जब एक परसेन्ट होगा, तब हम लेनेवाले हैं?

तो आपकी समझ, चूंकि आप उसे रूपान्तरित नहीं करते, निर्णय नहीं बनाते, डिसीज़न नहीं बनाते, कभी गहरी नहीं जा सकती।

इसे ठीक-से ख्याल में ले लें: बहुत बार सुन लेंगे, समझ लेंगे, फिर वैसे-के-वैसे रह जायेंगे। बल्कि इसका एक खतरा भी है कि जब बहुत बार सुन-सुनकर, समझ-समझकर आप वैसे-के-वैसे रह जाते हैं, तो धीरे-धीरे आप चिकने घड़े हो जाते हैं;

क्योंकि इतनी चीजें फिसलती हैं आप पर से तो चिकनाहट पैदा होती है। इतने विचार आप पर गिरते हैं और आप वैसे ही रहते हैं! और विचार गिर जाते हैं नीचे, और घड़ा अपनी जगह बैठा रहता है! ...घड़ा चिकना हो जाता है।

तो जितनी बार आप ऐसी बातें सुनकर वैसे-के-वैसे रह जाते हैं, उतना कठिन होता जा रहा है; क्योंकि तब बात गिरेगी नहीं...कि फिसल जायेगी नीचे।

घड़ा बिलकुल चिकना हो गया है; रास्ते बन गये हैं, फिसलने के।

अच्छा है, अच्छी बात ही न सुनें। सुनें, तो हिम्मत करें और अपने को बदलने का निर्णय लें। तब आपको लगेगा कि जो समझ में आया था, वह ऊपर-ऊपर नहीं रहा, प्राणों का स्वर बन गया है।

पर जिस दिन श्वास-श्वास में न समा जाये समझ, उसका कोई भी मूल्य नहीं है। उसका एक ही मूल्य हैं कि आप अच्छी बातें करना सीख जायें। हम सभी जानते हैं, और हमारा मुल्क तो इतना कुशल है अच्छी बातें करने में! अध्यात्म तो हमारी जबान पर रखा है!

बस, जबान पर ही रखा है, उससे भीतर कहीं नहीं है। किसी से भी पूछ लें, ब्रह्मज्ञान तो कोई भी जानता है!

...कोई भी जानता है!

हमारे पूरे देश की व्यवस्था, मन की, चिकने घड़े की हो गयी है। हजारों-हजारों साल से तीर्थंकरों, अवतारों, ऋषियों का हमने एक ही उपयोग किया है: कि सुन-सुनकर हम चिकने घड़े हो गये हैं।

मुझसे कोई पूछता था, मैं एक गाँव में था। मुझसे वह कहने लगा आदमी कि यह भारत बड़ी पुण्य-भूमि है, सारे अवतार यहीं हुए, सारे तीर्थंकर यहीं हुए, सारे बुद्ध यहीं हुए! मैंने कहा कि तू फिर से सोच, यह पुण्य-भूमि है? कि यहाँ पापी बड़े अद्‌भुत हैं कि इतने सब हुए फिर भी वे बिना बदले बैठे हैं? कि सब अवतार गये, हमारे चिकने घड़े पर लकीर न खींच पाये? कि सब तीर्थंकर आये, हमने कहा कि आओ और जाओ...हम उनमें से नहीं हैं कि बातों में आ जायें!

क्या, मतलब क्या होता है? एक घर में अगर गाँवभर के डॉक्टर आयें तो इसका मतलब है कि गाँव में वही घर सबसे ज्यादा बीमार है।

...सारे अवतारों को यहीं पैदा होना पड़े!

और कृष्ण ने कहा है गीता में: कि जब धर्म की ग्लानि बढ़ती है, और जब पाप बढ़ जाता है, और जब दुष्टजन बढ़ जाते हैं—तब मैं आता हूँ। और सब अवतार यहीं आये। तो मतलब क्या है? ...पुण्यभूमि है?

अगर कृष्ण का वाक्य सही है, तो जहाँ उनको नहीं जाना पड़ा, पुण्य-भूमि

वहाँ हो सकती है। लेकिन सबको चुकता यहाँ आना पड़ा! बात ज़ाहिर है: कि इस मुल्क की आत्मा बिलकुल चिकनी हो गयी है।

हमने इतनी अच्छी बातें सुनी हैं, और सुन-सुनकर हम ऐसे तल्लीन हो गये हैं कि करने की हमने कभी फिक्र ही नहीं की।

समझ आपकी तब तक गहरी न हो पायेगी, पूरी न हो पायेगी, जब तक समझ आपकी अन्तरात्मा में प्रविष्ट नहीं होती। और आप कोई निर्णय लें, तो ही समझ अंतस में प्रविष्ट होती है।

निर्णय द्वार है।

छोटे-से निर्णय भी बड़े क्रान्तिकारी हैं। किस बात का निर्णय लिया, यह बहुत मूल्य का नहीं है; निर्णय लिया। इस लेने में ही आपके प्राण इकट्ठे हो जाते हैं; एकजूट हो जाते हैं। निर्णय लेते ही आप दूसरे आदमी हो जाते हैं। वह निर्णय बिलकुल क्षुद्र भी हो सकता है।

मैं आपसे कहता हूँ कि दस मिनिट खाँसे भी नहीं। बड़ी अमानवीय बात मालूम पड़ती है; आपको खाँसी आ रही है और मैं खाँसने तक नहीं देता! दुष्टता मालूम पड़ती है। सभा में आप बैठे हैं, मैं आपको कहता हूँ, खाँसें मत, बिलकुल खाँसी बन्द रखें। और आपको ख्याल में नहीं है, इतना छोटा-सा निर्णय भी आपके भीतर आत्मा का जन्म बनता है। दस मिनिट नहीं खाँसूंगा...और अगर इसमें आप सफल हो गये, तो एक खुशी की लहर रोएँ-रोएँ में फैल जाती है; आपको पता चलता है कि मैं कोई निर्णय लूँ तो पूरा कर सकता हूँ।

खाँसी, छींक, बड़ी गड़बड़ चीजें हैं। उनको रोको तो और जोर से आती हैं। रोको, तो सारा ध्यान उन्हीं पर केन्द्रित हो जाता है। रोको, तो खाँसी भी बगावत करती है। वह कहती है, ऐसा तो कभी नहीं किया! यह क्या नया ढंग सीख रहे हैं? यह क्या बात है? यह तो अपना कभी सम्बन्ध नहीं रहा ऐसा, कि मैं आऊँ और आप रोकें! यह तो मैं न भी आऊँ, दूसरे को आ रही हो, तो आप खाँस लेते थे! आपको न भी हो, तो दूसरे की भी पकड़ लेते थे! यह क्या हुआ है?

लेकिन, अगर दस मिनिट भी आप बिना खाँसे रुक जाते हैं, तो आपके और शरीर के बीच का सम्बन्ध इस छोटी-सी बात से भी बदल रहा है।

जैसे मैं आपसे कहता हूँ, रुक जायें। गुर्जियेफ इसका बड़ा प्रयोग करता था ध्यान में। उसने इसके लिए 'स्टॉप मेडीटेशन' ही नाम दे रखा था। आप राजी हो जायेंगे थोड़े समय में, तो उस प्रयोग को हम पूरा करेंगे। जब मैं आपसे कहता हूँ रुक जायें', तो मेरे इस रोकने में, अभी मैं आप पर ज्यादा ज़ोर नहीं दे रहा हूँ। गर्जियेफ भी कहता था 'रुक जायें', लेकिन रुक जाने का मतलब था--जैसे हैं; एक

पैर ऊपर है और एक पैर नीचे है--नाच रहे थे--तो वहीं रह जायें। गर्दन आड़ी है तो वैसी रह जाये, शरीर झुका है तो वैसा रह जाये, फिर जरा भी कोई फर्क नहीं करना है; जो हालत है, वैसी रह जाये। चाहे शरीर धड़ाम से गिर जाये, पर आपको कुछ फर्क नहीं करना है; शरीर गिरे तो गिर जाये। और जैसा गिर जाये, वैसे ही रहने देना है; आपको भीतर से इन्तज़ाम नहीं करना है कि पैर जरा तिरछा है तो थोड़ा-सा सीधा करके लेट जायें,...न।

तो गुर्जियेफ इसको 'स्टॉप मेडीटेशन' कहता था। और उसने हजारों लोगों को इससे गहरे अनुभव करवाये। और यह बड़ा कीमती प्रयोग है; क्योंकि एकदम से रुक जाना! और धोखा देने में दूसरे को कोई सवाल नहीं है, आप अपने को दे सकते हैं। आपका एक पैर जरा ऊपर था, आप धीरे-से नीचे रख लें तो कौन देख रहा है? बाकी आप खो गये एक मौका। कोई नहीं देख रहा है, किसी को। मतलब भी नहीं है; आपका पैर है, कहीं भी रखिये। मगर आपने भीतर एक अवसर खो दिया, जहाँ आत्मा और शरीर का सम्बन्ध बदल सकता था; जहाँ आत्मा जीत सकती थी और कह सकती थी कि मैं मालिक हूँ। अगर आपने धीरे से पैर रख लिया संभालकर, और फिर आराम से खड़े हो गये कि अब देखो 'स्टॉप' का प्रयोग कर रहे हैं, तो आप किसी और को धोखा नहीं दे रहे हैं। आपके शरीर ने आपको धोखा दे दिया।

छोटे-छोटे निर्णय, बहुत छोटे-छोटे निर्णय भी बड़े परिणामकारी हैं। छोटे से कोई सम्बन्ध नहीं है, निर्णय से सम्बन्ध है; डिसीसिवनेस, निर्णायक बुद्धि। तो आपकी समझ धीरे-धीरे गहरी उतर जायेगी।

तो जो मैं कह रहा हूँ, उसे सिर्फ सुन न लें, उसे थोड़ा प्रयोग करें। उपनिषद् बड़े व्यवहारिक पाठ हैं। इनका सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, इनका आपको बदलने, रूपान्तरित करने की कीमिया से सम्बन्ध है। ये तो सीधे सूत्र हैं, जिनसे नये मनुष्य का निर्माण हो जाता है।

लेकिन कठिनाई यही है कि कोई दूसरा छैनी-हथोड़ी लेकर आपका निर्माण नहीं कर सकता। आप ही मूर्तिकार हैं, आप ही पत्थर हैं, आप ही छैनी-हथोड़ी हैं; तीनों काम आपको ही करने हैं। अपने ही पत्थर को, अपने ही निर्णयों की छैनी-हथौड़ी से, अपने ही संकल्प की शक्ति से, काटना है, छाँटना है। अपनी ही समझ के अनुसार अपनी मूर्ति को निर्मित करना है। इसमें क्षणभर का भी स्थगन सदा के लिए स्थगन हो जाता है। जिसने कहा कल करेंगे, वह फिर कभी भी नहीं करता है। और अच्छा होता कि वह कहता कि कभी नहीं करेंगे, वह भी एक निर्णय होता।

वे मित्र आये, मैंने उनसे कहा कि यही निर्णय कर लो, कि संन्यास कभी न लेंगे—कभी; तो भी फायदा होगा। पर तुम कहते हो कि सोचेंगे। लेंगे, कि नहीं

लेंगे, यह इनडिसीसिवनेस...नहीं लेंगे, यही पक्का कर लो, तो भी कुछ निर्णय तो किया। लेंगे तो पक्का कर लो, तो कोई निर्णय किया। नहीं लेंगे, यह भीतर की स्थिति है, लेकिन इसको भी साफ नहीं होने देते। इसको भी कहते हैं कि नहीं, लेंगे जरूर, थोड़ा समय। इस तरह अपने को धोखा दे जाते हैं।

संन्यास एक निर्णय है, एक संकल्प है। परिणामकारी है। लोग मुझसे पूछते हैं, क्या होगा गेरूए वस्त्र पहन लेने से? मैं उनसे कहता हूँ कुछ भी न होगा! तो तीन महीने पहन डालो। वे कहते हैं, लोग हँसेंगे।

...इतना तो कम-से-कम होगा। और तुम लोगों के हँसने को तीन महीने तक शान्ति से झेलना, तो बहुत कुछ हो जायेगा। लोग हँसेंगे, इसकी फिक्र ही छोड़ना,... बहुत कुछ हो जाने की शुरुआत हो जाती है।

लोग मुझसे कहते हैं, बाहर की बदलाहट से क्या होगा? आप तो भीतर की बदलाहट बता दें। मैं उनसे कहता हूँ: बाहर तक की बदलाहट की हिम्मत तुम्हारी नहीं, तुम भीतर की बदलाहट की बातें कर रहे हो! कपड़े बदलने में प्राण छूटते हैं, चमड़ी अगर बदलने लगूँगा तो मुश्किल पड़ेगी। और भीतर की तुम बातें कर रहे हो?

लेकिन हम धोखा देने में कुशल हैं। हम अपने को धोखा देने में कुशल हैं। और जो आदमी अपने को धोखा दे रहा है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता।

ख्याल रहे, दूसरों को धोखा देनेवाला धार्मिक हो सकता है, खुद को धोखा देनेवाला धार्मिक नहीं हो सकता, क्योंकि फिर कोई रास्ता ही नहीं बचता।

एक और मित्र ने पूछा है:

"अच्छे कर्म बुरे कर्मों को काटते नहीं हैं बल्कि उनपर आच्छादित हो जाते हैं, इसलिए बुरे तथा अच्छे सभी कर्मों का फल भोगना अनिवार्य है। क्या बुरे कर्म तथा अच्छे कर्म क्रम से फल देते हैं? ...या बिना क्रम के फल देते हैं? यदि बुरे कर्मों का क्षय अच्छे कर्मों से नहीं किया जा सकता, तब अच्छे कर्म करने का कोई औचित्य नहीं हो सकता। क्या यह सिद्धान्त समाज के लिए उपयोगी है?"

इसे थोड़ा-सा ख्याल में ले लें। बुरे कर्मों का क्षय अच्छे कर्मों से नहीं किया जा सकता, तो उन मित्र को ऐसी चिन्ता लगी होगी कि फिर कोई अच्छा कर्म करेगा ही क्यों! और तब तो समाज के लिए बड़ा खतरा हो जायेगा!

बात बिलकुल उलटी है। आपको अगर पता है कि बुरे कर्म अच्छे कर्म से काटे जा सकते हैं, तो आप बुरे कर्म मजे से किये जाते हैं—क्योंकि कभी भी अच्छा कर लेंगे और काट लेंगे; दवा हाथ में है, तो बीमारी से डर क्या है? गंगा स्नान कर लेंगे; सब कर्म धुल जायेंगे! किसी साधु-सन्त का आशीर्वाद ले लेंगे, सब कर्म धुल

जायेंगे! चोरी की है, दान कर देंगे—उसी पैसे से! और तो पैसा है भी कहाँ!

बड़ा चोर बड़ा दानी हो जायेगा; लाख चुरायेगा, दस हज़ार दान करेगा! चोरी में डर नहीं है फिर कोई, क्योंकि दान से हम चोरी को काट लेंगे। किसी की हत्या कर देना, फिर एक बच्चे को जन्म दे देना! एक जीवन लिया, एक दे दिया!

यह दुनिया इतनी बुरी सिर्फ इसलिए है, कि आपको यह पक्का पता है, कि बुरा भी कट जाता है। जब मैंने आपसे कहा कि बुरे को काटने का कोई भी उपाय नहीं, अच्छा कर्म भी बुरे कर्म को नहीं काटेगा, तो आपको बुरा कर्म करते वक्त पुन: सोचना होगा...कि जो नहीं कट सकता, और जिसे भोगना ही पड़ेगा—अनिवार्यत:, जिसमें कोई उपाय नहीं है; न कोई अच्छा कर्म साथ देगा, न दान-पुण्य साथ देगा—न गंगा, न तीर्थ, न गुरु, न भगवान्—कोई आशीर्वाद साथ न देगा; जो किया है, वह मुझे भोगना ही पड़ेगा।

तो करते वक्त आपको ठीक-से सोच लेना है; क्योंकि यह बात आखिरी हुई जा रही है, इसमें अब कोई उपाय नहीं है; इसमें ऐसा नहीं है कि रोयेंगे भगवान् के सामने...कि हम तो पतित हैं और तुम पतितपावन...तो कुछ करो। हमारा कुछ न बिगड़ेगा, तुम्हारा नाम बदनाम होगा कि तुम पतितपावन हो। और हम तो इसीलिए करते रहे पाप, कि न करेंगे पाप, तो तुम पतितपावन कैसे रहोगे? तो अब दिखाओ अपना पतितपावन रूप।

एक महिला परसों मेरे पास पहुँच गयी। भीड़ थी बहुत, उस भीड़ में उसने एकदम-से कहा कि आशीर्वाद दीजिए। तो मैंने कहा, अच्छी बात। दूसरे दिन वह वापस आ गयी! उसने कहा, आशीर्वाद फलेगा तो? क्योंकि अच्छे महात्मा जो होते हैं, उनका आशीर्वाद फलता है! आपने आशीर्वाद दिया।...

मैंने कहा यह तो मुश्किल मामला दिखता है; दिखता है, मुझे तू अदालत में ले जायेगी! मुझे पता भी तो चले कि मामला क्या है? किस मामले में तेरा आशीर्वाद फलवाना है?

तो उसने कहा, लेकिन आपको ख्याल होना चाहिए, कि अच्छा महात्मा तो जब भी आशीर्वाद देता है तो फलता ही है।

तो मैंने कहा, इसमें एक उपाय है मेरे लिए, कम-से-कम अदालत मुझे नहीं जाना पड़ेगा। न फले, तो समझना कि न मैं अच्छा था, न महात्मा था—बात खतम हो गयी; इसमें एक सुविधा मेरे लिए तुमने बना दी कि न फले। अब मुझे पूछना भी नहीं कि तुझे क्या चाहिए था। तो समझ लेना कि अच्छा भी नहीं था, महात्मा भी नहीं था, बात खतम हो गयी।

इसे हम धार्मिक मन कहते हैं। उस महिला का ख्याल है, वह धार्मिक है!

इस जगत् में नियम हैं, इस जगत् में एक आन्तरिक अनुशासन है, जिसको हमने 'ऋत्' कहा है वेदों में; लाओत्से ने जिसे 'ताओ' कहा है। उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसमें कोई अपवाद नहीं होते।

कर्म आप जो करेंगे, वह आपको भोगना ही पड़ेगा--यह विचार अगर गहन हो जाये, तो आपको कर्म की धारा बदलनी पड़ेगी। और यही सत्य है। यह सत्य स्पष्ट हो जाये, तो समाज के लिए उपयोगी होगा। आप कितने दिन से समझा रहे हैं लोगों को, समाज बदलता तो दिखायी पड़ता नहीं, पाप बढ़ते जाते हैं उलटे। क्योंकि सुविधा का ख्याल है हमें, कि कोई उपाय बाहर निकलने का है। अगर मैं एक पाप करता हूँ, तो उस पाप के भवन में प्रवेश का द्वार ही नहीं है, एग्ज़िट भी है, उससे निकला जा सकता है। तो घुसने में इतना कोई डर नहीं है।

मैंने जो आपसे कहा, उसका मतलब यह कि एग्ज़िट नहीं है, आपको भोगना ही पड़ेगा। भोगकर ही बाहर निकल सकते हैं। काटने का उपाय नहीं है, भोगना ही काटना है। एक ही निर्जरा है कि उसे भोग लेना पड़ेगा, तो वह कट जायेगा। और कोई निर्जरा नहीं है उसकी।

और दूसरी बात उन्होंने कही कि फिर अच्छे कर्म करने का औचित्य क्या रह जाता है? तो उनके प्रश्न से भी ज़ाहिर है बात, कि अच्छे कर्म का औचित्य उनकी नजर में भी बुरे को काटने के लिए ही है। वे पूछते हैं कि अगर आप ऐसे कहते हैं तो फिर अच्छे कर्म का औचित्य ही नहीं रह जाता। मतलब एक ही औचित्य था अच्छे कर्म का कि बुरे कर्म को काटें। अगर बुरा कर्म नहीं कटता है तो औचित्य ही खत्म हो गया। तो उनके प्रश्न से भी ज़ाहिर है, जो मैं कह रहा हूँ, कि उनका चित्त भी यही मानता है: कि अच्छे कर्म का एक ही औचित्य है, दान का एक ही औचित्य है कि चोरी को काटो।

तब तो चोरी महत्त्वपूर्ण हो गयी और दान गौण हो गया। और अगर दुनिया में चोरी न हो तो दान असम्भव हो जाये। इसलिए एक तथाकथित विचारशील व्यक्ति, 'करपात्री' ने, अपनी एक किताब में कहा है: कि अगर समाजवाद आ जायेगा तो धर्म का बड़ा ह्रास होगा; क्योंकि न होगा कोई गरीब, तो दान किसको देंगे? इसलिए गरीब रहना चाहिए। ताकि दान दिया जा सके, और दान के बिना तो मोक्ष है नहीं!

समझे मतलब आप इसका? इसका मतलब हुआ कि नर्क रहना चाहिए, भूखा आदमी सड़क पर होना चाहिए। न होगा भूखा, रोटी किसको दीजियेगा? और किसी ने रोटी आपकी दान की न ली, तो फँसे आप; मोक्ष कहाँ से मिलेगा?

तो आपके अच्छे कर्म का औचित्य बुरे कर्म पर निर्भर है? उसके कटने पर?

तब तो इसका मतलब हुआ कि अच्छा आदमी बुरे आदमी का शोषण कर रहा है; और अच्छा कर्म बुरे कर्म की छाती से फायदा ले रहा है, खून पी रहा है।

अच्छे कर्म का औचित्य बुरे कर्म का काटना नहीं है। बुरे कर्म का औचित्य है उसके दुःख में, अच्छे कर्म का औचित्य है उसके सुख में। अच्छे कर्म से सुख मिलता है, वह उसका औचित्य है। जो सुख चाहता है, वह अच्छा कर्म करता है। और जो सोचता है कि बुरा कर्म करके सुख को पा लूंगा, वह नासमझी करता है। वह नियम के प्रतिकूल जा रहा है, वह दुख पायेगा।

अच्छे कर्म का औचित्य है उसके फल में। बुरे कर्म का औचित्य है उसके फल में। या अनौचित्य, जो भी कहें। बुरे कर्म में अच्छे कर्म का औचित्य कैसे हो सकता है, उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

अच्छा कर्म फल लाता है, वह है सुख; बुरा कर्म फल लाता है, वह है दुःख। और अगर हम यह ठीक-से समझा सकें, और यह बात गहरी बैठ जाये चित में... कि जिसे भी सुख चाहिए, उसे अच्छे कर्म की यात्रा करनी चाहिए, तो समाज का फायदा होगा। और जिसे दुःख चाहिए, वह बुरे कर्म की यात्रा करे। और बुरे कर्म की यात्रा जो कर रहा है, उसे दुःख का फल भोगना ही पड़ेगा। फिर वह पीछे यह कहने लगे कि मैं थोड़ा अच्छा कर लेता हूँ, इससे मैं लीप-पोत दूंगा बुरे को, यह नहीं हो सकता।

यानि इसे ऐसा समझिये, कि मैंने आपको गाली दी, तो मैंने आपको चोट पहुँचायी, दुःख पहुँचाया। वह दुःख तो घटित हो गया। फिर मैंने माफी माँगी और आपको सुख पहुँचाया। क्या आप सोचते हैं कि मैंने माफी माँगकर जो सुख पहुँचाया है, उससे वह जो दुःख हुआ था, वह नहीं हुआ? वह हो चुका। वह दुःख तो हो चुका; आपको मैंने जो चोट पहुँचायी, वह दुःख तो हो चुका। अब चोट पहुँचाकर मैंने जो मलहम-पट्टी की, यह दुःख को नहीं मिटाती, सिर्फ उस चोट के ऊपर मलहम-पट्टी करती है।

मैंने गाली दी, मैंने एक बुरा कर्म कर लिया; गाली देकर मैंने भी दुःख पा लिया। मैंने माफी माँगी; मैंने अच्छा कर्म किया, अच्छा कर्म करके मैंने भी सुख पा लिया।

बुरा दुःख में ले जाता है, अच्छा सुख में ले जाता है। अच्छा जितना ज्यादा होता है, उतना सुख बढ़ जाता है; बुरा जितना ज्यादा होता है, उतना दुःख बढ़ जाता है।

जिस आदमी को सुख में रहना है, उसे धीरे-धीरे बुरे को नहीं करना है और अच्छे को करते जाना है।

लेकिन, धर्म का सम्बन्ध सुख से भी नहीं है, क्योंकि दुःख से बचना तो हम सबके मन की आकाँक्षा है, सामान्य। जब तक आप दुःख से बचने की आकाँक्षा से भरे हैं, तब तक आप साधारण आदमी है, धार्मिक नहीं। अभी तो आपकी चाह सुख की है।

यही औचित्य है अच्छे कर्म का कि आपसे कहा जाये, अच्छा कर्म करिये; सुख चाहते हैं, सुख मिलेगा। और दुःख चाहते नहीं है, बुरा कर्म मत करिये, इससे दुःख मिलेगा

अगर बुरे और दुःख की अनिवार्यता ऐसे ही दिखायी पड़ जाये, जैसे आग में हाथ डालने से जलता है, तो लोगों के हाथ आग में जाने से रुक जायेंगे। अगर अच्छे कर्म के और सुख का सम्बन्ध ऐसे ही जोड़ दिया जाये, कि हाथ में फूल आने से जैसे सुगन्ध आती है, अगर यह इतना साफ हो जाये, तो लोग अच्छे कर्म में उतर जायेंगे।

लेकिन, धर्म का इससे कोई अभी सम्बन्ध नहीं है, अभी यह नीति है; अभी यह तल समाज की नैतिकता का है। लेकिन जो आदमी सुख का अनुभव करता है, धीरे-धीरे उसे पता चलता है एक नयी बात का, कि दुःख तो व्यर्थ है ही, सुख भी व्यर्थ है; दुःख तो दुःख देता ही है, जब सुख पूरी तरह मिलता है, तो वह भी दुःख देने लगता है, सुख नहीं देता। उससे भी ऊब पैदा हो जाती है। सुख का जो दुःख है, वह है ऊब, बोरडम।

आपने कभी किसी जानवर को ऊबा हुआ देखा है; बोर? कि कोई गधा खड़ा हो और दिखायी पड़ जाये कि ऊबे हुए खड़े हैं? कि कोई भैंस खड़ी हो और ऊबी हुई खड़ी है?

न, आदमी को छोड़कर, ज़मीन पर कोई जानवर ऊबता ही नहीं; सिर्फ आदमी ऊबता है। क्यों? क्योंकि जानवर निरन्तर अपनी सामान्य जीवन की सुविधा जुटाने में ही व्यतीत हो जाता है; उसे कभी इतना सुख अर्जित नहीं हो पाता कि ऊब जाये। ऊब का सम्बन्ध सुख...बहुत सुख हो तो ही आती है।

इसलिए गरीब आदमी भी ऊबा हुआ दिखायी नहीं पड़ता; अमीर आदमी ऊबा हुआ दिखायी पड़ता है। अमीर आदमी का चेहरा देखो तो ऊबा हुआ रहता है; कुछ सार नहीं, ऐसा मालूम पड़ता है; खींचे जा रहे हैं, कुछ मतलब नहीं है लेकिन।

गरीब आदमी के पैर में गति होती है, चाहे पैर में ताकत न हों; खून भला कम हो, ताकत भला कम हो, लेकिन गति होती है; कहीं पहुँचने का लक्ष्य होता है और आशा होती है, और आँखों में आशा की झलक होती है: कल एक मकान बन जायेगा, परसों एक दुकान खुल जायेगी, बेटा पढ़ लेगा; बड़ा स्वर्ग मालूम होता है भविष्य में।

जिनका बेटा पढ़कर घर आ गया है, वे जानते हैं कि बेटा घर जब पढ़कर

आता है तो क्या मतलब होता है; कैसा दुःख लाता है! जिनके महल बन गये हैं, अब उनको पता चलता है कि यह महल तो कारागार हो गये।

जब सुख पूरा मिल जाता है, तब पहली दफा पता चलता है कि इससे भी ऊब रहे हैं हम। मन सुख से भी ऊबता है। इसलिए बुद्ध और महावीर और कृष्ण और राम राजाओं के घरों में पैदा हुए। गरीब के घर में पैदा होकर कोई तीर्थंकर और अवतार नहीं हो पाता। उसका कारण है; क्योंकि ऊब ही नहीं पाता सुख से।

जैनियों के चौबीस तीर्थंकर राजाओं के बेटे हैं; बुद्ध, राम, कृष्ण--सब राजाओं के बेटे हैं। कारण है: राजा के घर में ही पता चलता है कि चीजें सब व्यर्थ हैं। हों तभी तो पता चलेगा; हों ही न तो पता कैसे चलेगा? बुद्ध को अगर पता चला कि स्त्री देह में कुछ भी नहीं है, तो उसका कारण यह था कि बुद्ध के पिता ने उनके राज्य में जितनी सुन्दर लड़कियाँ थीं, सब बुद्ध के हरम में इकट्ठी कर दी थीं। तो पता चला कि कुछ सार नहीं है।

असार तो तभी पता चलेगा जब आपके पास मौजूद हो कोई चीज। इसलिए आज अमरीका सबसे ज्यादा ऊबा हुआ है...और भाग रहा है सारी दुनिया में अमरीका का जवान लड़का और जवान लड़की, कि कहीं ऊब से छुटकारा हो जाये; कहीं भी--चाहे गाँजा हो, अफीम हो, मारिजुआना हो--कुछ भी हो। कोई तरकीब मिले, कि यह जो ऊब है, यह मिट जाये।

सुख से जब ऊब पैदा होती है, और प्राण जब इस आकाँक्षा से भर जाते हैं कि अब हम सुख के ऊपर कैसे जायें, तो धर्म का जन्म होता है।

तो अच्छे कर्म के औचित्य दो हुए:

एक, अच्छे कर्म का फल सुख है। इसलिए जो लोग बिना धार्मिक हुए भी सुख की आकाँक्षा करते हैं--सभी करते हैं; नास्तिक हों, अधार्मिक हों, हिन्दू हों, मुसलमान हों--कोई भी हों; जो लोग सुख की आकाँक्षा करते हैं, अच्छे कर्म का औचित्य यह है कि अच्छे कर्म से सुख मिलता है; वह उसका परिणाम है। और अच्छे कर्म का दूसरा औचित्य यह है कि जब सुख मिल जाता है, तब सुख की व्यर्थता दिखायी पड़ती है। और जब सुख व्यर्थ होता है तो आदमी धर्म की यात्रा पर निकलता है।

धर्म की यात्रा का अर्थ है, सुख से भी कैसे छुटकारा हो?

दुःख से कैसे छुटकारा हो, यह संसार की यात्रा; और सुख से भी कैसे छुटकारा हो, यह मोक्ष की यात्रा।

अब हम सूत्र को लें:

"प्रारब्ध कर्म तो उसी समय सिद्ध होता है, जब देह के ऊपर आत्मबुद्धि होती

है। पर देह के ऊपर आत्म-भाव रखना तो कभी इष्ट नहीं है, इसलिए देह के ऊपर की आत्म-बुद्धि को तजकर प्रारब्ध कर्म का त्याग करना।"

कर्म तो पकड़ता ही हमें तब है, जब हम मानते हैं कि यह शरीर मेरा है। इसका अर्थ हुआ कि कर्म शरीर को पकड़ता है, हमें कभी नहीं पकड़ता। लेकिन जब हम शरीर को पकड़ लेते हैं, तो स्वभावतः, कर्म की गिरफ्त में हो जाते हैं। कर्म पकड़ता है शरीर को और हम भीतर से पकड़ लेते हैं शरीर को। कर्म पकड़ता है बाहर से शरीर को, हम भीतर से पकड़ लेते हैं शरीर को। तो कर्म से हमारा सम्बन्ध जुड़ जाता है, शरीर के माध्यम से।

कर्म आत्मा को कभी नहीं पकड़ता, सदा ही शरीर को पकड़ता है। जैसे कि अगर कोई छुरी से किसी चीज को काटे, तो जहाँ भी पदार्थ है, वहाँ छुरी से काटा जा सकता है। लेकिन आप आकाश को छुरी से काटें, तो नहीं काटा जा सकता। छुरी घूम जायेगी और आकाश अनकटा रह जायेगा।

कर्म का जो प्रभाव है, जो परिणाम है, वह जो छुरी है कर्म की, वह पदार्थ को काट सकती है। शरीर पदार्थ है; मन भी पदार्थ है। पदार्थ से पदार्थ की टक्कर हो सकती है। लेकिन भीतर जो चैतन्य है, वह शून्य आकाश, कोई कर्म उसे काटता नहीं, छूता नहीं। लेकिन, एक बात हो सकती है, कि वह जो भीतर चैतन्य है, वह अगर शरीर को मान ले मेरा, इसकी उसे स्वतन्त्रता है मानने की; चेतना को स्वतन्त्रता है यह मानने की, कि वह मान ले कि मेरा। तो शरीर मेरा है, यह मानते ही, शरीर की जो-जो पीड़ाएँ हैं, वे मुझमें फलित होने लगेंगी।

इसे हम ऐसा समझें:

एक घर में, मैंने सुना, आग लग गयी है। तो जो मकान मालिक है, वह छाती पीटकर रो रहा है। लेकिन तभी एक पड़ोसी ने आकर कहा कि क्या कर रहे हो, तुम नाहक रो रहे हो, मकान का तो इन्शुरेन्स हो चुका है। कल ही तो तुम्हारा लड़का इन्शुरेन्स-दफतर में सब करवा रहा था! लड़का कहाँ है तुम्हारा?

लड़का कहीं बाहर गया था। बाप ने कहा, क्या ठीक, इन्शुरेन्स हो चुका है? अरे, तब तो रोने की कोई बात नहीं है।

...आँसू विदा हो गये! मकान अब भी जल रहा है; वही मकान। लेकिन अब इन्शुरेन्स हो गया। तो मकान मेरा है, इससे सम्बन्ध तत्काल हटकर वह जो इन्शुरेन्स से पैसा मिलेगा, वह मेरा है। अब मकान से 'मेरा' हट गया। लेकिन तभी लड़का भागा हुआ आया और उसने कहा कि क्या कर रहे हैं, हँस रहे हैं खड़े होकर! मैं गया जरूर था, लेकिन हो नहीं पाया।

...फिर आँसू बहने लगे! फिर आदमी छाती पीटकर रोने लगा...कि मर गये, लुट गये! मकान वही-का-वही है; मगर बीच में क्या हुआ? 'मेरा' मकान से अलग हो गया। फिर मकान से 'मेरा' जुड़ गया।

शरीर के साथ हमारा 'मेरा भाव' ही हमारे दुःख का कारण है—या सुख का, हमारे सब कर्मों का। 'मेरा भाव' हट जाये, फिर शरीर पर होते कर्मों की प्रक्रिया का स्वयं से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

यह सूत्र कहता है, मेरा भाव, आत्म-भाव रखना ही समस्त कर्मों की प्रक्रिया को साथ देना है; कोआपरेट करना है; सहयोग देना है। हट जाये मेरा भाव, पता चल जाये कि मैं कौन हूँ —शरीर नहीं हूँ—तो जैसे इस आदमी को पता चला कि यह मकान मेरा नहीं है, अब जलता रहे। ऐसा ही बुद्ध और महावीर को पता चल गया है कि यह मकान मेरा नहीं है; जलता रहे। हट गये पीछे। उसका पता चल गया जो इस मकान में रहनेवाला है। उसका पता चल गया जो मकान में जरूर है, लेकिन मकान ही नहीं है। आत्म-भाव का हटना ही समस्त प्रारब्ध कर्म का त्याग है। फिर कर्म का कोई अर्थ नहीं है। त्याग हो गया।

"देह की भ्रान्ति यही प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है। पर आरोपित अथवा भ्रान्ति से जो कल्पित हो, वह सच कहाँ से होगा।"

आरोपित है, कल्पित है, लगता है मेरा है। आपका बेटा है। जी-जान दिये दे रहे हैं उसके लिए। कुरबान हो सकते हैं खुद। और फिर एक दिन एक पत्र मिल जाये घर में, किसी पुरानी किताब में दबा, और पता चले कि पत्नी का किसी से प्रेम रहा है...संदिग्ध हो जाये कि बेटा मेरा है,...कि नहीं है...सब डवाँडोल हो गया।

बाप को संदेह सदा थोड़ा बना भी रहता है; क्योंकि बाप बहुत प्रासंगिक घटना है, कोई बहुत महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है बेटे के जन्म में। उतना ही मूल्य है बाप का, जैसे कि एक इंजेक्शन का; इससे ज्यादा मूल्य नहीं है। माँभर असंदिग्ध रूप से जानती है कि बेटा उसका है। बाप को तो थोड़ा सन्देह बना ही रहता है। उसी सन्देह को मिटाने के लिए हमने इतने सख्त विवाह की व्यवस्था बनायी है... कि वह सन्देह बाप को सताये नहीं, नहीं तो जिन्दगीभर मुश्किल हो जायेगी। जिन बेटों के लिए मेहनत करनी, उन पर सन्देह बना रहे कि पता नहीं अपने हैं भी कि नहीं, तो बड़ी अस्तव्यस्तता न हो जाये, इसलिए विवाह की बड़ी सख्त व्यवस्था की है। और स्त्रियों की सारी गति पर रुकावट डाल दी है कि कहीं उनका दूसरे पुरुषों से सम्बन्ध न आये। सम्बन्ध ही न आये, तो डर न रहे। और, इसलिए कुंवारी लड़की पर बड़ी फिकिर होती है, कि शादी कुंवारी लड़की से हो। इसलिए जो और भी

ज्यादा इसमें बहुत ज्यादा चिंता में रत थे, वे बाल-विवाह कर देते थे, ताकि डर का कोई उपाय ही न रह जाये। तो निश्चित रहे कि पुत्र मेरा है।

मेरा हो, तो आरोपित हो जाता हूँ मैं। संदिग्ध हो, तो मुश्किल हो जाता है।

जहाँ 'मेरे' का आरोपण है, वहाँ लगता है कि बस मैं जुड़ गया। और अब मैं सब-कुछ कर सकता हूँ। फिर सब दुख भी झेलूँगा। जहाँ 'मेरा' हटता है, वहाँ लगता है: मैं टूट गया, अलग हो गया।

तो यह सब आरोपित है। मेरे का सारा भाव आरोपित है। मेरा इस जगत् में कुछ भी नहीं है। मेरा शरीर भी मेरा नहीं है। वह भी मेरे माँ-बाप से मिलता है। उनका भी नहीं है, उनके माँ-बाप से मिलता है।

खोजने अगर हम जायें तो अरबों-खरबों वर्षों की यात्रा है छोटे-से अणु की, जिससे आपका शरीर बना हुआ है। न हड्डी आपकी है, न माँस आपका, न मज्जा आपकी--कुछ भी आपका नहीं है; न मन आपका। सिर्फ आप ही आपके हैं। लेकिन उस आपका कोई पता नहीं है आपको।

वह कौन है भीतर, जिसे मैं कह सकूँ 'मेरा'; जिसे मैं कह सकूँ 'मैं'?

...मेरे को हटाते जायें, छोड़ते जायें, इलिमिनेट करते जायें--उपनिषद् कहते हैं: कहते जायें 'नेति', 'नेति'--यह भी मैं नहीं, यह भी मैं नहीं--हटाते जायें, सब मेरे से सम्बन्ध तोड़ लें--तब अचानक, जैसे अन्धेरे में ज्योति जल जाये, उसका अनुभव होगा--जो मैं हूँ।

'मेरे'से छुटकारा होने पर 'मैं' का अनुभव होता है। और 'मेरे' के फैलाव को बढ़ाते जाने से 'मैं' का अनुभव क्षीण होता चला जाता है।

तो जितना बड़ा 'मेरे' का विस्तार, उतने कम 'मैं' का अनुभव।

इसीलिए बुद्ध और महावीर घर छोड़कर भागे। घर की वजह से तकलीफ न थी, बड़ा विस्तार था साम्राज्य का, बहुत कुछ था जो 'मेरा' था, उस 'मेरे' की मात्रा इतनी ज्यादा थी कि उसमें 'मैं' का कहीं पता नहीं चलता था कि 'मैं कौन हूँ'? सारा 'मेरे' का साम्राज्य छोड़कर भाग गये।

महावीर ने आत्यंतिक कोशिश की है भागने की। वस्त्र तक छोड़ दिये, नग्न हो गये, ताकि कुछ भी कहने को न बचे कि मेरा... यह मेरा है; यह कपड़ा मेरा है, यह भी कहने को न बचे।...क्यों?

सिर्फ एक कारण से। ताकि यह जो 'मेरे' के बड़े विस्तार में 'मैं' की कोई अनुभूति नहीं होती, पता नहीं चलता; सब को छोड़कर भाग जाऊँ, खालिस अकेला रह जाऊँ, तो शायद पता चले कि 'मैं कौन हूँ'?

'मेरे' से तोड़कर, 'मैं' का पता आसान है। 'मेरे' से जोड़कर, 'मैं' का पता

मुश्किल होता जाता है। इसलिए जितनी चीजें जुड़ती जाती हैं, जितना परिग्रह होता जाता है, जितना विस्तार होता चला जाता है, उतना ही 'मैं' का केन्द्र लुप्त होता चला जाता है, दबता चला जाता है।

'मेरे' का सारा-का-सारा जाल कल्पित है। सत्य तो हूँ मैं, 'मेरा' है असत्य।

"जो सच्चा नहीं है, उसका जन्म कहाँ से हो? जिसका जन्म नहीं हुआ है, उसका नाश कहाँ से हो? इस प्रकार जो असत् है, वस्तु रूप है ही नहीं, उसको प्रारब्ध कर्म कहाँ से हो?"

बड़ी विचारपूर्ण बातें कही हैं।

'जो असत् है'। जो है ही नहीं।

'मेरा', इसका जन्म कहाँ से होता है? कब होता है? इसका अन्त कैसे होगा?

कठिन है, क्योंकि हमें लगेगा कि जब मेरा है, तो उसका कहीं से जन्म तो होता ही होगा, नहीं तो होगा कैसे? और अगर मेरा कुछ है, तो कहीं उसकी मृत्यु तो होती होगी; नहीं तो फिर छुटकारा कैसे होगा?

इस बात को समझने के लिए, मैंने पीछे जो आपसे मिथ्या की कोटि कही थी, उसे ख्याल में ले लें:

रस्सी पड़ी है, साँप दिखायी पड़ गया। पास जाकर देखा, साँप नहीं है, रस्सी है। अब सवाल यह है कि इस रस्सी में साँप दिखायी पड़ा, तो साँप का रस्सी में जन्म तो हुआ। दिखायी पड़ा था। मगर जन्म कहाँ हुआ? झूठ का जन्म कैसे होगा? और फिर अब लालटेन लेकर आये तो दिखायी पड़ा कि साँप नहीं है, तो मृत्यु भी हो गयी लेकिन मरी हुई लाश कहाँ है उस साँप की?

जो दिखायी पड़ता है, और था नहीं, उसका जन्म भी नहीं होता, उसकी मृत्यु भी नहीं होती; वह सिर्फ भ्रान्ति है। पर भ्रान्ति होती है; भ्रान्ति हो सकती है। भ्रान्ति आरोपित है। रस्सी में किसी साँप का कोई जन्म हुआ ही नहीं था, आपके ही मन ने प्रक्षेपण किया था... और रस्सी पर साँप दिखायी दिया था।

आप सिनेमागृह में बैठते हैं, आपकी पीठ की तरफ आप लौटकर नहीं देखते। देखेंगे भी क्या, वहाँ कुछ होता भी नहीं देखने को! सामने परदे पर सब होता है; रंग का, रूप का, गीत का, संगीत का प्रवाह होता है--परदे पर सामने। लेकिन, मजे की बात यह है कि परदे पर कुछ भी नहीं होता, परदा होता है खाली; केवल छाया और धूप फेंकती हुई किरणों का जाल होता है। वैसे परदा खाली होता है; सब-कुछ होता है भीतर, पीछे, पीठ के पीछे--जहाँ प्रोजेक्टर लगा होता है।

यह 'प्रोजेक्टर' शब्द बड़ा अच्छा है। जिसे 'कल्पित' कहा है, जिसे 'प्रक्षेपित'

कहा है, अंग्रेजी का शब्द 'प्रोजेक्शन' उसका अनुवाद है।

प्रोजेक्टर पीछे लगा है। वहाँ से चीजें फेंकी जा रही हैं परदे पर। और परदे पर जहाँ हैं नहीं, वहाँ दिखायी पड़ रही है। जहाँ दिखायी पड़ रही है, वहाँ हैं नहीं; और जहाँ हैं, वहाँ आप पीठ किये हैं, वहाँ आप देखते नहीं।

रस्सी में साँप दिखायी पड़ा; रस्सी केवल परदे का काम कर रही है और मेरा मन प्रोजेक्ट कर रहा है, मेरा मन साँप की छाया भेज रहा है रस्सी पर; रस्सी पर साँप की छाया मेरा मन डाल रहा है और रस्सी साँप मालूम पड़ रही है। फिर मैं भाग रहा हूँ।

जब पहली दफा 'थ्री डायमेन्शनल पिक्चर' आये, चित्र बने, तो पहली दफा बड़ी मजेदार घटनाएँ सारी दुनिया में घटीं। जब लंदन में पहली दफा थ्री डायमेन्शनल चित्र दिखाया गया, तो उसमें एक घुड़सवार एक भाले को फेंकता है, घुड़सवार भागता हुआ आता है।

तो थ्री डायमेन्शनल पिक्चर का मतलब है कि बिलकुल ऐसा दिखायी पड़ता है कि असली घोड़ा आ रहा है; चित्र नहीं दिखायी पड़ता—असली घोड़ा! तीनों आयाम हैं उसके।

...घोड़ा भागता हुआ आता है, टापें बढ़ती जाती हैं, घोड़ा पास आता है, फिर घुड़सवार एक भाला फेंकता है। पूरा हाल...पूरा हाल अपनी-अपनी गर्दन झुका लेता है! पूरे हाल में बीच में जगह बन जाती है भाले के निकलने के लिए। चीख मच जाती है, महिलायें बेहोश हो जाती हैं।

क्या हुआ? कहीं कोई भाला-वाला था नहीं। मगर भाला बिलकुल वास्तविक मालूम हो रहा था। और थ्री डायमेशनल था, तो बिलकुल लगा कि निकल जायेगा। तो उस क्षण में झुक जाना...क्योंकि मन को भीतर क्या पता कि भाला असली है कि नकली! दिखायी पड़ रहा है, है नहीं। मन तो आदतवश झुक गया...कि कहीं भाला लग न जाये! यह तो क्षण में हो गया इसके लिए सोचना थोड़े ही पड़ता है। फिर पीछे खुद ही हँसी आयी होगी कि क्या पागलपन किया! लेकिन हो गया।

जब बुद्ध जगते हैं तो हँसी आती है कि क्या पागलपन किया।

रिंझाई के सम्बन्ध में कहानी है कि रिंझाई को जब ज्ञान हुआ, तो वह हँसने लगा, वह खिलखिलाने लगा। और जब उसके शिष्यों ने पूछा कि आप क्यों हँस रहे हैं, क्या हो गया है? तो रिंझाई ने कहा कि मुझे परमज्ञान हो गया है। तो उन्होंने कहा, परमज्ञान! पर हमने कभी ऐसा सुना नहीं कि परमज्ञान होने के बाद कोई इस तरह हँसता है! आप हँस क्यों रहे हैं?

तो रिंझाई लोट-पोट हुआ जाता है। उसके पेट में बल पड़ रहे हैं। और वह

कह रहा है, मैं इसलिए हँस रहा हूँ कि खूब बुद्धू बने—और व्यर्थ बने। कुछ भी न था; जिसे पकड़े थे, वह था नहीं और जिसे छोड़ने की कोशिश कर रहे थे वह भी नहीं था; खुद हम ही थे अकेले; हम ही अपने हाथ को पकड़े हुए थे।

जैसा कभी-कभी रात में होता है न...कि अपने ही हाथ से अपनी छाती दबाये हुए हैं...और अन्दर सपना चल रहा है कि कोई छाती पर चढ़ा बैठा है...और जब आँख खुलती है तो कंप रहे हैं, पसीना छूट रहा है!

अपने ही हाथ छाती पर पड़ गये थे। उनके वजन की वजह से लग रहा था।

नींद में सभी इन्द्रियाँ बहुत सतेज हो जाती हैं। इसलिए जरा-सा वजन बहुत वजन मालूम पड़ता है।...जरा-सा वजन, बहुत वजन मालूम पड़ता है! खुद का ही हाथ, लगता है कोई छाती पर चढ़ा बैठा है!

कभी कोशिश करें: घर में कोई सोया हो, जरा पैर के पास बर्फ का एक टुकड़ा धीरे-धीरे घिस दें—उसके पैर में।...सपना शुरू हो जायेगा;—भीतर। सपना होगा कुछ ऐसा कि पहाड़ पर चढ़ रहे हैं, बर्फ-ही-बर्फ है: मरे जा रहे हैं, गले जा रहे हैं। चीख-पुकार मच जायेगी भीतर।

जरा थोड़ा-सा दीया पास ले जाकर जरा आँच दे दें पैर में किसी सोये आदमी के...वह समझेगा कि नर्क में पहुँच गये: लपटें जल रही हैं, कढ़ाये हैं, डाले जा रहे हैं और निकाले जा रहे हैं।

क्या, भीतर क्या हो रहा है? वह मन अपनी धारणाएँ रखे बैठा है। जरा-सा इशारा, और मन अपनी धारणाओं का फैलाव शुरू कर देता है; परदा मिले कि प्रोजेक्टर काम शुरू कर देता है।

जागते में भी हम जो कर रहे हैं, वह यही है। होश से जब कोई जागता है वस्तुत:—हमारा जागरण नहीं, बुद्ध का जागरण, उपनिषद् के ऋषियों का जागरण —जब कोई उस जागरण को उपलब्ध होता है, तब उसे हँसी आती है: कैसी नासमझी की! जो था नही, उसे देखा! जो था नहीं, उसे पकड़ा! जो था नहीं, उसे छोड़ने की कोशिश भी की! और सारा खेल अपना था। हम ही सब तरफ से थे। हमारा मन ही सब तरफ से था। अगर जीवन की किसी भी घटना का ठीक-ठीक विश्लेषण करेंगे तो इस सचाई का अनुभव हो जाएगा; नहीं करेंगे विश्लेषण, तो पीठ की तरफ मन का कारोबार जारी है, और जगत् परदा बना हुआ है; उस पर सब खेल चल रहा है, सब चीजें दिखायी पड़ रही हैं।

नहीं, इस माया का न कोई जन्म है और न कोई मृत्यु। मिथ्या का न कोई जन्म होता है, न कोई मृत्यु।

"देह यह अज्ञान का कार्य है, उसका ज्ञान द्वारा जो समूल नाश हो जाता है तो यह देह रहती कैसे है? ऐसी शंका करनेवाले अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति ने बाह्य दृष्टि से प्रारब्ध कहा है। (वास्तव में न तो देह है, और न प्रारब्ध है।)"

यह बड़ी कठिन बात है। और जो मैं परसों आपसे, एक-दो दिन पहले कह रहा था, और अड़चन मालूम पड़ी होगी। मैंने आपसे कहा था कि बुद्ध को झूठ बोलना पड़ता है, महावीर को झूठ बोलना पड़ता है--आपकी वजह से; क्योंकि आप झूठ की ही भाषा समझते हैं, और कोई भाषा नहीं समझते।

यह सूत्र कह रहा है कि वास्तव में न तो देह है और न प्रारब्ध है। वस्तुतः, सत्य में, न तो देह है, और न प्रारब्ध है; न कोई बुरा कर्म है और न कोई भला कर्म है; न कोई सुख है और न कोई दुःख है। वास्तव में संसार नहीं है।

यह तो वास्तविकता है; लेकिन यह कही नहीं जा सकती। सूत्र कहता है, अज्ञानियों से यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि, अगर अज्ञानियों से कहो कि देह नहीं है, तो वे कहेंगे--हटो भी, आपका दिमाग ठीक है? आप अपने दिमाग का इलाज करवा लो!

अज्ञानियों से कहो कि संसार नहीं है, तो आपको पागलखाने में भेज देंगे।

ज्ञानी, अज्ञानियों के बीच वैसी हालत में है, जैसा अंधों के बीच में कोई आँख-वाला हो; वह कहे, बड़ा प्रकाश है और सब अन्धे हँसे। वे कहें, क्या बातें कर रहे हो? मस्तिष्क तो रास्ते पे है; ठिकाने पे? कैसा प्रकाश? वह कहे, मुझे दिखायी पड़ता है, तो अन्धे सब हँसे कि दिखायी पड़ने का मतलब? दिखायी-पड़ने-जैसी कोई चीज सुनी है कभी, होती है कभी? न हमारे बाप-दादों को हुई, न उनके बाप-दादों को हुई, जरूर तुम्हारा सिर फिर गया है!

अंधों के बीच में आँखवाले की क्या गति होगी, आप समझते हैं? अगर समझ-दार होगा, तो भूलकर भी वे बातें नहीं करेगा जो अंधों को दिखाई नहीं पड़ रही हैं। और अगर अंधों को भी वह आँख के रास्ते पर लाना चाहता है, तो उसे बहुत-सी डिवाइसिस, उपाय करने पड़ेंगे। उसे सीधा यह कहना ठीक नहीं होगा कि मैं आँख-वाला हूँ और तुम सब अंधे हो; और मैं तुम्हारी आँख का इलाज करता हूँ; और तुम जो हो, वह नहीं है, कुछ और है--जो आँख के खुलने पर दिखता है; तुम बिलकुल झूठ में जी रहे हो।

तो अंधों की आँख का इलाज करने की बजाय, अंधे मिलकर उसकी आँख का इलाज कर देंगे! कई दफे हो गया है: जीसस को हमने सूली पर लटकाया,

मन्सूर को हमने काट डाला, सुकरात को जहर पिला दिया। उसका कारण कुछ और नहीं है, उसका कारण सिर्फ इतना ही है कि ये लोग सीधी-सीधी बातें कहने लगे जो हमारी पकड़ के बाहर हैं। और इनकी बातें अगर हम मानकर चलें तो हम चल ही नहीं सकते। हमारा भी कसूर नहीं है।

लेकिन आप जानकर हैरान होंगे कि भारत में हमने किसी बुद्ध, किसी महा-वीर, किसी रामकृष्ण को फाँसी नहीं दी। जीसस को सूली लग गयी, जेरूसलम में। मन्सूर को मुसलमानों ने मार डाला। सुकरात को यूनानियों ने काट डाला। इस मुल्क में हमने किसी बुद्ध, किसी महावीर, किसी कृष्ण को कभी नहीं काटा--मारा--सूली नहीं दी।

आप जानते हैं, कारण क्या है? कारण बड़ा अद्भुत है। और वह कारण यह है कि कृष्ण और बुद्ध और महावीर, जीसस और सुकरात से, अंधों के साथ बात-चीत करने में ज्यादा कुशल हैं, और कोई कारण नहीं है। कुल कारण इतना है; ज्यादा कुशल हैं। और कुशलता की वजह है, क्योंकि इस मुल्क में हजारों सालों से ...हजारों सालों से...बुद्धों, महावीरों ने, अंधों से बातें की हैं। तो उन्होंने तरकीबें इजाद कर ली हैं।

जीसस गड़बड़ हालत में पड़ गये। जीसस की सारी शिक्षा तो हुई भारत में, तो उन्हें अंदाज नहीं था। भारत से वह सब सीखकर लौटे। और जेरूसलम में जाकर उन्होंने जब बोलना शुरू किया, तो जेरूसलम की परम्परा में उसकी कोई भी जगह न थी। जीसस बिलकुल ही विजातीय मालूम पड़े। और जीसस की बातें पागलपन की मालूम पड़ीं।

पुरानी बाइबिल में कहा है कि जो एक आँख फोड़े तुम्हारी, उसकी दोनों फोड़ देना। अंधों की भाषा है। और जीसस ने जाकर वहाँ आँखवालों की भाषा बोलनी शुरू कर दी--एकदम, अचानक; कोई बीच में सेतु नहीं था। कहा कि जो तुम्हारे बायें गाल पर चाँटा मारे, दायाँ भी उसके सामने कर देना; कि जो तुम्हारा कोट छीने, कमीज भी उसको दे देना; कि जो तुमसे कहे एक मील बोझ को ढो चलो, तुम दो मील तक साथ चले जाना। हो सकता है, संकोचवश उसने एक ही मील कहा हो।

यह आँखवालों की भाषा--जहाँ नियम था कि जो ईंट मारे, पत्थर से जवाब देना--बिलकुल समझ के बाहर पड़ गयी। असल में जीसस आँखवाले की बात सीधी-सीधी कह दिये अंधों से।

बुद्ध, महावीर ज्यादा कुशल हैं। और लगभग सत्य ईजाद करने में उनका कोई मुकाबला नहीं है। यही ये उपनिषद् का सूत्र कह रहा है। यह साफ ही कह रहा है। यह कह रहा है कि न तो यह देह है, न ये कर्म हैं, लेकिन अज्ञानियों को

उनकी शंकासमाधान करने के लिए, बाह्य दृष्टि से ऊपर-ऊपर की दृष्टि से, देह और कर्म और प्रारब्ध की बात कही है। वास्तव में न देह है और न प्रारब्ध है।

बड़ी मुश्किल बात है। सच है यह कि सभी शास्त्र निन्यानबे प्रतिशत झूठ हैं। झूठ इसलिए कि वे अंधों को समझाने के लिए कहे गये हैं--बाह्य दृष्टि से, नहीं तो उनकी समझ में कुछ भी नहीं पड़ता है; वे उलझन में पड़ जायेंगे, उनको सीधा-सीधा समझाने से।

जैसे बच्चों को हम समझाते हैं, कहते हैं--ग गणेश का। गणेश की कोई बपौती नहीं है, गधे का भी ग है। और जब से भारत धर्मनिरपेक्ष हो गया है, तो पहले स्कूल की किताबों में--जब मैं पढ़ता था--तब तो ग गणेश का होता था, अभी मैं सुनता हूँ कि ग गधे का होता है। क्योंकि गधा जो है ज्यादा निरपेक्ष जानवर है। गणेश तो हिन्दू-सम्प्रदाय के हो जाते हैं, गधा किसी सम्प्रदाय का नहीं है। गधे सभी सम्प्रदायों में पाये जाते हैं! पर बच्चे को हम समझाते हैं ग गणेश का, या ग गधे का। और बच्चा पकड़ ले, और फिर जब भी ग आये कहीं तो पहले बोले ग गधे का, और फिर आगे बढ़े, तो मुश्किल हो जायेगी। वह तो सिर्फ सहारा था। वह बच्चा गधे को समझ सकता था, ग को नहीं समझ सकता था, इसलिए ग को जोड़ दिया। फिर प्रतीक भूल जायेंगे, चित्र हट जायेंगे, ग सीधा आ जायेगा।

वह जो अज्ञानी है, जहाँ से उसे उठाना है, उसकी ही भाषा से बात शुरू करनी पड़ती है। उससे कहना पड़ता है: यह दुःख है, यह दुख है। सुख चाहते हो तो अच्छा कर्म करो, दुःख चाहते हो तो ही बुरा कर्म करो। नहीं भी चाहते हो दुःख, बुरा करोगे तो बुरा फल पाओगे; अच्छा करोगे अच्छा फल पाओगे। अगर दोनों से छूट जाओगे, तो फिर तुम्हें कोई फल नहीं मिलेगा। और जब कोई फल नहीं मिलता है तो तुम मुक्त हो जाते हो।

लेकिन यह सारी-की-सारी बात, एक बात मानकर चल रहे हैं हम, कि यह सारा वास्तविक का जगत् है। लेकिन जब कोई आदमी जागता है, जब होश से भरता है, जब शरीर से टूट जाता है, और अज्ञान नाश होता है, तब उसे बड़ी हँसी आती है। जो छूट गया पीछे, वह वास्तविक नहीं था, एक बड़ा सपना था। एक बड़ा सपना था, वास्तविक नहीं था। ओर जो उपाय हमने बताये थे, वे भी सपने के भीतर सपने थे।

ऐसा समझें तो आसानी होगी। रामकृष्ण तो भक्त थे काली के, पर बड़े विनम्र थे। और कोई भी, कोई और मार्ग बताये, तो सदा पालन करने को तैयार रहते थे। फिर एक वेदान्त के शिक्षक तोतापुरी का आगमन हुआ। और तोतापुरी ने रामकृष्ण से कहा कि यह क्या लगा रखा है? यह क्या कीर्तन, भजन, क्या इससे होगा? एक को खोजो, यह तो दो हैं। भक्त और भगवान् दो नहीं, एक ब्रह्म।

तो रामकृष्ण ने--रामकृष्ण अद्भुत थे--उनके पैरों में सिर रख दिया और कहा कि ठीक, मुझे शिक्षा दें, मुझे सिखायें। तो ध्यान पर तोतापुरी रामकृष्ण को बिठाता है। और रामकृष्ण आँख बन्द करके खूब आनन्दित होते हैं। तोतापुरी कहता है, क्या हो रहा है? तो वे कहते हैं, माँ दिखायी पड़ती है। तो उन्होंने कहा कि सब फिजूल बकवास, मैं यहाँ रुकूँगा नहीं! माँ दिखायी पड़ती है तो तुम इतने काहे के लिए आनन्दित हो रहे हो? यह सब कल्पना है; यह माँ और यह काली, यह सब तुम्हारी ही धारणा है।

रामकृष्ण कहते हैं--होगी, लेकिन आनन्द बड़ा आता है। तो तोतापुरी ने कहा कि अगर इसी आनन्द में पड़े रहना है, तो परम-आनन्द कभी न आयेगा। तो रामकृष्ण ने पूछा, क्या करूँ? तो तोतापुरी ने कहा कि एक तरकीब करो, जब काली भीतर दिखायी पड़े, उठाओ एक तलवार और दो टुकड़े कर दो। तो रामकृष्ण ने कहा, तलवार वहाँ कहाँ से लायेंगे?

स्वाभाविक है, कहाँ से तलवार ले आयेंगे एकदम-से? और भीतर! अगर बाहर तलवार हो भी तो ले कैसे जायेंगे? और काली जब दिखायी पड़ेगी तो कैसे, कहाँ है तलवार? तो तोतापुरी ने कहा कि जिस मन से काली को भीतर खड़ा कर लिया है, उसी मन से एक तलवार भी खड़ी कर लेना। जब तुम काली तक को भीतर खड़ा करने में सफल हो गये हो, तो छोटी-सी तलवार न कर पाओगे?

यह सपने के भीतर सपने की विधि है; समझे मेरा मतलब? काली भी एक कल्पना है भीतर। सुखद है, पर है तो कल्पना। अपना ही फैलाव है। अपना ही भाव है--जो मूर्तिमंत हो गया भीतर। अपनी ही चाह है, अपने ही रंग हैं, जो हमने ही डाल दिये भीतर। वह जो काली खड़ी है भीतर, और रामकृष्ण भीतर जो उसके चरणों में सिर रखे पड़े हैं, बड़े मजे की बात है कि वह काली भी रामकृष्ण का ही भाव है, और वह सिर रखे हुए भी रामकृष्ण पड़े हैं!

तो तोतापुरी ने ठीक कहा, कि तलवार क्या बाहर से ले जानी पड़ेगी? काली को कब बाहर से ले गये थे? तो जब भीतर काली बना ली, एक तलवार भी बना लो। और तुम तो कुशल मालूम पड़ते हो। जब काली को देखते हो, इतने आनन्दित होते हो, तो मतलब तुमने पक्की मजबूत काली बना ली है। और तुम्हें शक-शुब्हा भी नहीं उसकी सचाई में, एक तलवार और बना लो।

रामकृष्ण बड़े उदास हो जाते थे, कि यह कैसे होगा? तलवार से मैं खुद ही काली को काटूँ। तो तोतापुरी ने कहा कि अगर न कटे तलवार से, तो फिर सोचेंगे। तुम कोशिश तो करो।

रामकृष्ण कहते थे, मैं ही खुद काटूँ? तो तोतापुरी ने कहा कि फिर मैं रुकूँगा

नहीं। और जब तुमने स्वीकार किया कि साधना में उतरोगे वेदान्त की, तो थोड़ी हिम्मत जुटाओ। यह क्या बच्चों-जैसा रोते हो! तो तोतापुरी एक काँच का टुकड़ा ले आये और रामकृष्ण से कहा कि बैठो, ध्यान करो, और जब मैं देखूँगा काली भीतर आ गयी, तो कहीं तुम भूल न जाओ, क्योंकि तुम ऐसे मोहित दिखते हो, कि तुम भूल जाओगे। और अगर काली याद भी रही तो तुम्हारी हिम्मत भी नहीं दिखती, तुम तलवार उठा लो। तुम इतने प्रेम से भरे दिखते हो कि तुम तलवार उठाओगे कैसे? जैसे कोई माँ अपने बच्चे को काटे, उससे भी कठिन तुम्हें होगा, यह भी मैं समझता हूँ। तो फिर मैं तुम्हें साथ दूँगा। तुम फिक्र न करो। जब मैं समझूँगा काली आ गयी, यह काँच का टुकड़ा है, इससे मैं तुम्हारे तृतीय नेत्र की जगह को पूरा-का-पूरा काट दूँगा। जब तुम्हें यहाँ दरार मालूम पड़े, और लगे खून बहने लगा और दर्द उठने लगे, मैं काटता जाऊँगा, रगड़ता जाऊँगा काँच के टुकड़े से, तब तुम भी हिम्मत से उठाकर उसी तरह एक ज़ोर की चोट करना तलवार की और दो टुकडों में काली को तोड़ देना।

ठीक है, अगर तीसरे नेत्र पर काँच से काटा जाये, तो भीतर तीसरे नेत्र में ही दिखायी पड़ता है सब-कुछ। तो चाहे काली हो और चाहे राम हों, चाहे कृष्ण हों—कोई भी हों, वह तीसरे नेत्र में ही उनका प्रतिबिम्ब बनता है। तो अगर तीसरे नेत्र को बाहर से काटा जाये और भीतर से भी कोई हिम्मत जुटाये, तो तीसरे नेत्र के कटान के अनुभव के साथ ही कोई भी भीतर की प्रतिमा टूटकर दो टुकड़े हो जाती है।

रामकृष्ण ने हिम्मत की, प्रतिमा दो टुकड़े होकर टूट गयी, गिर गयी। रामकृष्ण ने लौटकर बाहर कहा: द लास्ट बैरियर हेज़ फालन—जो आखिरी बाधा थी, वह गिर गयी।

मगर ये सब उपाय हैं। मैं समझा यह रहा था कि काली भी एक असत्य, भीतर—और तलवार भी एक असत्य, भीतर—लेकिन एक असत्य से दूसरा असत्य कट जाता है।

ये सारे उपनिषद् के ऋषि, जो नहीं है, उसे काटने के लिए उपाय बता रहे हैं। क्योंकि हमने, जो नहीं हैं, उसे मान रखा है कि है। तो कुछ उपाय हमें दिये जा रहे हैं, जिनसे वह कट जाये। झूठी बीमारी, झूठी दवा की माँग करती है। हमारा सारा भाव...संसार झूठ है। इसलिए इतनी विधियों की ज़रूरत है। इसलिए कोई भी विधि काम दे सकती है। कोई भी विधि काम दे सकती है, बस पकड़ जाये आपको।

सपने के भीतर एक सपना है। सपने से सपने को काटना है। और कोई उपाय भी नहीं है। सत्य से सत्य नहीं काटा जाता, कट भी नहीं सकता। सत्य से असत्य

भी नहीं काटा जाता, कट भी नहीं सकता, क्योंकि असत्य और सत्य का कहीं कोई मिलन ही नहीं होगा, कटेगा कैसे? असत्य से ही असत्य कटता है। एक असत्य से दूसरा असत्य कट जाता है। और जब दोनों गिर जाते हैं तो जो शेष रह जाता है,...

ऐसा समझें कि एक काँटा लग गया है पैर में, तो एक दूसरा काँटा उठाकर उसे निकाल लेते हैं। काँटे से काँटा निकलता है। फिर दोनों काँटे फेंक देते हैं।

तो यह सूत्र कह रहा है: कि न तो है देह, न है कर्म, न है प्रारब्ध, न है संसार—वास्तव में।

आपसे नहीं कह रहा है कि आप मानने लगें—कि न है कर्म, न है देह, न है संसार। तभी आप मुश्किल में पड़ जायेंगे; अभी, इसी वक्त।

नहीं, आपके लिए अभी है; क्योंकि अभी आप नहीं हैं। इसलिए सभी झूठ अभी सत्य हैं। अभी सत्य का पता नहीं है, इसलिए सभी झूठ सत्य हैं। जिस दिन आपको अपने सत्य का पता चलेगा, सभी झूठ मिथ्या हो जायेंगे।

स्वयं को जानते ही संसार मिथ्या हो जाता है। स्वयं को न जानने से ही मिथ्या संसार सत्य मालूम होता है।

सोलहवाँ प्रवचन

२१ अक्तूबर, १९७२, प्रातः
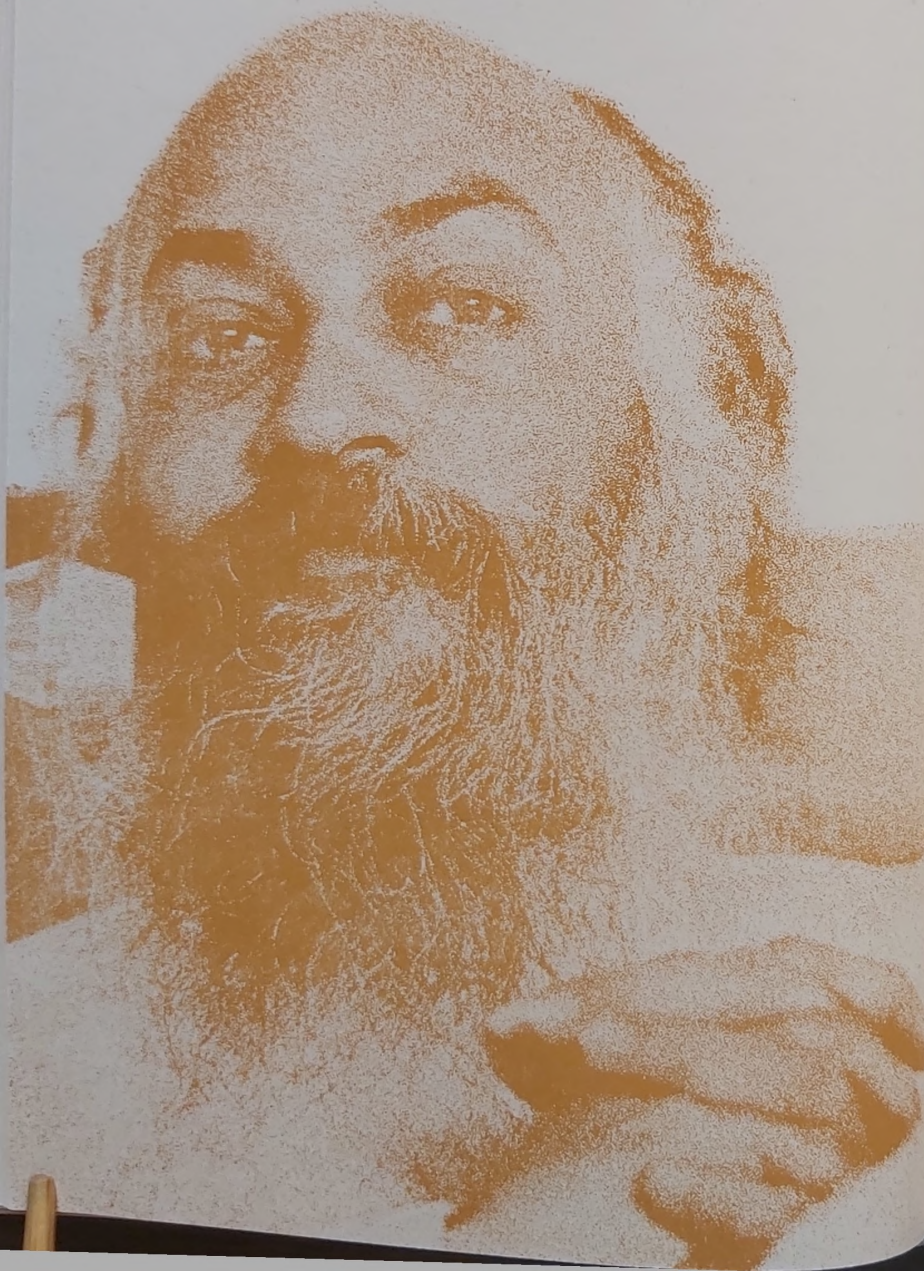
समाधातुं बाह्यादृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः।
न तु देहादिसत्यत्व बोधनाय विपश्चिताम्॥६०॥
परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्।
सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम्॥६१॥
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्त सर्वतोमुखम्।
अहेयमुनपादेयमनघेयमनाश्रयम्॥६२॥
निर्गुण निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरंजनम्।
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्॥६३॥
सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं शुद्धं बुद्धिमनीदृशम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन॥६४॥

'देह आदि सत्य है', ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहता। (पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहता है।) वास्तव में परिपूर्ण, आदि-अन्त रहित, अमाप (नाप सकने में असंभव), विकार रहित, सत्तामय, चैतन्यमय, नित्य, आनन्दमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक होनेवाले, एक रसवाला, पूर्ण, अनन्त, सर्व तरफ मुखवाला, त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य, आधार के ऊपर नहीं रहनेवाला, आश्रयरहित, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म, विकल्परहित, स्वतःसिरू, शुद्ध, बुद्ध, अमुक के समान नहीं, एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है और कोई भी नहीं।

इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जानकर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वद्धप आत्मा से ही अत्यन्त सुखपूर्वक स्थिति कर।

"देह आदि सत्य हैं, ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहती, पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहती है।"

जो कहा जाता है, वह उससे ही सम्बन्धित नहीं होता जो कहता है, बल्कि उससे भी सम्बन्धित होता है जिससे कहा जाता है। ज्यादा महत्त्वपूर्ण वही है, जिससे कहा जा रहा है: जो उसकी समझ में आ सके; जो उसकी बुद्धि के पार न पड़ जाये; जो उसे उलझा न दे, सुलझाये; जो उसके लिए मार्ग बने, ऊहापोह नहीं; जो उसके लिए मात्रचिन्तन की यात्रा न हो जाये, वरन् जीवन को बदलने की व्यवस्था हो।

तो यह सूत्र कहता है, कि श्रुति अज्ञानियों से और भाषा में बोलती है, ज्ञानियों से और भाषा में। सच तो यह है, कि बुद्ध पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से दूसरी भाषा में बोलते हैं। और इसीलिए, शास्त्र में इतनी असंगतियाँ हैं; क्योंकि वक्तव्य अलग-अलग लोगों के लिए दिये गये हैं। बुद्ध आज कुछ कहते हैं, कल कुछ कहते हैं, परसों कुछ कहते हैं--और मुश्किल हो जाती है यह सोचकर कि ये तीनों बातें एक ही व्यक्ति ने कैसे कही होंगी! क्योंकि तीनों में विपरीतता है, विरोध है। कोई संगति नहीं है। और बुद्ध को माननेवाला जबरदस्ती संगति बिठाने की चेष्टा करता है, ताकि बुद्ध असंगत न मालूम पड़ें। पर वास्तविक बात केवल इतनी है, कि बोलनेवाला तो तीनों में एक है लेकिन सुननेवाला तीनों में अलग था। और सुननेवालों को ध्यान में रखकर कही गयी बातें,...

चिकित्सक एक हो, लेकिन बीमार अलग-अलग होंगे तो दवा अलग-अलग हो जायेगी।

बुद्ध के वचन सिद्धान्त नहीं हैं। बुद्ध-पुरुषों के वचन सिद्धान्त नहीं हैं--दवाईयाँ हैं, औषधियाँ हैं। और इसलिए यह जानना ज़रूरी है कि किससे कही है बात।

श्रुति अज्ञानियों से कुछ और कहती है, ज्ञानियों से कुछ और कहती है। ज्ञानियों से कहती है कि देह है ही नहीं, अज्ञानियों से कहती है देह है, लेकिन तुम देह नहीं

हो। ज्ञानियों से कहती है देह है ही नहीं, बस तुम ही हो; अज्ञानियों से कहती है देह है, लेकिन तुम देह नहीं हो। ये दोनों बातें विपरीत हैं। अगर देह नहीं है, तो नहीं है--चाहे ज्ञानी से कही जाये, चाहे अज्ञानी से कही जाये; और अगर देह है, तो है--फिर ज्ञानी-अज्ञानी से क्या फर्क पड़ेगा?

...इसे थोड़ा हम सूक्ष्मता से समझ लें।

एक तो ऐसे सत्य हैं, जिन्हें हम तथ्य कहते हैं; ऑब्जेक्टिव फैक्ट्स। सुबह है। तो ज्ञानी हो या अज्ञानी, इससे क्या फर्क पड़ता है--सुबह है। और रात हो गयी, सूरज ढल गया। तो ज्ञानी हो या अज्ञानी, इससे क्या फर्क पड़ता है--सूरज ढल गया और रात हो गयी।

विज्ञान तथ्यों की खोज करता है, इसलिए विज्ञान संगत भाषा बोलता है। विज्ञान, बाहर जो है उसकी बात करता है। इसलिए विज्ञान की भाषा में बड़ी संगति, कंसिस्टेंसी है। धर्म, भीतर जो देखनेवाला है उसके अनुकूल भाषा बोलता है; सब्जेक्टिव है। तथ्य पर उतना ज़ोर नहीं है, जितना दृष्टि पर ज़ोर है।

तो जो देखता है उसके हिसाब से भेद पड़ जाते हैं।

ज्ञानी जब देखता है, तो देह दिखायी ही नहीं पड़ती; अज्ञानी जब देखता है तो आत्मा का कोई पता नहीं चलता। अज्ञानी के देखने का ढंग ऐसा है कि देह ही पकड़ में आती है; और ज्ञानी के देखने का ढंग ऐसा है कि आत्मा ही पकड़ में आती है।

ज्ञानी को देह दिखायी पड़नी असम्भव है, अज्ञानी को आत्मा दिखायी पड़नी असम्भव है। इसीलिए तो शंकर-जैसे मनीषी कह सके कि जगत् मिथ्या है, है ही नहीं...और बृहस्पति-जैसे पदार्थवादी कह सके कि आत्मा-परमात्मा सब असत्य हैं, केवल पदार्थ है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि इन दोनों में कहीं कोई मिलन ही नहीं होता। ये तो अलग ढंग से देखे गये वक्तव्य हैं। जीवन को देखने की व्यवस्था ही दोनों की अलग है। जहाँ से शंकर देखते हैं, वहाँ जगत् दिखायी नहीं पड़ता; जहाँ से चारवाक देखता है, वहाँ से जगत् ही दिखायी पड़ता है। यह दृष्टि-भेद है। यह वक्तव्य बिलकुल अलग-अलग देखे गये लोगों के वक्तव्य हैं, जिनके देखने का ढंग अलग है।

जैसे, समझें: कि अगर सुगंध ही आपकी परख का ढंग हो, अगर नाक ही सिर्फ आपके पास हो, और गंध से ही आप पता लगाते हों;...बहुत-से पशु-पक्षी हैं, बहुत से कीड़े-मकोड़े हैं, जो गंध से ही जीते हैं; गंध के ही आधार चलते हैं; गंध ही उनकी आँख है; गंध ही उनका मार्ग खोजने खोने का ढंग है;...ऐसे कीड़े-मकोड़ों को, जो गंध से ही चलते हैं, संगीत का कोई भी पता नहीं चलेगा; क्योंकि गंध से

संगीत को जाँचने का कोई उपाय नहीं है। संगीत में कोई गंध होती ही नहीं। अच्छा संगीत हो तो सुगंध नहीं होती, बुरा संगीत हो तो दुर्गन्ध नहीं होती; गंध का ध्वनि से कोई लेना-देना नहीं।

तो जिसके पास जाँचने की व्यवस्था गंध की हो, वह ध्वनि से अपरिचित रह जायेगा; उसके लिए ध्वनि है ही नहीं। हमारे लिए वही है जगत् में, जिसको जाँचने का हमारे पास उपाय है।

ध्यान रहे, हमारे पास पाँच इन्द्रियाँ हैं। इसलिए हमें पाँच महाभूत का पता चलता है। अगर दस इन्द्रियाँ हों तो दस महाभूतों का पता चलेगा। आदमी से नीचे पशु हैं, जिनके पास चार इन्द्रियाँ हैं, तीन इन्द्रियाँ हैं, दो इन्द्रियाँ हैं; तो जितनी उनकी इन्द्रियाँ हैं, उतना ही उनका जगत् है।

जिस पशु के पास कान नहीं है--और सब है--उसके लिए ध्वनि का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए नहीं कि ध्वनि नहीं है, लेकिन ध्वनि को पकड़ने का उपाय न हो तो आपके लिए तो ध्वनि नहीं हो जाती है, यह जगत शून्य है ध्वनि से। कान नहीं है तो जगत् में कोई ध्वनि नहीं है। आँख नहीं है तो जगत् में कोई प्रकाश नहीं है। तो आप किस माध्यम से खोजने चलते हैं, वही आपको मिलता है।

आपका माध्यम ही आपका जगत् है।

अज्ञानी शरीर के माध्यम से खोजता है। इसलिए अज्ञानी अक्सर पूछता है, 'कहाँ है ईश्वर? दिखा दो'। वह यह कह रहा है: जब तक मेरी आँख गवाही न दे, मैं न मानूँगा। वह क्या कह रहा है? जब आप कहते हैं: जब तक ईश्वर का दर्शन न हो तो हम नहीं मान सकते। आप क्या कह रहे हैं? आप यह कह रहे हैं कि जब तक ईश्वर मेरी आँख का विषय न बने, तब तक मानने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है। लेकिन आपको यह किसने कहा कि ईश्वर आँख का विषय है? अगर वह आँख का विषय है ही नहीं, तो फिर आपका मिलन उससे कभी नहीं होगा, क्योंकि जो जिद आप कर रहे हैं आँख की, उससे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो पायेगा।

रूप होता है आँख का विषय और समस्त ज्ञानी कहते हैं कि ईश्वर अरूप है। और आप कहते हैं हम आँख से देखेंगे—तब मानेंगे। तो आपने न मानने का निर्णय पक्का कर लिया है। और कोई उपाय नहीं है कभी भी कि आप आँख से ईश्वर को देख सकें। क्योंकि जिसका अरूप होना स्वभाव है, उसको आप रूप में कैसे देखेंगे?

और ध्यान रहे, अगर आपको कभी ईश्वर रूप में दिख जाये, तो आप फौरन कहेंगे यह ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रों में कहा है वह अरूप है।

मार्क्स ने मजाक की है। मार्क्स ने कहा है मैं किसी ईश्वर को नहीं मानता हूँ, नहीं मान सकता हूँ, क्योंकि मैं तो उसी तथ्य को मानता हूँ जो विज्ञान प्रमाणित

हो। अगर ईश्वर को मैं प्रयोगशाला में विज्ञान की, टेस्ट-ट्यूब में जाँच सकूँ, प्रयोगशाला की टेबल पर रखकर शल्यक्रिया कर सकूँ, सब तरफ छानबीन कर सकूँ, भीतर, तो ही मान सकता हूँ। लेकिन फिर उसने मजाक में यह भी कहा है: लेकिन, अगर कभी ईश्वर ने ऐसी भूल की, कि वह प्रयोगशाला की टेस्ट-ट्यूब में और प्रयोगशाला की टेबल पर आकर जाँच-परीक्षा करवाने को राजी हो गया, तो फिर वह ईश्वर न रह जायेगा।

निश्चित ही, जिसको आप टेस्ट-ट्यूब में बन्द करके जाँच लेंगे, उससे आप बड़े ही जायेंगे। जिसको आप टेबल पर काट-पीट करके, समझ-बूझ लेंगे भीतर क्या है, वह पदार्थवत् हो जायेगा, वह ईश्वर नहीं रह जायेगा।

तो हमारी माँग ऐसी है कि अगर पूरी न हो तो कठिनाई है, अगर पूरी हो जाये तो कठिनाई है। लोग कहते हैं कि जब तक हम ईश्वर को प्रत्यक्ष न कर लें, आँख के सामने न कर लें—प्रत्यक्ष का मतलब होता है, आँख के सामने--तब तक हम न मानेंगे। तो उन्होंने एक बात तय कर रखी है कि जो आँख के सामने है, उतना ही उनका संसार है। जो आँख के सामने नहीं है, वह नहीं है। जगत् बड़ा है। तब ज्ञानी क्या करे?

जिसने उसे देख लिया है, जो आँख से दिखायी नहीं पड़ता; जिसने आँख बन्द करके उसे देख लिया है, जो खुली आँख से दिखायी नहीं पड़ता; जिसने कान बन्द करके उसे सुन लिया है, जो खुले कान से सुनायी नहीं पड़ता; और जिसने बिना हाथ से स्पर्श किये अन्तस्थल में उसका स्पर्श पा लिया है, वह किस भाषा में बोले? अज्ञानी समझ सके...तो उसे कुछ और ढंग से कहना होगा; और अगर वही बात वह ज्ञानी से कहे, तो ज्ञानी को हँसी आयेगी।

मुसलमान फकीर शेख फरीद और कबीर का मिलना हुआ था। तो दोनों में बात न हुई। दो दिन तक साथ रहे, हँसे, गले मिले, पास बैठे, घंटों बैठे—कोई बात न हुई! बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। कबीर के भक्त, फरीद के भक्त, और कुतूहलवश बहुत लोग आ गये थे...कि कबीर और फरीद का मिलना हुआ है, कुछ बात कीमत की होगी, थोड़ा हम भी सुन लेंगे। लेकिन दो दिन ऐसे ही बीत गये! फिर विदा का क्षण भी आ गया। बड़ी निराशा हुई। जो इकट्ठे हुए थे सुनने, बड़े उदास हुए। और कहा, यह भी क्या मामला है? इतने बड़े दो अनुभवियों का मिलना हुआ, कुछ बात होती तो हमारे लाभ की हो जाती। लेकिन कबीर और फरीद की मौजूदगी में पूछने की किसी की हिम्मत भी न पड़ी। फिर जब फरीद चल पड़ा अपनी यात्रा पर तो उसके भक्तों ने उसे कहा कि यह भी क्या हुआ, कुछ बोलते आप! तो फरीद ने कहा: जो बोलता, वह अज्ञानी साबित होता।...जो बोलता वह

अज्ञानी साबित होता! और फिर बोलते भी क्या? जो मैं जानता हूँ, वही कबीर भी जानते हैं; जहाँ से वह देख रहे हैं, वहीं से मैं देख रहा हूँ।

कबीर से भी पूछा—उनके मित्रों ने, आश्रमवासियों ने। कबीर ने कहा: पागल हुए हो! हँस सकते थे ज्यादा-से-ज्यादा... कि उन दो का मिलन हो रहा है जो दो हैं ही नहीं, जो मिल ही चुके हैं। बोलना किससे था?

कबीर ने कहा है कि बोलने की घटना घटती कब है? दो अज्ञानी काफी बोलते हैं, एक-दूसरे से। हालांकि न एक दूसरे को समझता है, न दूसरा पहले को समझता है। दो अज्ञानी डटकर चर्चा करते हैं, परिणाम कुछ नहीं होता—विवाद; कहीं कुछ लेन-देन नहीं होता, कोई निष्कर्ष नहीं होता; विवाद होता है।

दो अज्ञानियों की चर्चा शब्दों में होती है; हालांकि शब्द कहीं पहुँचते नहीं। दो ज्ञानी भी मिलते हैं; शब्द का उपयोग असम्भव हो जाता है। मौन में मिलना होता हैं; शब्द नहीं बोले जाते—क्योंकि दोनों के दर्शन एक, दृष्टि एक, अनुभव एक—कहने को क्या है?

...फिर बोलना कब घटित होता है?

जब एक अज्ञानी और एक ज्ञानी मिलता है, तभी बोलना घटित होता है। जब एक जानता है और एक नहीं जानता तो बोलने का कोई अर्थ है; जब दोनों जानते हैं तो बोलने का कोई भी अर्थ नहीं है। और जब दोनों नहीं जानते हैं, तो रुक नहीं सकते बोलने से। बोलेंगे बहुत, अर्थ कोई भी नहीं है।

तीन ही उपाय हैं।

तो जब ज्ञानी अज्ञानी से मिलता है तो वह क्या बोलेगा?

एक तो उपाय यह है कि जो उसका अनुभव है वह बोले चला जाये—बिना फिक्र किये कि किससे बोल रहा है। तब उसकी बातें दीवालों से हो रही हैं; तब कोई उसको सुनेगा नहीं—समझेगा भी नहीं; या गलत समझेगा। जो वह कहेगा, उससे विपरीत समझेगा। अनर्थ होगा, अर्थ नहीं होगा। इससे तो चुप रह जाना बेहतर है। या फिर अज्ञानी जो समझ सके वह बोले।

अज्ञानी गलत ही समझ सकता है। तो क्या ऐसा कोई उपाय है कि गलत को इस ढंग से बोला जाये कि सही की तरफ अज्ञानी का मुँह हो जाये। बस, इतना ही ध्यान में रखना जरूरी है।

देह है नहीं; लेकिन अज्ञानी को देह ही है। तो क्या किया जाये? बीच का कोई मार्ग, विधि खोजी जाये... कि अज्ञानी को कहा जाये... देह भी है, तुम भी हो...लेकिन तुम देह नहीं हो, इसकी तलाश में लगो!

अगर अज्ञानी से यह कहा जाये कि देह है ही नहीं...तलाश ही बन्द हो जाती

है। वह कहेगा, अब बस चुप रहें। देह नहीं है? और मुझे देह के सिवाय कुछ अनुभव नहीं होता! देह ही है। वह कहेगा, आत्मा-वगैरह कुछ भी नहीं है। और उसके कहने में गलती नहीं है; उसका जो अनुभव है, वह कह रहा है। ज्ञानी का जो अनुभव है, वह कह रहा है; अज्ञानी का जो अनुभव है, वह कह रहा है।

आपने अपने को देह के अतिरिक्त कभी भी जाना है? कभी ऐसी कोई झलक आपको मिली है कि आपको पता लगे कि मैं देह नहीं हूँ? आपको यह पक्का भरोसा है कि अगर आपकी गर्दन काट दी जाये तो आप नहीं कटेंगे? आपको इसकी थोड़ी-सी भी प्रतीति है कि जब लाश आपकी जलायी जायेगी मरघट में, तो आप नहीं जलेंगे?

असम्भव है! क्योंकि जब पैर में काँटा गड़ता है छोटा-सा, तो आप में गड़ जाता है; हाथ जल जाता है तो आप जल जाते हैं। तो जब पूरा शरीर जलेगा, तो यह आशा रखनी असम्भव है कि आप नहीं जलेंगे।

जरा-सी चोट, जरा-सी गाली आप में प्रवेश कर जाती है तो जब मृत्यु आप में घुसेगी, तो आप में प्रवेश नहीं करेगी, यह आप मत सोचना। आपको कोई अनुभव नहीं है, कि आप शरीर के अलावा भी कुछ हैं; इतना ही अनुभव है कि शरीर हूँ। हाँ, आप मानते हों भला, कि आत्मा हूँ और मरूँगा नहीं, वह आपकी मान्यता है। और मान्यता बड़े धोखे की है। और वह मान्यता भी अज्ञान का ही हिस्सा है।

सभी आदमी मानना चाहते हैं कि न मरें। कोई मरना नहीं चाहता। इस थोड़ी बात को ख्याल में ले लें, कोई मरना नहीं चाहता। और जो भी मरना नहीं चाहता उसको पक्का पता है कि मरना पड़ेगा। इसलिए तो मरना नहीं चाहता।

ज्ञानी मरना चाहता है, अज्ञानी मरना नहीं चाहता। ज्ञानी मरना चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि मरने से भी कुछ मरता नहीं है। ज्ञानी मृत्यु में प्रवेश करना चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु में प्रवेश करके अमृत का शुद्धतम अनुभव होगा।

जहाँ विपरीत होता है, वहाँ अनुभव आसान होता है। सफेद रेखा खींच दें काले ब्लैक बोर्ड पर, चमक के दिखायी पड़ती है। बादल घिरे हों काले, बिजली चमकती है, साफ दिखायी पड़ती है। दिन में सफेद बादलों में बिजली चमके, दिखायी नहीं पड़ती।

ज्ञानी मृत्यु में प्रवेश करना चाहता है—आग्रहपूर्वक, आनन्दपूर्वक, अहोभावपूर्वक—ताकि वह जो अमृत भीतर छिपा है, चारों तरफ मृत्यु के काले बादल घिर जायें, तो वह अमृत की लकीर, वह शुभ्र रेखा कौंध जाये, और अनुभव साफ-साफ हो जाये...कि मृत्यु सदा मेरे चारों और घटती है, मुझमें कभी नहीं घटती।

अज्ञानी मृत्यु में जाने से डरता है, भयभीत होता है; क्योंकि उसे पक्का पता है, कि मृत्यु का मतलब...समाप्ति; कुछ बचेगा नहीं।

अब यह बड़े मजे की बात है कि इसीलिए अज्ञानी, कि बिलकुल मर न जाये, 'आत्मा अमर है', ऐसा विश्वास करता है। यह विश्वास ज्ञान के कारण नहीं, यह विश्वास भय के कारण है।

इसीलिए जवान आदमी आत्मा-वगैरह में उतना विश्वास नहीं करता। जैसे-जैसे बूढ़ा होने लगता है, ज्यादा विश्वास करता है। क्योकि मौत करीब आती है, भय बड़ा होने लगता है। खाट पर पड़ा हुआ आदमी आमतौर से धार्मिक हो जाता है। जो खाट पर भी अधार्मिक है, वह जरा हिम्मत का आदमी है। मरते वक्त भी जो अधार्मिक है, वह जरा हिम्मत का आदमी है। बड़े-से बड़ा नास्तिक भी मरते वक्त डवाँडोल होने लगता है—और सोचता है पता नहीं, और फिर मौत का भय... और उस अंधेरे में प्रवेश। उस भय के कारण वह सब सिद्धान्तों को पकड़ लेता है।

आप भी मानते हैं कि आत्मा अमर है, यद्यपि आप जानते हैं कि मैं शरीर से ज्यादा कुछ भी नहीं हूँ।

किस आत्मा की बात कर रहे हैं, कि अमर है, जिसका आपको कोई अनुभव नहीं है? जिसकी किंचित-मात्र प्रतीति नहीं हुई, वह अमर है, आप कह रहे हैं!

आपका भय आपका सिद्धान्त बन जाता है।

जितने भयभीत लोग होते हैं, जल्दी आत्मवादी हो जाते हैं। इसलिए हमारे मुल्क में दिखायी पड़ती है, यह घटना, कि पूरा मुल्क आतमवादी है...और अन्धेरे में जाने से डर लगता है...और आत्मा का पक्का भरोसा है! मौत से प्राण कंपते हैं, आत्मा का पक्का भरोसा है!

आत्मवादियों का मुल्क एक हजार साल तक गुलाम रहा! आत्मवादियों के मुल्क पर कोई भी छोटी-मोटी कोम हावी हो गयी! और आतमवादी आत्मा को मानते रहे कि आत्मा अमर है, लेकिन युद्ध पे जाने में डरते रहे!

भय, आपके सिद्धान्त का आधार है—अनुभव नहीं, ज्ञान नहीं। नहीं तो आत्मवादी को तो कोई गुलाम बना ही नहीं सकता। उसको तो कोई भय ही नहीं है। आखिर गुलामी बनती ही भय के कारण है कि मार डालेंगे, अगर नहीं गुलाम बनोगे तो। तो आदमी इस कीमत पर, जिंदा रहने की कीमत पर, गुलाम रहना भी पसन्द कर लेता है, मरना नहीं चाहता है।

अगर यह मुल्क सच में आत्मवादी होता, जैसा कि लोग कहते फिरते हैं, तो यह मुल्क कभी गुलाम नहीं हो सकता था। यह पूरा मुल्क कट जाता, और कहता, कि न शस्त्रों से हमें छेदा जा सकता है; 'नैनम् छिदन्ति शस्त्राणि'; न आग से हमें

जलाया जा सकता है। तो जलाओ और छेदो।

इस मुल्क को गुलाम बनाना असम्भव था, अगर यह आत्मवादी होता। लेकिन यह आत्मवादी-वगैरेह नहीं है, परिपूर्ण देहवादी है। लेकिन भय के कारण आत्मा को माने चला जाता है।

आपकी प्रतीति तो देह की है कि मैं देह हूँ, और ज्ञानी की प्रतीति है कि देह है ही नहीं। तो कहाँ बने मिलन, जहाँ आप एक-दूसरे की भाषा समझ सकें? तो श्रुति ने एक उपाय खोजा है, शास्त्र ने एक विधि खोजी है, वह यह, कि आपको बिलकुल इनकार करना उचित नहीं होगा कि देह है ही नहीं। वह इनकार तो आपका दरवाजा बन्द कर देगा, फिर तो आपकी समझ मुश्किल हो जायेगी। वे आपके लिए कहते हैं कि देह है। इससे अज्ञानी आश्वस्त हो जाता है कि हम बिलकुल गलत नहीं हैं...देह है; हमारी मान्यता भी ठीक है। इससे 'येस मूड' पैदा होता है। इससे 'हाँ का भाव' पैदा होता है।

अमरीकी-विचारक, 'डेल कारनेगी ने, 'येस मूड' पर बड़ा काम किया है; हाँ का भाव। उसका कोई धर्म से लेना-देना नहीं है। वह तो चीजें कैसे बेची जायें—'सेल्समेनशिप', उसका ज्ञाता है; मित्रता कैसे खरीदी जाय, उसका ज्ञाता है। उसकी किताब, "हाऊ टु विन फ्रेन्ड्स एन्ड इन्फ्लुएन्स पीपुल्स", बाइबिल के बाद, सबसे ज्यादा बिकनेवाली किताब है दुनिया में। कैसे दोस्ती भी की जाये और कैसे लोग प्रभावित किये जायें? सीक्रेट फार्मुला है, "हाऊ टु क्रियेट दि येस मूड"—दूसरे आदमी में 'हाँ' का भाव कैसे पैदा किया जाये? जब हाँ का भाव पैदा हो जाता है तो 'न' करना मुश्किल होने लगता है।

तो डेल कारनेगी कहता है कि अगर किसी को प्रभावित करना हो, किसी को बदलना हो, किसी का विचार रूपान्तरित करना हो, तो ऐसी बात मत कहना जिसको वह पहले मौके पर 'न' कह दे। क्योंकि अगर उसने पहले ही 'न' कह दी, तो उसका 'न' का भाव मजबूत हो गया। अब दूसरी बात, जो हो सकता था, पहले कही जाती, तो वह 'हाँ' भी कह देता, अब उस बात पर भी वह 'न' कहेगा। इसलिए पहले दो-चार ऐसी बात करना उससे, जिसमें 'हाँ' कहे, फिर वह बात उठाना, जिसमें साधारणतः उसने न कही होती।

चार 'हाँ' कहने के बाद, 'न' कहने का भाव कमजोर हो जाता है। और जिस आदमी की हमने चार बात में 'हाँ' भर दी, वृत्ति होती है उसकी पाँचवीं बात में भी 'हाँ' भर देने की। और जिस आदमी की हमने चार बात में 'न' कह दी, पाँचवीं बात मे भी 'न' कहने का भाव प्रगाढ़ हो जाता है।

डेल कारनेगी ने एक संस्मरण लिखा है, कि एक गाँव में वह गया। जिस

मित्र के घर ठहरा था, वह इन्शुरेन्स का एजेन्ट था। और उस मित्र ने कहा कि तुम बड़ी किताबें लिखते हो: "कैसे जीतो मित्रता, कैसे प्रभावित करो", इस गाँव में एक बुढ़िया है, अगर तुम उसका इन्शुरेन्स करवा दो, तो हम समझें, नहीं तो सब बातचीत है।

डेल कारनेगी ने बुढ़िया का पता लगाया, बड़ा मुश्किल काम था, क्योंकि उसके दफ्तर में ही घुसना मुश्किल था। जैसे ही पता चलता कि इन्शुरेन्स एजेन्ट, लोग उसे वहीं से बाहर कर देते। बुढ़िया अस्सी साल की विधवा थी; करोड़पति थी, बहुत कुछ उसके पास था, लेकिन इन्शुरेन्स के बिलकुल खिलाफ थी। जहाँ घुसना ही मुश्किल था, उसको प्रभावित करने का मामला अलग था।

डेल कारनेगी ने लिखा है कि सब पता लगाकर पाँच बजे सुबह, मैं उसके बगीचे की दीवाल के बाहर के पास घूमने लगा जाकर। बुढ़िया छह बजे उठती थी। वह अपने बगीचे में आयी, मुझे अपने दीवाल के पास फूलों को देखते हुए खड़े होकर उसने पूछा कि फूलों के प्रेमी हो? तो मैंने उससे कहा कि फूलों का प्रेमी हूँ, जानकार भी हूँ; बहुत गुलाब देखे सारी जमीन पर, लेकिन जो तुम्हारी बगिया में गुलाब हैं, इनका कोई मुकाबला नहीं है।

बुढ़िया ने कहा, भीतर आओ दरवाजे से।

बुढ़िया साथ ले गयी बगीचे में; एक-एक फूल बताने लगी! मुर्गियाँ बतायीं, कबूतर बताये--पशु-पक्षी पाल रखे थे, वे सब बताये...और डेल कारनेगी ने 'येस-मूड' पैदा कर लिया।

रोज सुबह का यह नियम हो गया। दरवाजे पर बुढ़िया उसके स्वागत के लिए तैयार रहती। दूसरे दिन बुढ़िया ने चाय भी पिलायी, नाश्ता भी करवाया। तीसरे दिन बगीचे में घूमते हुए उस बुढ़िया ने पूछा कि तुम काफी होशियार और कुशल और जानकार आदमी मालूम पड़ते हो, इन्शुरेन्स के बाबत तुम्हारा क्या ख्याल है? इन्शुरेन्स के लोग मेरे पीछे पड़े रहते हैं, यह योग्य है करवाना कि नहीं?

तब डेल कारनेगी ने उससे इन्शुरेन्स की बात शुरू की। लेकिन अभी भी कहा नहीं कि मैं इन्शुरेन्स का एजेन्ट हूँ, क्योंकि उससे 'न' का भाव पैदा हो सकता है। जिंदगीभर जिसने इन्शेरेन्स के एजेन्ट को इनकार किया हो, उससे 'न' का भाव पैदा हो सकता है। लेकिन सातवें दिन इन्शुरेन्स डेल कारनेगी ने कर लिया।

जिससे हाँ का सम्बन्ध बन जाये, उस पर आस्था बननी शुरू होती है। जिस पर आस्था बन जाये, भरोसा बन जाये, उसको 'न' कहना मुश्किल होता चला जाता है। अँगुली पकड़कर ही पूरा-का-पूरा हाथ पकड़ा जा सकता है।

तो श्रुति अज्ञानी से ऐसी भाषा में बोलती है, कि उसे हाँ का भाव पैदा हो

जाये। तो ही आगे की यात्रा है। अगर सीधे कहा जाये: न कोई संसार है, न कोई देह है, न तुम हो; अज्ञानी कहेगा कि बस अब काफी हो गया, इसमें कुछ भी भरोसे योग्य नहीं मालूम होता।

इसलिए श्रुति कहती है अज्ञानी से, "कि देह आदि सत्य है"; तुम्हारा संसार बिलकुल सत्य है। अज्ञानी की रीढ़ सीधी हो जाती है, वह आश्वस्त होकर बैठ जाता है...कि यह आदमी खतरनाक नहीं है; और हम एकदम गलत नहीं हैं। क्योंकि किसी को भी यह लगना बहुत दुःखद होता है कि हम बिलकुल गलत हैं; ...थोड़े तो हम भी सही हैं!

थोड़ा जो सही है, उसी के आधार पर आगे यात्रा हो सकती है।

लेकिन आप बिलकुल गलत हैं; ज्ञानी का अनुभव यह है कि आप बिलकुल गलत हैं--शत-प्रतिशत गलत हैं।

मगर यह कहने का मतलब यह होगा, कि आगे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता।

इसलिए ज्ञानी कहता है कि नहीं, आप काफी दूर तक सही हैं। शरीर है, संसार है, सब है; इसमें कोई आपकी भूल-चूक नहीं है; भूल जरा-सी है, और वह यह है कि आप शरीर को आत्मा समझ बैठे हैं।

अज्ञानी में हाँ का भाव पैदा हो जाता है। वह कहता है कि बहुत दूर तक तो मैं भी सही हूँ; थोड़ा-सा ही फर्क है मुझमें और ज्ञानी में...कि मैं शरीर को आत्मा समझ बैठा हूँ। और अज्ञानी भी चाहता है कि शरीर को आत्मा न समझे, क्योंकि शरीर सिवाय दुःख के कुछ और देता नहीं। और फिर शरीर मरता भी है, मृत्यु भी आती है। तो वह चाहता भी है खोजना कि उसका पता चल जाये जो शरीर नहीं है; तो अमरत्व का भी पता चल जाये। और फिर ज्ञानी कहता है कि परम आनन्द है उस आत्मा को जान लेने में, जो शरीर नहीं है। तो अज्ञानी का लोभ भी जगता है। वह भी उस परम आनन्द को जानने के लिए उत्सुक हो जाता है। तब यात्रा शुरू होती है।

लेकिन यात्रा ऐसी है कि जैसे-जैसे अज्ञानी उसमें बढ़ता है, वैसे-वैसे उसे पता चलता है कि जो ज्ञानी ने हाँ भरी थी कि देह है, वह है नहीं; जो संसार हाँ भरा था, वह है नहीं। और जैसे-जैसे गहरा होता है, वैसे-वैसे ज्ञानी उसपे शर्तें जोड़ता है; वह कहता है कि अगर आनन्द का लोभ किया, तो आनन्द कभी मिलेगा नहीं—हालांकि वह लोभ से ही चला था!

मगर ये बाद की बातें हैं। जब रास्ते पर चल पड़े, थोड़ी दूर यात्रा कर ली, लौटना भी मुश्किल हो गया--क्योंकि यह रास्ता ऐसा है, इस पर लौटना नहीं हो सकता; जितना आपने जान लिया, उसको फिर से अनजाना नहीं किया जा सकता।

ज्ञान से वापसी असम्भव है। तो जहाँ तक आप आ गये, वहाँ से आगे ही जाया जा सकता है, पीछे नहीं जाया जा सकता।

और बड़े मजे की बात यह है कि अज्ञानी जब रास्ते पर चलने लगता है, तो जितने कष्ट में वह कभी नहीं था, आगे बढ़कर उतने कष्ट में पड़ जाता है! क्योंकि पहले जो कुछ था, गलत ही था, लेकिन सब साफ था। जैसे ही आगे बढ़ता है, तो पिछला तो सब धुंधला और व्यर्थ हो जाता है, मध्य में अटक जाता है।

पीछे लौट नहीं सकता, आगे जाने के सिवाय कोई उपाय नहीं है, इसलिए फिर ज्ञानी जो-जो शर्तें देता है, वे पूरी करनी पड़ती हैं। वह कहता है लोभ छोड़ दो, तो आनन्द होगा। हालांकि पहली दफा ज्ञानी ने लोभ ही जगाया था, कि परम आनन्द है...कहाँ पड़े हो नर्क में! कहाँ पड़े हो दुख में! पास ही है अमृत का झरना, आ जाओ।

तो वह दुख को छोड़ने की आशा में, सुख पाने की आशा में; आनन्द से लगता है कि बड़ा सुख होगा वहाँ; इस आशा में बढ़ता है। यह लोभ ही है। लेकिन थोड़ी ही देर में ज्ञानी कहता है, लोभ बिलकुल छोड़ दो। आनन्द माँगना मत, नहीं तो मिलेगा कभी नहीं। अब बड़ी मुश्किल हुई! पीछे लौटा नहीं जा सकता। मन होता है कि वह सुख ठीक था; लेकिन अब वहाँ सुख दिखायी पड़ नहीं सकता; अब वहाँ दुःख साफ दिखायी पड़ने लगा।

तो जो था हाथ में वह छूटता है, और जो मिलने की आशा से छोड़ा था, वह मिलता दिखायी नहीं पड़ता। और अब ज्ञानी कहता है कि आशा भी छोड़ दो मिलने की।

...छोड़नी ही पड़ेगी! पीछे लौट नहीं सकते, छोड़नी ही पड़ेगी।

ऐसा इंच-इंच ज्ञानी आपके गलत मोहों को तोड़ता है, और धीरे-धीरे-धीरे-धीरे वहाँ ले जाता है, जहाँ अगर आपसे पहले ही कहा जाता कि ले जा रहे हैं, तो आप कभी न गये होते।

बुद्ध ने ऐसी भूल की है। बुद्ध से ज्यादा सीधी-सीधी बात कह देनेवाले लोग बहुत कम हुए हैं—इसलिए बुद्ध-धर्म भारत में टिक नहीं सका। नहीं टिकने का कारण है: सिर्फ यही...कि अज्ञानी के साथ जो कुशलता बरतनी चाहिए, वह बुद्ध ने नहीं बरती।

बुद्ध को अनुभव हुआ था, उन्होंने सीधा-सीधा कह दिया। उसका कारण है: बुद्ध ब्राह्मण घर में पैदा नहीं हुए थे। ब्राह्मण पुराने चालाक हैं। लम्बा उनका धंधा है; ओल्डेस्ट। इस दुनिया में ज्ञान का धंधा उन्होंने सनातन से किया है। वे कुशल हैं। उन्हें पता है कहाँ से बात करनी है। ये थे क्षत्रिय के बेटे। बाप-दादों ने कभी

यह धंधा किया नहीं था। इसकी कोई कुशलता न थी। धंधे में नये-नये आये थे! नयी दुकान थी, ग्राहक से क्या कहना, कैसे ग्राहक को पटा लेना—इसका बुद्ध को कोई पता नहीं था। कह फँसे! जो सीधा-सीधा था, वैसे ही कह दिया।

क्या कहा बुद्ध ने, आपको पता है?

बुद्ध के पास कोई आता, कि मुझे आत्मा को पाना है। बुद्ध कहते, आत्मा है ही नहीं, पाओगे क्या खाक?

वह आदमी गया! उसने कहा कि यह क्या हुआ? आत्मा तो है! यहाँ तक भी समझ लेते कि शरीर नहीं है, आप कह रहे हैं आत्मा भी नहीं है!

बुद्ध के पास कोई आता और पूछता कि मोक्ष में आनन्द तो बहुत होगा न? बुद्ध कहते—कैसा मोक्ष, कैसा आनन्द? शून्य रह जाता है; न कोई आनन्द, न कोई मोक्ष। क्योंकि जहाँ तक आनन्द का पता चलेगा, वहाँ तक दुख रहेगा। रहेगा ही; क्योंकि पता विपरीत का चलता है।

तो बुद्ध कहते हैं, वहाँ कोई आनन्द-वगैरह नहीं है। तो वह जो आदमी आया था लोभ की थोड़ी-सी आशा बाँधकर, उसे बिलकुल तोड़ दिया दरवाजे पर ही। वह भीतर ही नहीं जाता। वह कहता है: जब आनन्द भी नहीं बचेगा तो यह क्षणभंगुर सुख भी क्या बुरा है?

शाश्वत सुख है नहीं, क्षणभंगुर सुख है। ज्ञानियों ने सदा उसके क्षणभंगुर सुख को तुड़वाया था शाश्वत सुख के लोभ में। बुद्ध ने कहा, कोई शाश्वत सुख-वगैरह है नहीं। सुख है ही नहीं। न क्षणभंगुर कोई सुख है, न शाश्वत कोई सुख है, तुम धोखे में हो। तो उस आदमी ने कहा कि क्षमा करिये; जो भी पास है, उसको ही संभालें। हाथ की आधी रोटी, स्वर्ग की पूरी रोटी से बेहतर है। और आप कहते हो न कोई स्वर्ग है, न कोई पूरी रोटी है, तो आधी रोटी हम क्यों छोड़ें?

बुद्ध से लोग पूछने जाते हैं कि ईश्वर मिलेगा? बुद्ध कहते हैं, कोई ईश्वर नहीं है। बुद्ध के पास पहली दफा जब सारीपुत गया, तो वह तो ब्राह्मण का बेटा था; ज्ञानी था, जानकार था; उसने बुद्ध से कहा...कि अगर कुछ भी नहीं है, शून्य-ही-शून्य है, तब तो फिर हमें संसार को बचाने की कोशिश करनी चाहिए, कम-से-कम कुछ तो है। और आप अजीब बात कर रहे हैं! सब छीनना चाहते हैं और देने का कोई भी वायदा नहीं है, तो कौन आयेगा?

तो वह ब्राह्मण का बेटा था, उसने कहा—आयेगा कौन? सब छुड़वाना चाहते हैं! सब, कहते हैं छोड़ दो, और पाने की जब हम पूछते हैं तो आप कहते हैं पाने को कुछ है नहीं, तो छोड़ेगा कोई किसलिए? छोड़ता तो आदमी पाने के मोह में है।

बुद्ध ने कहा, लेकिन जो पाने के मोह में छोड़ता है, वह छोड़ता ही नहीं। त्याग का मतलब क्या है?

त्याग अगर इसलिए है कि कुछ मिलेगा तो यह सौदा हुआ, त्याग कहाँ है? एक आदमी महल छोड़ देता है कि स्वर्ग में महल मिल जायेगा; यह सौदा है। एक आदमी पुण्य करता है...कि सुख मिलेगा; यह सौदा है। एक आदमी सेवा करता है, धर्म करता है, दान करता है, इस आशा में...कि इसके प्रतिकार में कुछ मिलेगा—किसी लोक में, किसी जन्म में; यह सौदा है। इसमें कहाँ त्याग है?

बुद्ध ने कहा, त्याग तो तभी है, जब कोई छोड़ता है और पाने की कोई आशा नहीं रखता। तो सारीपुत ने कहा कि होगा यह त्याग, लेकिन फिर आप त्यागी कहीं पा न सकेंगे। त्यागी मिलेगा कहाँ?

हम सब सौदेबाज हैं। हम अगर ईश्वर के साथ भी सम्बन्ध जोड़ते हैं तो वह व्यवसाय का है। अज्ञानी कुछ और कर भी नहीं सकता।

तो बुद्ध का धर्म भारत में टिक नहीं सका। और जब भारत में नहीं टिक सका तो कहाँ टिक सकता था? लेकिन दूसरे मुल्कों में टिका। टिका कब? टिका जब, जब बुद्ध के अनुयायियों ने वे सारी ट्रिक्स, वह सारा गोरखधंधा सीख लिया जो ब्राह्मणों को सदा से ज्ञात था, तब टिका।

आप जानकर हैरान होंगे कि बुद्ध क्षत्रिय हैं, लेकिन उनके सब बड़े शिष्य ब्राह्मण है...और उन्होंने टिकाया। लेकिन भारत में तो बात बुद्ध बिगाड़ गये थे, भारत में तो बुद्ध कह गये थे, इसलिए शिष्य भी उस पर जबरदस्ती दूसरी बातें नहीं थोप सकते थे। इसलिए भारत में तो नहीं टिका, लंका में टिका, बर्मा में टिका, जापान में टीका, चीन में टिका, तिबत में टिका—स्याम में, कोरिया में—सारी एशिया में टिक गया, भारत में नहीं टिका; क्योंकि भारत ने बुद्ध से आमने-सामने बात कर ली थी और बुद्ध ने कहा था कुछ पाने को नहीं है। इसलिए भारत में फिर से पाने का लोभ जगाना मुश्किल था। भारत के बाहर जगा दिया।

भारत के बाहर जो बुद्ध-धर्म हैं, वे हिन्दू-धर्म का रूपान्तर हैं। वह बुद्ध की वाणी नहीं है। वह वास्तविक नहीं है, इसलिए टिका। वास्तविक था तो बिलकुल नहीं टिका। आप जानते हैं, महावीर क्षत्रिय थे, लेकिन महावीर के ग्यारह गणधर सब ब्राह्मण हैं, उन्होंने टिकाया। महावीर के हैसियत की बात नहीं थी टिकाने की।

क्षत्रिय को पता नहीं है; धंधा ही नहीं उसका; वह तलवार-वगैरह चलाना जानता होगा। यह शास्त्र की दुनिया, यह शब्द का जो खेल है, उसका उसे कोई पता नहीं है। तो ग्यारह-के-ग्यारह, महावीर के जो बड़े शिष्य हैं—गणधर हैं; उन्होंने

टिकाया। और सुविधा बन गयी। क्योंकि बुद्ध तो बोले खुद, इसलिए शिष्य भी उसको बिगाड़ने में मुश्किल में पड़ गये। महावीर बोले नहीं, महावीर चुप रहे; गणधर बोले। सुविधा रही। महावीर का सीधा वक्तव्य न होने से, गणधरों ने जो कहा, समझा गया यही जैन-धर्म है।

महावीर चुप रहे। कहा जाता है कि महावीर मौन रहे। उनके मौन को उनके गणधरों ने समझा, और गणधरों ने फिर लोगों को समझाया। इसलिए महावीर का धर्म थोड़ा-सा टिका। फिर भी बहुत ज्यादा टिका हुआ नहीं दिखायी पड़ता। कोई पच्चीस लाख जैन हैं, पच्चीस सौ साल में। अगर पच्चीस आदमी भी महावीर से प्रभावित होते, और शादी कर लेते, तो इतने बच्चे पच्चीस सौ साल में पैदा हो जाते। यह कोई संख्या किसी मतलब की नहीं है। कारण क्या है? कारण वही है, क्षत्रिय को पता नहीं है उस भाषा का, जो अज्ञानी से बोलनी चाहिए। वह तो सदियों में विकसित होती है।

यह श्रुति कहती है:

"'देह आदि सत्य हैं', ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहती।"...ज्ञानियों को नहीं समझाना है ऐसा। ("पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहती है।")

"वास्तव में परिपूर्ण, आदि-अन्त रहित, अमाप (नाप सकने में असम्भव), विकार रहित, सत्तामय, चैतन्यरूप, नित्य, आनन्दमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक होनेवाला, एक रसवाला, पूर्ण अनन्त, सर्व तरफ मुखवाला, त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य, आधार के ऊपर नहीं रहनेवाला, आश्रय रहित, निर्गुण, क्रिया रहित, सूक्ष्म, विकल्प रहित, स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अमुक के समान नहीं, एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है और कोई भी नहीं।"

बाकी सब असत्य है, वास्तव में। जो हमें सत्य दिखायी पड़ता है, वह इसलिए सत्य दिखायी पड़ता है, कि हमारे पास वह देखने की आँख ही नहीं है, जो सत्य को देख सके। हमारे पास वह मन है केवल जो असत्य को जन्माता है। हमारे पास स्वप्न पैदा करनेवाला मन है, सत्य देखनेवाला चक्षु नहीं। इसलिए जो झूठ है वह हमें दिखायी पड़ता है, जो नहीं है वह हमें दिखायी पड़ता है, और जो है उससे हम चूक जाते हैं। वह कैसे चक्षु पैदा हो, वह ज्ञानचक्षु कैसे जगे, वह शिव-नेत्र कैसे खुले—जिससे हम देख सकें, क्या सत्य है?

एक छोटा बच्चा है। खिलौनों में जीता है। खिलौने उसके लिए वास्तविक हैं। इसलिए उसकी गुड़िया की टाँग टूट जाये, तो वह वैसे ही रोता है, जैसे वस्तुतः

किसी की टाँग टूट गयी हो। रात उसे नींद नहीं आती। कि उसकी गुड़िया या गुड्डा उसके पास न रखा हो, तो उसे वैसी ही बेचैनी होती है, जैसे आपका वास्तविक प्रेमी आपके पास न हो।

बच्चे के लिए अभी गुड्डा, गुड़ियाँ वास्तविक हैं। बड़ा होकर हँसेगा खुद ही ...कि मैं किस खेल में उलझा था! बड़ा होकर खुद ही गुड्डे गुड़ियों को भूल जायेगा। वे कचरे के कोने में पड़ जायेंगे, फेंक दिये जायेंगे; रोयेगा नहीं।

क्या, हुआ क्या? गुड्डा-गुड़ियाँ वहीं हैं, इसको क्या हुआ?

इसकी बुद्धि ऊपर उठी। ये ज्यादा देखने में समर्थ हुआ। लेकिन, सिर्फ इतने से ही कुछ फर्क नहीं हो जायेगा; गुड्डा-गुड्डी की जगह दूसरे गुड्डा-गुड्डी आ जायेंगे, जो ज्यादा जीवित होंगे। एक दिन गुड़िया को छाती से लगाकर सो गया था, फिर किसी स्त्री को छाती से लगाकर सो जायेगा। गुड्डे गुड़ियाँ बदल जायेंगे लेकिन चित्त...?

फिर इस चित्त के भी ऊपर उठने का उपाय है। बहुत कम लोग उठ पाते हैं। बचपन से तो सभी लोग जवान हो जाते हैं, क्यों? क्योंकि जवानी के लिए आपको कुछ करना नहीं पड़ता, वह प्राकृतिक विकास है।

अगर आपको ही जवान होने के लिए कुछ करना पड़े, तो इस दुनिया में दो-चार आदमी जवान मिलेंगे, बाकी सब बच्चे रह जायेंगे। आपको कुछ नहीं करना पड़ता, जवानी मजबूरी है; आप बढ़ते चले जाते हैं। आप कुछ कर नहीं सकते, रोक नहीं सकते, इसलिए जवान हो जाते हैं। लेकिन आध्यात्मिक होश नहीं आता; क्योंकि उसके लिए कुछ आपको करना पड़ता है। कुछ करेंगे तो। वह विकास आपके निर्णय पर निर्भर है। प्रकृति उसको थोपती नहीं आपके ऊपर। आपकी स्वतंत्रता पर छोड़ दिया है। इसलिए दो-चार लोग बुद्ध और कृष्ण और क्राइस्ट हो पाते हैं; क्योंकि श्रम, साधना,...

जिस दिन आप जागकर देखेंगे, उस दिन सारा जगत् आपको बच्चों-के-खेल-जैसा मालूम पड़ेगा। उतनी प्रौढ़ता के स्तर पर, चीजें पीछे की झूठी होती चली जाती हैं।

तो यह सूत्र कहता है, वास्तव में तो एक ही है ब्रह्म। और इसके बाबत कुछ बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं, इस एक ब्रह्म के बाबत। अनेक तो हमारी परिचित हैं, उनकी मैं चर्चा नहीं करूँ।

"परिपूर्ण, आदि-अंत रहित, अमाप, विकार रहित, सत्तामय, चैतन्यमय, नित्य, आनन्दमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक, एक रसवाला, पूर्ण अनन्त, सर्व तरफ मुखवाला"--ये हमारे परिचित शब्द हैं, जो ब्रह्म के लिए हमने उपयोग किये हैं।

लेकिन इसमें कुछ दो-तीन लक्षण बड़े अद्भुत हैं।

"त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य"--यह बड़ी महत्त्व की बात है। जिसे आप छोड़ न सकें, और जिसे आप पकड़ भी न सकें--ऐसा। इसका क्या मतलब हुआ?

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं ईश्वर को खोजना है। मैं उनसे पूछता हूँ खोया कब, कहाँ? क्योंकि जिसे खोया हो उसे खोजा जा सकता है; जिसे खोया ही न हो, बड़ी मुश्किल की बात है! वे कहते हैं: नहीं, खोया कहाँ, कब, कुछ पता नहीं! तो मैं उनसे पूछता हूँ: पहले इसका तो पता करो, खोया भी है कभी? खोया हो अगर, पक्का करके आओ तो मैं खोज की तरकीब तुम्हें बता दूँ। और तुमने खोया ही न हो, मैं तुम्हें खोज की तरकीब बता दूँ, तो तुम मुश्किल में पड़ जाओगे। क्योंकि तुम खोजने निकल जाओगे उसको जिसे कभी खोया नहीं, तो कैसे खोज पाओगे? और तुम्हारी खोज तुम्हें भटका देगी।

परमात्मा है हमारा स्वभाव, उसे हम खो कैसे सकते हैं? हम भूल सकते हैं, विस्मृत कर सकते हैं, खो नहीं सकते--इस फर्क को समझ लें। विस्मरण हो सकता है; ध्यान न दिया हो बहुत दिन तक, भूल गये हों...कि भीतर कौन छिपा है। इतने निकट है हमारे कि ध्यान देने की जरूरत न पड़ी हो। दूर की बातों पर नजर लगी रही हो, पास का स्मरण न रहा हो--यह हो सकता है, लेकिन खो नहीं सकते।

इसलिए सन्तों ने कहा है, उसका स्मरण ही काफी है: खोजने की कोई जरूरत नहीं है।

इसलिए नानक ने, कबीर ने, दादू ने, रेदास ने, नाम-स्मरण पर जोर दिया। नाम-स्मरण का कुल मतलब इतना है कि जिसे खोया नहीं, उसे खोजने की तो बात करो मत, सिर्फ उसको स्मरण करने की फिक्र करो; पुनर्स्मरण। वह भी स्मरण नहीं, पुनर्स्मरण है। वह सदा मौजूद ही है।

यह सूत्र बड़ा अद्भुत और क्रान्तिकारी है।

"त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य।"

जिसे हम खो नहीं सकते, वही है स्वभाव। अगर खो सकते हैं तो वह स्वभाव न रहा। अगर आग अपनी आग्नेयता को खो दे, तो फिर वह उसका स्वभाव न रहा। अगर आग ठंडी हो, तो कुछ और होगी, आग नहीं होगी।

आग का आग्नेय होना उसका स्वभाव है। आकाश का रिक्त होना उसका स्वभाव है। स्वभाव का अर्थ यह है...कि चाहे कुछ भी हो जाये, जिससे हम अलग

नहीं हो सकते। जिससे हम अलग हो सकते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है। इसे बहुत गहरे में बैठ जाने दें, इस विचार को:

जिससे हम अलग हो सकते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है।
जिससे हम जुड़ सकते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है।
क्योंकि जिससे हम जुड़ सकते हैं, उससे हम टूट सकते हैं।

न जिससे जुड़ सकते हैं, न जिससे टूट सकते हैं, वही है मेरा होना, वही है हमारा होना।

ब्रह्म हमारा होना है। उससे भागने का कोई उपाय नहीं, उससे बचने का कोई उपाय नहीं, उसे छोड़ने का कोई उपाय नहीं, उसे पाने का कोई उपाय नहीं। लेकिन, अज्ञानी को अगर यह बात कही जाये, तो वह कहेगा कि फिर ठीक, जिसे खोया ही नहीं, खोजें क्यों? और जो सदा है ही, उसको पाने की ज़रूरत क्या है? तो फिर ठीक है, हम अपने संसार में रहें। क्या ज़रूरत? पागलपन क्यों करें?

नहीं, अज्ञानी को यह नहीं कहा जा सकता। अज्ञानी को यह कहा जायगा... कि खो दिया है उसे तुमने; उसे तुम खो चुके हो, जो तुम्हारा वास्तविक होना है, उसे खोजो। जब तक उसे न खोज लोगे, तब तक तुम दुःख में रहोगे। खोजो उसे। जब तक तुम परमात्मा को न पा लोगे, तब तक तुम्हारा जीवन विषाद, चिन्ता और सन्ताप ही रहेगा।

खोज की भाषा अज्ञानी को समझ में आती है। क्योंकि उसे लगता है कि ठीक। सब चीजें खोजता है—धन खोजता है, पद खोजता है, यश खोजता है—वह कहता है: ठीक है, खोज तो अपनी जारी रहेगी; धन न खोजेंगे, धर्म खोजेंगे अब।

अज्ञानी खोज की भाषा को समझता है। उसने जिन्दगीभर, जिन्दगी-जिन्दगी खोजने का ही धंधा किया है, काम किया है—एक ही व्यवसाय रहा है उसका—खोजो; आज इसे खोजो, कल उसे खोजो। वह कहता है, ठीक है...धन भी खोज लिया, यश भी खोज लिया, पद भी खोज लिया, अब आप कहते हो कि इसमें मजा नहीं मिलता—और हमको भी अनुभव आता है कि मजा नहीं मिलता—अब हम तुम्हारा परमात्मा खोजते हैं: ठीक।

जैसे वह खोज पर निकलेगा, बाद में यह बताया जायेगा कि परमात्मा को तो खोजा नहीं जा सकता; जब तक तू खोज नहीं छोड़ देगा, तब तक उसे पा नहीं सकता।

अब वह मुश्किल में पड़ा; क्योंकि उसने धन की खोज छोड़ दी, पद की खोज छोड़ दी, यश की खोज छोड़ दी, वे व्यर्थ हो गयी; इसी आशा में कि अब सार्थक खोज करूँगा, वह परमात्मा की खोज में आया। जब वह इस खोज में आगे आ गया, और पीछे नहीं लौट सकता अब; अब धन की खोज में नहीं जा सकता। वह व्यर्थ

हो गयी। इसलिए तो इस तरफ आया एक नयी खोज की सार्थकता में। और अब उसका गुरु उसे कहेगा, अब तू खोज छोड़ दे।

पहले धन छोड़ा, पद छोड़ा, यश छोड़ा, आधी बात बचा ली थी—खोज; धन की खोज। धन छोड़ दिया था, खोच बचा ली थी। धन बाहर था, खोज भीतर थी। बाहर का छोड़ना आसान था, अब यह खोज भी छोड़ दे; क्योंकि जिसे तू खोज रहा है, उसे कभी खोया ही नहीं है।

जब कोई खोज भी छोड़कर खड़ा हो जाता है, तो तत्क्षण उसमें प्रवेश हो जाता है, जिसमें हम सदा से हैं। परमात्मा हमारा होना है। इसलिए यह सूत्र बड़ा क्रान्तिकारी है, और बड़ा कीमती है:

'त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य।'

बुद्ध को हुआ ज्ञान, तो किसी ने पूछा है...कि क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा मिला कुछ भी नहीं; जो मिला ही हुआ था, उसी का पता चला। मिला कुछ भी नहीं, बस यहीं बुद्ध की गलती है। आपसे कह दें कि कुछ भी नहीं मिला, तो आप कहेंगे: चलो, अपने काम पर लगो! आठ दिन खराब किये, इस आदमी के साथ... ये कहता है कुछ भी मिला ही नहीं; जब ज्ञान हुआ तो कुछ भी नहीं मिला! तो हम काहे के लिए मेहनत कर रहे हैं, श्रम कर रहे हैं! इतना उछल-कूद, थकाए डाल रहे हैं अपने को...और यह आदमी कहता है, कुछ भी मिलता नहीं आखिर में!

बुद्ध ने कहा, कुछ भी नहीं मिला। जिसने पूछा था, उसने कहा, कुछ भी नहीं मिला? तो फिर शिक्षा किसकी दे रहे हैं आप लोगों को? बुद्ध ने कहा, इसी की। उस हालत में आ जाओ, जब न कुछ पाने को रहे, न कुछ खोने को रहे—और यह अनुभव हो जाये: न कुछ पाया जा सकता है, न कुछ खोया जा सकता है।

पर यह ज्ञानी की समझ में आनेवाली बात है।

"आधार के ऊपर नहीं रहनेवाला, आश्रय रहित, निर्गुण, क्रिया रहित, सूक्ष्म, विकल्प रहित, स्वतःसिद्ध, शुद्ध, बुद्ध"...ये भी हमारे परिचित शब्द हैं।

"अमुक के समान नहीं।"

किसी से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। अद्वितीय है, बेजोड़ है।
ऐसा नही कहा जा सकता, उसके समान है।
तो जितनी तुलनाएँ की जाती हैं, वे सब कामचलाऊ हैं।
हम कहते है, आकाश के समान शून्य।

नहीं, ये भी ठीक नहीं है; क्योंकि आकाश भी उसमें समाया हुआ है। वह आकाश से बड़ा है, आकाश के समान नहीं हो सकता।

हम कहते हैं, महासूर्य की तरह तेजस्वी। यह भी छोटी बात है; क्योंकि उसके लिए महासूर्य भी छोटे टिमटिमाते दिये हैं। इनसे कोई तुलना नहीं की जा सकती।

हम कहते हैं, आनन्दरूप।

तो हमारे मन में कहीं-न-कहीं सुख से तुलना शुरू हो जाती है। सुख से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

हम कहते हैं, शान्त।

तो हमारे मन में अशान्ति के विपरीत शान्ति का ख्याल है। अशान्ति का उसे कभी अनुभव नहीं हुआ है। इसलिए हमारी शान्ति का उसे कोई पता नहीं हो सकता।

हमारी कोई तुलना काम की नहीं है। उस अनुभव के लिए, किसी और बात से कहने का कोई उपाय नहीं है। सन्तों ने कहा है: बस अपने-ही-जैसा; किसी और-जैसा नहीं, बस अपने-ही-जैसा। खुद ही अपने समान है; खुद ही। कोई उपाय नहीं है उसे किसी और से उसे बताने का। लेकिन बताया जाता है, वह अज्ञानी के लिए बताया जाता है...कि ऐसा...ऐसा...ऐसा। आखीर में पता चलता है कि वह तो किसी-जैसा नहीं है।

"एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है और कोई भी नहीं।

"इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जानकर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वरूप आत्मा से ही अत्यन्त सुखपूर्वक स्थिति कर।"

'इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जानकर तू सिद्ध हो।'...शास्त्र से जानकर नहीं चलेगा काम। श्रुतियाँ कहें, स्मृतियाँ कहें, नहीं चलेगा काम। सुनकर हल नहीं होगी बात। अपने ही अनुभव से ऐसा जानकर तू सिद्ध हो।

सिद्ध का अर्थ है, जिसके आगे कोई यात्रा और गति नहीं है। सिद्ध का अर्थ है: अंतिम पड़ाव, अंतिम मुकाम--जिसके आगे रास्ते समाप्त हो जाते हैं।

असिद्ध का अर्थ है, जैसे हम हैं। असिद्ध का अर्थ है, जिसका अभी कुछ काम बाकी है; अभी कुछ करना है; अभी कुछ होगा, तो सुख होगा।

असिद्ध का अर्थ है: कुछ होगा, कुछ करना है; कुछ पूरा करना है, कुछ पाना है। वह मिल जायेगा तो सुख होगा।

असिद्ध का सुख किसी चीज पर निर्भर है। कोई स्त्री मिल जायेगी, कोई पुरुष मिल जायेगा, कोई मकान मिल जायेगा, कोई ज़मीन मिल जायेगी, कोई पद मिल जायेगा; राष्ट्रपति हो जाऊँगा, प्रधानमंत्री हो जाऊँगा--यह हो जाऊँगा, वह हो जाऊँगा। कहीं सुख है, वह मिलेगा तो सुख होगा: कन्डिशनल है, सशर्त है।

सिद्ध का अर्थ है, जिसका अपने होने में ही सुख है। कुछ भी मिले, न मिले, उसका कोई सवाल ही नहीं है। छिन जाये, आ जाये। उसका सुख किसी बात पर निर्भर नहीं है, स्वयं के होने पर ही निर्भर है। बस मैं हूँ, इतना काफी है। और कोई बात, शर्त नहीं है। बेशर्त जिसका सुख है, वह सिद्ध है। अभी और यहीं उसका सुख है।

आपका सुख सदा कभी और कहीं है, अभी और यहीं कभी आपका सुख नहीं होता। कभी किसी आदमी को आपने देखा है, जो कहे कि मैं सुखी हूँ--अभी और यहीं? अभी और यहीं तो सब दुखी होते हैं। सुख होता है कहीं आगे, कहीं आगे।

एक मेरे मित्र हैं। एक राज्य में उपमंत्री थे, डिप्टी मिनिस्टर थे। तो बड़े दुखी थे। मैंने उनसे पूछा कि मामला क्या है? कहा कि जब तक मिनिस्टर न हो जाऊँ, मन में बड़ी बेचैनी...

फिर वे मिनिस्टर हो गये। फिर मुझे मिले। वैसे ही दुखी थे! पूछा, क्या मामला है? अब तो मिनिस्टर हो गये। अब तो आपको सिद्ध हो जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि सिद्ध? जब तक चीफ मिनिस्टर न हो जाऊँ, कुछ नहीं हो सकता! कोशिश में लगा हूँ, कभी-न-कभी हो जाऊँगा।

इस बार वे चीफ मिनिस्टर भी हो गये! मैंने उन्हें खबर भिजवायी, कि अब तो सिद्धावस्था आ गयी होगी? उन्होंने कहा कि आप भी क्यों मेरे पीछे पड़े हैं? सिद्धावस्था कहीं नहीं दिखायी पड़ती। चीफ मिनिस्टर तो हो गया, कुछ हल नहीं हुआ। कुछ हल नहीं हुआ और आगे बहुत-से बिन्दु आगे दिखायी पड़ रहे हैं जो पूरे हो जायें--तो शायद...

सुख सदा आगे सरकता जाता है। असिद्ध का यह लक्षण है, सुख सदा आगे सरकता जाता है। सिद्ध का यह लक्षण है, सुख अभी और यहीं। कोई हो स्थिति, कुछ हो बाहर, भीतर की सुख-धार में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। और कोई शर्त नहीं है कि ये शर्त पूरी होगी।

जिसकी शर्त है, वह दुखी रहेगा। कोई शर्त कभी पूरी नहीं होती। और शर्तें पूरी हो जायें, तो शर्त बनानेवाला मन नयी शर्तें बनाता है। जैसे वृक्ष पर पत्ते लगते हैं; पुराने गिर जायें, कोई फर्क नहीं पड़ता, नये लग जाते हैं। सच तो यह है कि नये लगना चाहते हैं, इसीलिए पुराने गिरते हैं। नये भीतर से धक्का देने लगते हैं निकलने के लिए, पुराने पत्ते बाहर से गिरने लगते हैं। पुराना पत्ता गिरा कि नया लग गया।

पुरानी शर्त गिरती है तभी, जब नयी शर्त भीतर धक्का मारने लगती है और ऊगने लगती है। वृक्ष पर पत्ते लगते हैं, आदमी के मन में शर्तें लगती हैं।

सशर्त जिसका जीवन है, दुःख उसका परिणाम होगा। बेशर्त जिसका जीवन है, अभी और यहीं, जो बिना किसी कारण के सुखी है, अकारण सुखी है...अकारण

सुखी का मतलब होता है: बाहर से सुख नहीं आता, भीतर से सुख आता है; भीतर से सुख की धार बहती है; झरना अपना है, स्रोत अपना है। ये किसी से उधार माँगने की बात नहीं है। ये सारा जगत् भी विलीन हो जाये, ये सब चाँद-तारे टूट जायें, ये सारे लोग खो जायें, समाप्त् हो जायें, तो भी सिद्ध के सुख में अन्तर नहीं पड़ेगा।

और आपके लिए? जैसा आप चाहते हैं, ठीक वैसा जगत् बना दिया जाये, तो भी आपके दुःख में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शायद आप और ज्यादा दुखी हो जायेंगे। जब आपकी माँगें पूरी हो जाती हैं, तब पता चलता है कि इतनी मेहनत की, इतना श्रम उठाया, पाया कुछ भी नहीं, और ज्यादा दुखी हो गये।

सिद्ध होने के लिए सूत्र कहता है:

"अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जानकर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वरूप आत्मा से ही अत्यन्त सुखपूर्वक स्थिति कर।"

उसमें बना रह, उसमें रुका रह, उसमें ठहर, स्थिति कर। उसमें ही लीन हो जा। उससे बाहर मत जा। इसका थोड़ा स्मरण रखें: उठते, बैठते, बेशर्त सुख की खोज करें। चलते, सोते, जागते, खाते, पीते--परिस्थिति कुछ भी हो--बेशर्त सुख की तलाश करें। सुखी रहें।

यह बड़ा अजीब लगता है हमें, कि किसी से कहो कि बस सुखी रहो। वह कहेगा, कैसे सुखी रहें? क्योंकि हमें ख्याल ही यह है...कि सुख बाहर से आये--तो ही। भीतर से सुखी रहें! यह बात ही हमारी समझ में नहीं आती।

हमने कभी जाना ही नहीं भीतर का सुख।

इसकी थोड़ी खोज करें। भीतर सुख भरा है। जरा हिम्मत करें और भीतर जायें। तोड़ दें बीच का पर्दा शर्त का, और आप पायेंगे कि भर गये सुख से। इतने भर गये, कि आप चाहें तो अपने सुख से सारे जगत् को भर दें; वह फैलता चला जाये।

हम सब माँग रहे हैं दूसरे से। और उससे माँग रहे हैं, जो खुद हमारे पास माँगने आया है। भिखमंगों की जमात है, एक-दूसरे के सामने भिक्षापात्र लिये खड़े हैं...कि कुछ मिल जाये--और सभी माँग रहे हैं। कभी सोचा इस पर कि यह सारा संसार भिखमंगों की जमात है?

मैं आपके पास आया हूँ कि थोड़ा सुख दो, आप इसीलिए मेरे पास आये हैं कि थोड़ा सुख दो। न मैंने कभी अपने भीतर सुख पाया, न आपने कभी अपने भीतर सुख पाया। इसलिए जितने सम्बन्ध हमारे हैं, दुःख देते हैं, कोई सुख नहीं देता। दे नहीं सकता; जो पास नहीं है, वह देंगे कैसे? जो खुद नहीं पाया, उसको दूसरों को देने चले गये हैं!

बाप-बेटे को सुख दे रहा है! पत्नी पति को सुख दे रही है! बेटा माँ को सुख दे रहा है! सारी दुनिया एक-दूसरे को सुख दे रही है, और सब छाती पीटकर रो रहे हैं कि हम दुखी हैं; कोई सुखी हो नहीं रहा।

जब आपके पास ही नहीं है, आप दूसरे को देने जा रहे हैं!

इस दुनिया में, सुखी होने का एक ही उपाय है कि आप किसी से माँगने मत जाना। वह है ही नहीं दूसरे के पास, आपके पास है। आप सारी माँग छोड़कर रुक जाओ। अगर दुःख भी हो रहा हो तो उसी में रुक जाओ, प्रतीक्षा करो, मत जाओ माँगने। एक दिन आप अचानक पाओगे कि माँगने की आदत के छूट जाने से भीतर का पत्थर हट जाता है, झरना फूट पड़ता है; अचानक रोआँ-रोआँ सुख से भर जाता है।

यह सुख अकारण है। फिर इसे कोई नहीं छीन सकता। यह आपके भीतर से आता है। फिर हो भी सकता है...कि कोई आपकी सन्निधि में आपकी इस सुख की धार से आन्दोलित हो जाये।

मगर बड़े मजे की बात है: हम सुख माँगते हैं और सुख देना चाहते हैं! सुख दे नहीं पाते, सुख मिल नहीं पाता। ऐसा कोई व्यक्ति, जिसकी अपनी धारा फूट जाती है, अपना स्रोत खुल जाता है; किसी से सुख माँगता भी नहीं, और किसी को सुख देना भी नहीं चाहता, पर ऐसे व्यक्ति से सुख मिल जाता है--अनेकों को; देना नहीं चाहता।

कोई बुद्ध किसी को सुख देने नहीं जाते; बस उनकी मौजूदगी। उनके भीतर खिले हुए फूल, उनकी सुगन्ध, उनके भीतर फूटा हुआ झरना, उसका कल-कल नाद, वह कोई भी, जो उनकी सन्निधि में होता है, जो खुला होता है, जो अपने हृदय के द्वार बन्द किये नहीं बैठा होता, उसको भनक पहुँच जाती है; स्वर उसको भी छू लेते हैं।

और बुद्ध-जैसे व्यक्ति के पास जो आँख खुला होकर बैठा हो, उसे यह भी दिखायी पड़ जाता है कि इसका सुख कहीं से आता नहीं मालूम पड़ता, किसी पर निर्भर नहीं मालूम पड़ता, इसका सुख भीतर से ही फूटता मालूम पड़ता है। इसकी किरणें उधार नहीं हैं; इसकी किरणें अपनी हैं। यह चाँद की तरह नहीं है कि सूरज की किरणों को लौटाता हो। यह सूरज की तरह है, जिसके पास अपनी किरण है: सीधी निकल रही है, सीधी फूट रही है।

इसको हमने सत्संग कहा है। बुद्ध-जैसे व्यक्तियों के पास होने का नाम सत्-संग है। तो शायद हम भी अपनी मूढ़ता से डगमगा जायें; शायद हमारा भी पत्थर सरकने की स्थिति में आ जाये; शायद यह देखकर, कि कोई अपने आप में भी सुखी हो सकता है, हमारी यह भ्रान्ति टूट जाये, कि दूसरे से सुख माँगते हैं, माँगते चले

जाते हैं, और भ्रान्ति को सजाये रहते हैं कि मिलेगा--कभी भी--आज नहीं कल, कल नहीं परसों--मगर मिलेगा दूसरे से; शायद यह भ्रान्ति टूट जाए।

स्वयं को बेशर्त करलें, माँग को छोड़ दें, यह आशा तोड़ दें कि कहीं और से सुख आयेगा, तो एक दिन सुख मिल जाता है। वह अवस्था सिद्ध की अवस्था है; जब अपने सुख की धार उपलब्ध होती है।

सत्रहवाँ प्रवचन

२१ अक्तूबर, १९७२, रात्रि
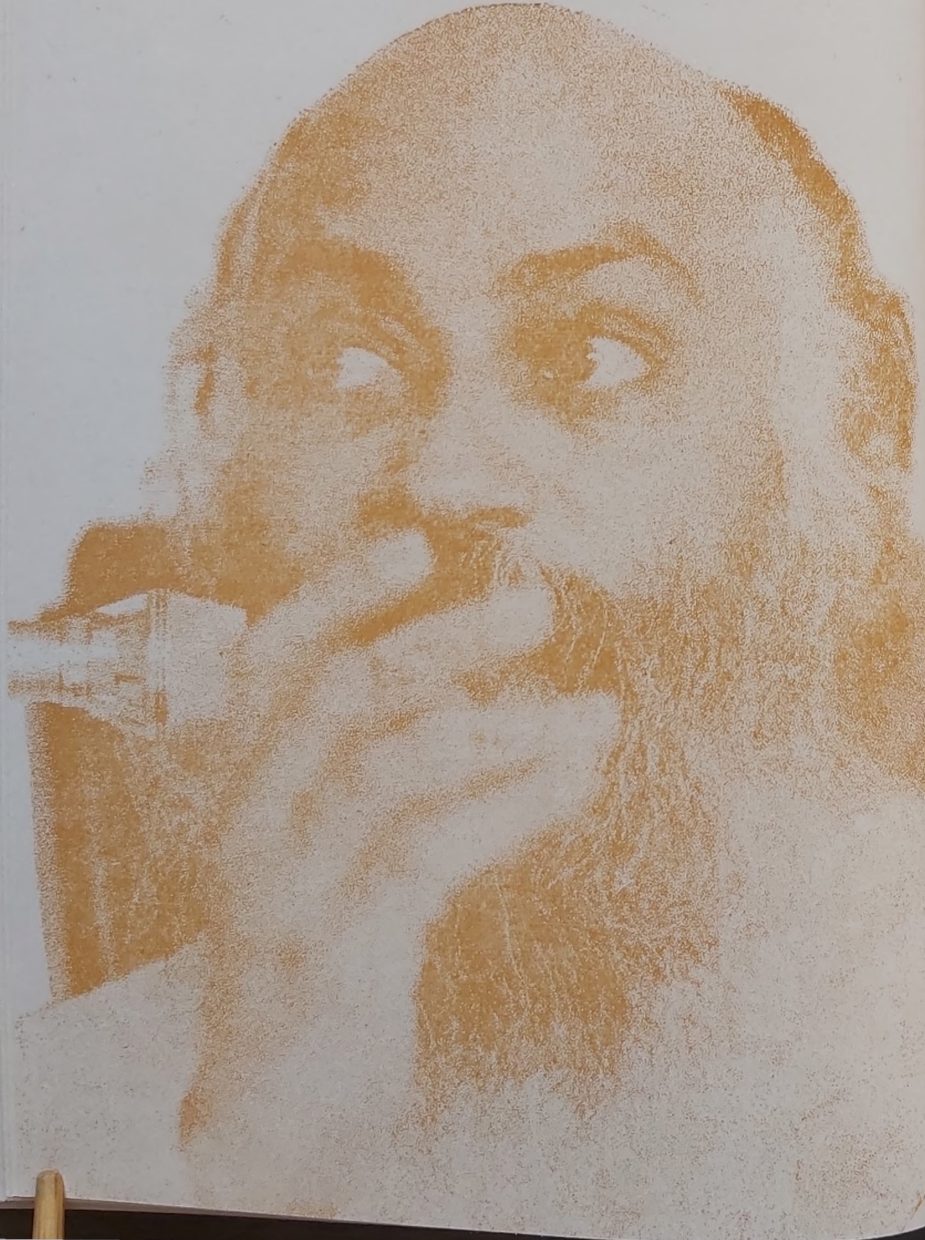
स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम्।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि।।६५।।
क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम।।६६।।
किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत् किं विलक्षणम्।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णब्रह्ममहार्णवे।।६७।।
न किंचिदत्र पश्यामि न श्रृणोमि न वेदम्यहम्।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः।।६८।।
असंगोऽहमनंगोऽहमलिंगोऽहमहं हरिः।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः।।६९।।
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः।।७०।।
एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ। अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ।
ब्रहम घोरांगिरसे ददौ। घोरांगिरा रैक्वाय ददौ ।
रक्वो रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणा-
नुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत्।।७१।।

(गुरु के इस उपदेश को सुनकर शिष्य ज्ञानी बन गया और कहने लगा): जगत् को मैंने अभी देखा था, वह कहाँ गया? किसने उसे ले लिया? और वह किसमें लय हो गया? बड़ा आश्चर्य है कि क्या वह नहीं है?

अखण्ड आनन्दरूप अमृत से भरे इस ब्रह्मरूप महासागर में अब मुझे क्या त्याग करना? क्या लेना? अन्य क्या है? विलक्षण क्या है?

यहाँ मैं कुछ देखता भी नहीं, कुछ सुनता नहीं और कुछ जानता नहीं, क्योंकि मैं सदा आनन्द रूप अपने आत्मारूप में ही हूँ, और मैं स्वयं ही अपने लक्षणवाला हूँ।

मैं असंग हूँ, शरीर रहित हूँ, बिना चिह्न वाला हूँ, मैं ही श्री हरि हूँ, अत्यन्त शान्त हूँ, मैं अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, और प्राचीन-से-प्राचीन हूँ।

मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ, मैं विकास रहित और अविनाशी हूँ, वैसे ही मैं शुद्ध और ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं ही केवल सदाशिव हूँ।

यह विद्या गुरू ने अपांतरम को दी थी, अपांतरतम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी थी, घोरांगिरस ने रैक्व को दी थी, रैक्व ने राम को दिया और राम ने समस्त भूतप्राणियों को यह दिया। यह निर्वाण का उपदेश है, वेद की शिक्षा है और वेद की आज्ञारूप है। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता है।

क ठिन ही नहीं, हमें तो असम्भव ही मालूम होगी; क्योंकि यह सूत्र कहता है: 'गुरु की इन बातों को सुनकर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो गया।'

...सुनकर उपलब्ध हो गया! हमारे तर्कशील मन को समझ में नहीं पड़ेगा। लेकिन अगर सच में ही सुना हो, तो असम्भव नहीं है; अगर श्रवण किया हो, तो असम्भव नहीं है। चूँकि हमें श्रवण आता नहीं, इसलिए बात असम्भव मालूम पड़ती है।...सुनकर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो गया!

तो इस बात को थोड़ा हम समझ लें फिर सूत्र में प्रवेश करें।

जिस युग में उपनिषद् निर्मित हुए, उस युग में और आज के युग में एक बुनियादी फर्क है--और इसलिए उपनिषद् की घटना आज के लिए अघट मालूम होती है। जिन दिनों में उपनिषद् जन्मे, निर्मित हुए, उन दिनों, मन का आधार थी श्रद्धा; आज मन का आधार है संदेह। उन दिनों श्रद्धा ऐसे ही सहज थी, जैसे आज संदेह सहज है। मन में एक क्रान्तिकारी अन्तर हुआ है। विज्ञान के जन्म के साथ ही संदेह प्रतिष्ठित हुआ; क्यों? क्योंकि विज्ञान का जन्म संदेह से हुआ।

विज्ञान करता है संदेह। सम्यक् संदेह विज्ञान का सूत्र है; राइट डाऊट। ठीक-से संदेह करेंगे, तो ही विज्ञान विकसित होता है। संदेह करते चले जायेंगे, तो ही विज्ञान के तथ्य उपलब्ध होते हैं।

संदेह, विज्ञान की खोज की प्रक्रिया है। और जब विज्ञान प्रतिष्ठित होने लगा, और जब विज्ञान की खोजें आदमी के उपयोग में आने लगीं, और जब छोटी-सी सुई से लेकर एटम बम तक विज्ञान का फैलाव हो गया...और आदमी बिना विज्ञान के जीने में असमर्थ हो गया, और जब विज्ञान सब तरफ जीतने लगा--भौतिक जगत् में सब तरफ उसकी पताका फहराने लगी, तो स्वभावतः, संदेह प्रतिष्ठित हो गया; क्योंकि संदेह से ही जन्मा विज्ञान।

विज्ञान जीता भौतिक जगत् में तो संदेह प्रतिष्ठित हो गया। आज सारे जगत् में जो भी शिक्षा हम देते हैं, वह सभी शिक्षा संदेह की शिक्षा है। पहली कक्षा से लेकर और अंतिम विश्वविद्यालय की श्रेणियों तक, हम संदेह सिखाते हैं। क्योंकि

विचार संदेह के बिना होता ही नहीं। विचार करना हो, तो संदेह करना ही चाहिए। विचार को जितना तीव्र करना हो, उतनी तीव्र संदेह की धार आवश्यक है।

तो आधुनिक जगत् की सारी संरचना विज्ञान से हुई है। खाते हैं, पीते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, जीते हैं, इस सब में विज्ञान प्रविष्ट हो गया है। और विज्ञान खड़ा है संदेह के आधार पर। इसलिए आज के मन की जो आधारशिला है वह संदेह है। आज कोई चीज चुपचाप मान लेने की नहीं।

श्रद्धा, आज का शब्द नहीं है। जब उपनिषद् रचे गये, तो जैसे आज संदेह प्रतिष्ठित है, तब श्रद्धा प्रतिष्ठित थी। जैसे संदेह आधार है विज्ञान का, ऐसे ही श्रद्धा आधार है धर्म की; इसको ठीक-से ख्याल में ले लें। जैसे संदेह के बिना विचार नहीं हो सकता, ऐसे ही श्रद्धा के बिना निर्विचारणा नहीं आ सकती।

संदेह और श्रद्धा विपरीत हैं। अगर विचार करना है, तो ठीक संदेह आना चाहिए। फिर साहस से संदेह करना चाहिए। फिर इंच-इंच परख करनी चाहिए, और बिना तर्क को स्वीकृत हुए कोई चीज स्वीकार नहीं करनी चाहिए। जो हो परिणाम; लेकिन तर्क ही सब सहारा है, और संदेह ही तब नाव है—अगर विचार में गति पानी है। और अन्ततः अगर विचार से निष्कर्ष लेना है कोई, तो संदेह उपाय है।

लेकिन धर्म विचार से सम्बन्ध ही नहीं रखता। धर्म का मामला ही उलटा है। धर्म कहता है निर्विचार होना है। चूँकि निर्विचार होना है, इसलिए सन्देह की कोई जगह नहीं रह जाती। निर्विचार होना है तो सन्देह का कोई उपाय ही नहीं है। यह नाव काम की नहीं हैं। अगर निर्विचार होना है, तो सन्देह से उलटी चीज काम की होगी; क्योंकि सन्देह विचार का आधार है।

श्रद्धा है सन्देह से विपरीत; स्वीकार, मान लेना, ट्रस्ट, भरोसा।

ये दोनों नावें हैं, इनकी यात्रा अलग-अलग है।

किसी को वैज्ञानिक बनना हो तो श्रद्धा से नहीं बन सकता। और किसी को धार्मिक बनना हो, तो श्रद्धा के बिना नहीं बन सकता। जैसे आज विज्ञान सफल हुआ है, और सब तरफ जीवन पर आच्छादित हो गया है, ऐसा ही उन दिनों धर्म सफल था। और जीवन के रोएँ-रोएँ, पोर-पोर में समाविष्ट था। उन दिनों सफलता ही एक सफलता थी, वह धर्म की थी। कोई आदमी उन दिनों कितना ही बड़ा वैज्ञानिक हो जाता, तो भी लोगों के लिए वह पाने योग्य स्थिति न मालूम होती। उन दिनों पाने योग्य स्थिति थी किसी बुद्ध की, किसी कृष्ण की, किसी अंगीरस की, किसी रैक्व की; उस दिन पाने योग्य स्थिति थी। उस दिन हमने उन लोगों को देखा था, जैसे आज विज्ञान अपने चरम शिखर पर खड़ा है, ऐसा हमने उन दिनों धर्म को अपने चरम शिखर पर देखा था।

विज्ञान जब शिखर पर होता है तो वस्तुएँ बढ़ जाती हैं, यंत्र बढ़ जाते हैं, कुशलता बढ़ जाती है, भोग के साधन बढ़ जाते हैं; धर्म जब सफल होता है, तो चैतन्य बढ़ता है, आत्मा बढ़ती है, त्याग के अनूठे रहस्य उपलब्ध हो जाते हैं। विज्ञान बढ़ता है तो बहियात्रा बढ़ती है, धर्म बढ़ता है तो अन्तर्यात्रा बढ़ती है। वे बिलकुल विपरीत हैं, उनकी दिशाएँ प्रतिकूल हैं। उस दिन हमने देखे थे धर्म के दीप स्तम्भ, और उन दीप स्तम्भों के ही आधार पर सारे मनुष्य का चित्त निर्मित हुआ था। विद्यालय था, विद्यापीठ थी, गुरुकुल था, वे सभी श्रद्धा सिखा रहे थे।

तो श्रद्धा हमारे खून में थी। स्वीकार कर लेना सहज था, अस्वीकार कर लेना बड़ा उलटा काम था। अस्वीकार करने के लिए बड़ी चेष्ठा करनी पड़ती किसी को, स्वीकार करने के लिए कोई चेष्ठा नहीं करनी पड़ती थी। आज उलटी है बात। आज अस्वीकार करने के लिए कोई चेष्ठा नहीं करनी पड़ती, वह हमारा सहज रुख है। स्वीकार करने के लिए अथक चेष्ठा करनी पड़ती है और तब भी भीतर कोई-न-कोई कहता चला जाता है कि पता नहीं, ठीक हो, कि न ठीक हो; कि पता नहीं, धोखा हो, प्रवंचना हो; कि पता नहीं, क्योंकि मैंने तो जाना नहीं है: दूसरे किसी ने जाना है, कहाँ तक सच होगा?

विज्ञान जब जीतता है तो सन्देह जीतता है। इसीलिए भारत में विज्ञान का जन्म नहीं हो सका। हो नहीं सकता था। जहाँ श्रद्धा गहन हो, वहाँ विज्ञान की यात्रा हो ही नहीं सकती। इसलिए उपनिषद् के दिन अवैज्ञानिक दिन थे, विज्ञान का कोई विकास नहीं था। इसीलिए पश्चिम में आज धर्म का कोई विकास नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान सफल हो गया है, सन्देह जीत गया है। और ये यात्राएँ विपरीत हैं।

पूरब ने दिया धर्म, क्योंकि पूरब ने मन को आधार दिया श्रद्धा का; पश्चिम ने दिया विज्ञान, क्योंकि पश्चिम ने मन को आधार दिया सन्देह का। मैं नहीं कहता कि सन्देह गलत है। न ही मैं कहता हूँ कि सन्देह सही है। न मैं कहता हूँ श्रद्धा सही है, और न मैं कहता हूँ श्रद्धा गलत है। मेरी बात को ठीक-से समझ लें। अगर कोई विज्ञान में श्रद्धा का उपयोग करे तो गलत है। अगर कोई सन्देह का धर्म में उपयोग करे तो गलत है। अगर कोई श्रद्धा का धर्म में उपयोग करे तो सही है, और अगर कोई सन्देह का विज्ञान में उपयोग करे तो सही है। सन्देह की अपनी सामर्थ्य है।

पदार्थ को जानने में सन्देह की प्रकट सामर्थ्य है, स्वयं को जानने में सन्देह नपुंसक है। श्रद्धा की कोई सामर्थ्य पदार्थ को जानने की नहीं है, लेकिन स्वयं को जानने की सामर्थ्य केवल श्रद्धा की है। और जब हम एक उपाय का उसके जगत् से विपरीत जगत् में उपाय करते हैं तो हम मुश्किल में पड़ जाते हैं। कोई आवश्यकता नहीं है। जब मुझे घर के बाहर जाना है तो मुझे मेरा मुँह घर के बाहर की तरफ

रखना पड़ता है और पीठ घर की तरफ करनी पड़ती है। जो मुझे घर आना है, तो मुझे मुँह घर की तरफ करना पड़ता है, पीठ बाहर की तरफ करनी पड़ती है।

श्रद्धा है घर की तरफ मुँह, सन्देह है बार की तरफ मुँह। श्रद्धा और सन्देह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, लेकिन दोनों की उपयोगिता अलग है, दोनों की निष्पत्तियाँ अलग हैं। और जिसने इन दोनों में भ्रम किया, वह कठिनाई में पड़ जाता है।

जिन दिनों उपनिषद् रचे गये, उन दिनों श्रद्धा थी आधार। जो सुना जाता था, वह सीधा आत्मसात् हो जाता था।

श्रद्धा का अर्थ है 'ग्राहकता'। श्रद्धा का अर्थ है 'प्रेमपूर्ण स्वीकार'।

इस स्वीकार का सारा आयोजन था। ऐसा कोई रास्ते चलते किसी से कुछ कह नहीं देता था, गुरु के पास वर्षों बैठना पड़ता था। गुरु को वर्षों तक पीना पड़ता था। गुरु के साथ वर्षों तक जीना पड़ता था। धीरे-धीरे गुरु की श्वाँस की गति, शिष्य की भी श्वाँस की गति हो जाती थी। धीरे-धीरे गुरु का उठना-बैठना, शिष्य का भी उठना-बैठना हो जाता था। धीरे-धीरे दोनों के बीच एक तालमेल, एक अंतर्सामंजस्य निर्मित हो जाता था। और तब शिष्य जानता था अपने अन्तरतम से कि गुरु सत्य है।

यह पहचान धीरे-धीरे होती थी। यह पहचान किसी को रास्ते में पकड़ के पूछ लेने की नहीं थी...कि क्या ब्रह्म है?

मुझे लोग मिल जाते हैं! मैं स्टेशन पर अपनी गाड़ी पकड़ने जा रहा हूँ, वे बीच में मुझे रोक लेते हैं प्लेटफार्म पर...कि जरा एक मिनिट, सच में ईश्वर है? वे क्या कह रहे हैं? ...जैसे कि ईश्वर है या नहीं, ऐसा कोई उत्तर दिया जा सकता है! जैसे कि इस उत्तर को पाने के लिए किसी तैयारी की कोई भी ज़रूरत नहीं! जैसे यह उत्तर कोई रोजमर्रा, दैनिक काम की चीज है...कि किसी दुकानदार से पूछ रहे हैं कि...सिगरेट का पैकेट है?

ईश्वर है?—इसे पूछने के लिए वर्षों प्रतीक्षा चाहिए; इसे पूछने की योग्यता चाहिए; इसे पूछने की पात्रता चाहिए; इसे पूछने के योग्य मन निर्मित होना चाहिए कि जब उत्तर मिले, तो मैं उस उत्तर को सुन पाऊँ, समझ पाऊँ।

ये उन दिनों की घटना है, जब कोई साधक गुरु के पास वर्षों बैठता था। सिर्फ बैठता था। देखता था गुरु को। कुछ गुरु बोलता तो सुनता था, पूछता नहीं था। पूछता तो तभी था, जब उसे लगता कि अब गुरु से एक तालमेल बन गया है; एक अन्तर्संबंध निर्मित हुआ है, एक सेतु निर्मित हो गया है। और अब गुरु जो भी कहेगा, वह मेरे कान तक नहीं रुक जायेगा, मेरे हृदय तक उतर जायेगा।

जब तक गुरु के हृदय से हृदय का जोड़ न बन जाये, तब तक कोई बात कहने का अर्थ नहीं है। ऐसे क्षण में कहा गया होगा यह उपनिषद्। इसलिए यह सूत्र कहता है कि गुरु की...

आन्तरिकता साधना हो सकती है। लेकिन हम अपरिचित हैं आज इस बात से। आज तो जिनसे हमारा बहुत प्रेम है, उनसे भी हमारी कोई आन्तरिकता नहीं होती। जिन्हें हम अपने निकट पाते हैं, उनसे भी दूरी मालूम पड़ती है, निकटता नहीं होती। आज प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने में बन्द हो गया है। हो जाने का कारण है सन्देह। जिसके प्रति सन्देह हो, उसके साथ आन्तरिकता कैसे निर्मित होगी? जिसके साथ कोई सन्देह न हो, उसी के साथ आन्तरिकता निर्मित हो सकती है। सन्देह तो द्वार बन्द कर लेता है, ताले लगा लेता है अपने भीतर; सुरक्षा की ज़रूरत पड़ जाती है।

श्रद्धा असुरक्षित है। श्रद्धा कोई सुरक्षा नहीं करती। श्रद्धा का मतलब ही यह है कि गड्ढे में गिरा दोगे, तो गिर जायेंगे। तुम गड्ढे में गिरा रहे हो, तो गड्ढे में गिरने में जरूर कोई राज होगा।

कौन गिरा रहा है यह सवाल है, गड्ढा सवाल नहीं है। अगर गुरु गड्ढे में धक्का दे रहा है, तो उपनिषद् के दिनों का शिष्य चरण छूकर गड्ढे में गिर जाता। ये सवाल नहीं है कि गड्ढा है। यह सवाल है कि कौन गिरा रहा है?

जिसे इतना चाहा, जिससे इतनी आन्तरिकता बनी, वह अगर गड्ढे में गिरा रहा है तो गड्ढे में कोई हित होगा, कोई कल्याण होगा--यह भाव है श्रद्धा। इस भाव से जब कोई चीज़ सुनी जाती है, तो अन्तरतम तक उतर जाती है। और फिर, फिर साधना की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती।

साधना वस्तुतः श्रद्धा की कमी को पूरा करने का उपाय है। वह जो श्रद्धा नहीं है, उसकी जो जगह खाली है, उसे साधनों से पूरा करना पड़ता है। वह सब्स्टीट्यूट है; नहीं तो कोई ज़रूरत नहीं है। क्योंकि उपनिषद् की दृष्टि ही यही है, कि जिसे पाना है वह तो भीतर मौजूद है। साधने का कोई सवाल नहीं है, कोई प्रयत्न आवश्यक नहीं है, कोई प्रयास की ज़रूरत नहीं है-- क्योंकि जिसे पाना है, वह है ही मौजूद--सिर्फ उसकी तरफ आँख उठानी है।

अगर श्रद्धा हो प्रगाढ़, और तैयारी हो उस अज्ञात में आँख उठाने की गुरु के इशारे पर, तो बात पूरी हो जायेगी।

मारपा ने कहा है, तिब्बत के एक अद्भुत फकीर ने, कि मैंने कभी कुछ साधा नहीं, मैंने कभी कोई प्रयास नहीं किया, मैंने तो बस एक ही काम किया : गुरु पर श्रद्धा की।

बड़ी मजेदार घटना है मारपा की। मारपा जब गुरु के पास आया, तो मारपा ने कहा कि मैं तो तैयार होकर आया हूँ, श्रद्धा के लिए।

तो उसके गुरु ने कहा, श्रद्धा पूरी है?

तो मारपा ने कहा, श्रद्धा अधूरी होती है, ऐसा मैंने सुना नहीं। श्रद्धा अधूरी हो कैसे सकती है?

श्रद्धा होगी तो पूरी होगी, नहीं तो नहीं होगी--इसे थोड़ा समझ लें।

कुछ लोग कहते हैं: थोड़ी-थोड़ी श्रद्धा है, थोड़ी-थोड़ी नहीं है! उन्हें पता ही नहीं वे क्या कह रहे हैं! श्रद्धा विभाजित नहीं होती। किसी से कहो कि थोड़ा-थोड़ा प्रेम है, थोड़ा-थोड़ा नहीं है--क्या मतलब होता है? किसी से कहो कि थोड़ा-थोड़ा सच बोलते हैं! ... थोड़ा-थोड़ा सच?

अविभाज्य हैं ये बातें, इनको कोई बाँट नहीं सकता। या श्रद्धा होती है या नहीं होती। थोड़े-थोड़े का मतलब यह होता है कि नहीं है। लेकिन आप इतने ईमानदार भी नहीं हैं कि स्वीकार कर लें कि श्रद्धा नहीं है। तो कहते हैं, थोड़ी-थोड़ी।

मारपा ने कहा: श्रद्धा पूरी होती है, अधूरी मैंने सुनी नहीं। मुझे श्रद्धा है।

तो उसके गुरु ने कहा कि ये सामने जो गड्ढ है, इसमें कूद जा!

मारपा तत्काल कूद गया! गुरु घबड़ाया...कि ये मुफ्त जान गयी! ऐसा न सोचा था कि यह कूद ही जायेगा! भागा गुरु, शिष्य भागे, नीचे जाकर देखा: मारपा ध्यान लगाये गड्ढ में बैठा है!

गड्ढ भयंकर था; हज़ारों फीट गहरा था; कोई उपाय बचने का न था; लेकिन उसे खरोंच भी न लगी थी! गुरु ने समझा: संयोग है, फिर और परीक्षा करनी पड़ेगी।

घर में आग लगी थी। गाँवभर घर की तरफ दौड़ रहा था। मारपा को लेकर गुरु भी गया और उसने कहा कि इस आग में प्रवेश कर जा!

मारपा आग में प्रवेश कर गया; अन्दर चला गया; ध्यान लगाकर भीतर बैठ गया। सारा घर जलकर राख हो गया। गुरु और उनके सारे शिष्यों ने समझा कि मर गया बेचारा, अब कोई उपाय नहीं। जब राख हो गया घर, तब लोग अन्दर घुसे; वह राख के बीच में बैठा था! उसे जरा-सी भी खरोंच...आग की जरा-सी-भी खरोंच नहीं पहुँची थी! तो गुरु ने कहा कि तेरे पास क्या तरकीब है? कौन-सी तेरे पास शक्ति है जो तू यह काम कर रहा है?

उसने कहा, शक्ति! सिर्फ आप पर श्रद्धा है।

गुरु ने उसे पानी पर चलने को कहा, वह पानी पर चल गया! तब तो गुरु ने

सोचा कि जब मेरे नाम से मारपा ऐसे चमत्कार कर रहा है, तो मैं क्या नहीं कर सकता हूँ! लेकिन गुरु चला और पानी में डूब गया!

गुरु का सवाल नहीं है। गुरु की कोई श्रद्धा नहीं थी...कि पानी पर चला जा सकता है...कि आग में बचा जा सकता है,...कि गड्ढा चोट नहीं पहुँचायेगा। गुरु तो खुद डरा ही हुआ था कि ये हो कैसे रहा है? ये मारपा जरूर कोई और तरकीब जानता है, जो मुझे पता नहीं है। पानी पर चलेगा कोई कैसे!

मारपा को चलते हुए देखकर भी गुरु को श्रद्धा नहीं आयी कि पानी पर चला जा सकता है। उसे लगा कि जरूर कोई तरकीब है; कोई और राज है, जो मुझे पता नहीं है। और यह मुझे धोखा दे रहा है कि सिर्फ श्रद्धा से चल रहा हूँ। और अगर मुझ पर श्रद्धा रखकर यह पानी पर चल रहा है, तो मैं तो चल ही जाऊँगा।

यहाँ भूल हो गयी। श्रद्धा से चल रहा था वह। किस पर श्रद्धा है, यह सवाल नहीं था। श्रद्धा थी हृदय में। उसका तो इतना ही भाव था कि जब गुरु कहता है पानी में चलो, तो चलना हो जायेगा। इसमें रतीभर कहीं कोई सन्देह न था। इसमें क्षणभर को भी सन्देह आता, तो मारपा डूब जाता।

श्रद्धा नाव है, लेकिन एक छेद भी हो तो डुबा देती है। गुरु चला, डूब गया। गुरु ने मारपा को कहा कि तू मुझे धोखा दे रहा है, कुछ-न-कुछ तेरे पास तरकीब है। मेरे नाम से तू चल गया, और मैं खुद नहीं चल पाया!

तो मारपा ने कहा, अब मेरा भी चलना मुश्किल है। जब मैंने आपको डूबते देखा, मामला खत्म हो गया। मेरी श्रद्धा टूट गयी। अब भूलकर मुझे आप आज्ञा मत देना, अब मैं पूरी न कर पाऊँगा। और जब मैंने पूरी की तो जिंदा नहीं लौटूँगा। मैंने आपको डूबते देख लिया। अब उपाय नहीं है मेरे पास। जिस नाव से मैं चलता था वह टूट गयी।

फिर मारपा नहीं चल सका। यह कहानी मीठी है। उपयोगी है। श्रद्धा की अपनी एक शक्ति है। है अगर श्रद्धा, तो साधना अनावश्यक है। श्रद्धा काफी है। श्रद्धा नहीं है, तो साधना अति आवश्यक है। श्रद्धा काफी नहीं है।

एक बड़ी मजेदार बात हो गयी: चूँकि मध्य-युग में सन्तों को ऐसा लगा कि नास्तिकता बढ़ती जा रही है और कोई धर्म में उत्सुक नहीं दिखायी पड़ता––इसलिए कौन करेगा लम्बी साधनाएँ? कौन करेगा जप? कौन करेगा तप? कौन साधेगा योग? कौन उतरेगा तंत्र में? कोई उतरनेवाला नहीं दिखायी पड़ता। लोग धीरे-धीरे धर्म में अनुत्सुक होते जा रहे हैं। इसलिए सन्तों ने कहा, कलयुग के लिए तो 'राम-नाम' ही एक सहारा है...कि इतना तो कम-से-कम कलयुग में भी लोग कर

लेंगे कि राम का नाम ले लें। इसमें कुछ खर्च तो होता नहीं।

लेकिन, बड़ी भूल हो गयी। धर्म का जो विज्ञान है, उसके विपरीत है यह बात। कलयुग में साधना की सबसे ज्यादा जरूरत है, क्योंकि श्रद्धा नहीं है।

इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि ये बड़ा विपरीत दृष्टिकोण है जो मैं कह रहा हूँ। कलयुग में साधना की सर्वाधिक जरूरत है, सतयुग में नहीं थी। क्योंकि श्रद्धा नहीं है, तो श्रद्धा को किस चीज से पूरा करियेगा? 'राम-नाम' भी काम कर सकता है, लेकिन उसको ही जिसमें श्रद्धा हो। तो सतयुग में राम-नाम काम करता रहा होगा, अब नहीं करेगा।

तो मैं आपसे कहता हूँ कि कलयुग में राम-नाम लेने से कुछ भी होनेवाला नहीं है, क्योंकि जिस हृदय में राम-नाम-जैसी बात भी कुछ कर सकती थी, वह श्रद्धालु हृदय अब नहीं है। अब तो कठोर साधना करनी पड़ेगी, बड़ा श्रम उठाना पड़ेगा, तब कुछ हो सकता है? क्यों? क्योंकि श्रद्धा की कमी किस चीज से पूरी होगी?

श्रद्धा का मतलब होता है दूसरे पर भरोसा; गुरु पर, परमात्मा पर, किसी पर। श्रद्धा का मतलब होता है: दूसरे पर इतना प्रगाढ़ भरोसा कि वह जो कह दे हो जाये। जब श्रद्धा न हो, तो अपने पर ही भरोसा रह जाता है।

साधना है अपने पर भरोसा: किसी और के सहारे कुछ न होगा, हम खुद ही मेहनत करेंगे।

कलयुग में कठोर साधना की जरूरत है। राम-नाम से कुछ भी कलयुग में नहीं होनेवाला, सत्ययुग में होता था। नाम से भी हो जाता था। बहाने थे, कोई भी काम कर जाता था। आदमी तो तैयार ही था। भाव उसका गहरा था। जरा-सी चिन्गारी, बारूद तैयार थी, आग लग जाती थी। भीतर अब वह श्रद्धा की बारूद ही नहीं है, कि राम की जरा-सी चिन्गारी भी भीतर पड़ जाये, तो आग लग जाये। अब तो भीतर पानी भरा हुआ है, सन्देह का। चिंगारी क्या, बड़े-से-बड़ा बम भी फेंको, वह भीतर ठंडा हो जाता है। वह वहाँ पड़ता है अन्दर––पानी में––शान्त होकर बैठ जाता है।

यह सूत्र समझने-जैसा है।

"गुरु के इस उपदेश को सुनकर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हुआ और कहने लगा:

...जो गुरु ने कहा था, वह उसे दिखायी पड़ने लगा। जो गुरु ने कहा था, वह उसने सुना ही नहीं, वह उसका अनुभव बनने लगा। जो गुरु ने कहा था, उस पर उसने सोचा नहीं, विचारा नहीं, वह उसका प्रत्यक्षीकरण होने लगा।...

कहने लगा : "जगत् को मैंने अभी-अभी देखा था, कहाँ गया?"

सुनी यह बात कि जगत् मिथ्या है। सुनी यह बात कि सौन्दर्य अपना ही प्रक्षेपण है। सुनी यह बात कि आकर्षण सब अपने ही सपने हैं। अगर सच में सुना, तो तत्काल लगेगा, कि वे जो सपने मैं देख रहा था, अब तक, वे कहाँ गये? वे टूट जायेंगे।

सपना तो जानते हो टूट जाता है। जैसे जाना कि सपना है, कि टूटा। जैसे कोई कह दे कि यह सपना है, तो टूट जायेगा। गुरु ने कहा कि सपना है सारा जगत्। आपने भी सुना...सपना है सारा जगत्। आपने कहा: होगा; हो सकता है, कौन जाने? और कैसे मानें कि जगत् सपना है? जगत् इतना साफ, स्पष्ट, चारों तरफ मौजूद है। यह बात कुछ जचती नहीं कि जगत् सपना है। जचती भी हो तो हम इसे अपने मन को जचाना नहीं चाहते, क्योंकि सपनों में हमारा बड़ा इन्व्हेस्ट-मेंट है; सपनों में बड़ी सम्पदा लगा बैठे हैं।

सपनों में ही सारा सुख है हमारा।

अगर सपना है सारा जगत् तो हमारे सारे सुखों का क्या होगा? और हमने जो-जो पूंजी लगा रखी है जीवनभर की उनमें...कि कभी पूरे होंगे, वो नियोजित पूंजी का क्या होगा? वह सब व्यर्थ चली जायेगी।

जगत् में हमारा बड़ा इन्व्हेस्टमेन्ट है। हमने बहुत कुछ न्यस्त किया है जगत् में। तो एकदम-से कोई कह दे, सपना!

ऐसा समझें कि सपने में आप सम्राट् हो गये हैं...और बड़ा मजा ले रहे हैं: स्वर्ण के सिंहासन पर बैठे हैं; हीरे-मोतियों की वर्षा हो रही है। तभी आपकी पत्नी हिलाने लगे और कहे कि क्या सपना देख रहे हो, तो आप कहेंगे कि चुप भी रह, शान्त रह, सब गड़बड़ किये दे रही है। बामुश्किल तो ऐसा सपना देखने को मिला था!

उसे तोड़ना कठिन मालूम पड़ता है।

हम सब सपने देख रहे हैं। गुरु कहता है, यह सब सपना है, यह सब माया है। कौन इस बात को मानने को राजी होगा? वही, जो अपने सुखों और दुखों को, अपने लोभ को, मोह को, एक तरफ हटाकर इस सत्य को देखे...कि क्या यह सच है? क्या सचमुच ही यह जगत् इन्द्र-धनुष-जैसा है...कि पास जाओ तो खो जाता है? सिर्फ दूर से दिखायी पड़ता है बहुत रंगीन, जैसे तितलियों के सब रंग चुरा लिये हों...कि जैसे सब फूल उड़कर इन्द्र-धनुष बन गये हों...और पास जाओ तो कुछ भी नहीं? अगर मुट्ठी में बाँधो तो कुछ पानी की बूंदेंभर हाथ लगती हैं, जिनमें न कोई रंग होता है, न कोई रूप होता है।

शिष्य ने यह सुना और कहने लगा: 'जगत् को मैंने अभी-अभी देखा था,...

सुनने के पहले देखा था। गुरु से मिलने के पहले देखा था। खूब भरकर देखा था आँख...और देखने का बड़ा मन बना था कि और देखता रहूँ, और देखता रहूँ, अभी-अभी सब-कुछ था, 'वह कहाँ गया?'

यह वक्तव्य बड़ा गहरा है। यह शिष्य कह रहा है कि यह तुमने क्या किया? कि जैसे कोई सपने को तोड़ दे, ऐसा तुमने तोड़ दिया। वह कहाँ गया जगत्, जो मैंने अभी-अभी देखा था? जो मैं अब तक मानता था कि था। जो अब तक मैं जानता था कि है। आज अचानक मेरे हाथ से छूट गया है, और मैं खाली हो गया हूँ। किसने उसे छीन लिया मुझसे?

इसमें पीड़ा भी है, उसके छिन जाने की। इसमें बोध भी है...कि अब वह दुबारा मिल न सकेगा। इसमें समझ भी है। एक घटना घट गयी है।

"और वह किसमें लय हो गया? बड़ा आश्चर्य है...कि वह नहीं है।"

निश्चित ही, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा...कि जिसे हमने जाना था कि है; जिसे हम जी रहे थे; जिसमें हम संलग्न थे; और जिसमें हमने सारे-के-सारे सुख संजोए थे, स्वर्ग बसाये थे; सब अचानक तिरोहित हो गया!

"बड़ा आश्चर्य है...कि क्या वह नहीं है?"

अभी भी बीच में खड़ा हुआ है शिष्य। उस तरफ जो जगत् था, खो गया है, अभी नये पर पकड़ नहीं बैठी। जैसे अचानक अन्धेरे से प्रकाश हो जाये, तो अन्धेरा तो खो जाता है लेकिन प्रकाश पर आँख नहीं बैठती, आँख झपकती है।

जिस जगत् को जन्मों-जन्मों तक जाना हो, अगर वह एक झलक में विलीन हो जाये, तो जगत् तो खो जाता है, ब्रह्म का दर्शन नहीं होता। थोड़ा वक्त लगेगा, थोड़ा आँखों को राजी होना पड़ेगा। अन्धेरे की देखने की आदत प्रकाश को देखने में थोड़ी-सी बाधा लायेगी। आँखें चौंधिया जायेंगी। इसलिए भी...इसलिए भी साधना का एक उपयोग है, कि धीरे-धीरे प्रकाश हो, ताकि आँखें चौंधिया न जायें।

सत्य अगर सीधा-सीधा सामने आ जाये, आप अन्धे हो जायेंगे। अन्धे इसलिए हो जायेंगे कि उसे देखने की क्षमता आँख को जुटानी पड़ती है। आँख जैसी है, वैसी उसे देख नहीं सकती। आँख टूट जायेगी। इतना विराट् है विस्फोट...कि आपकी छोटी-सी आँख उसे नहीं सह पायेगी, अन्धी हो जायेगी, रोशनी खो जायेगी; सूरज के पास जैसे पहुँच जायें तो जो हालत हो जाये, वह हालत हो जायेगी।

तो शिष्य को दिखायी तो पड़ रहा है कि जो मैं मानता था कि है, वह खो गया; अभी वह नहीं दिखायी पड़ रहा जो उसकी जगह अब दिखायी पड़ेगा।

बड़ा आश्चर्य है!

इतनी बड़ी भूल भी हो सकती थी क्या?

इतनी बड़ी भ्रान्ति भी सम्भव थी कि पूरा जीवन ही स्वप्न हो?

हमें भी लगेगा कि अगर किसी दिन ऐसा हो जाये, तो इससे बड़ा आश्चर्य और कुछ भी नहीं हो सकता। यह होता है। यह होता है; बहुत बार हुआ है; बहुत लोगों को हुआ है। इस युग में ये घटनाएँ कम होती चली गयी हैं। कई कारण हैं। एक कारण आश्चर्य की कमी भी है। आश्चर्यचकित होने की क्षमता भी हमारी कम हो गयी है। उसका भी कारण है।

विज्ञान ने बहुत-बहुत से रहस्य हमें दे दिये। और जब कोई रहस्य जान लिया जाता है, तो रहस्य ही कम नहीं होता, हमारी आश्चर्य की क्षमता भी कम हो जाती है।

बच्चे आश्चर्य से भरे होते हैं। हर चीज में उन्हें चमत्कार मालूम पड़ता है। और हम उन्हें डाँ-डपट के बिठा देते हैं कि शान्त भी रहो...कोई इसमें बड़ा आश्चर्य नहीं है! हम उन्हें समझा देते हैं। लेकिन आपको पता है कि आप बच्चे से उसका एक जगत् छीन रहे हैं--आश्चर्य का जगत्? जहाँ हर छोटी-मोटी घटना,...एक छोटी-सी उड़ती तितली इतना सुख दे जाती थी कि जितना फिर सारा जगत् भी आपके विज्ञान का नहीं दे पायेगा; कि एक छोटा-सा खिलता फूल...कि आकाश से टूटा हुआ एक उल्का, एक छोटा-सा उल्कापात...कि गिरता हुआ तारा एक बच्चे को इतने पुलक से भर जाता था कि फिर सारे जगत् की सम्पदा उसे दे दी जाये, और सारे तारों का उसे मालिक बना दिया जाये, तो भी वह पुलक फिर वापिस नहीं आयेगी।

बच्चा आश्चर्य से देख रहा है हर चीज को--क्यों? क्योंकि उसे कुछ भी पता नहीं है, वह अज्ञानी है। उसे कुछ भी पता नहीं है। चूँकि पता नहीं है कुछ भी इसलिए हर चीज आश्चर्य से भरती है। विज्ञान ने आज बहुत-सी बातें पता कर दीं हैं। आपको लगता है: यह भी मालूम है, यह भी मालूम है, यह भी मालूम है; आश्चर्य-क्षमता कम हो गयी है। ज़रूरी नहीं है, लेकिन आपको फिर अगर आश्चर्य को बनाये रखना है तो आपको विज्ञान का फिर बहुत गहन अध्ययन चाहिए, तो आश्चर्य जग सकता है—नहीं तो नहीं जग सकता।

आईंस्टीन ने मरने के पहले कहा है...कि मैं एक रहस्यवादी की तरह मर रहा हूँ--लाइक ए मिस्टिक। मैंने सोचा था कि जगत् के सारे रहस्यों को खोल लूंगा, लेकिन रहस्य खोले जरूर, पर हर रहस्य के खुलने के बाद और बड़े रहस्य खड़े हो गये। जैसे जादूगर एक डब्बे से दूसरा डब्बा निकालता है, फिर तीसरा डब्बा निकालता है और निकालता चला जाता है—ऐसे ही रहस्य के भीतर रहस्य, लेकिन

उन रहस्यों को जानने के लिए अब बहुत डब्बों के पार जाना पड़ेगा।

आईंस्टीन-जैसी कोई प्रतिभा सब डब्बों के पार होकर जब देखती है, तो पाती है: रहस्य कम नहीं हुए। लेकिन हम, जो छोटा-मोटा ज्ञान इकट्ठा कर लेते हैं, हमारा रहस्यभाव मर जाता है, हमारा आश्चर्य मर जाता है; हम हर चीज को कहने लगते हैं...उत्तर हमारे पास हो जाता है: इसका यह अर्थ है, इसका यह अर्थ है; यह इसलिए है, यह इसलिए है।

सब चीजों का अर्थ और व्याख्या हो गयी हो, तो आश्चर्य का भाव कम हो जाता है। और जब आश्चर्य का भाव कम हो जाये, तो धर्म की सम्भावना टूट जाती है। धर्म है एक रहस्य, परम रहस्य। धर्म है परम आश्चर्य। इस जगत् में जो बड़े-से बड़ा चमत्कार घट सकता है, वह है धार्मिक हो जाना--क्यों? क्योंकि धार्मिक होते ही यह जो शिष्य कह रहा है 'बड़ा आश्चर्य है', क्या वह जगत् नहीं है जो अभी-अभी था, जिसे मैंने अभी-अभी जाना, वह कहाँ खो गया? वह किसमें लीन हो गया?

लेकिन तत्क्षण दूसरी पंक्ति आप देखते हैं?

पहली पंक्ति आश्चर्य की है, दूसरी पंक्ति आनन्द की है। आश्चर्य के पीछे ही आनन्द छिपा है। और जिसका आश्चर्य खो गया, उसे आनन्द कभी भी न मिलेगा। आश्चर्य आनन्द का द्वार है। जिसका द्वार ही बन्द हो गया, वह आनन्द के भवन में कभी प्रवेश न करेगा। दूसरी पंक्ति तत्काल है।

"अखण्ड आनन्दरूप अमृत से भरे इस ब्रह्मरूप महासागर में अब मुझे क्या त्याग करना? क्या लेना? अन्य क्या है? विलक्षण क्या है?"

अगर यह सारा जगत् ही मिथ्या हो गया, तो अब मुझे कुछ भी छोड़ना नहीं। जिसे छोड़ सकता था, वह खो ही गया। अब मुझे कुछ भोगना भी नहीं। क्योंकि जिसे भोग सकता था, वह अब नहीं है।

न कुछ पकड़ना है, न कुछ छोड़ना है; न कुछ लेना है, न कुछ हटाना है; वह सारा-का-सारा जगत् भोग और त्याग का, विलीन हो गया है।

इस सूत्र को थोड़ा ख्याल में ले लें: जब जगत् विलीन होता है, तो यह मत सोचना कि भोग ही विलीन होता है, त्याग भी विलीन हो जाता है। क्योंकि भोग और त्याग तो उस जगत् के हिस्से थे, जो था। एक आदमी धन इकट्ठा करता था, वह भोगी था; एक आदमी धन त्याग करता था, वह त्यागी था। लेकिन जिसका जगत् ही विलीन हो गया हो, धन ही विलीन हो गया हो, उसके लिए क्या त्याग और क्या भोग?

इसलिए उपनिषद् के ऋषि आपकी परिभाषा में त्यागी नहीं थे। उपनिषद् के ऋषि आपकी भाषा में भोगी भी नहीं थे। त्यागी भी नहीं थे। उपनिषद के ऋषि

बहुत अलग तरह के, तीसरी तरह के लोग थे। जो आज हमारे मन में ख्याल है त्यागी का, वह भोगी के विपरीत है। यह जिन उपनिषद् के ऋषियों ने ये बातें कही हैं, वे कोई नग्न खड़े हुए, सब छोड़कर भाग गये लोग नहीं थे। वे कोई भटकते हुए संन्यासी नहीं थे। वे न त्यागी थे, न भोगी थे, वे अतिसामान्य और सरल लोग थे, बच्चों की तरह जी रहे थे। और उनके लिए वह सारा जगत्, जहाँ त्याग और भोग घटता है, दोनों विलीन हो गये थे। उन दोनों का कोई मूल्य न रहा था; दोनों का।

इसलिए जब इस मुल्क में, बुद्ध और जैन धर्म के प्रभाव में, भोग के विपरीत त्याग की धारणा प्रबल हुई, तो उपनिषद् के ऋषि धीरे-धीरे हमें भूलते चले गये, क्योंकि वे एक अलग ही तरह के लोग थे। उनको हम भोगी नहीं कह सकते, क्योंकि वे कभी इकट्ठा करने के लिए उत्सुक न थे; उन्हें हम त्यागी भी नहीं कह सकते, क्योंकि वे छोड़ने के लिए भी आतुर नहीं थे। उन्हें कोई दे जाता तो वे ले भी लेते थे, और उनसे कोई ले जाता, तो वे उसका पीछा करने भी जानेवाले नहीं थे।

एक घटना आपसे कहूँ, उससे ख्याल आये।

कबीर का लड़का था, कमाल। कबीर त्यागी थे, कमाल उपनिषद् के ऋषियों-जैसा था। तो कबीर के शिष्यों ने कबीर को कहा कि इस कमाल को यहाँ से अलग कर दो, क्योंकि आपको कोई रुपये-पैसे भेंट करता है, तो आप कहते हैं, नहीं, कोई ज़रूरत नहीं...इस मिट्टी का हम क्या करेंगे? वही कमाल बाहर बैठा रहता है, वे लोग जो आपको देने आते हैं और आप नहीं लेते, कमाल को दे देते हैं, कमाल कहता है, खुश रहो! रख लेता है! तो यह अड़चन है;––यह लड़का।

पता नहीं कबीर ने यह वचन रचा...कि मैं मानता हूँ कबीर ने नहीं रचा होगा...उनके किसी माननेवालों ने––जो कमाल से परिचित रहे होंगे––रचा होगा। रचा है वचन––"बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।"

...सारा वंश खराब कर दिया कबीर का इसने। यह कमाल जो पूत पैदा हो गये––सपूत; सब खराब कर दिया।

तो कबीर ने कमाल को कहा कि ये लोग ऐसा सोचते हैं, तेरा क्या ख्याल है?

कमाल ने कहा, तो हम यहाँ न रहकर दूसरे झोपड़े में रहने लगते हैं।

कमाल दूसरे झोपड़े में चला गया। काशी के नरेश को खबर मिली, काशी के नरेश को ऐसा नहीं लगता था कि कमाल भोगी है। त्यागी नहीं है, यह तो ज़ाहिर था; भोगी है, ऐसा नरेश को शक नहीं था। फिर उसने कहा, फिर भी जाँच कर लेनी चाहिए। तो नरेश एक बहुमूल्य हीरा लेकर आया। उसने कमाल को भेंट किया। तो कमाल ने कहा कि अरे, क्या पत्थर भेंट करने लाये––न खा सकते, न पी सकते!

तो सम्राट ने सोचा कि लोग तो मुझसे कहते हैं कि वह, कुछ भी दो तो रख

लेता है! और मैं हीरा लाया हूँ, लाखों का है, और वह कहता है...क्या पत्थर ले आये! तो बात लोगों की ठीक नहीं जचती। तो सम्राट् सोचकर कि कमाल नहीं लेता, उठाकर वापस रखने लगा...तो कमाल ने कहा: अरे, बड़े पागल हो! एक तो पत्थर का बोझ यहाँ तक ढोया, अब क्या वापिस भी ले जाओगे? रख दो!

तब तो सम्राट् को बड़ा शक हो गया: यह आदमी तो...कुछ गड़बड़ है! लेकिन हमारा मन कैसा है? तर्कयुक्त तो यही है जो कमाल ने किया...कि जब पत्थर ही है, तो यहाँ तक ढोया, ये मुसीबत झेली, अब वापस ढोओगे! ...छोड़ भी दो।

पहली बात सम्राट को जची थी। भोगी को त्याग की बात हमेशा जचती है। दूसरी बात बिलकुल नहीं जची और लगा कि यह संदिग्ध मामला है। फिर भी उसने कहा, कहाँ रख दूँ? तो कमाल ने कहा, पूछते हो कहाँ रख दूँ! तो मतलब तुम इसे पत्थर नहीं मानते? ले ही जाओ, कहाँ रखने का क्या सवाल है? पत्थर ही है, पड़ा रहने दो!

तो सम्राट ने जाँचने के लिए कहा कि अच्छा। झोंपड़ा था सनौलियों का, उसमें खोंस दिया हीरे को। कहा, यहाँ रखे जाता हूँ।

कमाल ने कहा, तुम्हारी मर्जी, बाकी पत्थर का इतना क्यों हिसाब रखते हो?

महीनेभर बाद सम्राट् वापिस लौटा। उसे पक्का था कि वह दूसरे दिन ही हीरा बिक गया होगा, या छिपा दिया गया होगा। महीनेभर बाद आया, कमाल से पूछने लगा कि एक हीरा रख गया था, महीनेभर पहले? कमाल ने कहा कि मैंने तभी कहा था पत्थर है, अब तुम मुझे झंझट में डालोगे। कहाँ रख गये थे तुम? पता नहीं कोई ले गया हो! (सम्राट् ने कहा कि ये होशियारी की बातें कर रहा है... पता नहीं कोई ले गया हो!) या पता नहीं वहाँ हो भी, तुम देख लो। और सम्राट हैरान हुआ, हीरा वहीं खुंसा था! वहीं सनौलियों में हीरा दबा था।

उपनिषद् के ऋषि ऐसे लोग थे। न भोग में कोई अर्थ था, न त्याग में कोई अर्थ था। त्याग में सब अर्थ भोग के कारण ही है। इसलिए भोगी को त्यागी खूब जचता है। विपरीत होता है, आकर्षण में आता है, आँख में चुभता है—लगता है कि यह हम नहीं कर सकते...और यह आदमी कर रहा है!

तो भोगी त्यागी के पैर छूते हैं, उसका कारण है: हमको लगता है कि हम तो भोजन छोड़ नहीं सकते, और यह आदमी महीनेभर से उपवास कर रहा है...पड़ो, पैर में पड़ जाओ। और हम तो घर नहीं छोड़ सकते...और इसने सब छोड़ दिया! हम वस्त्र नहीं छोड़ सकते और यह नग्न सड़क पर खड़ा है! इसके पैर में पड़ जाओ।

जो हम नहीं कर सकते, वह कोई कर दे, तो हमें लगता है 'आदर-योग्य है'।

सब त्याग का आदर भोग के कारण है। इसलिए एक मजेदार घटना घटती है: जितना सम्पन्न समाज हो, भोगी समाज हो, उतना ज्यादा त्याग का आदर करता है। जैन हैं, सम्पति ज्यादा है, सुख-सुविधा ज्यादा है, तो उनकी अपेक्षा अपने साधु से बहुत त्याग की होती है। यह बड़ी मजेदार बात है: समाज भोगियों का, सुविधा-सम्पन्न लोगों का, लेकिन अपने त्यागी से वे अपेक्षा बड़ी करते हैं त्याग की। नहीं तो वे आदर ही नहीं करेंगे उसका।

हिन्दुओं का इतना भाव नहीं है, त्यागी के प्रति, कि वह इतना त्याग करे—यह करे, वह करे। इसलिए कोई हिन्दू त्यागी जैन त्यागी के मुकाबले कहीं टिकता नहीं है। पर उसका कुल कारण इतना है कि हिन्दू समाज, समाज की दृष्टि से कोई बड़ा सम्पन्न समाज नहीं है। बड़ा दरिद्र वर्ग है। बहुत दरिद्र वर्ग, बहुत आशा नहीं बाँधता त्याग की अपने संन्यासी से।

तो जितना सम्पन्न समाज होगा, उतना ज्यादा त्याग का मापदंड बड़ा होगा उसके पास। तभी वह मानेगा कि हाँ, अब कुछ किया, कुछ छोड़ा।

हम अपने मन से तौलते हैं।

उपनिषद् कहते हैं: जब तक त्याग का मूल्य है, तब तक समझना भोग का भी मूल्य है। जब तक त्याग के प्रति मन में आदर है, तब तक समझना भोग के प्रति लगाव है। उसी लगाव का प्रतिफलन है आदर। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं: यह पूरा जगत्—त्याग और भोग, दोनों ही--खो जाते है; जागे हुए पुरुष के, होश में आ गयी चेतना के, दोनों ही बातें खो जाती हैं।

वह शिष्य कहता है: क्या करूँ त्याग? क्या पाऊँ? क्या छोड़ूँ? अखंड आनन्द के सागर में मैं डूब गया हूँ।

तत्क्षण; वह जगत् खोया नहीं, कि नया अमृत का जगत् मिला नहीं--युगपत्। उसी क्षण हो जाती है घटना, देखने में चाहे थोड़ी देर लग जाये।

"यहाँ मैं कुछ देखता भी नहीं, कुछ सुनता भी नहीं, कुछ जानता भी नहीं।"

और यह जो अमृत का अखण्ड सागर है, जिसमें मैं डूबकर खड़ा हो गया हूँ, यहाँ मैं कुछ देखता भी नहीं। मुझे कुछ दिखायी नहीं पड़ता। क्योंकि दिखायी तो वस्तुएँ पड़ती हैं। मुझे कुछ सुनायी नहीं पड़ता। क्योंकि सुनायी तो सदा दूसरे की आवाज पड़ती है। मैं कुछ जानता भी नहीं। क्योंकि ज्ञान भी और का ही ज्ञान है। जानकारी और की ही जानकारी है। मैं तो सब सिर्फ एक आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

"सदा आनन्द रूप अपने आत्मा में हूँ।"

न मेरा अब कोई और ज्ञान है, न मेरी कोई दृष्टि है, और न मुझे कुछ सुनायी पड़ता है; मेरी कोई इन्द्रियाँ अब काम नहीं करती। अब तो मेरे भीतर सिर्फ एक ही घटना घट रही है, कि मुझे सदा आनन्द का अनुभव हो रहा है। और यह जो मेरे भीतर आज मुझे अनुभव में आ रहा है, यह विलक्षण है, अद्वितीय है। कोई उपमा नहीं, जिससे मैं इसे समझाऊँ। कोई प्रतीक नहीं, जिससे मैं इसकी व्याख्या करूँ।

"मैं स्वयं ही अपने लक्षणवाला हूँ।

"मैं असंग हूँ, शरीर रहित हूँ, बिना चिह्नवाला हूँ, मैं ही श्री हरि हूँ, अत्यन्त शान्त हूँ, मैं अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, और प्राचीन-से प्राचीन हूँ।"

यह अनुभव हो रहा है उसे। संसार खोते ही ये अनुभव होने शुरू हो जाते हैं। स्वप्न टूटते ही यह सत्य की प्रतीति होनी शुरू हो जाती है: असंग हूँ मैं, शरीर रहित हूँ, चिन्ह नहीं मेरा कोई, मैं ही श्रीहरि हूँ; मैं ही भगवान् हूँ, मैं ही राम हूँ, मैं ही कृष्ण हूँ; अत्यंत हूँ शान्त--अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, प्राचीन-से-प्राचीन हूँ।

"मैं कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, विकास रहित अविनाशी हूँ, वैसे ही मैं शुद्ध रूप, ज्ञानस्वरूप केवल हूँ, सदाशिव हूँ।"

यह घोषणा शिष्य की है। गुरु ने यह कहा था, समझाया था, कि ऐसा है। इसे शिष्य दो तरह से ले सकता था। इसे बौद्धिक ज्ञान बना लेता और कहता कि ठीक, मैं भी राजी हूँ; आप जो कहते हैं, मेरी बुद्धि की समझ में आता है। तब यह उसने कहा, उपनिषद् व्यर्थ हो गया होता। लेकिन शिष्य का यह अनुभव बन गया। उसने कहाँ: जो आप कहते हैं, वह मुझे भी दिखायी पड़ता है, उसे मैं भी अनुभव कर रहा हूँ। और शिष्य घोषणा करता है: 'मैं ही हरि हूँ, मैं ही प्राचीन-से-प्राचीन हूँ, मैं ही सदाशिव हूँ।

"यह विद्या गुरु ने अपांतरम को दी।"

गुरु का नाम नहीं है। पहले खोजी का नाम नहीं हैं। किसने पहले इसे जाना, कुछ पता नहीं है। यह मजे की बात है और समझ लेने की है, क्योंकि अध्यात्म कोई नयी बात नहीं है। अध्यात्म है प्राचीन-से-प्राचीन, सनातन। जब से मनुष्य रहा है, तब से अध्यात्म रहा है। हम ऐसे किसी युग की कल्पना नहीं कर सकते, जब अध्यात्म न रहा हो। हम ऐसे युग की कल्पना तो कर सकते हैं जब विज्ञान नहीं था, हम ऐसे युग की कल्पना कर सकते हैं, जब कला नहीं थी--हजार चीजें नहीं थी--पर ऐसे युग की हम कल्पना नहीं कर सकते, जब आदमी रहा हो, और अध्यात्म

न रहा हो। क्योंकि अध्यात्म की प्यास ही आदमी का मौलिक लक्षण है।

विज्ञान न हो तो भी आदमी आदमी हो सकता है। धन न हो तो भी आदमी आदमी हो सकता है। शिक्षा न हो तो भी आदमी आदमी हो सकता है। अशिक्षित आदमी भी आदमी है और अवैज्ञानिक समाज का आदमी भी आदमी है। लेकिन अध्यात्म न हो तो आदमी आदमी नहीं होता, पशु हो जाता है। अध्यात्म ही आदमी का लक्षण है।

अरस्तु ने कहा है मनुष्य की परिभाषा में कि मैंन इज़ ए रेशनल एनिमल; बुद्धिमान प्राणी है। वह बात उतनी सही नहीं है, क्योंकि बुद्धिहीन मनुष्य को भी मनुष्य तो कहना ही पड़ेगा; बुद्धि बिलकुल न हो तो भी मनुष्य तो कहना ही पड़ेगा। वह कोई लक्षण नहीं है। मैक्येवली ने कहा है, "मैंन इज़ ए पोलिटिकल एनिमल"; आदमी जो है वह एक राजनीतिज्ञ जानवर है। आजकल के आदमी को देखें तो उसकी बात सही लगती है। एकदम राजनीतिज्ञ जानवर है। राजनीति खाता, राजनीति पीता, सुबह से अखबार, रात तक वही चर्चा, राजनीति ही जीवन मालूम पड़ती है। लेकिन, वह भी आदमी का लक्षण नहीं है। क्योंकि अभी खोजें हुई हैं और पता चला है कि बन्दरों में भी काफी राजनीति चलती है; जंगली-जानवरों में भी काफी राजनीति चलती है। और जैसे देशों में राष्ट्रपति होते, प्रधानमन्त्री होते, फिर उनका कैबनेट होता, ऐसे बन्दरों के गिरोह में भी प्रधान होता, प्रधानमन्त्री होते, उनका कैबनेट होता है।

राजनीति में और बन्दरों में बहुत अन्तर नहीं है। आदमियों में भी जिनके मन में बहुत ज्यादा बंदरपन है, वे ही राजनीति में उत्सुक होते हैं।

लेकिन, आदमी आध्यात्मिक प्राणी है। वह उसकी वास्तविक लक्षणा है।

तो किसने सबसे पहले यह विद्या खोजी, उसका कोई नाम नहीं दिया है। यह बहुत अच्छा किया। इसका मतलब हुआ कि इतनी-इतनी पुरानी है, इतनी-इतनी सनातन है कि पहले आदमी का कोई पता नहीं। तो पहले आदमी के लिए तो सिर्फ कहा है कि गुरु ने अपांतरम को दी।

'अपांतरम' भी बड़ा अद्भुत शब्द है। इसका मतलब है, नाममात्र के शिष्य को। गुरु ने नाम-मात्र के शिष्य को दी। पहले शिष्य का भी नाम पता नहीं है। इसलिए अपांतरम कहा है, नाम-मात्र के...नाम रख लिया काम-चालाऊ। पहले गुरु का भी कोई पता नहीं––किसने इसको जाना; और पहले किसने इसे सुना, उसका भी कोई पता नहीं। और चूंकि पहला गुरु रहा होगा, तो पहले शिष्य को भी पता नहीं होगा कि मैं शिष्य हूँ, कौन गुरु है? क्योंकि गुरु और शिष्य होना तो बाद की व्यवस्था होगी।

पहले गुरु ने जब जाना होगा तो उसके पास जो आ गया होगा वह नाममात्र का ही शिष्य होगा। हम कहते हैं कि शिष्य था, उसको तो पता भी नहीं रहा होगा। खिंचा चला आया होगा चुम्बक के पास। जान लिया होगा। इसलिए सूत्र कहता है:

"यह विद्या, गुरु ने अपान्तरम को दी, अपान्तरम ने ब्रह्मा को दी।"

ब्रह्मा हमारा सृष्टि का निर्माता है।

यह बड़े मजे की बात है, कि जिसने सृष्टि बनायी है, वह भी अज्ञानी है; उसको भी विद्या लेनी पड़ी है। यहाँ हिन्दू-विचार की गहराईयों का अन्दाज लगाना मुश्किल हो जाता है। हम ब्रह्मा को मानते हैं, स्रष्टा—बनानेवाला। लेकिन उसको भी हम ज्ञानी नहीं मानते। क्योंकि अगर ज्ञानी होता, तो स्वप्न के इस संसार को बनाता नहीं, निर्मित नहीं करता।

अगर संसार स्वप्न है, तो उसका स्रष्टा ज्ञानी नहीं हो सकता। स्वप्न को फैलाना यही तो काम है ब्रह्मा का। स्वप्न को फैलाना।

इसलिए हमने ब्रह्मा के बहुत मन्दिर नहीं बनाये; एक ही मन्दिर है भारत में। बनाने सबसे ज्यादा चाहिएँ; क्योंकि जिसने संसार बनाया, उसके सबसे ज्यादा मन्दिर होने चाहिएँ—बनानेवाले के। उसके मन्दिर नहीं हैं। उसका एक ही मन्दिर है। नाम-मात्र को ही कहना चाहिए उसका मन्दिर है; क्यों? क्योंकि संसार को हमने समझा कि वह एक सपना है––और जिसने बनाया उसके क्या मन्दिर बनाने।

मन्दिर हमने शिव के सबसे ज्यादा बनाये, क्योंकि वह संसार को मिटानेवाला है। गाँव-गाँव, वृक्ष-वृक्ष के नीचे शिवलिंग रख दिये। सारी जमीन हमने शिव से भर दी। उसका कारण है। ब्रह्म की क्या याद करें! उपद्रव में अटका दिया हमें, उसी ने। शिव का हमने स्मरण किया है बहुत, जानकर, क्योंकि वह संहार है। वह विनाश करेगा, स्वप्न को मिटा देगा।

"अपान्तरम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी, घोरांगिरस ने रैक्व को दी, रैक्व ने राम को दी।"

ऐसा उस परम्परा में और हजारों लोग हुए हैं, ये महत्त्वपूर्ण नाम चुन लिये गये हैं। इस बीच हजारों लोग हुए, जिनके नामों का भी पता नहीं है। महत्त्वपूर्ण नाम चुन लिये गये हैं। ये बहुत प्रसिद्ध लोग हैं। घोरांगिरस उस जमाने का, उपनिषद् के जमाने का बड़े-से-बड़ा ज्ञाता पुरुष है। उसने रैक्व को दी। रैक्व भी एक बहुत अद्भुत ऋषि है। रैक्व ने राम को दी। और राम ने समस्त भूतप्राणियों को दी।

राम के द्वारा यह बोध विराट् हुआ, बहुत लोगों तक पहुँचा। उसके पहले यह इजोटेरिक थी। उसके पहले यह गुप्त विद्या थी, और कोई गुरु किसी शिष्य को चुपचाप देता था। राम ने इसे समस्त प्राणियों के लिए खुला कर दिया। राम के हाथों में आकर यह विद्या गप्त न रही, प्रकट हो गयी।

"राम ने इसे समस्त भूतप्राणियों को दिया। यह निर्वाण का उपदेश है।"

निर्वाण के उपदेश का अर्थ होता है, यह मिटने का उपदेश है। जैसे दिया बुझ जाये, ऐसा खुद को बुझा लेने का उपदेश है। लेकिन खुद को जो बुझाता है, वही उस परम सत्ता को पाता है, जिसे बुझाने का कोई उपाय नहीं है।

जो बुझ सकता है मेरे भीतर, वह मेरा अहंकार है; जो नहीं बुझ सकता, वही मेरे भीतर ब्रह्म है। तो जो बुझ सकता है उसे बुझा दो, ताकि जो नहीं बुझ सकता उसका अनुभव हो सके।

यही वेद की शिक्षा है। समस्त वेद का यही सार है और वेद का यही अनुशासन है।

"इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता है।"

यह उपनिषद् बड़े अनूठे ढंग से समाप्त होता है। गुरु के उपदेश से समाप्त नहीं होता, शिष्य की उपलब्धि से समाप्त होता है। गुरु ने क्या कहा, इस पर ही समाप्त नहीं होता; शिष्य को क्या हो गया, इस पर समाप्त होता है। और जब तक कोई शिक्षा हो न जाये जीवन, तब तक उसका कोई भी मूल्य नहीं है। जब तक कोई शिक्षा जीवंत न हो सके, तब तक मन का विलास है।

उपनिषद् मन का विलास नहीं है, जीवन का रूपान्तरण है।

"गुरु ने अपान्तरम को दी, अपान्तरम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी, घोरांगिरस ने रैक्व को दी, रैक्व ने राम को दी, राम ने समस्त भूतप्राणियों को दी।"

...और, हमने पुनः इस अद्‌भुत चिंतन, दर्शन, साधन की पद्धति को, फिर से अपने भीतर जगाने की कोशिश की, फिर-से थोड़ी लौ को उकसाया।

यहां से जाने के बाद, उस लौ को उकसाते रहना। कभी ऐसी घड़ी जरूर आ जायेगी, कि आप भी कह सकेंगे :

'अभी-अभी देखा था उस जगत् को, वह कहां गया? क्या वह नहीं है?'

और जिस दिन आपको भी ऐसा अनुभव होगा, उस दिन आप भी कह सकेंगे:

'मैं हरि हूं, मैं सदाशिव हूं, अनन्त हूं, आनन्द हूं, मैं ब्रह्म हूं।'

और जब तक यह आपके भीतर न हो जाये, तब तक कैसा यह निर्वाण का उपदेश, कैसा यह वेद का सार? और तब तक यह उपनिषद् यहां तो समाप्त हो गया, लेकिन आपके लिए समाप्त नहीं हुआ है।

एक दिन ऐसा आये कि आप भी कह सकें, कि उपनिषद् की शिक्षा मेरे लिए भी समाप्त हो गयी।

भगवान् श्री रजनीश के सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्मय का बृहत् सूचीपत्र

(मूल्य छपी पुस्तकें उपलब्ध हैं)

नवीन साहित्य		साधारण संस्करण	राज संस्करण
१. नहीं राम बिन ठाँव		प्रेस में	
२. बिन बाती बिन तेल		प्रेस में	
३. सहज समाधि भली		५०-००	७५-००
४. शिव-सूत्र		२५-००	५०-००
५. दिया तले अन्धेरा		५०-००	७५-००
६. एक ओंकार सत्नाम	(नानक वाणी)	५०-००	७५-००
७. सुनो भाई साधो	(कबीर वाणी)	३०-००	५०-००
८. गूँगे केरी सरकरा	(कबीर वाणी)	३०-००	५०-००
९. कस्तूरी कुण्डल बसै	(कबीर वाणी)	३०-००	५०-००
१०. कहै कबीर दिवाना	(कबीर वाणी)	प्रेस में	
११. मेरा मुझमें कुछ नहीं	(कबीर वाणी)	३०-००	५०-००
१२. पिव-पिव लागी प्यास	(दादू वाणी)	३०-००	५०-००
१३. सबै सयाने एक मत	(दादू वाणी)	प्रेस में	
१४. अकथ कहानी प्रेम की	(फरीद वाणी)	३०-००	५०-००
१५. बिन घन परत फुहार	(सहजो वाणी)	३०-००	५०-००
१६. भज गोविन्दम्	(आदि शंकराचार्य वाणी)	३०-००	५०-००
१७. भक्ति सूत्र : पहला भाग	(नारद वाणी)	३०-००	५०-००
१८. भक्ति सूत्र : दूसरा भाग	(नारद वाणी)	३०-००	५०-००
१९. एस धम्मो सनंतनो : पहला भाग	(धम्मपद)	५०-००	८०-००
२०. एस धम्मो सनंतनो : दूसरा भाग	(धम्मपद)	प्रेस में	
२१. एस धम्मो सनंतनो : तीसरा भाग	(धम्मपद)	प्रेस में	
२२. महागीता : पहला भाग	(अष्टावक्र वाणी)	प्रेस में	
२३. महागीता : दूसरा भाग	(अष्टावक्र वाणी)	प्रेस में	
२४. महागीता : तीसरा भाग	(अष्टावक्र वाणी)	प्रेस में	
२५. महागीता : चौथा भाग	(अष्टावक्र वाणी)	प्रेस में	
२६. महागीता : पाँचवाँ भाग	(अष्टावक्र वाणी)	प्रेस में	
२७. महागीता : छठवाँ भाग	(अष्टावक्र वाणी)	प्रेस में	

कृष्ण तथा गीता

		साधारण संस्करण	राज संस्करण
२८. कृष्ण : मेरी दृष्टि में		आउट ऑफ प्रिन्ट	
२९. गीता दर्शन : अध्याय – १,२	खण्ड पहला	आउट ऑफ प्रिन्ट	
३०. गीता दर्शन : अध्याय – ३	खण्ड दूसरा	आउट ऑफ प्रिन्ट	
३१. गीता दर्शन : अध्याय – ४	खण्ड तीसरा	३०–००	...
३२. गीता दर्शन : अध्याय – ५		१५–००	...
३३. गीता दर्शन : अध्याय – ६	खण्ड चौथा	आउट ऑफ प्रिन्ट	
३४. गीता दर्शन : अध्याय – ७	खण्ड पाँचवाँ	आउट ऑफ प्रिन्ट	
३५. गीता दर्शन : अध्याय – ८		आउट ऑफ प्रिन्ट	
३६. गीता दर्शन : अध्याय – ९	खण्ड छठवाँ	आउट ऑफ प्रिन्ट	
३७. गीता दर्शन : अध्याय – १०	खण्ड सातवाँ	३५–००	...
३८. गीता दर्शन : अध्याय – ११	खण्ड आठवाँ	२५–००	...
३९. गीता दर्शन : अध्याय – १२		२५–००	...
४०. गीता दर्शन : अध्याय – १३	खण्ड नौवाँ	प्रेस में	
४१. गीता दर्शन : अध्याय – १४			
४२. गीता दर्शन : अध्याय – १५	खण्ड दसवाँ	प्रेस में	
४३. गीता दर्शन : अध्याय – १६			
४४. गीता दर्शन : अध्याय – १७			
४५. गीता दर्शन : अध्याय – १८	खण्ड ग्यारहवाँ	प्रेस में	

उपनिषद्

४६. ईशावास्योपनिषद्	१५–००	...
४७. निर्वाणोपनिषद्	आउट ऑफ प्रिन्ट	
४८. सर्वसार उपनिषद्	प्रेस में	
४९. कैवल्य उपनिषद्	प्रेस में	
५०. अध्यात्म उपनिषद्	५०–००	७०–००
५१. कठोपनिषद्	प्रेस में	

ध्यान रहे, नयी योजना के अन्तर्गत **गीता दर्शन** के अट्ठारहों अध्याय पुनर्सम्पादित होकर अब ग्यारह खण्डों में प्रकाशित हो रहे हैं।

ताओ साहित्य

	साधारण संस्करण	राज संस्करण
५२. ताओ उपनिषद् : भाग पहला	आउट ऑफ प्रिन्ट	
५३. ताओ उपनिषद् : भाग दूसरा	४०–००	...
५४. ताओ उपनिषद् : भाग तीसरा	४५–००	७५–००
५५. ताओ उपनिषद् : भाग चौथा	प्रेस में	
५६. ताओ उपनिषद् : भाग पाँचवाँ	प्रेस में	
५७. ताओ उपनिषद् : भाग छठवाँ	प्रेस में	

महावीर तथा महावीर वाणी

५८. महावीर मेरी दृष्टि में	४०–००	...
५९. महावीर वाणी : भाग पहला	३०–००	...
६०. महावीर वाणी : भाग दूसरा	३०–००	...
६१. महावीर वाणी : भाग तीसरा	५०–००	८०–००
६२. जिन सूत्र : भाग पहला	५०–००	८०–००
६३. जिन सूत्र : भाग दूसरा	५०–००	८०–००
६४. जिन सूत्र : भाग तीसरा	५०–००	८०–००
६५. जिन सूत्र : भाग चौथा	प्रेस में	
६६. ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया	५–००	...
६७. सूली ऊपर सेज पिया की	७–००	...
६८. महावीर या महाविनाश	१५–००	...
६९. अमृत कण	आउट ऑफ प्रिन्ट	
७०. अहिंसा दर्शन	१–००	...

व्यवहारिक साधना

७१. जिन खोजा तिन पाइयाँ	४०–००	...
७२. मैं मृत्यु सिखाता हूँ	४०–००	...
७३. साधना पथ	आउट ऑफ प्रिन्ट	
७४. अन्तर्यात्रा	आउट ऑफ प्रिन्ट	
७५. शून्य की नाव	५–००	...
७६. प्रभु की पगडंडियाँ	६–००	...
७७. संभावनाओं की आहट	८–००	...
७८. समाधि के सप्त द्वार	प्रेस में	
७९. साधना सूत्र	४०–००	६०–००

सैद्धान्तिक साधना

८०. नव संन्यास क्या ?	आउट ऑफ प्रिन्ट
८१. सत्य की खोज	५-००
८२. शून्य के पार	आउट ऑफ प्रिन्ट
८३. जीवन क्रान्ति के सूत्र	१२-००
८४. मैं कौन हूँ ?	६-००
८५. गहरे पानी पैठ	७-००
८६. मैं कहता आँखन देखी	६-००
८७. सम्भोग से समाधि की ओर	६-००

पत्र संकलन

८८. तत्वमसि*	४०-००
८९. क्रान्ति बीज	६-००
९०. पथ के प्रदीप	६-००
९१. अन्तर्वीणा	आउट ऑफ प्रिन्ट
९२. घूंघट के पट खोल	आउट ऑफ प्रिन्ट
९३. प्रेम के फूल	आउट ऑफ प्रिन्ट
९४. ढाई आखर प्रेम का	आउट ऑफ प्रिन्ट
९५. पद घुंघरू बाँध	८-००
९६. मिट्टी के दिये	५-००
९७. मन के पार	आउट ऑफ प्रिन्ट

विविध-प्रवचनों के संकलन

९८. प्रेम है द्वार प्रभु का	१२-००
९९. समुन्द समाना बुन्द में	९-००
१००. घाट भुलाना बाट बिनु	१२-००
१०१. सत्य की पहली किरण	५-००

राजनीति

१०२. समाजवाद से सावधान	५-००
१०३. समाजवाद अर्थात् आत्मघात	६-००
१०४. अस्वीकृति में उठा हाथ	५-००
१०५. गाँधीवाद : एक और समीक्षा	५-५०

* ध्यान रहे, **तत्वमसि** 'क्रान्ति बीज', 'पथ के प्रदीप', 'अन्तर्वीणा', तथा अप्रकाशित 'घूंघट के पट खोल' — इन चारों पुस्तकों का सम्मिलित संस्करण है।

हास्य

१०६. मुल्ला नसरुद्दीन	५-००

विविध प्रवचनों की लघु पुस्तिकाएँ

१०७. पथ की खोज*	२-००
१०८. ज्योतिष : अद्वैत का विज्ञान	आउट ऑफ प्रिन्ट
१०९. ज्योतिष अर्थात् अध्यात्म	आउट ऑफ प्रिन्ट
११०. ध्यान : एक वैज्ञानिक दृष्टि	आउट ऑफ प्रिन्ट
१११. मेडिसन और मेडिटेशन	आउट ऑफ प्रिन्ट
११२. युवक कौन ?	आउट ऑफ प्रिन्ट
११३. युवक और यौन	आउट ऑफ प्रिन्ट
११४. प्रगतिशील कौन ?	आउट ऑफ प्रिन्ट
११५. विद्रोह क्या है	२-५०
११६. पूर्व का धर्म पश्चिम का विज्ञान	आउट ऑफ प्रिन्ट
११७. क्रान्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया	१-५०
११८. धर्म और राजनीति	१-००
११९. परिवार नियोजन	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२०. जनसंख्या विस्फोट : समस्या और समाधान	१-५०
१२१. प्रेम और विवाह	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२२. सूर्य की ओर उड़ान	२-००
१२३. अज्ञात की ओर	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२४. सत्य के अज्ञात सागर का आमन्त्रण	२-००
१२५. व्यस्त जीवन में ईश्वर की खोज	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२६. प्रेम के पंख	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२७. नये मनुष्य के जन्म की दिशा	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२८. जीवन जागृति केन्द्र — क्यों, कैसे, क्या ?	आउट ऑफ प्रिन्ट
१२९. अवधिगत संन्यास	आउट ऑफ प्रिन्ट
१३०. क्रान्ति की नयी दिशा, नयी बात	आउट ऑफ प्रिन्ट
१३१. क्रान्ति के बीच सबसे बड़ी दीवार	आउट ऑफ प्रिन्ट
१३२. संस्कृति के निर्माण में सहयोग	आउट ऑफ प्रिन्ट

* ध्यान रहे, "**सिंहनाद**" का नया संस्करण "**पथ की खोज**" के नाम से छपा है

Complete List of Original English Literature Compiled from the Discourses by Bhagwan Shree Rajneesh

(Priced Books are Available)

YOGA

(Patanjali's 'Yoga Sutras' in Ten Volumes)

No.	Title	Vol.	Price
1.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. I	75.00
2.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. II	75.00
3.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. III	In the Press
4.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. IV	In the Press
5.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. V	In the Press
6.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. VI	In the Press
7.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. VII	In the Press
8.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. VIII	In the Press
9.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. IX	In the Press
10.	Yoga: The Alpha and the Omega	Vol. X	In the Press

TANTRA

(Shiva's Vigyan Bhairava Tantra:
112 Techniques of Meditation in Five Volumes)

No.	Title	Vol.	Price
11.	The Book of the Secrets	Vol. I	65.00
12.	The Book of the Secrets	Vol. II	65.00
13.	The Book of the Secrets	Vol. III	65.00
14.	The Book of the Secrets	Vol. IV	75.00
15.	The Book of the Secrets	Vol. V	In the Press
16.	Tantra: The Supreme Understanding (Tilopa's Song of Mahamudra)		75.00

UPANISHADS

No.	Title	Vol.	Price
17.	The Ultimate Alchemy (Atma Pooja Upanishad)	Vol. I	40.00
18.	The Ultimate Alchemy (Atma Pooja Upanishad)	Vol. II	75.00
19.	The Supreme Doctrine (Kena Upanishad)		In the Press
20.	Vedanta: Seven Steps to Samadhi (Akshaya Upanishad)		In the Press

ZEN

No.	Title	Edition	Price
21.	Roots and Wings	Paperback	50.00
		Hard Cover	65.00
22.	No Water No Moon	Paperback	40.00
23.	And the Flowers Showered		75.00
24.	Returning to the Source		65.00
25.	The Grass Grows by Itself		In the Press
26.	Nirvana: The Last Nightmare		In the Press
27.	Ancient Music in the Pines		In the Press
28.	The Search (The Ten Bulls of Zen)		In the Press
29.	Dang, Dang, Doko-Dang		In the Press
30.	The Sudden Clash of Thunder		In the Press

TAO

No.	Title	Vol.	Price
31.	Tao: The Three Treasures (Lao Tzu)	Vol. I	75.00
32.	Tao: The Three Treasures (Lao Tzu)	Vol. II	In the Press
33.	Tao: The Three Treasures (Lao Tzu)	Vol. III	In the Press
34.	Tao: The Three Treasures (Lao Tzu)	Vol. IV	In the Press
35.	When the Shoe Fits (Chuang Tzu)		75.00
36.	The Empty Boat (Chuang Tzu)		In the Press

THE SUFI WAY

No.	Title	Price
37.	Just Like That	70.00
38.	Until You Die	In the Press

JESUS

No.	Title	Vol.	Price
39.	The Mustard Seed	Vol. I	75.00
40.	The Mustard Seed	Vol. II	In the Press
41.	Come Follow Me	Vol. I	In the Press
42.	Come Follow Me	Vol. II	In the Press
43.	Come Follow Me	Vol. III	In the Press
44.	Come Follow Me	Vol. IV	In the Press

BUDDHA

No.	Title	Vol.	Price
45.	The Discipline of Transcendence	Vol. I	In the Press
46.	The Discipline of Transcendence	Vol. II	In the Press
47.	The Discipline of Transcendence	Vol. III	In the Press
48.	The Discipline of Transcendence	Vol. IV	In the Press

KABIR

49.	Ecstasy: The Forgotten Language	In the Press
50.	The Path of Love	In the Press

AND

51.	Neither This Nor That (Sosan)	65.00
52.	The Hidden Harmony (Heraclitus)	80.00
53.	The Beloved (The Songs of Baul Sages) Vol. I	In the Press
54.	The Beloved (The Songs of Baul Sages) Vol. II	In the Press
55.	The True Sage (Hassidism)	In the Press
56.	The Art of Dying (Hassidism)	In the Press

Questions and Answers

57.	The Way of the White Cloud	66.00

DARSHAN DIARIES

58.	Hammer on the Rock	125.00
59.	Above All, Don't Wobble	In the Press
60.	Nothing to Loose But Your Head	In the Press
61.	Be Realistic: Plan for a Miracle	In the Press
62.	Get Out of Your Own Way	In the Press
63.	Beloved of My Heart	In the Press
64.	The Cypress in the Courtyard	In the Press
65.	Dance Your Way to God	In the Press

INTERVIEWS

66.	The Silent Explosion	12.50
67.	The Inward Revolution	Out of Print
68.	Dynamics of Meditation	Out of Print
69.	I am the Gate	25.00
70.	Meditation: A New Dimension	3.00
71.	Beyond and Beyond	3.00
72.	L. S. D.: A Shortcut to False Samadhi	2.00
73.	Yoga as a Spontaneous Happening	2.00
74.	The Vital Balance	1.50
75.	Flight of the Alone to the Alone	Out of Print
76.	Secrets of Discipleship	Out of Print
77.	Seriousness	Out of Print

COLLECTION OF LETTERS

78.	The Eternal Message	3.00
79.	The Gateless Gate	2.00
80.	Turning In	In the Press
81.	The Dimensionless Dimension	In the Press
82.	What is Meditation	In the Press
83.	The Silent Music	In the Press

MULLA JOKES

84.	Meet Mulla Nasrudin	Out of Print
85.	Wisdom of Folly	6.00
86.	Two Hundred Two	10.00
87.	One Hundred One	Out of Print
88.	Thus Spake Mulla Nasrudin	Out of Print

आप कुछ नये नहीं हैं। इस पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है, सभी बहुत पुराने हैं। आप बुद्ध के चरणों में भी बैठकर सुने हैं, आपने कृष्ण को भी देखा है, आप जीसस के पास भी उठे-बैठे हैं--लेकिन, फिर भी वंचित रह गये हैं! क्योंकि कभी भी आपका हृदय तैयार नहीं था। आपके पास से बुद्ध की सरिता बहती निकल गई है, महावीर की सरिता बहती निकल गई है, और आप प्यासे रह गये हैं!

आप कुछ नये नहीं हैं। आपने बुद्धों को दफनाया, महावीरों को दफनाया--जीसस, कृष्ण, क्राइस्ट, सबको आप दफनाके जी रहे हैं। वे हार गये आपसे, आप काफी पुराने हैं। जब से जीवन है, तब से आप हैं। अनन्त-अनन्त यात्रा है। कहां हो जाती है चूक?

बस, यहीं हो जाती है कि आप खुले ही नहीं हैं बंद हैं।

आप कुछ नये नहीं हैं। इस पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है, सभी बहुत पुराने हैं। आप बुद्ध के चरणों में भी बैठकर सुने हैं, आपने कृष्ण को भी देखा है, आप जीसस के पास भी उठे-बैठे हैं--लेकिन, फिर भी वंचित रह गये हैं! क्योंकि कभी भी आपका हृदय तैयार नहीं था। आपके पास से बुद्ध की सरिता बहती निकल गई है, महावीर की सरिता बहती निकल गई है, और आप प्यासे रह गये हैं!
आप कुछ नये नहीं हैं। आपने बुद्धों को दफनाया, महावीरों को दफनाया--जीसस, कृष्ण, क्राइस्ट, सबको आप दफनाके जी रहे हैं। वे हार गये आपसे, आप काफी पुराने हैं। जब से जीवन है, तब से आप हैं। अनन्त-अनन्त यात्रा है। कहां हो जाती है चूक?
बस, यहीं हो जाती है कि आप खुले ही नही हैं बंद हैं।